महर्षिव्यासप्रणीतः

स्कन्दमहापुराणान्तर्गतः

काशीखण्डः

(व्याख्याद्वयोपेतः)

(चतुर्थो भागः)

कुलपतेः डॉ० मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया समलङ्कृतः

सम्पादकः

आचार्यश्रीकरुणापतित्रिपाठी
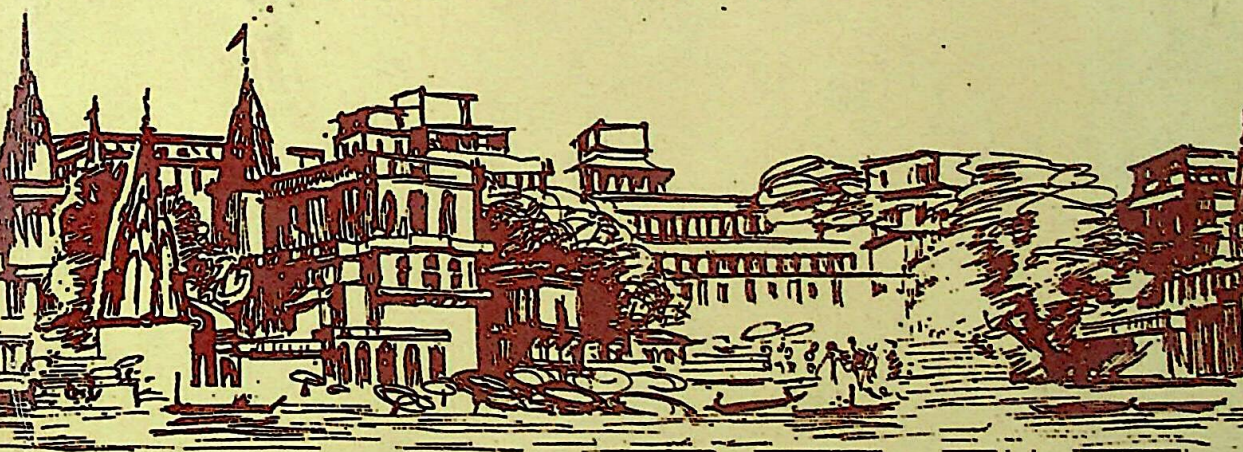
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

वाराणसी
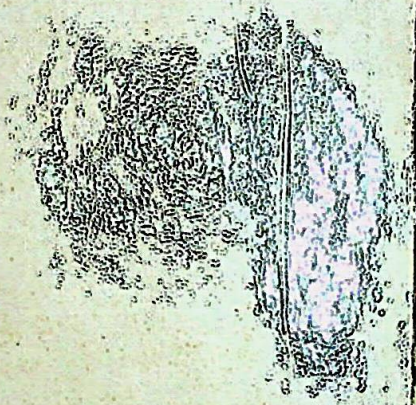
GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 13]

KĀŚĪKHAṆḌA

[PART FOUR]
OF
MAHARṢI VYĀSA

With Two Commentaries
'RĀMĀNANDĪ'
BY
ĀCĀRYA ŚRĪ RĀMĀNANDA
&
HINDĪ 'NĀRĀYAṆĪ'
BY
ŚRĪ NĀRĀYAṆAPATI TRIPĀṬHĪ

FOREWORD BY
DR. MANDAN MISHRA
Vice-Chancellor

EDITED BY
ĀCĀRYA ŚRĪ KARUṆĀPATI TRIPĀṬHĪ
Ex-Vice-Chancellor,
Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi
&
Ex-President,
Uttar Pradesh Sanskrit Academy, Lucknow

VARANASI
1998

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

❐

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

First Edition, 1000 Copies
Price : Rs. 280.00

❐

Printed at—
Ratna Offsets limited
B-21/42A, Kamachha
Varanasi-221 010

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला
[१३]

महर्षिव्यासप्रणीतः

श्रीस्कन्दमहापुराणान्तर्गतः

काशीखण्डः

[चतुर्थो भागः]

आचार्यश्रीरामानन्दप्रणीतया

'रामानन्दी'-व्याख्यया

अथ च

पण्डितश्रीनारायणपतित्रिपाठिप्रणीतया

'नारायणी'-हिन्दी-व्याख्यया
विभूषितः

कुलपतेः डॉ. मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया समलङ्कृतः

सम्पादकः
आचार्यश्रीकरुणापतित्रिपाठी
कुलपतिचरः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
अध्यक्षचरश्च,
उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादम्याः

वाराणस्याम्

२०५५ तमे वैक्रमाब्दे १९२० तमे शकाब्दे १९९८ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षकः –
निदेशकः, अनुसन्धानसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी ।

❐

प्रकाशकः –
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

❐

प्राप्तिस्थानम्–
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

❐

प्रथमं संस्करणम्, १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्– २८०.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रकः –
रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड
बी २१ / ४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी– २२१ ०१०.

प्रस्तावना

भारतीय सनातन चिन्तन-धारा में काशी को तीनों लोकों से न्यारी कहा गया है । पञ्चक्रोशात्मक इस काशी को पृथ्वी का खण्ड न कहकर महामुनि व्यास ने काशीखण्ड में इस धरित्री-खण्ड को 'ब्रह्मरसायन' कहा है–

'न मे प्रियं किञ्चन विष्टपत्रये तथा यथेयं परसौख्यभूमिः ।
वाराणसी ब्रह्मरसायनस्य खनिर्ज्जनिर्यत्र न दीर्घशायिनाम्' ॥

(का. ख. ९८।२८)

साक्षात् भगवान् विश्वेश्वर ने वाराणसीरूपी 'ब्रह्मरसायन' को त्रिलोक में सबसे प्रियं तथा परमसौख्य की भूमि कहा है । विश्वेश्वर को परमसौख्य प्रदान करने वाली यह वाराणसी-पुरी 'ब्रह्मरसायन' की 'खानि' स्वयं उन्हीं के द्वारा कही गयी है ।

ऐसी सनातन काशी की महिमा का कीर्त्तन करते हुए महर्षि व्यास ने इसे त्रैलोक्य की 'नाभि' कहा है । इस त्रैलोक्य-नाभि की गाम्भीर्यमयी मणिकर्णिका में यह ब्रह्माण्ड-गोलक लयोदय को प्राप्त करता रहता है । पूरी पृथ्वी की नाभिभूता शुभोदया इस काशी का प्रलयकाल में भी प्रलय नहीं होता–

'अत्यल्पमपि यत्कर्म कृतमत्र शुभाशुभम् ।
प्रलयेऽपि न तस्यास्ति प्रलयो मुनिसत्तम ॥
नाभितीर्थमिदं प्रोक्तं नाभिभूतं यतः क्षितेः ।
अपि ब्रह्माण्डगोलस्य नाभिरेषा शुभोदया ॥
सा माणिकर्णिकेयीयं नाभिर्गाम्भीर्यभूमिका ।
ब्रह्माण्डगोलकं सर्वं यस्यामेति लयोदयम्' ॥

(का. ख. ६१।१५२–१५४)

इसीलिए यह काशी त्रैलोक्य से न्यारी, सनातन एवं समस्त सत्यों की भी सत्य कही गयी है–

'सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यपूर्वं पुनः पुनः ।
न काशीसदृशी मुक्त्यै भूमिरन्या महीतले' ॥

(का. ख. ९४।५२)

ऐसी त्रयीमयी काशी, जो समस्त विद्याओं की आश्रय-स्थली है, महालक्ष्मी की परालय है तथा मुक्तिक्षेत्र है, उस काशी में निवास करने वाले रुद्रसदृश हो जाते

हैं, अर्थात् उन्हें विश्वेश्वर का सायुज्य प्राप्त हो जाता है । इसी सत्य को व्यास जी ने वक्ष्यमाण श्लोकों में निरूपित किया है–

'विद्यानां चाश्रयः काशी काशी लक्ष्म्याः परालयः ।
मुक्तिक्षेत्रमिदं काशी काशी सर्वा त्रयीमयी' ॥
(का. ख. ९६।१२३)

'ये वसन्ति सदा काश्यां क्षेत्रसंन्यासकारिणः ।
त एव रुद्रा मन्तव्या जीवन्मुक्ता न संशयः' ॥
(का. ख. ९६।२०)

ऐसी त्रिभुवनन्यारी काशी की महिमा का गायन करते हुए महर्षि व्यास ने यहाँ 'त्रिजगत्पवित्रतटिनी' गङ्गा को ऋग्वेदमयी अर्थात् ऋग्वेद की प्रतिमूर्ति कहा है । साथ ही यमुना को यजुर्वेद, नर्मदा को सामवेद एवं सरस्वती को अथर्ववेद की प्रतिमूर्ति के रूप में निरूपित किया है–

ऋग्वेदमूर्त्तिर्गङ्गा स्याद्यमुना च यजुर्ध्रुवम् ।
नर्मदा साममूर्तिस्तु स्यादथर्वा सरस्वती ॥
(का. ख. ९२।६)

इस प्रकार ब्रह्मरसायनभूता, समस्त विद्याओं की आश्रयभूता, त्रिजगत्पवित्रकारिणी, प्रलयकाल में भी त्रिकाल सत्यमयी, महालक्ष्मी की परमसौख्य-भूमिमयी, मुक्ति की निकेतन एवं स्वर्गतरङ्गिणी से क्षालित आनन्दकाननमयी काशी के परमवैभव का वर्णन महर्षि कृष्णद्वैपायन ने काशीखण्ड में किया है ।

स्कन्द-महापुराण में माहेश्वरखण्ड, अवन्तीखण्ड, प्रभासखण्ड, रेवाखण्ड, वैष्णवखण्ड, नागरखण्ड, ब्रह्मखण्ड तथा काशीखण्ड का समावेश हुआ है । लगता है इन सभी खण्डों में काशीखण्ड महर्षि व्यास को परमप्रिय रहा है । इस शताध्यायी काशीखण्ड में काशी के चिन्मय स्वरूप का वर्णन जिस भास्वरता के साथ महर्षि ने किया है, उससे इस सनातन काशी की सजीव चिन्मयता स्थापित हुई है । यह काशीखण्ड काशी का एकमात्र सजीव आध्यात्मिक इतिहास हैं, जिसमें काशी की लोकोत्तरता पराकाष्ठा तक प्रतिपादित हुई है । काशी के देवालयों, मठों, उद्यानों, विभिन्न सम्प्रदायों के संन्यासियों, गृहस्थों, उनके पर्वों-त्यौहारों, उत्सवों आदि के सजीव चित्रण के साथ ही साथ महर्षि ने यहाँ के विद्याभ्यासी वटु-वृन्दों तथा शास्त्रार्थपरायण आचार्य-वृन्दों का जैसा सजीव रेखाङ्कन किया है, उससे काशी के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आधिभौतिक स्वरूप पर सजीव प्रकाश पड़ता है ।

ऐसे लोकोत्तर शताध्यायी काशीखण्ड के इस चतुर्थ भाग का प्रकाशन करते हुए हमें परम हर्ष की अनुभूति हो रही है । इस चतुर्थ खण्ड के प्रकाशन से शताध्यायी यह काशीखण्ड सम्पूर्ण हो रहा है । चार भागों में पूर्ण हो रहे इस काशीखण्ड से निश्चय ही विद्वज्जन प्रमुदित होंगे और यह विश्वविद्यालय काशीखण्ड के सम्पूर्ण वाङ्मय के प्रकाशन से भारतीय सनातन समाज में अवश्यमेव यशोभागी होगा । पच्चीस अध्यायात्मक इस चौथे भाग का विस्तृत कथा-सारांश इस ग्रन्थ के चारों भागों के सम्पादक **आचार्य श्री करुणापति त्रिपाठी** जी ने लिखा है । श्री त्रिपाठी जी ने छिहत्तरवें अध्याय से सौवें अध्याय तक की कथाओं को बड़ी सरस एवं मनोहारी भाषा में लिखा है । हमें पूर्ण विश्वास है कि यह कथा-सारांश अध्येताओं की जिज्ञासाओं का समाधान करेगा ।

यह सौभाग्य का विषय है कि इस ग्रन्थ के सम्पादक श्रद्धेय पण्डित **श्री करुणापति त्रिपाठी** के पूज्यपाद पिता पण्डितप्रवर श्रद्धेय **श्री नारायणपति त्रिपाठी** ने प्रथम बार इसका हिन्दी अनुवाद कर १९६५ ई. में प्रकाशित किया था । उसी आचार्य-परम्परा के वर्तमान प्रतिनिधि उनके स्वनामधन्य सुपुत्र ने इसका सम्पादन कर काशी की महिमा का शास्त्रीय और पौराणिक पक्ष उपस्थापित करने में जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, उसके लिए भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अनुयायी उनके प्रति सदा कृतज्ञ रहेंगे । एक प्रकार से यह काशी के आध्यात्मिक गौरव के पुनः प्रतिष्ठापन का प्रयास है । **पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी** स्वयं गौरवमयी परम्परा और आदर्श त्रिपाठी परिवार की विश्वविख्यात प्रतिष्ठा की साक्षात् मूर्ति हैं । उनका यह प्रयास युग-युगों तक उल्लेखनीय रहेगा ।

इस त्रिपाठी परिवार का इस विश्वविद्यालय के साथ भावनात्मक और ऐतिहासिक सम्बन्ध है । विश्वविद्यालय की स्थापना में उनके प्रातःस्मरणीय ज्येष्ठ सहोदर श्रद्धेय **पण्डित श्री कमलापति त्रिपाठी** जी का मौलिक योगदान रहा है । जब वे उत्तर-प्रदेश के शिक्षामन्त्री थे, उसी समय भारतीय मनीषा और प्रज्ञा के महान् धनी, त्याग और काशी-माहात्म्य के साक्षात् स्वरूप, विद्वान् नेताओं की पंक्ति में अग्रणी **डॉ. सम्पूर्णानन्द** जी ने विश्व में इस प्रथम संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की । इसके संचालन और विकास में प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय तथा अनेक विषयों के मर्मज्ञ मनीषी **पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी** ने इस विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्र विभाग के अध्यक्ष और कुलपति आदि पदों पर रहकर प्रसादपूर्ण प्रशासन के माध्यम से जो मानदण्ड स्थापित किये, वे हम सब के लिए आदर्श हैं । उत्तर-प्रदेश संस्कृत अकादमी के १० वर्ष से भी अधिक समय तक अध्यक्ष रहकर उन्होंने भारत के उत्कृष्टतम विद्वानों को एक लाख रूपये के 'विश्व-संस्कृत-भारती' सम्मान, वैदिकों तथा लेखकों को विभिन्न प्रकार

के सम्मान और पुरस्कार प्रदान कर जो प्रोत्साहन प्रदान किया, वह समग्र अकादमियों का आज भी मार्गदर्शन कर रहा है और उनकी कीर्तिपताका को फैला रहा है ।

परम्पराओं के पालक, उच्चकोटि के विचारक, उत्तम शिक्षक, श्रेष्ठ लेखक, कुशल प्रशासक और प्रभावपूर्ण वक्ता तथा सूक्ष्म शरीर की तरह आकृति में भी सौम्य और सुन्दर व्यक्तित्व के धनी **पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी** एक आदर्श तपोनिष्ठ ब्राह्मण के रूप में न केवल काशी में विराजमान हैं; अपितु अपनी इस वृद्ध आयु में भी सतत साहित्य-साधना में संलग्न हैं । यह हम सब के लिए एक आदर्श है ।

प्रस्तुत प्रकाशन उनकी इस साधना का चतुर्थ पुष्प है । निश्चय ही इस महान् उपक्रम की परिपूर्णता से यह विश्वविद्यालय गौरवान्वित होगा । इन्हीं शब्दों के साथ मैं इस प्रकाशन के लिए श्रद्धेय पण्डित श्री त्रिपाठी जी के चरणों में अपने विनय एवं अभिनन्दन की अञ्जलि अर्पित करता हूँ तथा इस विश्वविद्यालय के प्रकाशनाधिकारी **डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** एवं रत्ना आफसेट्स लिमिटेड के संचालक **श्री विपुल शङ्कर पण्ड्या** को अपना धन्यवाद प्रदान करता हूँ ।

वाराणसी
श्री परशुराम जयन्ती
(अक्षय तृतीया)
वि. सं. २०५५
(दिनाङ्क २९ अप्रैल, १९९८)

मण्डन मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

भूमिका

विश्वेशं माधवं ढुण्ढिं दण्डपाणिं च भैरवम् ।
वन्दे काशीगुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम् ॥
काशीं गङ्गां विश्वनाथान्नपूर्णे ढुण्ढिस्कन्दौ माधवं भैरवं च ।
दुर्गां लक्ष्मीं कालिकां शारदां च वन्दे गौरीं मङ्गलां सङ्कटां ताम् ।

भगवान् विश्वेश्वर एवं जगज्जननी माता अन्नपूर्णा की महती कृपा एवं विद्वज्जनों के निरन्तर प्रोत्साहन से **'काशीखण्ड'** का यह **चतुर्थ भाग** प्रकाशित होकर पूर्णता को प्राप्त हो रहा है । **'रामानन्दी'** संस्कृत-टीका तथा **'नारायणी'** हिन्दी-व्याख्या के साथ सम्पूर्ण काशीखण्ड के सम्पादन का कार्य मैंने लगभग १८ वर्षों पूर्व प्रारम्भ किया था । काशी के इस महनीय जीवन्त इतिवृत्त को सम्पादित करके प्रकाशित कराने की अलौकिक प्रेरणा **माता आनन्दमयी माँ** ने प्रदान की थी और उस प्रेरणा को मूर्त्तरूप प्रदान करने की स्वीकृति तत्कालीन कुलपति एवं हमारे अग्रजकल्प स्व. **डॉ. गौरीनाथ शास्त्री** जी ने प्रदान की थी । सम्पादक इन दोनों महाविभूतियों के चरणों में अपना श्रद्धा-सुमन अर्पित करता है । इसी प्रकार हमारे ज्येष्ठ भ्राता स्व. **पण्डित कमलापति त्रिपाठी** जी इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करने का निरन्तर उद्बोधन प्रदान करते रहे । इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति के समय उनका सान्निध्य सुलभ नहीं है, तथापि उनका चिन्मय स्वरूप इस कार्य को पूर्ण करने में नवनवोन्मेष प्रदान करता रहा, अतः सम्पादक उनके चरणों में शिरसा प्रणाम करता है ।

काशीखण्ड के इस चतुर्थ भाग में २५ अध्यायों (७६वें से लेकर १००वें अध्याय तक) को समाविष्ट किया गया है । इस ग्रन्थ के चारों भाग २५-२५ अध्यायों के हुए हैं । सम्प्रति प्रकाशित हो रहे इस चतुर्थ भाग में जिन २५ अध्यायों का समावेश हुआ है, उनमें वर्णित काशी के स्वरूप का यहाँ दिग्दर्शन कराना प्रासङ्गिक है । इन २५ अध्यायों में त्रिलोचन-माहात्म्य, केदारेश्वर-माहात्म्य, धर्मेश्वर-पूजन, धर्मेश्वर-उपाख्यान, मनोरथ-तृतीया-माहात्म्य, वीरेश्वर-उपाख्यान, वीरेश्वर-माहात्म्य, काशीतीर्थ-माहात्म्य, दुर्वासा मुनि की तपस्या, विश्वकर्मेश्वर-आख्यान, दक्ष प्रजापति-आख्यान, देवी सती के देह-त्याग की कथा, दक्ष-यज्ञ-विध्वंस, अमृतेश्वर-आख्यान, वेदव्यास के भुजस्तम्भन का आख्यान, व्यास-शापविमोचन का आख्यान, पार्वतीश्वर की कथा, गङ्गेश्वर का आख्यान,

क्षेत्रतीर्थ-वर्णन, मुक्तिमण्डप का आख्यान, विश्वेश्वर की महिमा तथा काशीखण्ड-माहात्म्य प्रभृति विषय वर्णित हैं । इन आख्यानों, उपाख्यानों, कथाओं एवं गाथाओं में सम्पूर्ण काशीखण्ड का सारांश पिरोया गया है । जिस काव्यमयी भाषा में इन विषयों का प्रतिपादन हुआ है, उसमें रसों, छन्दों, अलङ्कारों, वक्रोक्तियों, व्यञ्जनाओं तथा भङ्गिमाओं की छटा देखते ही बनती है । उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक दर्शनीय हैं–

स्तुतिं च ये वै त्वदुदीरितामिमां
नराः पठिष्यन्ति तवाऽग्रतः क्वचित् ।
निरेनसस्ते मम लोकगामिनः
प्राप्स्यन्ति ते वै भवतः सखित्वम् ॥
प्रसन्नमूर्तिं स विलोक्य शङ्करं
कारुण्यपूर्णं स्वमनोरथाभिदम् ।
आनन्दसन्दोहसरोनिमग्नो
वक्तुं क्षणं नैव शशाक किञ्चित् ॥

(का. ख. ७८।५६,५८)

इसी प्रकार ९२ वें अध्याय में 'गङ्गा' के माहात्म्य-वर्णन के उपक्रम में निम्न-लिखित श्लोक पठनीय है–

गङ्गा सर्वसरिद्योनिः समुद्रस्यापि पूरणी ।
गङ्गया न लभेत् साम्यं काचिदत्र सरिद्वरा ॥

(का. ख. ९२।७)

इस श्लोक में महर्षि व्यास ने 'गङ्गा' को सभी नदियों की '**योनि**' एवं समुद्र को भी पूरित करने वाली बताया है और यह भी कहा है कि 'गङ्गा' की बराबरी किसी नदी से नहीं की जा सकती ।

आगे ९४ वें अध्याय के निम्न श्लोक में काशी-माहात्म्य के वर्णन-प्रसंग में कहा गया है कि योग-सिद्धि, तपःसिद्धि, व्रत-सिद्धि, मन्त्र-सिद्धि तथा तीर्थ-सिद्धि काशी में सहजरूप से प्राप्त होती है । यथा –

योगसिद्धिरिहास्त्येव तपःसिद्धिरिहैव हि ।
व्रतसिद्धिर्मन्त्रसिद्धिस्तीर्थसिद्धिः सुनिश्चितम् ॥

(का. ख. ९४।४३)

इसी प्रकार के अन्यान्य तात्त्विक विवेचनों से 'काशीखण्ड' का यह चतुर्थ-भाग ओत-प्रोत है । इस भाग में समाविष्ट विषयों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका

है । इस भाग में वर्णित सभी अध्यायों को समापनोन्मुख बनाते हुए महर्षि ने कहा है कि समस्त वाङ्मय का मन्थन करने के अनन्तर मैं यह दृढ़ता के साथ कह रहा हूँ कि काशी में शरीर छोड़ने वालों की मुक्ति ध्रुव है । यही भाव वक्ष्यमाण श्लोक में प्रतिपादित हुआ है –

निर्मथ्य विष्वग्वाग्जालं सारभूतमिदं परम् ।
ब्रह्मणोदीरितं पूर्वं काश्यां मुक्तिस्तनुत्यजाम् ॥

(का. ख. ७९।३२)

भूमिका वाली इस औपचारिकता को अधिक न बढ़ाते हुए यहाँ यही निवेदन करना चाहता हूँ कि काशीखण्ड के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भागों में विस्तृत भूमिकाएँ दी जा चुकी हैं, जिन्हें उन-उन भागों में देखा जा सकता है ।

इसी सन्दर्भ में मैं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ, जहाँ से इतने बड़े सारस्वत-कार्य को भारतीय जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान किया गया । इस काशीखण्ड के तृतीय एवं चतुर्थ भागों का प्रकाशन विश्वविद्यालय के वर्तमान यशस्वी कुलपति के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ, एतदर्थ मैं कुलपति **श्री डॉ. मण्डन मिश्र जी** के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ । डॉ. मिश्र जी ने भारतवर्ष को संस्कृतमय बनाने में सारा जीवन न्यौछावर किया है, इससे सम्पूर्ण संस्कृत समाज परिचित है । केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठों की स्थापनाओं में अग्रणी भूमिका निभाने से लेकर अनेक संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापनाओं तक वे अविराम गति से चलते रहे हैं, यह भी संस्कृत-सेवियों से छिपा नहीं है । डॉ. मिश्र से मेरा परिचय लगभग ४0 वर्षों से अधिक समय से है । इतने सुदीर्घकाल में मैंने उन्हें बहुत निकटता से देखा है, शास्त्र-चर्चाएँ की हैं, संस्कृत के विकास की सम्भावनाओं पर गम्भीर परामर्श किये हैं, संस्कृत के विद्वानों को सम्मानित/पुरस्कृत कराने एवं संस्कृत-छात्र-समुदाय को हर तरह से आगे बढ़ाने से लेकर शास्त्रीय पाण्डित्य की रक्षा के सम्बन्ध में जो अनुचिन्तन डॉ. मिश्र के साथ होते रहे हैं, उन-उन प्रसङ्गों को स्मरण करके मन पुलकित हो उठता है कि संस्कृत की चिन्मय-शक्तियों के आलोक को सम्पूर्ण भारत में प्रसृत कराने में डॉ. मिश्र ने निश्चय ही अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा एवं पाण्डित्य का उपयोग किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । ऐसे संस्कृत-साधना-परायण, विश्रुत मनीषी, ओजस्वी वक्ता, विद्वत्सम्मानकर्त्ता तथा संस्कृत-विकास के पुरोधा के प्रति बार-बार अपना कृतज्ञता-प्रकाश समर्पित करता हूँ, जिनकी निरन्तर प्रेरणा से काशीखण्ड का यह चतुर्थ भाग विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है ।

इसी सन्दर्भ में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्व. **आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री जी** के प्रति अपना प्रणाम निवेदित करता हूँ, जिन्होंने हमेशा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपने सुझावों के साथ प्रेरणा प्रदान की । साथ ही आचार्यप्रवर गुरुकल्प **पण्डित श्री बलदेव उपाध्याय** जी के प्रति अपना भूरिशः प्रणाम निवेदित करता हूँ, जिन्होंने काशीखण्ड के सम्पादन एवं शीघ्र प्रकाशन में निरन्तर अभिरुचि दिखाई है । इसी क्रम में मैं सर्वतन्त्रस्वतन्त्र **आचार्य श्री रामप्रसाद त्रिपाठी जी** के प्रति सादर अभिवादन निवेदित करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों से हमें सदा उपकृत किया है । यहाँ मैं अनुजकल्प **आचार्य श्री विद्यानिवास मिश्र** के नवोन्मेषी एवं स्फूर्तिदायी तेजोदीप्त सुझावों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ । इसी प्रकार आचार्यप्रवर **पण्डित श्री कुबेरनाथ शुक्ल जी** के प्रति शिरसा नमन करता हूँ, जिन्होंने काशी, माँ गङ्गा एवं भगवान् विश्वेश्वर से प्राप्त अपने तपःपूत सुझावों से मुझे सदा अनुप्राणित किया है ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमारे शिष्य एवं विश्वविद्यालय के प्रकाशनाधिकारी **डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** का सोत्साह निरन्तर योगदान रहा है और प्रकाशन-विभाग के समस्त कर्मचारियों की सदा अनुरक्ति रही है, विशेषकर **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय** की । एतदर्थ मैं इन लोगों को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ, साथ ही इस ग्रन्थ के चारों भागों को सौष्ठवपूर्ण साज-सज्जा में शीघ्र प्रकाशित करने में दक्ष 'रत्ना प्रिन्टिंग प्रेस' के सञ्चालक **श्री विपुल शङ्कर पण्ड्या** को भी अपना माङ्गलिक शुभाशीर्वाद अर्पित करता हूँ ।

इस प्रसङ्ग का समापन करते हुए मैं उन परिचित, सुपरिचित एवं अपरिचित काशीखण्ड के पाठकों के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिनके पत्र, दूरभाष, सन्देश एवं आदेश शीघ्र प्रकाशन के लिए निरन्तर प्राप्त होते रहे हैं । अन्त में पुनः भगवान् विश्वेश्वर एवं पराम्बा अन्नपूर्णा के श्रीचरणों में इस काशीखण्ड को समर्पित करते हुए निम्नलिखित श्लोक के उल्लेख के साथ इस प्रसङ्ग को विराम देता हूँ ।

भूमिष्ठाऽपि न याऽत्र भूस्त्रिदिवतोऽप्युच्चैरधःस्थापि या
या बद्धा भुवि मुक्तिदा स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तवः ।
या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतटिनीतीरे सुरैः सेव्यते
सा काशी त्रिपुरारिराजनगरी पायादपायाज्जगत् ॥ इति ।

(का. ख. १।२)

वाराणसी
महाशिवरात्रि,
वि. सं. २०५४

करुणापति त्रिपाठी
पूर्व-कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

कथा-सारांश

[७६]

[इतिहासपूर्वक त्रिलोचन का माहात्म्य]

त्रिलोचनं महादेवं वन्दे श्रेयः प्रदायकम् ।
यन्नामस्मरणेनैव चतुर्वर्गः सुलभ्यते ॥

यह त्रिलोचन का धर्मधाम विरज संज्ञक (सिद्ध) पीठ भी कहा जाता है । यह त्रिलोचन मंदिर, रथन्तर कल्प में मणिमाणिक्य निर्मित था और उत्तुङ्गता में गगनचुम्बी था । इस देवस्थान का स्वर्णकलश सुदूर से ही देदीप्यमान होता था ।

उंसी मंदिर में अपना नीड़ बनाकर एक कपोत युग्म रहता था । वह त्रिकाल में नित्य उक्त मंदिर की परिक्रमा किया करता था । उसके पंख के पवन से वहाँ पड़ी धूल भी उड़ जाती थी । वे नित्य पूजा अर्चना देखते रहते थे । कभी-कभी तो पूजा देखने में इतने मग्न हो जाते थे कि खाना-पीना छोड़कर बैठे ही रह जाते थे ।

एक बार एक श्येनपक्षी (बाज) ने उनको नीड़ में बैठे देख लिया । उनको पकड़-खाने की चिन्ता में बड़े ध्यान से अपनी ओर देखती उस श्येन पक्षी को पाकर कपोती ने कपोत से सावधान रहने और इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चलकर बसेरा बनाने का तीन बार तीन दिनों तक आग्रह किया । पर अपनी उड़ान के अहंकार के कारण कपोती की प्रार्थना को बार-बार कपोत अस्वीकार करता रहा । वह उसी नीड़ में रुका रहा ।

एक दिन सबेरे से ही श्येन पक्षी उस नीड़ को छेंककर वहीं बैठकर कपोत को ललकारते हुए और डराते हुए कहा कि यदि बाहर नहीं निकलेगा तो भूखों मर जायेगा; । ललकार के वश श्येन से लड़ने के लिए ज्यों ही कबूतर नीड़ से बाहर आया, त्यों ही बाज ने झपट कर कपोत को तो अपने दृढ़ पंजों से और कपोती को चोंच से पकड़ कर उड़ चला । अन्य पक्षियों से हीन सुनसान स्थान पर भोजन करने के लिए सोचने लगा । कपोती ने फिर एक बार समझाते हुए

कहा– "मैं आपके ही हित की बात कहती हूँ । अब भी मेरी बात मान लें । चोंच में हूँ । वह खाली नहीं है । अब भी आप इसके पंजे वाले पाँव में कठोरता से काटिए" ।

वैसा करने पर पीड़ा से छटपटाते श्येन पक्षी को एक ओर चोंच ज्यों ही कुछ खुली, त्यों ही कपोती निकल गई और चंगुल (पंजा) के ढ़ीला पड़ जाने से कपोत भी छूट गया । दोनों बाजरूपी काल के मुख से छूट कर सरयूतटस्थ मुक्तिक्षेत्र अयोध्या में जा पहुँचे । कालानुसार उनकी मृत्यु हुई । अयोध्या का माहात्म्य है कि वहाँ मरनेवाले को जन्मांतर में काशी अवश्य प्राप्त होती है

'मृतानां यत्र (अयोध्यायाम्) जन्तूनां काशीप्राप्तिर्भवेद्ध्रुवम्' काशी में वह कपोत जन्म लेकर मंदारदाय का पुत्र परिमलालय नामक विद्याधर हुआ और कुमारावस्था में ही अनेक विद्याओं का ज्ञाता और कला कौशलादि का पात्र हुआ । वह जितेन्द्रिय था और एक पत्नी व्रती । क्योंकि –

परयोषित्समासक्तिरायुःकीर्तिं बलं सुखम् ।
हरेत्स्वर्गगतिं चापि तस्मात्तां वर्जयेत्सुधीः ॥

(काशीखण्ड, ७६ । ८१)

उक्त विद्याधर ने यह भी निश्चय किया कि जब तक शक्ति है, तब तक काशीपुरी में अशोक पुण्यसदन, चतुःपुरुषार्थसाधक सकलकामनादाता ...त्रिलोचन महादेव के पूजन बिना किए कुछ भी भोजन नहीं ग्रहण करूँगा–

समस्तपुण्यनिलयं समस्तार्थप्रकाशकम् ।
यावच्छरीरमरुजं यावन्नेन्द्रियविप्लवः ॥
तावत् त्रिलोचनं काश्यामनर्च्याश्नामि नाण्वपि ॥

(वही-श्लो. ८३-८४)

इस भाँति दृढ़ नियमधारी परिमलालय नित्य ही त्रिलोचन का दर्शन करने आता ।

दूसरी ओर भी पाताल में नागराज रत्नदीप की रत्नावली नामवाली कन्या हुई । वह समस्त नाग-कन्याओं में रूप-शील कलाओं में श्रेष्ठ रत्न स्वरूप हुई । प्रभावती और कलावती नाम की उसकी दो सखियाँ छाया के समान सदा साथ रहती थीं । रत्नावली का पिता बड़ा शिवभक्त था । अतः तत्प्रभाव से रत्नावली भी किशोरावस्था के आरंभ से काशीस्थ त्रिलोचन की भक्त हो गई और नागलोक से नित्य वाराणसी आकर 'त्रिलोचन-महादेव' का दर्शन नहीं कर लेती, तब तक मौनव्रती रहती ।

एक बार वैशाखशुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) को त्रिलोचन का व्रत रखते हुए उसी मंदिर में रात्रि-वेला में नृत्य-गीत गाती रात्रिभर जागरण करती रही और प्रातःकाल चतुर्थी को उठकर पिलपिलातीर्थ में स्नानकर त्रिलोचन रंगमंडप में जाकर सो गयी। उनके सो जाने पर भगवान् त्रिलोचन, उसी पन्नगमेखलावाले लिंग से निकलकर, जटाजूटधारी, गौरांग, वामार्ध में शक्ति संयुक्त नागयज्ञोपवीत नीलकंठ उन कुमारियों को जगाया। जँभाई लेती हुई, आँख मलती वे कुमारियाँ प्रसन्न होकर भी रुद्धकंठ हो गईं और गद्‌गद स्वर से भगवान् की स्तुति करने लगीं। [पाठक यह स्तुति काशीखंड मूल के अध्याय ७६, श्लो. १०५ तक देखें] यह स्तोत्र पाठक के मनोरथ का पूरक एवं समस्त पापनाशक है।

इसके अनंतर नाग-कन्याओं ने चारों के पूर्व जन्मवृत्तान्त को पूछा। भगवान् त्रिलोचन ने बताया। उन्होंने रत्नावली और परिमलालय के पूर्वजन्मवृत्तांत बताते हुए कहा कि ये पूर्वजन्म में कपोती-कपोत थे। पूर्वोक्त कपोत युगल की संपूर्ण कहानी सुनाई। उनकी पूर्वजन्म की बात बताते हुए कहा कि तिर्यग्-योनि में होने से इनकी मृत्यु काशी में न होकर अयोध्या में हुई। अयोध्या में मृत्यु होने से कपोती नागराज की कन्या रत्नावली हुई और कपोत 'विद्याधर' हुआ।

नागराज पद्‌मी की इस जन्म में जो कन्या प्रभावती नामिका है, तथा त्रिशिर नाम के नागेन्द्र की पुत्री कलावती नामिका भी इस जन्म से तीन पूर्व जन्म में दोनों ही महर्षि चारायण की परस्पर स्नेहवती शीलवंती कन्याएँ हुई थीं। उनकी इच्छानुसार चारायण ने दोनों का अमुष्यायण मुनि पुत्र 'नारायण' को कन्यादान कर दिया। वह ऋषिकुमार किशोरावस्था से पूर्व ही सर्प दंश से मृत्यु को प्राप्त हुआ। तभी से कोई बुद्धिमान् व्यक्ति देवता और नदी के नामवाली कन्या से विवाह नहीं करता।

तत्पश्चात् किसी ऋषि के विचित्र आश्रम में जाकर मोहवश बिना दिए हुए केला का फल ले लिया। कालान्तर में मृत्यु के पश्चात् केलाचौर्य के फलस्वरूप दोनों (बिचले जन्म में) बानरी हुईं। दूसरी ओर 'नारायण' नामक ऋषि कुमार सर्पदंश के अनन्तर पूर्वोक्त त्रिलोचन क्षेत्र काशी में कपोत हुआ। प्रत्येक जन्म में वही नारायण पुनर्जन्म लेकर भी उनका पति होता रहा। वही 'परिमलालय' पुनः 'रत्नावली' 'प्रभावती' और 'कलावती' का पति होनेवाला है। दूसरी ओर दोनों बानरियाँ क्रीड़ावश चतुर्नद तीर्थ में डुबकी लगाने और उस पवित्र जल को पीने के फलस्वरूप यद्यपि मदारी द्वारा पकड़ ली गईं उन्हें नाचना-उछलना-कूदना पड़ा, तथापि वे नाग कन्याएँ हुईं।

अब पुनः तीनों – विद्याधर कुमार को पति के रूप में पाकर स्वर्गसुख भोगने के पश्चात् 'त्रिलोचन' की सेवावश मोक्ष पाएँगी । कहा है –

"यदल्पमपि वै काश्यां कृतं कर्म शुभावहम् ।
तस्य मोक्षः परीपाको निश्चितं मदनुग्रहात् ॥
त्रिलोक्यामपि सर्वस्यां श्रेष्ठा वाराणसी पुरी ।
ततोऽपि लिङ्गमोङ्कारं ततोऽप्यत्र त्रिलोचनम् " ॥

(वही – श्लो. १५५-१५६)

इत्यादि कहकर 'त्रिलोचन' अंतर्धान हो गए ।

तदनंतर कुछ दिनों बाद एक बार वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षयतृतीया) को 'विरजतीर्थ' में समस्त विद्याधर, उनके राजा तथा नागलोक के बन्धु-बांधव सहित आये हुए नागराज ने कुलादिपरिचय के पश्चात् तीनों नागकन्याओं का परिणय विद्याधर कुमार 'परिमलालय' के साथ धूमधाम से कर दिया । तदनंतर विपुल सुख-भोग करते हुए 'त्रिलोचन महादेव' की सेवारत रहने से 'परिमलालय' उसी लिंग में लीन हो गया– मोक्ष प्राप्त किया । यह कथा और त्रिलोचन की महिमा सुनकर श्रोता भी कलियुग में निष्पाप हो जाता है । आज भी त्रिलोचनघाट पर बड़ी भीड़ होती है और वहाँ नहाकर त्रिलोचन का लोग दर्शन करते हैं ।

[७७]

[श्रीकेदारेश्वर-माहात्म्य]

इस अध्याय में काशी के **केदारेश्वर** का माहात्म्य विशेषरूप से वर्णित है । प्रासंगिकरूप में हिमालयस्थ श्रीकेदारनाथ की महिमा भी वर्णित है । यात्रा के केवल संकल्प से, आधा मार्ग भी पूरा कर लेने से, नाम ले लेने आदि की भी बड़ी महनीयता है । इस सबको ध्यान में रखकर पार्वती जी ने महादेव से पूछा कि यतः आपकी प्रीति है, अतः आप काशी के **श्रीकेदारेश्वर** का माहात्म्य कहें ।

महादेव जी ने कहा – यदि कोई घर में रहकर भी सन्ध्या समय तीन बार केदार के नाम का उच्चारण करे, तो उसे 'केदार' की यात्रा का फल मिल जाता है । इसी प्रकार केदार मंदिर के शिखर-दर्शन, वहाँ के जलपान आदि की महिमा भी बतायी । यदि कोई 'हरपाप कुंड' में स्नान और केदारेश्वर का दर्शन कर ले, तो करोड़ों जन्म का पाप छूट जाता है । 'हरपाप' पर श्रद्धापूर्वक भाव करे, तो उसके सात पुरुखों का उद्धार हो जाता है और उसे त्रिलोक प्राप्त होता है । यह सब बताकर 'रथंतरकल्प' की एक कथा कही– एक ब्राह्मण का पुत्र वशिष्ठ

यज्ञोपवीत के अनंतर काशी आया । यहाँ जटाधारी भस्माञ्चित देह, भिक्षामात्र भोजी, गंगाजलपायी पाशुपत ब्राह्मण को देख वहीं रह गया । उसने हिरण्यगर्भ आचार्य से पाशुपत व्रत और दीक्षा ग्रहण किया । वह समस्त शैवों में प्रमुख हो गया । वह विधि विधानपूर्वक हरपापकुण्डस्नायी भस्मावगुंठित कलेवर, त्रिकाल शिवपूजक एवं गुरु और शिवलिंग में अभेद-बुद्धि रखता था ।

एक बार बारह वर्ष की अवस्था में गुरु के साथ केदारेश्वर दर्शनार्थ हिमालय पर्वत पर गया । वहाँ के लिंग-दर्शन लिंगरूपी, जलपान आदि की महिमा से स्वयं लिंगरूप हो जाते हैं । गुरु वहाँ असिधारपर्वत पर पहुँच कर मर गये । और वे विमानारूढ़ होकर कैलाश धाम पहुँच गए । वह ब्राह्मण पुत्र लौट आया । वह बाल ब्रह्मचारी केदारनाथ की इकसठ (६१) बार चैत्र पूर्णिमा को यात्रा की । वृद्ध हो जाने पर भी चैत्र मास निकट आने पर वह जब तक जीता रहा 'केदारेश्वर' यात्रा करता रहा* ।

स्वप्न में शिव जी ने उस ब्रह्मचारी वशिष्ठ ब्राह्मण को कहा कि मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । मुझे केदार समझो । स्वप्न को झूठा न मानो । इसे सच समझो ।

इस पर उस तपस्विसत्तम ने मुझसे (शिवजी से) वर माँगा – "महादेव, देवेश, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मेरे साथ चलनेवाले सब लोगों पर आप अनुग्रह करें" । शिव ने "तथास्तु" कह दिया, तथा पुनः वर माँगने को कहा । उस शैव व्रतधारी वशिष्ठ ने कहा – "यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो हिमाचल से आकर आप यहाँ पर (काशी में) वास करें" ।

तबसे महादेव हिमालय के केदारेश्वर में अपनी कलामात्र को छोड़कर सर्वभाव से काशी में रहने लगे –

ततस्तत्तपसाकृष्टः कलामात्रेण तत्र हि ।
हिमशैले ततश्चात्र सर्वभावेन संस्थितः" ॥

(काशी. उत्तरार्ध अध्याय ७७, श्लो. ४१)

हिमालय पर्वत पर स्थित केदारेश्वर में जो फल मिलता है, काशी में विशेषतः कलियुग में केदारेश्वर-दर्शन उसका सात गुणा फल देता है । पहले हरपापतीर्थ सात जन्मों के पाप हरता था; परन्तु जब से गंगा में मिला तब से करोड़ों जन्म का पापहर्त्ता बन गया । दो कौए लड़ते-लड़ते यहाँ गिरे और हंस हो गए । तभी से

---

* श्वेतकेशी हो जाने पर वशिष्ठ को 'केदारेश्वर' की यात्रा के लिए सन्नद्ध देखकर साथियों ने उसकी मृत्यु के भय से उसे रोका । पर वह न रुका । उसने सोचा कि मार्ग में ही मर जाने पर मेरी भी गुरु के समान गति होगी ।

यह 'हंसतीर्थ' हुआ । गौरी माता के सर्वप्रथम स्नान के कारण यह गौरीकुंड है । यहाँ गंगा भी 'मधुस्रवा' कहलाती हैं । इसी 'हरपापतीर्थ' पर 'मानस' नामक सरोवर पुरायुग में घोर तपस्या करने के कारण 'मानसतीर्थ' हो गया ।

[७८]

[धर्मेश्वर-पूजन]

पार्वती ने भगवान् शंकर से पूछा–हे शंभो! आनंदकानन में कौन-सा ऐसा शिवलिङ्ग है, जो समस्त पापों का नाशक तथा स्मरण, दर्शनादि असीम कल्याण का दाता है व उत्तर में शंभु ने जो कहा उसी का वर्णन करते हुए पार्वतीनन्दन स्कन्द घटयोनि को बताते हैं । शंकर ने यह रहस्य पार्वती से कहा–"विश्व में जहाँ तुम्हीं मुक्तिस्वरूपा हो और जहाँ तुम्हारे पुत्र क्षेत्रविघ्न-विनाशक हैं-इत्यादि उसका मैं वर्णन करता हूँ–उसकी बड़ी महिमा है, (देखिये काशी. मूल-अध्याय. ७८, श्लो ९ से १५ तक) । उस महापातकनाशक और कल्याणकर लिंगका माहात्म्य और आविर्भाव मैं वर्णन करता हूँ" ।

आनंदकानन में यह स्थान 'धर्मपीठ' के नाम से प्रसिद्ध है । इसका दर्शन सर्वपापमोचक है । सूर्यपुत्र यम ने यहीं तुम्हारे संमुख घोर तपस्या की थी । वे केवल मेरे दर्शनार्थ उग्र समाधि लगा कर चारों युगों की चार चौकड़ी तक तपोनिरत रहे । मैं उनकी तपस्या से कांचनशाख नामक महावटवृक्ष के नीचे–जहाँ वह तपोरत थे– गया । वहीं पर सूर्यकांत नामक माटी का महालिंग स्थापित करके तपःस्थित थे । मैंने यमराज से वर माँगने को कहा; क्योंकि मैं परम प्रसन्न था । भानुनंदन हृष्टचित्त होकर निष्कपट भाव से मेरी स्तुति करने लगे । (स्तुति के लिएं मूल काशी. अ. ७८, श्लो. ३२ से ४९ तक) और भूतल में लेटकर साष्टांग दण्डवत् करते हुए' नमः शिवाय' मन्त्र से सहस्रबार प्रणाम करते रहे । इस पर भगवान् महादेव ने वरदान दिया–'आज से तुम्हारा नाम धर्मराज होगा । तुम धर्म के शास्ता, धर्माधिकारी, समस्तकर्मसाक्षी होंगे । तुम्हारे थोड़े ही पूजन से बड़ा पुण्य होगा ।

'धर्मपीठ' स्थान कल्याणप्रद एवं महाकल्याण का देने वाला है । 'धर्मेश्वर' भक्तों की समस्त कामनाएँ पूर्ण करता है । 'धर्मेश्वर' का एक बार भी पत्र, पुष्प, दूर्वा और जल से जो पूजन कर लेगा, देवगण उसकी मन्दार की मालाओं से पूजा करेंगे । यहाँ गंगा-स्नान और इस पीठ पर दान की भी बड़ी महिमा है ।

कार्तिक शुक्ल अष्टमी व्रत, उत्सवपूर्वक जागरण का भी अपार माहात्म्य है । यम की स्तुति भी महनीय है । भगवान् शिव ने और भी वर माँगने को कहा । पर यमराज आनंद सरोवर में डूबकर बेसुध (निस्तब्ध) हो गए ।

[७९]

[धर्मेश्वर का उपाख्यान]

स्कन्द ने कहा–'भगवान् शंकर द्वारा स्पर्श कर देने से धर्मराज रोमांचित होकर शिव के कहने से शुक-पोतों को वरदान करने को कहा; क्योंकि इनकी माता शुकी बच्चों की जनन-वेला में ही मर गई। पिता शुक को बाज ने खा डाला। उस पर भी इन्हें आपने ही बचाया-जिलाया। 'धर्मेश्वर' के भक्त परिचारक को वर मागने को कहा। "शुक-शावकों ने कहा इस विश्व में समस्त क्षणभंगुर पदार्थों में शिवपूजा ही अभंगुर है। उसे देख हम लोगों के करोड़ो जन्म की स्मरण शक्ति प्रस्फुरित हो रही है।'

'हमलोगों ने अनेक योनियों में भ्रमण किया। देव, दानव, नाग, राक्षस, किन्नर-गन्धर्व विद्याधर योनियों में जन्म लेकर देवांगनाओं आदि का भोग क़िया। पृथ्वी पर, राजा, रंक, किं बहुना चारों प्रकार के भूतग्रामों में जन्म-मरण का चक्कर लगाते रहे। पर स्थायी सुख कहीं न मिला। अब ऐसा वर दीजिए, जिससे दुर्भेद्य प्रकृति के पाश-बन्धन से मुक्ति पावें। हम लोक इन्द्रासनादि की कामना नहीं करते। केवल मुक्ति चाहते हैं। समस्त वाग्जाल के मंथनानन्तर ब्रह्मा ने कहा था–'काशी में मरने वालों को मुक्ति मिलती है'। याज्ञवल्क्यमुनिराज ने भी कहा था कि काशी में मरण से परम पद प्राप्त होता है। स्वामी ने भी मंदराचल पर जगदम्बा से कहा था–'काशी ही निर्वाण की भूमि है'। व्यास एवं लोमशमुनि एवं अन्यान्य प्राचीन ऋषियों का यही मत है–

> **एतदेव परं ज्ञानं संसारोच्छित्तिकारणम्।**
> **वपुर्विसर्जनं काले यत्तवानन्दकानने॥**
> **निर्मथ्य विष्वग्वाग्जालं सारभूतमिदं परम्।**
> **ब्रह्मणोदीरितं पूर्वं काश्यां मुक्तिस्तनुत्यजाम्॥**
> **यद्वाच्यं बहुभिर्ग्रन्थैस्तदष्टाभिरिहाक्षरैः।**
> **हरिणोक्तं रविपुरः कैवल्यं काशिसंस्थितौ॥**
> **याज्ञवल्क्यो मुनिवरः प्रोक्तवान् मुनिसंसदि।**
> **रवेरधीत्य निगमान्काश्यामन्ते परं पदम्॥**
> **स्वामिनाऽपि जगद्धात्रीपुरतो मन्दराचले।**
> **इदमेव पुरा प्रोक्तं काशीनिर्वाणजन्मभूः॥**
> **कृष्णद्वैपायनोऽप्येवं शम्भो! वक्ष्यति नान्यथा।**
> **यत्र विश्वेश्वरः साक्षान्मुक्तिस्तत्र पदे पदे॥**

वदन्त्यन्येऽपि मुनयस्तीर्थसंन्यासकारिणः ।
चिरन्तना लोमशाद्याः काशिका मुक्तिकाशिका ॥
वयमप्येवं हि जानीमो यत्र स्वर्गतरङ्गिणी ।
आनन्दकानने शम्भोर्मोक्षस्तत्रैव निश्चितम् ॥
(काशी० अध्याय–७९, श्लो. ३१-३८)

शुक-शावकों ने आगे कहा–"धर्मेश्वर के परम अनुग्रह से हमारे लिए उपर्युक्त एवं अन्यान्य सब बातें करतलामलकी सदृश हैं । हे विभो! धर्मराज के तपःप्रभाव से हम लोग तिर्यग्योनि में होने पर भी सब कुछ जानते हैं" । पक्षियों के वचन सुनकर देवदेव धर्मपीठ की बड़ाई करने लगे–त्रैलोक्यरूपी नगर में काशी ही मेरा राजमन्दिर है, उसमें भी मोक्षलक्ष्मी विलास नामक मेरा परम मंगलमय प्रासाद है । स्वेच्छानुसार आकाश में विचरण करते हुए दैवात् उक्त मंदिर की प्रदक्षिणा करने पर पक्षिगण भी विमानचारी देवता हो जाते हैं । उसके दर्शन से ब्रह्महत्या भी छूट जाती है ।

जो लोग 'मोक्षलक्ष्मीविलास-मंदिर' का कलश-दर्शन कर लेते हैं, या 'मंदिर-शिखर पताका' का दर्शन पा जाते हैं, उन्हें निधियाँ सुलभ हैं और शिवलोकवासी हो जाते हैं । सर्वव्यापक होने पर भी मेरा प्रधान स्थल वही है । पास ही में 'मुक्ति-मण्डप' है । वह अनन्तफलदायी है । उस 'मुक्तिमण्डप' में 'शिव' का एक बार 'षडक्षरमंत्रजप', 'कोटिरुद्रिय-पाठ' का फलप्रद है । इस प्रकार (काशीखण्ड वही. श्लोक ५३ से अनेक श्लोकों में) 'मुक्तिमण्डप' का माहात्म्य और फलस्तुति वर्णित है ।

महादेव ने बताया कि मैं वहीं 'ज्ञानवापी' में उमादेवी के साथ जलक्रीडा करता रहता हूँ । मोक्षलक्ष्मी प्रासाद के उत्तर भाग में 'ऐश्वर्य-मंडप' भी है । वहीं भगवान् शिव समस्त ऐश्वर्य प्रदान करते हैं ।

'विशालाक्षी' देवी-मंदिर ही शिव का विश्रामगृह है । वहाँ लोकदुःख-दुखी जन को विश्राम मिलता है । इसी प्रकार मेरे स्नान का स्थान 'चक्रपुष्करिणी' (मणिकर्णिका) भी है । वहाँ पर स्नानकर्ता को शिव मुक्ति देते हैं । जिसे शास्त्र में परमतत्त्व और स्वसंवेद्य कहा गया, उसी को 'तारक-ज्ञान' भी कहते हैं । शिव वहीं उस ज्ञान का उपदेश देते हैं । 'मणिकर्णिका' की बड़ी महिमा है । वही मंगलभूमि और पशुपाशमोचक है । वहाँ शिव जी, अग्रज और अन्त्यज–सभी को सब कुछ दे डालते हैं । वहाँ पहुँच जाने मात्र से चाण्डाल भी 'मोक्षलक्ष्मीदीक्षा' का अधिकारी हो जाता है । 'वृषभध्वजतीर्थ' भी समीप में ही है । अन्य स्थानों में जिसे देने में कृपण हो जाता हूँ, इस 'मणिकर्णिका' तीर्थ में सबको (ब्राह्मण से

चाण्डालपर्यन्त) दे डालता हूँ । "शरीर, संपत्ति और मणिकर्णिका"– इन तीनों का एकत्र हो जाना त्रिसंयोग है । यहाँ (मणिकर्णिका पर) मैं समस्त प्राणियों को मुक्तिलक्ष्मी का दान करता हूँ । 'मुक्तिदान' का यही प्रधान स्थान है । उसके समान त्रैलोक्य में कोई स्थान नहीं है ।

आगे–'अविमुक्तेश्वर', 'पशुपतीश्वर', 'ओंकारेश्वर' की विशिष्टता वर्णित है । इसी प्रकार 'कृत्तिवासेश्वर' 'रत्नेश्वर', 'त्रिलोचन महादेव', 'वृषभध्वज', 'आदिकेशव', 'मंगलपीठ', 'पंचमुद्रा-पीठ', 'चन्द्रेश्वर', 'सिद्धेश्वरी', 'योगिनीपीठ' आदि की महिमा, एवं फलस्तुति बतायी गयी है । आगे शिव ने यह भी कहा– "सूर्यनन्दन, मैं आज से तपोवन 'धर्मेश्वर-पीठ' को कभी नहीं छोड़ूँगा । ये शुक-शावक भी यहीं मुक्ति प्राप्त करेंगे" । भगवान् शंकर के कहते ही रुद्रकन्याओं से विभूषित विमान आ पहुँचा । उस पर चढ़कर शुक-शावक शिवलोक जा पहुँचे ।

[८०]

[मनोरथ-तृतीया-माहात्म्य]

स्कन्द ने बताया कि 'माता गौरी ने धर्मेश्वर के माहात्म्य को सुनकर कहा कि वे अब 'धर्मेश्वर-पीठ' में 'विश्वभुजा' देवी के नाम से रहा करेगीं । इस पर शंकर ने कहा–"जो लोग 'विश्वभुजा' नाम से 'धर्मेश्वर' पीठ में रहेंगे या रहेगी उनका समस्त मनोरथ सिद्ध होगा । जो नर-नारी 'मनोरथ तृतीया' का विधिवत् व्रतानुष्ठानादि करेंगे–'आशा विनायक' के पूर्वपूजन के साथ–विश्वभुजा का पूजन करेंगे, उनकी मनोरथपूर्ति हो जायेगी" । इसी प्रसंग में 'पुलोम पुत्री' शची की तपस्या और उसी बहाने 'मनोरथ-तृतीया' के विषय में विस्तार से भगवान् शंकर ने वर्णन किया ।

पूर्वकाल में शची ने किसी मनोरथ-सिद्धि के लिए घोर तपस्या की । पर असफल रहा । तब उसने मधुर गान से लिंग रूप से शंकर-पूजन किया । इससे सन्तुष्ट होकर शंकर ने वरदान माँगने को कहा । पुलोमजा ने देवों में माननीय सुन्दरतम एवं यज्ञों के कर्ताओं में श्रेष्ठ देव के पति की कामना की । साथ ही इच्छानुरूप रूप, आयु एवं सुख का वर माँगा । मन की सुखेच्छा से इच्छानुसार शरीरत्यागपूर्वक दूसरे शरीर के धारण कर सकने की भी कामना व्यक्त की । यह वर भी माँगा कि संसारमोचक शिवलिंग पूजन में सदा जन्ममरण-हारिणी अविचल भक्ति बनी रहे । इस पर शिव ने पुलोमजा को व्रतचर्या करने का निर्देश दिया ।

एतदनन्तर शंकर ने विधि-विधानपूर्वक सौभाग्यार्थ व्रताचरण का उपदेश देते हुए सौभाग्यव्रत के अनुष्ठानादि की विधि बतायी । इसी प्रसंग में 'मनोरथतृतीया' और उसके आचरण का विधान बताया । कहा– 'व्रतकर्ता को चाहिए कि बीस भुजावाली 'विश्वभुजा गौरी' का पूजन करे । चैत्र शुक्ल द्वितीया (चैत्र शुक्ल. श. तृतीया के पूर्व संध्या) को दन्तधावन, सायं संध्यादि के करने के पश्चात् एक हाथ में वर, दूसरे में अक्षसूत्र, तृतीय में अभय और चौथे में हाथ में मोदक लिए हुए (आशा विनायक) का पूजन करे और उक्त द्वितीया की रात में स्वल्प आहार करें । यह भी कहे– 'हे विश्वभुजे देवि ! मैं कल प्रातःकाल व्रत करूँगा या करूँगी । आप मेरी मनोरथ-सिद्धि हेतु उसमें पधारें' ।

प्रातःकालीन कृत्यनन्तर अशोकवृक्ष की दतुवन कर नित्यतन कृत्य की समाप्ति के अनन्तर शुद्धवस्त्रधारी होकर देवी का पूजन करे । पहले गणेश पूजन करे । घृतपूर (मालपूआ) का नैवेद्य लगाकर कुकुम्-लेपन, अशोकवृक्षपुष्प, धूपवत्ती और अशोकवर्तियुक्त घृतपूरों के नैवेद्य लगाकर माता विश्वभुजा गौरी के पूजनानन्तर घृतपूरों द्वारा एकाहार करे । तदनन्तर चैत्रशुक्ल तृतीया के बाद वैशाख से फाल्गुन मास तक इसी प्रकार प्रत्येक शुक्लपक्ष की तृतीया का व्रत करे । यह सब बताकर एकाहार के अन्नों और दतुवन के काष्ठों को गिनाया गया है । मूल का० ख० अ. ८० के श्लो. ३९ से ४३ श्लोक तक पाठक देखें । इसी प्रसंग में 'यक्षकर्दम' रूप अनुलेपन को सप्रीतिसमर्पण का उपदेश है । यह 'यक्षकर्दम' का अनुलेपन अन्य अनुलेपनों के न मिलने पर प्रशस्त है । इस 'कर्दम' में दो भाग कस्तूरी, दो भाग केशर, तीन भाग चन्दन और एक कर्पूर होता है–जो सब देवों को प्यारा है ।

एतदनन्तर पूजा के प्रशस्त पुष्प भी बताए गए हैं–गुलाब, बेला, कमल, केवड़ा, कर्णिकार, कोई, राजचम्पा, तगर, जाती आदि । इनके फूल न मिलने पर इनके पत्र, उनके भी न मिलने पर अन्य सुगन्धित पुष्पों के समूह से पूजा करे । करम्भ (दधिमिश्रित सत्तु), दही-भात, आम्ररसयुक्त माण्ड, फेनी, बड़ा, पायस, शक्कर सहित जाउर (खोआ) आदि विभिन्न महीनों (मासों) के नैवेद्य बताये गए हैं । (पाठक मूल देखें) फाल्गुन का विशेष नैवेद्य है–घृतपक्व, शक्कर युक्त पीडकया या पूरी । इन सबका यथाविधि गौरी-गणेश को नैवेद्य लगाकर उसी का एकाहार करे । एक वर्ष इसी प्रकार उपदिष्ट विधि-विधान के साथ प्रतिमास की शुक्ल तृतीया को आराधना कर के व्रत के समाप्त्यर्थ स्थंडिल में अग्निपूजन करे । व्रतकर्ता "जातवेदस" मन्त्र द्वारा होम करे । यह पूजा रात्रि में बतायी गयी है, अतः समापन भी रात्रि में करें ।

अन्त में दो मन्त्र कहे –

"गृहाण पूजां मे भक्त्या मातर्विघ्नजिता सह ।
नमोऽस्तु ते विश्वभुजे पूरयाशु मनोरथम् ॥
नमो विघ्नकृते (विघ्नविदारकाय) तुभ्यं नम आशाविनायक ।
त्वं विश्वभुजया सार्धं मम देहि मनोरथम्" ॥

(काशी. ८०।५५-५६)

इन मंत्रों द्वारा गौरी-गणेश की पूजा करे । सोपकरण देवशय्या पर आचार्य को बैठाकर व्रतकर्ता दुधारू गौ तथा छत्रोपानहादि दान करे और मंत्रहीन, विधिहीन एवं न्यूनातिरिक्तदोषपरिहारार्थ आचार्य का आशीर्वाद प्राप्तकर यथाशक्ति भूयसी दक्षिणा दे ।

श्लोक ६५ से ७८ तक फलस्तुति है । मूल देखें । अन्त में विश्वभुजा गौरी और आशाविनायक की पाँच रती से अधिक की (स्वर्ण) प्रतिमाएँ आचार्य को दे । यह सुनकर इस व्रतानुष्ठान से शची ने मनोरथ प्राप्त किया । तदनन्तर अरुन्धती, अनसूया ने क्रमशः वसिष्ठ और अत्रि को पतिरूप में पाया । सुनीति ने 'उत्तानपाद राजा' से 'ध्रुव' के समान पुत्र प्राप्त किया और क्षीरतनया 'लक्ष्मी' शेषशायी विष्णुरूप पति को पाया । इस कन्या के सुनने मात्र से सब पापों से मुक्त हो जाता है । 'सविधि' मनोरथतृतीया व्रतानुष्ठान सर्वाशा पूरक है ।

[८१]

[धर्मेश्वर माहात्म्य, धर्मकूप महिमा एवं राजा दुर्दम की कथा]

देवराज इन्द्र को वृत्रासुर को मारने से ब्रह्महत्या लग गई । बृहस्पति से इस महापाप की मुक्ति का उपाय पूछने पर उन्होंने 'काशी' जाने और वहाँ जाकर ब्रह्महत्या से मुक्ति पाने का उपदेश दिया और कहा कि यही 'हत्या' से मुक्ति का उपाय है–

"यदिं त्वं देवराजेमां ब्रह्महत्यां सुदुस्त्यजाम् ।
अपानुनुत्सुस्तद्याहि काशीं विश्वेशपालिताम् ॥ ४ ।
नान्यत्किञ्चित् क्वचिद्दृष्टं ब्रह्महत्यामहौषधम् ।
राजधानीं परित्यज्य शक्र ! विश्वेशितुः पराम् ॥ ५ ।
भैरवस्यापि हस्ताग्रादपतद्वैधसं शिरः ।
यत्रानन्दवने तत्र वृत्रशत्रो ! व्रज द्रुतम् ॥ ६ ।

सीमानमपि सम्प्राप्य शक्रानन्दवनस्य हि ।
ब्रह्महत्या पलायेत वेपमाना निराश्रया ॥ ७ ।

(काशी. अध्या. ८१, श्लोक ४-७)

बृहस्पति ने बताया कि काशी मुक्तिपुरी है । विश्वनाथ को वह बड़ी प्यारी है । उसके (काशी के) समान तुम्हारी देवपुरी भी नहीं है । वहीं जाकर हत्या से मुक्ति के लिए विश्वाराध्य विश्वेश्वर की आराधना करो ।

बृहस्पति के उपदेश से सहस्राक्ष इन्द्र काशी आए । उत्तरवाहिनी गंगा में स्नानकर उन्होंने 'धर्मेश्वर' के समीप टिककर महारुद्रमंत्र का जप करते हुए आराधना करते-करते लिंग के बीच से निकले ज्योतिर्मान त्रिलोचन का दर्शन कर वेदोक्त रुद्रसूक्त मन्त्रो से स्तुति करके महादेव को प्रसन्न किया । वहीं इन्द्र ने धर्मकूप धर्मतीर्थ में स्नान किया । भगवान् त्रिलोचन के प्रसन्न होने पर इन्द्र अपनी पूर्वकान्ति और शतक्रतु की दीप्ति से चमक उठे । वहाँ उपस्थित नारदादि यह आश्चर्य देखकर वहाँ स्नान करने लगे । वह तीर्थ भी ब्रह्महत्यादि पापों को धो डालने वाला 'धर्मकूप' नामक तीर्थ हो गया । [श्लो. २५से श्लो. ३८ 'धर्मकूप' का माहात्म्य–पाठक मूल में देखें]

वहाँ से अमरावती जाकर इन्द्र ने आनन्दवन शिवपुरी की बड़ी प्रशंसा की । तदनन्तर इन्द्र काशी लौट आए । वहाँ शिवलिङ्ग की स्थापना की । 'तारकेश्वर' लिङ्ग से पश्चिम की ओर 'इन्द्रेश्वर' नामक शिवलिङ्ग प्रसिद्ध है । उनके दर्शन से स्वर्ग प्राप्त होता है । उसके दक्षिण में 'शचीश्वर' नामक शिवलिङ्ग है । उसके पूजन से नारी अतुल सौभाग्य प्राप्त करती है । वहीं आस-पास में अनेक शिवलिङ्ग है–'रम्भेश्वर', 'लोकपालेश्वर', 'धरणीश्वर' 'तत्त्वेश्वर' 'वैराग्येश्वर', 'ज्ञानेश्वर', 'ऐश्वर्येश्वर' आदि अनेक शिवलिङ्ग हैं, जिनके दर्शन-पूजनादि के विभिन्न फल हैं । ये सब साक्षात् 'पञ्चवक्त्रस्वरूप हैं' । ये सब मुक्तिदायक हैं ।

[राजा दुर्दम की कथा]

'कदम्बशिखर' नाम की एक पहाड़ी थी । वहाँ 'दम' नामक राजा के शान्त हो जाने पर उसका पुत्र 'दुर्दम' राजा हुआ । वह बड़ा ही चपलेन्द्रिय हो गया । काममोहित दुर्दम नगरवासियों की युवती स्त्रियों को हर लेता था । दुष्ट जन उसके प्रिय थे । सज्जन जनों से विरोध करता था । वह निरपराधों का दण्डदाता था और अपराधियों को अदण्ड्य बनाये रहता था । वह व्याधों वनरक्षकों के साथ सदैव मृगयारत रहता था । अच्छे मन्त्रदाताओं को राज्य से निकाल दिया । शूद्रों को धर्माधिकारी बनाकर ब्राह्मणों से कर लेने लगा । अपनी स्त्रियों से

पराङ्मुख रहकर परनारियों में सन्तोष पाता था । उसने विष्णु और शिव का कभी पूजन नहीं किया । प्रजानाश के लिए असमय धूमकेतु के रूप में उसका उदय था ।

धर्मेश्वर के दर्शन की महिमा – एक बार की घटना है कि व्याधों के साथ आखेट-व्यसनी राजा दुर्दम नीलगाय का पीछा करते हुए घोड़े पर धनुष-बाण लिए-लिए अकेला ही आनन्दवन में जा पहुँचा । वहाँ छतनार वृक्षों की शीतल छाया में पहुँचते ही उसकी सारी थकावट और श्रान्ति दूर हो गयी । शीतल-मन्द-सुगन्धयुक्त पवन से मानों वृक्ष उसकी सेवा करने लगे । वहीं उसने गगनचुम्बी, रत्नशलाकाओं वाला परम रम्य धर्मेश्वर' के मंन्दिर को देखकर उनके मंडप में जा पहुँचा । वहाँ आ जाने पर अपने भाग्य की प्रशंसा करने लगा । वहाँ धर्मपीठ का दर्शन कर अपने नेत्रों को सफल मानने लगा । उसकी दुर्बुद्धि, पापासक्ति, क्रूराचार, अधर्मरति आदि सभी दूर हो गयी । वह अपने पूर्व सभी दुष्कर्मों में आसंजन की निन्दा करने लगा । उसके सब दुर्भाव दूर हो गए । ऐसे उत्तम स्थान का दर्शन पहले न करना अपना दुर्भाग्य मानने लगा ।

'धर्मेश्वर लिङ्ग का दर्शनकर उन्हें प्रणाम किया और घोड़े पर चढ़कर अपने राज्य में वापस चला गया । वहाँ पहुँच पुराने परम्परागत मन्त्रियों को पुनः उनके स्थानों पर प्रतिष्ठित किया । अयोग्यों को हटा दिया । ब्राह्मणों को पुनः बुलाकर उन्हें वृत्तियाँ दीं । तदनन्तर राज्य का भार पुत्र को सौंपकर स्त्री-धनादि और राज्य को त्यागकर विषय-वासना से विमुख और जितेन्द्रिय होकर **श्रेयोविकासिनी** काशी में एकाकी ही पुनः आ पहुँचा । **धर्मेश्वर** की आराधना करते-करते अन्त में मोक्ष प्राप्त किया ।

इस आख्यान को पढ़ने तथा सुनने का भी बड़ा माहात्म्य है । धर्मेश्वर से दूरस्थजन भी इस उपाख्यान को सुनने मात्र से पाप मुक्त होकर शिवधाम चला जाता है । [किंवदन्ती के अनुसार धर्मेश्वर के समीपस्थ 'धर्मकूप' है? उसमें झाँकने पर जिसका मुख न दिखाई दे उसकी छह मास के भीतर मृत्यु हो जाती है । –सम्पादक]

[८२]

['वीरेश्वर' के आविर्भाव के उपाख्यान की अवतरणिका]

इस अध्याय में राजा अमित्रजित् परम विष्णुभक्त के गुणों का वर्णन, 'कंकालकेतु' का वध तथा 'अमित्रजित्' का 'मलयगंधिनी' के साथ विवाह आदि की कथा है ।

पार्वती के पूछने पर महेश्वर ने राजा **अमित्रजित्** की कथा बताते हुए **वीरेश्वर लिङ्ग** के आविर्भाव की अवतरणिका उपस्थित की । 'अमित्रजित्' नाम का एक परपुरञ्जय, परम वैष्णव, धार्मिक, परमसत्त्व, प्रजारंजक राजा था । वह यशस्वी, वदान्य, बुद्धिमान्, ब्राह्मणसेवी एवं समस्त उदात्त गुणों से युक्त तथा समरांगण में यमराज के समान था । अपनी चित्तवृत्ति को उसने भगवान् विष्णु के चरणों में अर्पित कर दिया था । उसके शिरःकेश यज्ञ के अवभृथ स्नान से सदा ही आर्द्र रहते थे । समस्त भोगों को विष्णु के चरणों में अर्पित करके ही भोगता था । उसके राज्य में पद-पद पर विष्णु के ऊँचे-ऊँचे मन्दिर प्रत्येक गृह में थे । उसके सम्पूर्ण राज्य में सर्वत्र गोविन्द-कीर्तन होता रहता था । सभी गृहों में तुलसी के जंगल और भीतों पर गोपाल की चित्रकारियाँ लिखित थीं । सर्वत्र हरिचर्चा-हरिकथा होती रहती थी । व्याध उसके राज्य में शिकार नहीं करते थे और हरिन सुख से घूमते थे । सर्वत्र एकादशी के व्रत-उत्सव आदि होते रहते थे । उनके राज्य में अन्त्यज लोग भी विष्णु-मंत्र से दीक्षित हो शंख, चक्र का छाप दीक्षितों के समान धारण करते थे–

"अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शङ्ख-चक्राङ्कधारिणः ।
सम्प्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव सम्बभुः" ॥

(काशीखण्ड-अ.८२, श्लो. ३१)

सभी निष्कामभाव से विष्णुभक्ति में निरत हो उन्हीं को सब कुछ समर्पित कर देते थे । वे केवल विष्णु-देवता के भक्त थे–अन्य देवताओं के नहीं । उनके कृष्ण देवता ही परम गति थे ।

एक बार की घटना है कि उस राजा अमित्रजित् के शासन को देखने के लिए परम वैष्णव नारदमुनि आए । यथाविधि राजा द्वारा पूजित-सत्कृत हो नारद कहने लगे–"वेद प्रतिपाद्य विष्णु के, जगत्कर्ता, पालयिता कृष्ण के चरणारविन्दों में जो तुम्हारी भक्ति है, वही क्षणभंगुर संसार में सार है । विष्णु का सर्वतोभावेन भक्त ही इस चञ्चल ब्रह्माण्ड में स्थिरता प्राप्त करता है । जिसके हृदय में जनार्दन वर्तमान हैं, वही भूतल पर वन्दनीय और कीर्तनीय है । तुम्हारी विष्णु में अविचल आस्था-भक्ति देखकर मैं उपकारेच्छु हूँ ।

"विद्याधर की **मलयगंधिनी** नाम की एक कन्या थी । **कपालकेतु** दैत्य का पुत्र **कंकालकेतु** उसका हरण कर ले गया है । चूँकि उसे देवी का वरदान है कि मलयगंधिनी को देवी ने वर दिया है कि जब तक वह कुमारी रहेगी, तब तक उसका कौमार्य हरण कोई नहीं कर सकता । ऐसे प्रयास में कौमार्यहर्त्ता भस्म हो

जाएगा । अतः **कंकालकेतु** आगामी तृतीया को उससे विवाह कर मलयगंधिनी को पत्नी बनाने का इच्छुक है । **कंकालकेतु** का अपने ही त्रिशूल से वध हो सकता है । दूसरे शस्त्रास्त्रों का प्रयोग उस पर निष्फल है" ।

"मलयगंधिनी" इस समय पाताल की चम्पावती नगरी में निवास करती है । हाटकेश्वर होकर आते हुए मुझसे मलयगंधिनी ने कहा–"हे मुनिश्रेष्ठ ! मैं गन्धमादन पर्वत पर बालक्रीड़ारत थी कि कपालकेतु ने मेरा हरण कर लिया । वह दानव युद्ध में दूसरे शस्त्रों से नहीं वरन् केवल अपने ही त्रिशूल से मारा जा सकता है । समस्त संसार का व्याकुलकर्ता वह दानव मेरे पास ही अपना त्रिशूल अपने वक्ष पर रख कर निर्भय घोर निद्रा में सोया करता है । मेरे उपकारकर्ता मुनिवर ! आप उससे मुझे बचा लीजिए । कोई मनुष्य मेरे द्वारा प्रदत्त त्रिशूल से उसे मारकर यहाँ से मुझे निकाल ले–इसमें आप सहायता करें । भगवती ने मुझे वर भी दिया है–"पुत्रि ! एक विष्णुभक्त बुद्धिमान् युवा पुरुष तृतीया तिथि तक तुझसे व्याह करेगा । मुनिवर ! आप इस काम में निमित्त होकर उपाय करें" ।

नारदमुनि ने वैष्णव राजा अमित्रजित् से सब वृत्तान्त सुनाकर उस विद्याधरी कन्या का उद्धार करने को कहा । साथ ही **चम्पावती** नगरी में जाने का उपाय बताते हुए नारद मुनि ने कहा–'आप पूर्णिमा के दिन पोत पर चढ़कर शीघ्र ही समुद्र में चले जायँ । वहाँ जाने पर आपको एक रथ के ऊपर **कल्पवृक्ष** लगा दिखाई पड़ेगा । उसके ऊपर उस पर एक दिव्य पलंग (पर्यंक) पर विराजमान वीणा बजाती हुई दिव्यांगना को देखेंगे । वह मधुर स्वर में गाथा (कहावत) गाती हुई कहेगी–'जिसने जो शुभ या अशुभ जैसा कर्म किया है, उसको दैव की डोरी में बँधकर उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है–

"यत्कर्म विहितं येन शुभं वाऽथ शुभेतरम् ।
तदेव भुङ्क्ते तत्तथ्यं विधिसूत्रनियन्त्रितः" ॥

(काशी. अध्या. ८२, श्लो. ६३)

इस गाथा को गाती पलंग (पर्यंक) सहित वह दिव्यांगना रथ, कल्पवृक्ष सहित क्षणमात्र में समुद्र के भीतर घुस जाएगी । उस समय आप भी **यज्ञवाराह** देव का स्मरण करते हुए उस दिव्यांगना के पीछे महासागर में कूद जाएँगे और पातालस्थ **चम्पावती** नगरी में जा पहुँचेंगे । इतना उपदेश अमित्रजित् को देकर ब्रह्मर्षि नारद अन्तर्धान हो गये । राजा ने भी नारद के उपदेशानुसार कार्य किया । राजा **चम्पावती** नगरी में जा पहुँचे । वहाँ पहुँचकर अपूर्व सुन्दरी, त्रिभुवनमोहिनी विद्याधरी कन्या को देखा । उस कन्या ने परम मधुराकृति सौन्दर्यवाले अमित्रजित्

राजा को वैष्णव चिह्नों और तुलसीमाला से युक्त देखकर मोहित हो सुध-बुध खो दिया। भवानी के भक्तिबीज का मानो साक्षात् फल आ उपस्थित हुआ है।

तत्पश्चात् हिंडोला का पलंग छोड़कर अपने को नियंत्रित करती हुई लज्जावती, रोमांचित-कलेवर मलयगंधिनी अपना कम्पन रोककर राजा से बोली– 'हे मधुराकृते ! मुझ अभागिनी की चित्तवृत्ति को छेंकते हुए आप कौन हैं ? यहाँ निर्भय होकर यमराज के घर में आ पहुँचे हैं ! हे सुमन ! परम दुराचारी, स्व-त्रिशूलेतर शस्त्र से वध्य, वह **कंकालकेतु** जब तक नहीं लौटता, तब तक आप इस बड़े गह्वर में जा छिपें। पार्वती के वरदान-प्रसाद से वह मेरे कन्याव्रत को भंग नहीं कर सकता। हे तरुण ! आप उसका भय न करें। इष्टसिद्धि शीघ्र ही होगी'। उस दानव के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए राजा अमित्रजित् ने वैसा ही किया और गह्वर में जा छिपे।

तदनन्तर संध्या समय मृत्युकारी त्रिशूल घुमाता हुआ वह दानव कंकालकेतु आ पहुँचा और विद्याधरी को प्रलोभित करते हुए रत्नादि देते हुए ग्रहण करने को कहा। यह भी कहा कि "प्रातःकाल होते ही सहस्रशः गन्धर्वी, किन्नरी, मानुषी आदि दासियाँ उसकी सेवा में आ जायेंगी। ब्याह के बाद तो इन्द्रादिदिक्पालों की सारी समृद्धि तुम्हारी हो जायेगी। परसों तुमसे ब्याहकर मैं भी तुम्हारे अंग स्पर्शादि के सुखभोग में डूबकर परमानन्द प्राप्त करूँगा" इत्यादि प्रलाप करने लगा। परन्तु विद्याधर कुमारी पार्वती के वरदान का स्मरण करती हुई निर्भय रही। दानव त्रिशूल वक्ष पर रखकर घोर निद्रा में सो गया। उसकी गोद से त्रिशूल उठाकर मलयगन्धिनी कहने लगी–

"हे प्राणनाथ, त्रिशूल तुरन्त लीजिए और दानव का संहार कर दीजिए"। राजा अमित्रजित् त्रिशूल को लेता हुआ स्वयं और मलयगंधिनी को मानो अभयदान दे दिया। तदनन्तर दानव को लात मारकर जगाया। यह भी कहा– "मैं सोए हुए शत्रु को नहीं मारता"। दानव बोला–'प्यारी मेरा त्रिशूल तो दो। या त्रिशूल का कौन प्रयोजन है ? मैं इसका अभी भक्षण कर डालता हूँ'। इतना कहकर राजा की पाषाणोपम छाती पर मुक्का मारा। पर विष्णुभक्त के वक्ष से टकराकर उसका हाथ ही पीड़ित हो उठा, अमित्रजित् को कुछ भी कष्ट न हुआ। तब राजा ने भी उसके मुख पर थप्पड़ जड़ दिया, जिससे वह दानव चक्कर खाकर गिर पड़ा और कहने लगा–"तुम बड़े छलिया हो"।

"तुम मनुष्य नहीं साक्षात् चक्रपाणि विष्णु हो। तुम नर नहीं हो। तुमने मधुकैटभ को छल से मारा, राजा बलि को छला, हिरण्यकशिपु को नृसिंहरूप धारण कर मारा, मोहिनीरूप धारण कर असुरों को ठगकर देवों को अमृत पिला दिया"–इत्यादि-इत्यादि दानव ने गिना डाला। अन्त में दानव ने कहा कि तुम न

त्रिशूल मुझे दोगे न मैं तुम्हें मार सकूँगा । मैं यह सब जानता हूँ । शरीरधारी को अवश्य मरना पड़ता है । तुम्हारे हाथों से मरना, राजारूपधारी हे चक्रपाणिन् ! परमोत्तम है । यह कन्या मलयगन्धिनी शुद्ध सती है और तुम्हारे ही लिए मैंने इसे सुरक्षित रखा है ।

राजा ने त्रिशूल हाथ में लेकर दानव के वक्ष में ऐसा आघात किया कि कंकालकेतु प्राणहीन हो गिर गया । अन्त में राजा ने मलयगंधिनी से कहा– "नारदमुनि के आग्रह से तुम्हारा कार्य किया । अब क्या करूँ" ? मलयगन्धिनी ने कहा – जीवनदातः ! उदारमते ! आपने अदूषित कन्या की रक्षा की है, तो अब क्या पूछते हैं ? इतने में देवलोक से महर्षि नारद आ पहुँचे । प्रणामादि के अनन्तर दोनों का उन्होंने मंगलविधानानुसार विवाह कराया । मलयगन्धिनी के सहित राजा के वाराणसी में पहुँचने पर पुरवासियों ने मंगलाचार किया । (अध्याय ८२ श्लो. १२८ से १३२ तक काशी की महिमा वर्णित है ।)

तदनन्तर मलयगन्धिनी और अमित्रजित् का गृहस्थाश्रमधर्म सुख वर्णित है । एक बार रानी मलयगन्धिनी ने पुत्रकामना से पुत्रफलदा अभीष्ट तृतीया के विधानादि करने के हेतु पति आज्ञा से अनुष्ठान करने की आज्ञा माँगी । राजा के पूछने पर **अभीष्टतृतीया** महाव्रत का विधान और फलादि बताया । व्रत का रहस्य राजा को रानी ने बताया । (अग्रिम अध्याय में वीरेश्वर का आविर्भाव और माहात्म्य वर्णित है । वीरेश्वर- शिवलिङ्ग संकटाघाट पर हैं ।)

[८३]

[वीरेश्वर का आविर्भाव तथा वीरेश्वर महादेव का माहात्म्य]

राजा के पूछने पर रानी ने उक्त व्रत का विधान, इष्टदेवता और फल का वर्णन करते हुए एक कथा सुनायी । पूर्व समय में नारद मुनि ने कुबेर की पत्नी श्रीमुखी देवी से इस व्रत का वर्णन किया । उसके अनुष्ठान से उन्हें **नलकूबर** नामक पुत्र हुआ । अन्यों ने भी इसके अनुष्ठान से पुत्र लाभ किया । इस व्रत में दुग्धस्रावी स्तन को पीते हुए बालक के सहित गौरी देवी की विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिए ।

इस व्रत का विधान आगे बताया गया है । मार्गशीर्ष मास की शुक्ला तृतीया को कलश के ऊपर चावल पूर्ण ताम्रपात्र रखें । उसके ऊपर बिना फाड़ा हुआ अछिद्र और हरिद्रा रंजित सूक्ष्म (महीन) नवीन वस्त्र धरें । उसके भी ऊपर सूर्य की किरणों से खिले हुए कमल का पुष्प रखें । उसके भी ऊपर चार रुपये भर की ब्रह्मा की स्वर्ण प्रतिमा रख, उसकी स्थापना करें । कर्पूर, कस्तूरी (केशर)

आदि से सुगंधित चन्दन आदि से तथा उत्तम पक्वान्नों का नैवेद्य लगाकर पूजन करने के अनन्तर सुन्दर मण्डप में ब्रह्मा पूजन करें और रात्रि जागरणोत्सव करें। तदनन्तर हाथ भर के गहरे यज्ञकुण्ड में मधुसिक्त अधखिले कमलों से "जातवेदसः" मन्त्र द्वारा हवन करें। इसके पश्चात् नवप्रसूता दुधारु, वस्त्र-भूषणादिसमलङ्कृत गोदान करें तथा सपत्नीक उपवास करें। दूसरे दिन प्रातः स्नानादि के पश्चात् बड़े हर्ष और आदर के साथ वस्त्राभूषणादि के द्वारा पूजन करने के पश्चात् सब आचार्य को निवेदन करते हुए कहें –

'हे विश्वविधानज्ञे ! विविधकारिणि ! विधिस्वरूपे ! देवि ! आपको नमस्कार है। इस शुभव्रतानुष्ठान से संतुष्ट आप मुझे वंश चलानेवाला पुत्र दें'–

"नमो विश्वविधानज्ञे विधे ! विविधकारिणि !
सुतं वंशकरं देहि तुष्टामुष्माद्व्रताच्छुभात्" ॥

(का. ख. ८३।१६)

तदनन्तर एक सहस्र ब्राह्मणों को भोजन कराकर भुक्तशेषान्न से पारण करे। तदनन्तर मलयगंधिनी ने कहा–'इस व्रत को मैं आपके साथ करना चाहती हूँ। भूपाल ने इस व्रत का अनुष्ठान किया। उक्त दम्पत्ति को गौरी के आशीर्वाद से विष्णु-अंश-समन्वित उत्तम पुत्र हुआ। यह भी वरदान माँगा गया कि वह जन्म लेते ही स्वर्ग को जा सके और उसकी भक्ति शिव में सदैव बनी रहे तथा सारे संसार में विख्यात हो। वह बिना दुग्धपान के क्षण भर में षोडशवर्षीय जान पड़े। रानी की भक्ति से प्रसन्न भवानी ने 'तथास्तु' कह दिया। तदनुरूप पुत्र रानी को हुआ। पर वह संयोग से 'मूल' नक्षत्र में उत्पन्न हुआ।

हितैषी मंत्रियों के कहने पर रानी ने कष्ट से प्राप्त पुत्र का सूतिकागृह में ही त्याग करते हुए धाय को बुलाकर कहा–"धात्रेंयिके ! महापीठस्थ विकटा-मातृका के सम्मुख बालक को रखते हुए कहना कि पति राजा को अनिष्ट से बचाने के हेतु राजा की हितार्थिनी रानी ने गौरी देवी द्वारा प्रदत्त पुत्र को मन्त्रियों के उपदेश से त्याग दिया है। इस चन्द्रतुल्य पुत्र को आपकी सेवा में रानी ने निवेदित कर दिया है"। रानी की आज्ञानुसार धाईबालक को विकटा देवी के सम्मुख रखकर लौट आयी। तदनन्तर खेचरी योगिनियों को बुलाकर 'विकटा' ने कहा –

"इस बच्चे को मातृगण के समीप ले जाओ और मातृकाओं की आज्ञा का पालन करते हुए बच्चे का रक्षण करो"। सब खेचरी योगिनियाँ क्षणमात्र में आकाशमार्ग द्वारा ब्राह्मी आदि योगिनियों के पास बच्चे को ले गयीं। सूर्यसदृश तेजस्वी बाल को उनके सामने रखकर देवी का सन्देश कह सुनाया। तब ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री, वाराही आदि मातृकाओं के सम्मुख रखा। विकटा देवी के भेजे

हुए उस सुन्दर बालक को देखकर मातृकाओं ने पूछा–"तुम्हारे माता और पिता कौन हैं" ? पर बालक ने कुछ भी उत्तर न दिया । तब मातृगण ने सब योगिनियों से कहा–"उत्तमोत्तम लक्षणयुक्त यह बालक राजा होने योग्य है । अतः योगिनियों इच्छित फलदातृ-मोक्षफलदायिनी काशीपुरीस्थ **पञ्चमुद्रा** देवी के पास इसे पहुँचा दो । योगिनियों ने सूर्यसदृश बालक को 'पञ्चमुद्रा' नामक पीठ पर पहुँचा दिया ।

स्वर्गलोक से लौटकर इस लोक के काशीस्थ **पञ्चमुद्रापीठ** पर पहुँचा और वहाँ कठोर तपस्या की । दृढ़चित्त राजकुमार की घोर तपश्चर्या से प्रसन्न लिङ्गरूप भगवान् शंकर बोले–"मैं प्रसन्न हूँ । वर माँगो" । आगे स्कन्द ने बताया–'परम अनुग्रह से सातों पातालों को भेदकर उठे हुए इस अशेष ज्योतिपूर्ण 'लिङ्ग' को सम्मुख देखकर पूर्वजन्माभ्यस्त रुद्रसूक्तमन्त्रों से शिव की स्तुति करने लगा । स्तुति से प्रसन्न भगवान् शंकर के वर-याचना करने की बात सुनकर बालक ने वर माँगते हुए कहा–"हे महादेव ! यही वर दें कि संसारतापनाशक होकर यहाँ सदैव रहते हुए, विना अभीष्ट मुद्रादि एवं मन्त्रजप के किये भक्तों को केवल दर्शनं-स्पर्शन से ही आप अभीष्ट सिद्धि दें । वह आपका मनसा-वाचा-कर्मणा सदा भक्त बना रहे" । भगवान् शिव ने 'एवमस्तु' कहने के अनन्तर कहा–'हे वीर ! मद्भक्त तनूज ! विष्णुभक्त राजा अमित्रजित् के अंशोत्पन्न ! तुम्हारे ही नाम से यह लिङ्ग **वीरेश्वर** नाम से विख्यात होगा । काशी में भक्तों को अभीष्ट सिद्धि देता रहेगा' ।

एवमस्तु यदुक्तं ते वीरवैष्णवसूनुना ।
जनेतुर्विष्णुभक्ताच्च राज्ञोऽमित्रजितो भवान् ॥
विष्ण्वंश एवमुत्पन्नो मद्भक्तिपराङ्गज ।
वीर ! वीरेश्वरं नाम लिङ्गमेतत्त्वदाख्यया ॥
काश्यां दास्यत्यभीष्टानि भक्तानां चिन्तितान्यहो ।
अस्मिंल्लिङ्गे सदा वीर ! स्थास्याम्यद्यदिनावधि ॥

(का. ख. ८३।५३-५५)

इसके अनन्तर 'वीर' को (अमित्रजित् के पुत्र को) **वीरेश्वर** लिङ्ग की महिमा बतायी । शिव ने यह भी कहा कि विपुल भोगवान् राज्य पाकर और भोगों को भोग लेने पर अन्त में सिद्धि पाओगे । वाराणसी पुरी परम रमणीय है–

"पुरी वाराणसी रम्या सर्वस्मिञ्जगतीतले ।
पुण्यस्तत्रापि संभेदः सरितोरसिगङ्गयोः" ॥

(वही, ८३।६०)

इसके पश्चात् श्लोक ६१ से १०९ तक काशीस्थ पचासों तीर्थ और उनका माहात्म्य बताया गया है । इसके अन्त में बताया है कि इन सब तीर्थों और तीन कोटि लिङ्गों में **वीरेश्वर** लिङ्ग और **वीरतीर्थ** सर्वोत्तम है । **चतुर्दशी** तिथि को

संभवतः महाशिवरात्रि को रात्रिजागरण, **वीरेश्वर** की पूजा विधि-विधान से करने का अक्षय फल है। विविध विधानपूर्वक पूजन का फल, फलस्तुति माहात्म्य और महारुद्रमन्त्रजप आदि की महिमा भी बतायी गयी है। श्लो. ११ से महिमा बताते हुए शिव ने यह भी कहा–"इस लिङ्ग के भजन-सेवन-पूजन से मेरी आज्ञा से **तारकज्ञान** भी स्वतः उत्पन्न हो जाएगा"। यह सब सुनकर **'वीर'** नामक बालक पूर्ण-मनोरथ हो गया। काशी के अन्य तीर्थों के विषय में आगे स्कन्द ने ८४वें अध्याय में वर्णन किया है।

[८४]

[वीरेश्वर के प्रसंग में तीर्थों (घाटों) का वर्णन]

इस अध्याय को तीर्थाध्याय भी कहा जाता है, जैसा कि इस अध्याय के अन्तिम श्लोक ११६ में कहा है–"स्कन्द उवाच– तीर्थाध्यायमिमं पुण्यमगस्ते ! यो निशामयेत्। तस्याघं संक्षयं यायादपि जन्मशतार्जितम्" ॥

स्कन्द ने कहा–"गंगा और वरुणा के पवित्रस्थल सङ्गमस्थल से महादेव ने जिन तीर्थों को बनाया है, उनमें कुछ प्रमुख तीर्थों के नाम इस अध्याय में बताये गये हैं। सङ्गमेश्वर महादेव के पूजनानन्तर **पादोदक** तीर्थ या **विष्णुपादोदकतीर्थ** है। इसमें स्नान और जलक्रिया का बड़ा माहात्म्य है। तदनन्तर **'आदिकेशव'** का वहीं दर्शन करना चाहिए। इसके अध्याय ८४, श्लो. ५ के अनन्तर अनेकानेक तीर्थों का, देवों का घाटों का नाम-कर्म-सहित माहात्म्य ४१ वें श्लोक तक वर्णित है। अध्या. ८४ के ४२-४३ श्लोकों में **पिलपिला तीर्थ** का माहात्म्य है। तदनन्तर **मार्कण्डेय तीर्थ** की चर्चा है। अध्याय ८४ के श्लोक ४९ से ५६ तक **पंचनद (पंचगंगा)** तथा **(बिन्दुमाधव)** का विशिष्ट वर्णन है। तत्पश्चात् अनेक तीर्थों, घाटों, शिवलिंगों के महिमामण्डित नाम निर्दिष्ट हैं। **पञ्चनद तीर्थ** पंचगंगा में वाराणसीस्थ जनों को कार्तिक मास में स्नान करने के अनन्तर **'बिन्दुमाधव'** का दर्शन करना चाहिए।

इसी अध्याय के श्लोक ८५ से **मणिकर्णिका तीर्थ (चक्रपुष्करिणी) मणिकर्णेश्वर** शिवलिङ्ग आदि का बड़े अभिनिवेश के साथ महिमा गायी गयी है। इसी संदर्भ में महादेव ने अमित्रजित् के पुत्र वीर को **'मणिकर्णिका'** पंचाक्षरी नाम का भी माहात्म्य बताया है। (इस प्रसंग को काशी प्रेमी श्रद्धालु भक्त विशेष रूप से पढ़ें और जहाँ तक हो सके, उनमें निर्दिष्ट उपदेशों का पालन करें।) इसी अध्याय के अन्त में (श्लो. ११३ में) कहा भी गया है–"यह सर्वथा सत्य है कि ब्रह्माण्ड-गोलक में **मणिकर्णिका** के समान कोई तीर्थ नहीं है, यही सत्य है, यही सत्य है, यही सत्य है"।

**"सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यपूर्वमिदं वचः ।
मणिकर्णीसमं तीर्थं नास्ति ब्रह्माण्डगोलके" ॥**

मणिकर्णिका साक्षात् मोक्षलक्ष्मी है । इसी के दक्षिण पाशुपततीर्थादि तथा मुक्तितीर्थ प्रभृति अनेक तीर्थ भी आस-पास हैं । **नाभितीर्थ** ब्रह्मनाल है । उत्तरवाहिनी गंगा में अनेकानेक तीर्थ भरे पड़े हैं । इनमें कुछ ही यहाँ निर्दिष्ट हैं ।

इन सबमें **पंचतीर्थ** ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे सभी मोक्षदायक हैं । (१) **असिसंगम,** (२) **दशाश्वमेध,** (३) **आदिकेशव** के समीप **पादोदक,** (४) **पंचनद** (पंचगंगा) तथा इन चारों का प्रधान-पंच (५) **मणिकर्णिका तीर्थ** है । यह मन, वचन और इन्द्रियों का शोधक है । शिव ने बताया कि पर्वों पर शिव, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देव-ऋषियों के साथ यहाँ स्नान करने आते हैं । समस्त ब्रह्माण्ड गोलक में कोई भी तीर्थ मणिकर्णिका के समान नहीं है । काशी के **पंचतीर्थों** में स्नान करने से पाञ्चभौतिक देहधारण नहीं करना पड़ता ।

तीर्थों का माहात्म्य—अमित्रजित् पुत्र वीर को सुनाकर भगवान् शंकर अंतर्धान हो गये । **'वीर'** ने भी वीरेश्वर के पूजन से सर्वाभीष्ट प्राप्त किया । आगे अन्त में इस तीर्थाध्याय के श्रवण का फल बताते हुए कहा है कि इससे सैकड़ों जन्मों के अर्जित पाप का क्षय हो जाता है ।

[८५]

[मुनि दुर्वासा की तपस्या, उनके वरदान और कामेश्वर की उत्पत्ति की कथा]

स्कन्द अगस्त्य मुनि को बताते हैं—'एक बार पुराने जमाने में परम तपस्वी, महाक्रोधी, अत्यन्त तेजस्वी दुर्वासा मुनि सागरान्त भूमंडल में परिभ्रमण करते हुए आनन्दकाननवाराणसी आ पहुँचे । वहाँ कालमहाभयजेता मुनियों की पर्णकुटियों में देख विस्मित हुए । यह आनन्दवन हरे-भरे लतामंडित वृक्षों से परिपूर्ण था । तत्पश्चात् जटाजूटमंडित, भस्माञ्चिताङ्ग, कौपीन वस्त्रधारी, तुम्बी लिए हुए, हुडुत्कार ध्वनि से मेघगर्जनजेता, ध्यानलीन शैव (पाशुपत) जनों के दर्शन से दुर्वासा बड़े प्रसन्न हुए । यहाँ के निःसंग, वेदपाठी त्रिदण्डियों आदि एवं बाल ब्रह्मचारी नित्य गंगास्नायी ब्राह्मणों को देख दुर्वासा और भी हर्षित हुए । यहाँ पशु-पक्षी-मृगादि में भी हृष्टता थी । यहाँ के पशु-पक्षी आदि भी नन्दनवनविहारी देवगणों से भी श्रेष्ठ हैं । अन्तकाल में शुभपरिणति काशीवासी म्लेच्छजन भी उत्तम हैं ।

वरं काशीपुरीवासी म्लेच्छोऽपि हि शुभायतिः ।
नान्यत्रत्यो दीक्षितोऽपि स हि मुक्तेरभाजनम् ॥
(काशी. अ. ८५ श्लो. १५)

दुर्वासा ने कहा–"त्रैलोक्य के भ्रमण करने पर भी मेरे मन की गति अब तक स्थिर नहीं हुई" । यह कहकर मुनि कठोर तपस्या करने लगे । बहुत काल तपस्या करने पर भी जब दुर्वासा को कुछ फल न मिला, तब अपने को, काशीक्षेत्र को धिक्कारते हुए महादेव को वञ्चक कहकर शाप देने की इच्छा करने लगे । यहाँ किसी को भी मुक्ति न हो । तभी शंकर हँसने लगे और वहाँ **प्रहसितेश्वर** नामक एक प्रसिद्ध शिवलिङ्ग प्रकट हुआ, जो दर्शनमात्र से सर्वजन को परमानन्द देता है । महेश्वर विस्मयान्वित हो मन में कहने लगे–ऐसे तपस्वियों को बारम्बार नमस्कार है । ये द्विजगण जहाँ तपस्या करने लगते हैं या अपना आश्रम भी बना लेते हैं, जहाँ इन्हें प्रतिष्ठाप्राप्ति भी हो जाती है, उसी स्थान से ये ईर्ष्या करने लगते हैं ।

"यत्रैव हि तपस्यन्ति यत्रैव विहिताश्रमाः ।
लब्धप्रतिष्ठा यत्रैव तत्रैवामर्षिणो द्विजाः" ॥ (वही-श्लो. २४)

वे जब कुछ भी अभीष्ट फल नहीं पाते, तब तपोनाशक क्रोध से ही जीते हैं । फिर भी ये स्वकल्याणवृद्धिकामी माननीय हैं ।

जब तक महादेव यह सब सोच रहे थे, तब तक दुर्वासा के क्रोधानल से आकाशमंडल भर गया । उस नीलवर्णी क्रोधाग्नि से आज तक आकाश नीला है । दुर्वासा शाप देना चाहते थे कि इस काशी पुरी में किसी की मुक्ति न हो ।

तब तक उस धूमावली को देख शिवगण प्रलयकालीन समुद्रजल की भाँति क्षुब्ध हो परस्पर चर्चा करने लगे–"ओह ! यह क्या ! यह क्या !" इस प्रकार कहते–गरजते-तरजते शस्त्रपाणि शिवगण शिवपुरी के इधर-उधर दौड़ते हुए ललकारने लगे, कहने लगे–"चाहे यम, काल, अन्तक, विधाता या विष्णु इत्यादि ही क्यों न हों ? हमारे सन्मुख कौन ठहर सकता है ? हम अग्नि को जलवत् पी सकते हैं । पर्वतों को चूर-चूर कर सकते हैं, पाताल को ऊपर और ऊपर के स्वर्ग को नीचे कर सकते हैं"–इत्यादि चिल्लाते हुए कहा "मुक्तिपुरी वाराणसी को छोड़कर हम समस्त भुवनमण्डल को ग्रसने में समर्थ हैं । यह धूमपर्वत, यह ज्वाला कहाँ से उठ रही है ? कौन है जो मद-मोहित हो जो भगवान् मृत्युञ्जय रुद्र को नहीं जानता ? काशीपुरी में मुक्ति न होने का शाप देना चाहता है" ।

तदनन्तर प्रलयानल को पत्थर के समान चूर-चूर करते हुए नन्दी, नन्दिषेण, सोमनन्दी आदि शतकोटि दुरासद रुद्र गणेश्वरों ने काशी (उस घेरे से) वायुगति

को भी अवरुद्ध कर दिया । रुद्रगणों की आज्ञा के बिना काशी में चन्द्र और सूर्य प्रविष्ट नहीं हो सकते थे । वहाँ दुर्वासा की क्रोध-धूमावलि भी अप्रविष्ट रह गयी । भगवान् शंकर ने कहा–'यह अनुसूयानन्दन दुर्वासा मुनि तो अस्मदंश ही है' । यह कहकर गणों को शिव ने निवारित किया । दुर्वासा-स्थापित शिवलिङ्ग से कृपासागर शंकर स्वयं प्रगट हो गए । शिव ने कहा– "महाक्रोधन ! तापस ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ । वर माँगो" । लज्जित होकर दुर्वासा ने अपने को धिक्कारते हुए कहा–"प्रभो मैं बड़ा अपराधी हूँ जो क्रोध से काशी को ही शाप देने को उद्यत हो गया ! कर्मपाश ग्रस्त-कंठवाले जनों को एकमात्र मुक्तिदायिनी काशी ही है । काशी तो माता से भी श्रेष्ठ है । महामृतरूप स्तन्य पिलाकर वह परम पद पर पहुँचा देती हैं" । इस प्रकार दुर्वासा के काशीपुरी के प्रशंसात्मक वचन सुन कर परम प्रसन्न होकर शंकर सन्तुष्ट हुए । अन्त में कहा कि जिसकी जिह्वाग्र पर 'काशी' ये दो अक्षर रहते हैं, उसे पुनः गर्भवास नहीं करना पड़ता ।

"जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य काशीत्यक्षरयुग्मकम् ।
न तस्य गर्भवासः स्यात् क्वचिदेव सुमेधसः" ॥ (वही, श्लो. ६१)

शिव ने फिर कहा– 'काशी का स्तोता ज्ञानी हो जाता है । इस वेला तुम भी ज्ञानी हो गये हो । काशी की स्तुति, वेदोक्त सूक्तों से भी बढ़कर मेरी प्यारी स्तुति हैं । हे आनुसूयेय ! तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होगीं । तुमको उत्तम ज्ञान होगा । क्रोध करके तुम लज्जित न हो । तुम्हारे समान लोगों की ही सज्जन प्रशंसा करते हैं । तुम वर माँगों । तुम और क्या चाहते हो ? दुर्वासा ने कहा–"देवदेव! करुणाकर ! महापराध–विध्वंसक! आप यदि मुझ पर प्रसन्न हैं और वर देना चाहते हैं तो इसी स्थान पर कामद नाम यह शिवलिंग रहे । यह पोखरी कामदकुण्ड नाम से विख्यात हो" । शिव ने 'तथास्तु' कहते हुए घोषित किया कि यह दुर्वासेश्वर लिंग आज से सबकी कामना का पूरयिता होकर "कामेश्वर" संज्ञक हो जायेगा । शनिवार को त्रयोदशी की प्रदोष वेला में इस "कामेश्वर" के दर्शन करने वाले की सब कामनाएँ पूर्ण होंगी । 'कामकुण्ड' में स्नान और 'कामेश्वर' के दर्शन से कामजनित दोषों का परिहार होगा और उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होंगी" ।

अतः काशी में कामाभिलाषी जनों को प्रयत्नपूर्वक कामेश्वर का दर्शन महापातकों की शान्ति के लिए कामकुण्ड में स्नान करना चाहिए ।

[८६]

[विश्वकर्मेश्वर का आख्यान]

पार्वती देवी के पूछने पर देवाधिदेव विश्वनाथ ने बताया 'पूर्वकाल में ब्रह्मा के दूसरे शरीर, त्वष्टा नामक प्रजापति के पुत्र सब कर्मों में निपुण विश्वकर्मा हुए थे। बाल्यावस्था में यज्ञोपवीत होने पर वे केवल भिक्षा द्वारा भोजन करते थे। वे गुरुकुल में रहकर गुरुसेवा में निरत थे। एक बार वर्षाकाल आने पर गुरु ने आदेश दिया कि 'तुम मेरे लिए एक ऐसी पर्णकुटी बना दो, जिसमें मुझे वर्षा-पीड़ा न हो, जो सर्वदा नयी बनी रहे। गुरुपत्नी ने भी एक चोलिया बनाने की माँग की, जो बिना कपड़ा के सुन्दर और सदा उज्ज्वल रहे। गुरुपुत्र ने भी चर्म-बन्धन विहीन, कभी न टूटने वाला पादुका बनाने को कहा। गुरुकन्या ने एक जोड़ा कर्णफूल, हाथी दाँत के खिलौने और गृहस्थी के न टूट सकने वाले उपकरण बनाने को कहा। एक ऐसी बटलोही भी बनाने को कहा, जो माजे बिना ही निर्मल रहे। सामान्यतः असामान्य और असम्भव माँग गुरु-परिवार ने किया। गुरुपुत्री ने एक खम्भे पर काठ का उत्तम गृह बनाने को भी कहा। रसोई बनाना सिखाने की आज्ञा दी। विश्वकर्मा की वयोज्येष्ठ सहाध्यायी भी विश्श्वकर्मा की चमत्कारी रचनाओं को देखना चाहते थे।

उस समय विश्वकर्मा कुछ भी निर्माण-कार्य नहीं जानते थे, पर सबके आदेश पूर्ति की प्रतिज्ञा कर बैठे। वे वन चले गये और वहाँ जाकर चिन्ता करने लगे– "क्या करूँ? कहाँ जाऊँ ? किस की शरण में जाकर सबकी माँग पूरा करूँ ? गुरु, गुरुपत्नी, गुरुपुत्र और गुरुपुत्री की माँग पूरा करने की प्रतिज्ञा कर जो पूरा नहीं करता, वह नरकगामी होता है। ब्रह्मचारियों का गुरुसेवा ही धर्म है। उसे पूरा किए बिना मेरा निस्तार कैसे हो सकता है ? गुरु के अतिरिक्त भी सामान्य मनुष्य यदि किसी कार्य को करना स्वीकार कर उसे पूरा नहीं करता, उसकी अधोगति निश्चित है। मैंने गुरु-परिवार की माँग पूरा करना तो स्वीकार कर लिया, पर मैं कैसे उन्हें पूरा करूँ? मैं कुछ भी नहीं जानता कि कैसे ये सब सम्पन्न होंगे"।

इतने में एक तपस्वी ने उन्हें दर्शन दिया। तत्काल विश्वकर्मा का चिन्तानल मानों शीतलता से भर उठा। विश्वकर्मा उन तपस्वी के दर्शन से स्फूर्ति प्राप्त कर बोले– "आपके दर्शन से मुझे भरोसा हो गया कि मेरा मनोरथ सिद्ध होगा। आप

तपस्वीरूप मेरे निर्जन वन में मिले हैं । आपकी कृपा और उपदेश से मेरा मनोरथ सिद्ध होगा" । विश्वकर्मा ने सब वृत्तान्त और गुरु-कुटुम्ब की माँगें सुनाया । तपस्वी ने कहा–"ब्रह्मचारिन्, विश्वेश्वर के अनुग्रह से असम्भव भी सम्भव हो जाता है । हे त्वाष्ट्र! यदि तुम काशी में विश्वेश्वर की आराधना करोगे, तो तुम्हारा विश्वकर्मा नाम सार्थक होगा और शिव की कृपा से सब कुछ पूर्ण होगा । तुम्हारे मन में गुरु-परिवार की माँगें पूरा करने की उद्विग्नता है–अभिलाषा है । काशी की महिमा और विश्वेश्वर की आराधना आशीर्वाद से पूरा होगा । ब्रह्मा भी शिव की कृपा से ही सृष्टि करते हैं–तुम्हारा अभीष्ट भी सिद्ध होगा । तापस ने कहा–

"ब्रह्मचारिन्! शृणु ब्रूयां किमद्भुततरं त्विदम् ।
विश्वेशानुग्रहाद्ब्रह्माऽप्यभवत्सृष्टिकोविदः ॥
यदि त्वं त्वाष्ट्र सर्वज्ञं काश्यामाराधयिष्यसि ।
ततस्ते विश्वकर्मेति नाम सत्यं भविष्यति ॥
विश्वेशानुग्रहात् काश्यामभिलाषा न दुर्लभाः ।
सुलभो दुर्लभोऽप्यत्र यत्र मोक्षस्तनुत्यजाम्" ॥

(काशी. अध्या. ८६, श्लो. ३४–३६)

यह भी तपस्वी ने बताया कि 'उपमन्यु को थोड़ी-सी क्षीर याचना करने पर शिव ने उनको क्षीरसागर दे दिया'। यह भी कहा कि जहाँ के गंगाजल-स्पर्श मात्र से पातकावली का विलय हो जाता है, उस काशी के सेवन से सब सुलभ है । त्रैलोक्यपावनी काशी में धर्म अर्थ, काम, और मोक्ष–सब शिव और गंगा की अनुकम्पा से सुलभ हैं । काशी, विश्वेश्वर एवं गंगा की महिमा तापस ने गायी । यह भी बताया कि वहाँ जाने पर तुम्हारा मनोरथ सफल होगा' । विश्वकर्मा ने पूछा–'जहाँ आनन्द लक्ष्मी विद्यमान है, जहाँ आनन्दवन में विचरण करने वाले को मोक्षलक्ष्मी सुलभ है और जहाँ भगवान् शिव स्वयं 'तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं' वह काशी कहाँ है ? वहाँ कौन मुझ बालक को पहुँचाएगा ? वहाँ कैसे जा सकता हूँ ? तापस ने कहा कि मैं तुम्हें वहाँ ले चलूँगा । मेरा भी वहीं जाने का मन है ।

कारण यह कि दुर्लभ मानुष तन पाकर भी काशी का सेवन न हो सका, तो फिर कहाँ मनुष्य शरीर मिलेगा और कहाँ काशी ही मिलेगी? तब तो मनुष्य देह व्यर्थ है । मैं इस अत्यन्त चञ्चल देह को सार्थक करने के हेतु काशी जाऊँगा । तुम भी सब माया-ममता छोड़ मेरे साथ काशी चलो । इस प्रकार त्वाष्ट्र काशी

नगरी में पहुँचे, जहाँ पहुँच कर उनके मन को बड़ी शान्ति मिली । तदनन्तर विश्वकर्मा को काशी पहुँचाकर तापस अन्तर्धान हो गया । विश्वकर्मा ने जान लिया कि स्वयं तापस-वेष में उन्हें भगवान् शंकर ही काशी ले आए । भगवान् शिव की कृपा से महादेव दूर रहने पर वेदमार्गानुयायी सदाचारी के निकट रहते हैं । अपने भक्त के लिए वे सभी कुछ सुलभ बना देते हैं । विश्वकर्मा ने सोचा कि पूर्वजन्म में मैंने शिव की आराधना नहीं की थी, पर यह सब गुरुभक्ति के प्रसाद से हुआ । शंकर अकारण करुणावरुणालय हैं । साधु-सम्मत वेद मार्गानुयायी पर विश्वेश्वर दया करते हैं ।

इस प्रकार विश्वेश्वर की कृपा का अनुभव होने पर स्वस्थ चित्त होकर विश्वकर्मा ने शिवलिङ्ग की स्थापना की और उस लिङ्ग की आराधना करने लगे । वे कन्द-मूल-फल भोग करते हुए नित्य ही वन से ऋतूद्भव पुष्पों को लाकर पूजा-आराधना में दत्तचित्त हो गए । तीन वर्ष तक इसी प्रकार एकाग्रमन से लिंङ्गाराधन करते रहने पर महादेव उसी लिंङ्ग से प्रकट होकर विश्वकर्मा की पूजा से प्रसन्न होकर बोले – "इस दृढ़भक्ति से मैं तुम्हें वर देता हूँ कि गुरु-कुटुम्ब की सबके अभिलाषानुसार तुम सामग्री बना दोगे । तुम्हारे आश्चर्यपूर्ण पूजन के कारण मै तुम्हें और भी वर देता हूँ । तुम स्वर्णादि धातु, पत्थर, लकड़ी, मणि रत्नादि समस्त संसारी और स्वर्गीय पदार्थों से यथेप्सित देवालय, भूषणादि, विमानादि सब कुछ बना सकने में समर्थ रहोगे । इन्द्रजालादि विद्या तुम्हारे अधीन रहेगी । त्रैलोक्य के लोकोत्तर कर्म पूर्ण करने में तुम सक्षम रहोगे । विश्वभर के कर्मज्ञ होने से तुम्हारा नाम **विश्वकर्मा** होगा । शिव लिङ्ग के पूजन में लगे रहने से तुम्हारे लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं है । और भी वर माँगों । अन्यत्र भी और विशेषतः काशी में शिवलिङ्ग के स्थापक पूजक के लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं हैं –

अपरः को वरो देयस्तव तं प्रार्थयाश्वहो ।
तवादेयं न मे किञ्चिल्लिङ्गार्चनरतस्य हि ॥

(वही– अ. ८६, श्लो. ८५)

शिव ने यह भी कहा कि काशी में शिवलिङ्ग की पूजा कर तुम मेरे नेत्रों के मुकुर (चश्मा) हो गए हो । काशी में मुझे छोड़कर जो अन्य का पूजन करता है, वह मुक्ति से वर्जित बना रहता है । ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि भी यहाँ मेरे अतिरिक्त अन्य की पूजा नहीं करते । अतएव मुक्तिकामी को काशी में शिवपूजन अवश्य करना चाहिए । अब विलम्ब मत करो, शीघ्र जो वर माँगना हो माँगो । उसे मिला ही समझो । विश्वकर्मा ने वर याचना करते हुए कहा – 'दूसरे लोग भी जो इस शिवलिङ्ग की आराधना करें, वे भी बुद्धि सम्पन्न हों । उन्होंने (विश्वकर्मा ने) यह भी महादेव से पूछा कि आप मुझसे अपना मन्दिर कब बनवाएँगे ।

ब्रह्मा के वरदान से जब **दिवोदास** काशी का राजा होगा और मुझे काशी छोड़कर जाना होगा तथा बहुत वर्षों तक धर्मपूर्वक राजसुख भोगता हुआ गणेश की माया से एवं (ब्राह्मणरूपी) विष्णु के उपदेश से **राजलक्ष्मी** त्याग कर **निर्वाणलक्ष्मी** को यहीं प्राप्त हो जायगा, तब तुम इसी काशी में मेरे लिए नवीन प्रासाद बना देना । बस अब विश्वकर्मन् तुम लौट जाओ और गुरु-कुटुम्ब की आज्ञापूर्ण करने का प्रयत्न करो । जो लोग गुरु का अपमान करते हैं, मैं भी उनका अपमान करता हूँ । अब शीघ्र ही गुरु की आज्ञा पूर्ण करो । यह कहकर और बताकर कि तुम्हारे द्वारा स्थापित लिङ्ग के समीप **अंगारेश्वर** की उत्तर दिशा में ही रहूँगा । उसके पूजनादि से मोक्षलक्ष्मी सुलभ रहेगी" । यह कहकर शिव अन्तर्धान हो गए । विश्वकर्मा भी गुरु की आज्ञा पूर्ण कर माता-पिता से पूछकर काशी लौट आए । आज तक विश्वकर्मा काशी में हैं ।

तदनन्तर महादेव ने पार्वती से बताया कि मुक्तिदाता काशी के लिङ्गों के नाम बताएँ । शिव ने काशी के मोक्षद लिङ्गों को बताया (१) ओङ्कारेश्वर, (२) त्रिलोचन (त्रिविष्टप), (३) महादेव, (४) कृत्तिवासेश्वर, (५) रत्नेश्वर, (६) चन्द्रेश्वर, (७) केदारेश्वर, (८) धर्मेश्वर (९) वीरेश्वर, (१०) कामेश्वर, (११) विश्वकर्मेश्वर, (१२) मणिकर्णेश्वर, (१३) अविमुक्तेश्वर, (१४) विश्वेश्वर –

पृष्टानि यानि लिङ्गानि त्वया देवि! गिरीन्द्रजे ! ।
काशीमुक्तौ समर्थानि तान्युक्तानि मया तव ॥
लिङ्गमोङ्कारसंज्ञं च तथा देवं त्रिविष्टपम् ।
महादेवः कृत्तिवासा रत्नेश्वरश्चन्द्रसंज्ञकः ॥
केदारश्चापि धर्मेशस्तथा वीरेश्वराभिधः ।
कामेशविश्वकर्मेशौ मणिकर्णीश्वरस्तथा ॥
ममार्च्यमविमुक्ताख्यं ततो देवि! ममाख्यकम् ।
विश्वनाथेति विश्वस्मिन् प्रथितं विश्वसौख्यदम्" ॥

(वही, श्लो. १०७-११०)

जो कोई काशी में आकर विश्वनाथ की पूजा कर लेता है, करोड़ों वर्ष उसे जन्म नहीं लेना पड़ता । संयमी संन्यासियों को एक ही स्थान पर वर्ष भर काशी में वास करना चाहिए । उनको आठ मास विचरण करना चाहिए और चातुर्मास्य एक स्थान पर करना चाहिए; परन्तु जो लोग काशी में प्रविष्ट हो चुके हैं, उन्हें भ्रमण नहीं करना चाहिए । यतः यहाँ तो मोक्ष निश्चित है ।

इसके पश्चात् इस अध्याय के श्लोक ११४ से १२५ तक काशी की महिमा वर्णित है । पाठक मूल देखें ।

[८७]

[दक्ष प्रजापति के यज्ञ का आख्यान]

अगस्त के पूछने पर काशी का तत्त्व और ॐकारेश्वर आदि चतुदर्श लिङ्गों की महिमा बताकर, कुम्भयोनि की इस शंका का समाधान करते हुए कि 'देवसभा में शिवनिन्दा करनेवाले प्रजापति दक्ष ने क्योंकर शिव-लिङ्ग की स्थापना की ? इसके उत्तर में **स्कन्द** ने दक्षेश्वर शिवलिङ्ग की स्थापना के प्रसङ्ग में दक्षप्रजापति का आख्यान सुनाया । यह आख्यान – (१) दक्षप्रजापति के यज्ञ की कथा अध्याय सत्तासी, (२) माता सती के देहत्याग की कथा अध्याय अट्ठासी , (३) दक्ष के यज्ञ का विध्वंस और **दक्षेश्वर** शिवलिङ्ग की स्थापना अध्याय नवासी तक चलती है, (४) अध्याय नब्बे में **पार्वतीश्वर** शिवलिङ्ग की कथा उपसंहारात्मक है । यह कथा अनेक काव्यों–रघुवंशादि, शिवपुराण और गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित-मानस' के बालकाण्ड में संक्षिप्त या विस्तृत रूप से वर्णित है । यह कथा कल्मषहारिणी है । उसे सुनाते हुए **दक्षेश्वर** की कथा का उपक्रम स्कन्द ने किया ।

दक्ष प्रजापति दधीचि ऋषि के धिक्कारने पर विरूप हो गए । प्रायश्चित्तार्थ **दक्ष** ब्रह्मा के पास गये । प्रजापति ब्रह्मा के उपदेश पर काशीपुरी पहुँचे । दधीचि ऋषि के धिक्कारने का रहस्य यह है ।

एक बार देवाधिदेव चन्द्रमौलि की सेवा के लिए ब्रह्मा, इन्द्रादि देव, लोकपाल, विश्वेदेवा, मरुद्गण, आदित्यादि एवं विद्याधरादि अप्सरोगणादि नागगण, महर्षि-वृन्द प्रभृति के साथ विष्णु कैलाश गए और रोमाञ्चित होकर शंकर की स्तुति करने लगे । शिव ने सबका बड़ा आदर किया और विष्णु को हाथ से स्पर्श कर उन सब से यथोचित अबाधित कर्मादि चलते रहने का प्रश्न किया । ब्रह्मा, इन्द्रादि से भी कुशल-प्रश्न करते हुए अबाधित कर्मविधान चलते रहने का समाचार पूछा । इसी प्रकार बारी-बारी से सबसे पूछ-ताछ कर सबको आसन पर विठा कर सबके मनोरथपूर्ति का प्रश्न करने के बाद बिदा किया और अपने सौध में चले गए ।

देवगण, विष्णु, ब्रह्मा प्रभृति भी प्रसन्नचित्त अपने-अपने स्थान चले गये । सती देवी के पिता दक्ष प्रजापति भी अपने स्थान लौटते हुए मार्ग में चिन्ता करने लगे कि मुझे भी (शिव के श्वसुर को भी) सब देवों के समान ही मान मिला, कुछ अधिक नहीं । वे बड़े क्षुब्ध हुए और मन ही मन अत्यन्त क्रोधान्ध होकर कह पड़े कि यह शिव मेरी बेटी को पाकर अहंकारी हो गया है । यह न तो किसी का

स्वजन है और न कोई इसका स्वजन है । यह भी कोई नहीं जानता कि किस वंश में इसका जन्म हुआ है? या इसका कौन-सा गोत्र है? किस देश का वासी है या इसकी प्रकृति क्या है? इस प्रकार शिव के सभी ऐश्वर्यपरक गुणों में दक्ष दोष ही देखते हुए शिव की निन्दा में सक्त हो गए । स्थाणु (उकठाकाठ) अर्धाङ्गस्त्रीवान् आदि उनकी महिमा को दोष बताने लगे । प्रलयकाल में ब्रह्मादि का भी संहारक होकर भी पातकी नहीं है । ब्रह्मा का पंचम शिर काट लेने पर भी इसमें पुण्यलेश नहीं बचा । यह तो हड्डियों और कपालों की माला पहनता है । इसी प्रकार शिव के महत्त्व की दक्ष निन्दा करने लगे । अन्त में जामाता लोगों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि स्वल्पैश्वर्यशाली होकर वे मदमत्त हो जाते हैं । द्विजराज चन्द्रमा भी मेरी पुत्रियों में केवल रोहिणी का चाहनेवाला होने से मेरे शाप से क्षयी हो गया है ।

तदन्तर दक्ष ने कहा – "इस त्रिशूली ने अपने (शिव के) घर जाने पर मेरा अपमान किया है । वैसे मैं भी इसके गर्व को खर्व कर इसकी मान-हानि करुँगा" । इसी प्रकार मन में तर्क-वितर्क करते हुए दक्ष ने अपने आवास पर इन्द्रादि देवों को बुलाकर यह करने का निश्चय बताया । कहा कि आप लोग यज्ञ की सहायता कीजिए । शीघ्र ही यज्ञ सामाग्रियों को यहाँ एकत्र कीजिए" ।

तत्पश्चात् श्वेतद्वीप में जाकर विष्णु को उस महायज्ञ का निरीक्षक बना लिया । समस्त वेदाध्यायी ब्रह्मवादी ऋषियों को ऋत्विक् बनाकर अपने महायज्ञ का दक्ष ने समारम्भ किया । ब्रह्मा ने सब देवताओं को देखा, पर परमेश्वर शिव को न देखकर बहाना बनाकर अपने लोक चले गये । तदनन्तर दधीचि ऋषि ने शिव को न देखकर और यह चाहते हुए कि दक्ष का महायज्ञ शुभपरिणामी हो दक्ष को समझाने लगे । पहले दक्ष के यज्ञ की बड़ी प्रशंसा की । वहाँ उपस्थित देवों और ऋषियों का गुणगान, उन सबकी महिमा के साथ उनका ऐश्वर्य बताया । मंत्रगण, बृहस्पति आदि की उपस्थिति को महनीय कहा । बृहस्पति के स्वयं आचार्य के आसन पर आसीन होने की प्रशंसा की । मरीचि के पुत्र कश्यप की उपस्थिति से यज्ञ की महत्ता बढ़ी बतायी । विश्वकर्मा के भी नाना उपकरणों के निर्माण में संलग्न रहने से और कल्पवृक्ष द्वारा समिधा काष्ठादि की पूर्त्ति से महायज्ञ को अतुलनीय बताया ।

अन्त में कहा कि इन सम्भारों को देख मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है । परन्तु एक बात का मुझे बड़ा दुःख है । जैसे अनेक भूषणों से युक्त होने पर भी जीव हीन होने पर देह श्मशान-सा हो जाता है, वैसे ही भगवान् शंकर की उपस्थिति के बिना यह यज्ञ भी श्मशान-सा जान पड़ रहा है । इस प्रकार दधीचि के पूर्व यज्ञ महनीयतापरक वचनों से जो दक्षप्रजापति अत्यन्त प्रसन्न एवं गर्वान्वित

हो रहे थे, शिव की उपस्थिति के बिना यज्ञ को श्मशान-सा कहते सुन क्रोध से उबल पड़े और कोपान्ध होकर मारने के लिए भी उद्यत हो गए । दक्ष बोले–हे दधीचे, तुम ब्राह्मण हो और मैं इस समय यज्ञ दीक्षित हूँ, नहीं तो आज तुम्हारा क्या हो जाता यह तुम देखते । तुझे किसने बुलाया और यज्ञ की आलोचना पूछी? जहाँ मंगलदाता भगवान् हरि ही यज्ञपुरुष हैं, वह क्या श्मशान के समान है? तैंतीस करोड़ देवों के अधिपति इन्द्र जहाँ विराजमान हैं, धर्मराज हैं, साक्षात् अग्निदेव हैं और स्वयं वसिष्ठ प्रभृति ऋषि ऋत्विक् हैं, उसको तू परेतभूमि कह रहा है ।

दधीचि ने कहा–विष्णु शिव के दक्षिणाङ्ग है, ब्रह्मा उन्हीं के वामाङ्ग है, इन्द्रादि की विभूति शिवाराधना लब्ध है, कुबेर त्रिलोचन के मित्र हैं । सभी देवों, ऋषियों को दधीचि ने शिव का कृपाभाजन कहा ।

"तं विदन्ति वसिष्ठाद्यास्तवार्त्विज्यं भजन्ति ये ।
एको रुद्रो न द्वितीयः संविदाना अपीति हि" ॥

(काशी अ. ८७, श्लो. ८५)

अतः अब भी दधीचि ब्राह्मण की एक हितकर बात मान कर शिव को बुला लें । उनकी उपस्थिति के बिना यज्ञ करना, न करना बराबर है । विश्वसाक्षी विश्वेश्वर शिव की अनुपस्थिति से यज्ञ सफल न होगा । जैसे अर्थरहित वाणी, धर्महीन देह, पतिविहीन नारी आदि निरर्थक, निष्फल हैं, वैसे ही शिव के बिना सब धर्मक्रियाएँ निष्फल हैं ।

"अर्थहीना यथा वाणी धर्महीना यथा तनुः ।
पतिहीना यथा नारी शिवहीना तथा क्रिया ॥
गङ्गाहीना यथा देशाः पुत्रहीना यथा गृहाः ।
दानहीना यथा सम्पच्छिवहीना तथा क्रिया ॥
मन्त्रिहीनं यथा राज्यं श्रुतिहीना यथा द्विजाः ।
योषाहीनं यथा सौख्यं शिवहीना तथा क्रिया ॥
दर्भहीना यथा सन्ध्या तिलहीनं च तर्पणम् ।
हविर्हीनो यथा होमः शिवहीना तथा क्रिया ॥

(वही – श्लो. ९०-९३)

दधीचि के कथन को सुनकर दक्ष क्रुद्ध होकर बोले – "सभी कर्म विधि-विधानपूर्वक करने पर सफल होते हैं, बीज जड़ होने पर यथासमय मिट्टी और जल के योग से फूलते-फलते हैं, वैसे ही ईश्वर के विना यज्ञ भी सफल होगा" । दधीचि ने कहा – 'ईश्वर के अनुकूल होने पर ही ऐसा होता है । प्रतिकूल होने

पर नहीं । सर्वकर्त्ता ईश्वर ही भूमि और जल आदि के रूप में बीजों के अनूकूल होकर काल के तल से अङ्कुरित होता है । कालानुसार कार्य होता है । भगवान् महेश्वर ही वह काल हैं । मंगलमूर्ति भगवान् का तुम्हारे मदमत्त के पास कोई प्रयोजन नहीं है ।

इस पर मदोन्मत्त दक्ष ने पार्श्ववर्ती लोगों से दधीचि को हटाने के लिए कहा । दधीचि ने भी कहा – अरे मूढ़ तू मुझे क्या दूर करेगा, इन सबके साथ तू ही अमंगल से आलिङ्गन करते हुए मङ्गल से दूर होगा । अकाल में ही महेश्वर के क्रोध का दण्ड तेरे माथे पर गिरेगा इत्यादि कहते हुए दधीचि यज्ञस्थल से चले गये । साथ ही दुर्वासा, च्यवन, अगस्त्यादि भी वहाँ से चले गए । उन सबके जाने के बाद यज्ञ आनन्दपूर्वक होने लगा । तब वर्तमान ब्राह्मणों को दक्ष ने दुगुनी दक्षिणा दी । दूसरों को भी धन लुटाया । जामाताओं, (सती रहित) कन्याओं, पुराङ्गनाओं आदि को भी प्रचुर अलंकार एवं धन दिया । ब्राह्मणों की वेदध्वनि से आकाश भर उठा । स्वाहाकार, वषट्कार आदि से देवगण भी तुन्दिल हो उठे । घृतकुल्या, मधुकुल्या दूध-दही के सरोवर बन गए । वस्त्रों, रजत, स्वर्ण रत्नादि की राशि भी दक्ष ने विखेर दी । भिक्षुक वहाँ कोई न रहा । वहाँ सब धनी हो गये । अप्सरा, गन्धर्व, विद्याधरादि भी परितृप्त हुए ।

इस प्रकार जब दक्ष का महायज्ञ बड़े विभव-विस्तार से होने लगा, तब नारद मुनि कैलासपर्वत पर शिव के यहाँ गए ।

[८८]

[देवी सती के देहत्याग की कथा]

अगस्त्य के पूछने पर स्कन्द ने बताया कि महर्षि नारद देवी सती और देवाधिदेव के यहाँ उस समय पहुँचे, जब वे पासा खेल रहे थे । वहाँ शिव के धाम कैलास पहुँचे । शिव ने आदरपूर्वक आसन देकर नारद को बिठाया । पुनः देवी सती महादेव पासा ही खेलते रहे । नारद से कुछ न पूछा । अन्त में नारद ही बोले– हे देवदेव, यह सकल ब्रह्माण्ड ही आपका खिलवाड़ है । आपके ब्रह्मादि रूप चौपड़ ये बारहों महीने गोटियाँ धरने के घर हैं । मास की तीस तिथियाँ गोटियाँ हैं । दोनों अयन ही पासे हैं । सृष्टि और प्रलय हार-जीत के दोनों दाँव हैं । देवी की जीत से सृष्टि होती है और महादेव की जीत से प्रलय होता है । अनेक सारगर्भित गूढ़ार्थयुक्त बातें कहने के अनन्तर नारद ने अपना मन्तव्य कहा –

हे मातः! महादेव सर्वज्ञ होने पर भी कुछ नहीं समझते-से जान पड़ते हैं। यतः वे मानापमान से दूर हैं, अतः निर्लिप्त हैं। वे सगुण-निर्गुण उभय हैं। कर्म के कर्ता होकर भी कर्मों से बाधित नहीं होते। मित्र और शत्रु पर इनकी समदृष्टि रहती है। हे देवि! भगवान् की शक्ति होने से आप सर्वमान्य हैं। दक्ष की पुत्री होकर आपने अपने पिता को मान दिया है। आपके देवता, आपके पति महादेव ही हैं। अब आप के पास जो कहने आया हूँ उसे सुनें।

आज हरिद्वार के पास नीलाचल की घटना से मैं बड़ा विषण्ण हूँ। त्रैलोक्य भर के पुरुष, अपनी-अपनी पत्नियों के साथ वहाँ दक्ष के महायज्ञ में हैं। वे सब अलङ्कृत, सम्मानित, प्रसन्नमुख वहाँ उपस्थित हैं। पर विषाद यह है कि सब सृष्टि के कर्ता, पालक और लयकारी भगवान् शंकर महादेवी सती के साथ वहाँ नहीं है। वहाँ आपको आहूत न करने पर ब्रह्मा पहले ही वहाँ से चले गए और ऋषि दधीचि भी दक्ष को धिक्कारते हुए उस यज्ञ से दूर चले गए। दधीचि के साथ ही दुर्वासा आदि वहाँ से दूर हो गये। वहाँ देवि मातः! आपकी सभी बहनें अपने-अपने पतियों के साथ आदृत अलंकृत हैं"।

यह वृत्तान्त जानकर सती देवी ने **पासा** रखकर मन में कुछ सोचकर तुरन्त दाक्षायणी देवी उठ खड़ी हुईं और मस्तक पर अञ्जलि बाँध बोली–"हे अन्तकध्वंसक, आप के चरणारविन्द ही मेरे रक्षक हैं। मैं प्रार्थना करती हूँ, मुझे पिता के यहाँ जाने की आज्ञा दें। रोकें नहीं"। इतना कहकर मस्तक महादेव के चरणों पर रख दिया। इसपर महादेव ने कहा – 'हे मृड़ानि! सौभाग्यसुन्दरि! लक्ष्मी को सौभाग्य, ब्रह्माणी को उत्तम कान्ति और इन्द्राणी को नित्य यौवन तुम्हारा प्रदत्त है। मैं भी तुम्हारा संग पाकर शक्तिमान् हुआ हूँ। तुम्हारी लीला के अनुसार ही मैं संसार की सृष्टि, पालन और संहार करता हूँ। हे वामार्धधारिणि ! तुम मुझे क्यों छोड़ना चाहती हो? सती ने कहा – "मैंने यज्ञ नहीं देखा हैं। पिता के यहाँ यज्ञोत्सव हो रहा है। मैं उसे देखने के लिए जाने को उत्सुक हूँ"। तुलना करें–

पिता भवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ।
तौं मैं जाउँ कृपायतन सादर देखन सोइ॥

(रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा ६१, गीताप्रेस, २४० सं.)

इस पर शिव ने कहा – "यदि तुमको यज्ञ देखने की इच्छा है तो मैं यहीं यज्ञ का उद्योग करता हूँ, अथवा मेरी शक्तिस्वरूपा तुम ही दूसरी यज्ञक्रिया, दूसरा यज्ञ-पुरुष, दूसरे लोकपाल आदि बनाकर दूसरे ऋषि-ऋत्विजों आदि को उत्पन्न कर यहीं यज्ञ करा कर देखो"। पर सती ने पिता के यज्ञोत्सव में जाने का

हठ न छोड़कर बारंबार शिव से जाने की अनुमति देने की प्रार्थना करती रही । अन्त में भूतनाथ ने कहा– हे देवि, मुझे छोड़कर मत जाओ । नहीं तों मुझसे पुनः भेंट नहीं होगी । आज शनिवार, ज्येष्ठा नक्षत्र, व्यतिपात योग और नवमी रिक्ता तिथि में वियोग शुभद नहीं है । बहुत कुछ ऊँचा-नीचा समझाया और कहा– बार-बार बलपूर्वक समझाया कि मुझे तुम न देख सकोगी । पर सती ने कहा कि यदि मैं आपके चरणों की सच्ची अनुरागिनी होऊँगी, तो दूसरे जन्म में भी आप ही मेरे स्वामी होंगे, कहते-कहते महादेव को बिना प्रणाम किए, बिना उनकी प्रदक्षिणा के, यात्रा की बिना किसी तैयारी के ही क्रोधान्ध होकर वहाँ से चली गयीं । पदचारिणी जाते दक्षपुत्री को देख शिव बड़े चिन्तित हुए और अपने गणों को ऐसा विमान लाने की आज्ञा दी, जिसमें मन और पवन के पहिए हों, दश सहस्र सिंह लगे, रत्नसानु की उच्छ्रित पताका हो, अनेक अलौकिक गुण सम्पन्न रथ लाने की आज्ञा दी । तदनुसार शिवगण रथ ले आए ।

महादेवी को उस रथ पर बिठाकर उनके पीछे शिव के पार्षद शिवगणों ने भी गमन किया । क्षणमात्र में त्रिलोचनमहिषी दक्ष के यज्ञ में जा पहुँची, जहाँ मांगलिक वेष बनाए माता को देख आगे बढ़ी और तब अपनी भगिनियों को सजी-धजी और अपने-अपने पतियों सहित उपस्थित पाया । उन्हें यह कहते भी सुना कि हरवल्लभा बिना बुलाए कैसे आ पहुँची? इतने में दक्षपुत्री शिवानी माता-पिता के पास जा पहुँची, जो शिवा को देखकर बोले – "तुम्हारे आ जाने से बड़ा अच्छा हुआ । तू तो सर्वश्रेष्ठा और सर्वमंगला है; परन्तु जटिल, कपालधारी, दिगम्बर शिव से तुम्हारा विवाह करना ही मेरी भूल थी" ।

इसके अनन्तर दक्ष ने पुनः कहा – "शिव के रहस्यपूर्ण, ब्रह्मा द्वारा प्रशंसित सुनकर उस वृषभ-वाहन से तुम्हारा विवाह करना मेरी ही भूल थी । विरूपाक्ष, विषभोजी, श्मशानवासी वह अमंगलवेषधारी है" । इसी प्रकार दक्ष ने एक-एक करके शिव के अमंगल वेष का निन्दात्मक आख्यान किया और कहा कि इस मंगलमय यज्ञ में अमंगल्यशीलवान् शिव को कैसे मैं निमन्त्रित करता ?

सती ने पिता से कहा – "प्रभो! आप जो कुछ कह गए मैंने कुछ नहीं सुना । प्रथम ही जो दो बातें सुन लीं, उन्हीं के सन्दर्भ में आपसे कहती हूँ । आपने कहा– शंकर को कोई भी भलीभाँति नहीं जान सका । पर मैं तो जानकर भी ठगा गया । यह ठीक है । सदाशिव को कौन जान सकता है ? आप पहले भी ठगे गए और इस समय और भी बड़ा धोखा खा रहे हैं । आप शंकर के सम्बन्ध में बेतुकी बकवाद कर रहे हैं" । इस प्रकार बहुत कुछ कहने के बाद दक्षपुत्री बोली – इन शिवनिन्दापरक, पतिनिन्दापरक, श्लाघनीय जन्मवाली पतिव्रता का यही धर्म है कि वह तभी तक शरीर धारण करे, जब तक पति-निन्दा न सुने । अन्यथा शरीर त्याग दे –

"पुरश्चरणमेवैतद्यदस्यैव विसर्जनम् ।
सुश्लाघ्यजन्मया तावत्प्राणितव्यं सुयोषिता ॥
यावज्जीवितनाथस्याश्रवणीया विगर्हणा" ॥
[काशी. अध्या. ८८, श्लो. ९४]

यह कहते हुए दक्षपुत्री अपने शरीररूपी समिधा को महादेवस्वरूप और क्रोधज्वलित अग्नि में प्राणरोध विधि से हवन कर दिया । तदनन्तर हविगृहीता इन्द्रादि देव हतश्री हो गए । अग्नि आहुति पाकर भी प्रज्वलित नहीं हो रहा था । मन्त्र कुण्ठित हो गए । इस अनिष्ट घटना से ब्राह्मण यियासु हो उठे । अनेक प्रकार के उत्पात होने लगे । आकाश में गिद्ध सूर्य को ढकने लगे । शृङ्गाल और कुत्ते यज्ञ सामग्री अशुद्ध करने लगे । क्षणमात्र यज्ञभूमि श्मशान-सी हो उठी । स्वजनों सहित दक्ष का मुख भी कुम्हिला गया । यह सब देख पुनः ब्राह्मण लोग यज्ञारम्भ का उद्योग करने लगे ।

[८९]

[दक्ष के यज्ञ का विध्वंस और दक्षेश्वर की उत्पत्ति]

स्कन्द ने अगस्त्य मुनि को बताया कि यज्ञस्थल पर नारद भी दाक्षायणी के पहले ही जा पहुँचे थे । वहाँ की घटनाओं को शिव को जाकर बताने की इच्छा करने लगे । नारद के आसन पर बैठ जाने के बाद शिव ने सब वृतान्त समझ लिया और कहा कि शरीर तो नश्वर है ही और जो होनी होती है वह होकर ही रहती है । गीता में भी कहा है – "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनन्योस्तत्त्वदर्शिभिः" ॥ नारद ने कहा – परन्तु मेरे मन में यही चिन्ता है कि अनीश्वर होकर संसार कहाँ जाएगा ? दक्ष ने आपको न बुलाकर आपका अपमान किया है । उन्हीं की देखा-देखी ऋषि और देव भी आपका अपमान करेंगे । लोक में अपमानित व्यक्ति भी श्रीहीन हो जाते हैं । सती देवी धन्य हैं, जिन्होंने पति-निन्दा सुनकर शरीर त्याग दिया । यह जानकर कि सती देवी ने शरीर-त्याग दिया और नारद के द्वारा सब घटना सुनी । नारद ने यह भी कहा कि अपमानित जीवन निरर्थक है । सती देवी धन्य हैं, जो आपके अपमान की घटना देख-सुनकर अपना शरीर ही त्याग दिया । इतना सब कहकर और सती देवी के शरीर जलने की बात सुनकर शिव क्रोधाग्नि से रुद्ररूप होकर भड़क उठे ।

रुद्रदेव के कोपाग्नि से पर्वताकार, कालमृत्युप्रकम्पन भुशुण्डधारी एक पुरुष प्रकट हो गया और रुद्रदेव से पूछा कि क्या करूँ ? "आपकी आज्ञा हो तो समस्त ब्रह्माण्ड को एक ग्रास में खा डालूँ और सातों समुद्रों को एक ही चिल्लू में पी डालूँ ? काल को भी बाँध सकता हूँ । बैकुण्ठनाथ को भी कुंठित कर सकता हूँ" इत्यादि कहते हुए यह भी कहा कि मेरे लिए कुछ भी असाध्य नहीं है । आपके चरणों की कृपा के बल से आपका अभीष्ट पूर्ण कर सकता हूँ । उस वीर पुरुष की प्रतिज्ञा सुनकर भगवान् रुद्र ने कहा – "हे भद्र! मेरे समस्त शिवभक्त गणों में तुम अग्रणी और महावीर हो । तुम "वीरभद्र" नाम से प्रसिद्ध होगे । हे शुभोदय, पुत्र, मेरा यह काम करो कि अभी चले जाओ और दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर डालो । जो लोग दक्ष सहायक होकर तुम्हारा अपमान करें, उन सबको भी तिरस्कृत कर देना । अभी चले जाओ" ।

शिव ने अपने निःश्वास वायु से उत्पादित सौ करोड़ दूसरे उग्र गणों को भी वीरभद्र की अनुचरता के लिए उत्पन्न कर वीरभद्र के साथ भेज दिया । भास्कर के समान भास्वर इन गणों से समस्त आकाश भर उठा । उन गणों ने पहाड़ों की चोटियाँ, वृक्ष आदि उखाड़ कर लिए हुए वीरभद्र के आगे, पीछे और कोई वीरभद्र के साथ-साथ चल पड़े । दक्ष के यज्ञ में पहुँचकर यज्ञ के खम्भों आदि को उखाड़ कर यज्ञ को विध्वस्त करने लगे । कोई कुण्डों को पाटने लगा, कोई पर्वताकार अन्नसमूह को छीटने लगा, कोई-कोई पायस ही भक्षण करने लगा और कोई स्रुवा और दण्ड आदि को ही तोड़ डाला । इस प्रकार सम्पूर्ण यज्ञ सामग्री को नष्ट करते हुए यज्ञ के पशुओं को ही वे गण निगलने लगे । कोई-कोई तो वहाँ यज्ञाग्नि को ही बुझाने लगे । कोई कपड़ा लूटने लगा और कोई रत्नों के अम्बार को ही लूटने लगा । देवों का भी विविध प्रकार से अङ्ग-भङ्ग किया ।

इसी प्रकार रुद्रगणों ने यज्ञ में उपस्थित देवों को भी अङ्ग-भङ्ग करते हुए यज्ञ में हविग्रहण करते हुए अग्निदेव की जीभ उखाड़ ली । यहाँ तक कि एक ने यमराज को भी बाँधकर पूछा–"धर्म क्या है ? जिस धर्म में प्रथम महेश्वर की पूजा नहीं होती, वह कौन धर्म है" ? नैऋत, कुबेर आदि भी नहीं बचे । एक ही पंक्ति में बैठे लोक-पालों को रुद्र का नाम पड़ जाने से प्रमथ गणों ने उन्हें छोड़ दिया । यज्ञ में आए देवों को भाँति-भाँति से यहाँ तक कि वरुण और इन्द्र को भी तिरस्कृत किया । पर ब्राह्मणों को प्रणाम करके वहाँ से भगा दिया । यज्ञस्थल श्मशान-सा शोचनीय हो उठा । यह सब देखकर वीरभद्र ने कहा– "ईश्वर-पराङ्मुख, दुराचारी के कर्म की यही अवस्था होती है" ।

"गणाः पश्यत दुर्वृत्तैः प्रारब्धानां च कर्मणाम् ।
अनीश्वरैरवस्थेयं कुतो द्वेषो महेश्वरे" ॥ (काशी., अ. ८९, श्लो. ५६)

तुलना कीजिए—

"क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता–
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद! सदस्याः सुरगणाः ।
क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः" ॥
(महिम्नः स्तोत्रम्, श्लो.–२१)

वीरभद्र ने अपने गणों से दक्ष और यज्ञभोजी देवों को पकड़ लाने की आज्ञा दी । प्रमथगण आज्ञा पालन के लिए ज्यों ही बढ़े, त्यों ही गदाधर दिखाई पड़े और उन पराक्रमी प्रमथों को भगा दिया । इस पर **वीरभद्र** ने दैत्यजेता, चक्र-गदा-खड्ग और शार्ङ्गधनुर्धारी विष्णु ने कहा –"इस महायज्ञ के प्रवर्त्तक यज्ञपुरुष तुम्हीं हो । तुम या तो **दक्ष** को लाकर मुझे दे दो या मेरे साथ युद्ध करो । तुम्हीं ने सहस्रकमल से शिव की पूजा के समय अपने नयन कमल को चढ़ा दिया था, जिस पर शंकर ने तुम्हें चक्र दिया, जिस चक्र से तुम दैत्यजेता हो गए ।
तुलना कीजिए–

"हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन् निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर! जागर्ति जगताम् " ॥
(महिम्नः स्तोत्रम्, श्लो. १९)

विष्णु ने कहा –'तुम महादेव के पुत्रस्थानापन्न हो, इन गणों के प्रधान नायक भी हो, पर मैं **दक्ष** की रक्षा के लिए तत्पर हूँ । देखता हूँ तुम कैसे **दक्ष** को छीन ले जाते हो' ? इस पर वीरभद्र ने अपने गणों को नेत्रसङ्केत से युद्ध के लिए प्रेरित क्रिया । विष्णुगण समरांगण में जब पराजित होने लगे तब स्वयं विष्णु समर करने लगे । वीरभद्र ने कहा कि "तुम दानवेन्द्रों को जीतने वाले भले ही हो, पर शिवभक्तों से नहीं लड़े हो" । इसके अनन्तर वीरभद्र और शिवगणों के साथ लोक-विस्मयकारी युद्ध हुआ । विष्णु भी युद्ध में कूद पड़े । शिव के गणों और वीरभद्र के युद्ध से त्रैलोक्य काँप उठा । विष्णु का चक्र-प्रहार भी शिवप्रसाद के कारण वीरभद्र के गले में अटक कर वक्र आभूषण-सा हो गया । मधुसूदन का खड्गयुक्त हाथ भी वीरभद्र के हुंकार से स्तंभित हो गया । तब वीरभद्र उज्ज्वल त्रिशूल लेकर दौड़कर विष्णु पर प्रहार करना चाहा, तब तक आकाशवाणी ने "ऐसा साहस मत करो" कहते हुए गणनायक को निवारण कर दिया ।

इसके अनन्तर सिंहनाद करते हुए वे गण विष्णु को छोड़कर **दक्ष** के पास पहुँच कर कहे–"रे ईश्वरनिन्दक दक्ष तुझे धिक्कार है । तुम जैसे पुरुष ने शिव की निन्दा जिस मुख से की है, उसे मैं दण्ड देता हूँ" । ऐसा कहकर, चारों ओर से उस मुँह को थप्पड़ मार-मार कर चकनाचूर कर दिया । अदिति आदि स्त्रियों की भी दुर्गति कर डाली । जिन कानों ने शिव की निन्दा सुनी या जिस मुख ने की उनके कान या जीभ ही नष्ट कर दिया । महाहवि-ग्रहीताओं को यज्ञ के खम्भे पर फाँसी देकर नीचे मुख लटका दिया । जैसे परवंचना करने से थोड़े समय में उपार्जित सम्पत्ति विनष्ट हो जाती है, वैसे दक्ष-यज्ञ की सम्पत्ति भी शिवहीन होकर नष्ट हो गयी । अनन्तर महादेव वहाँ जब आ पहुँचे, तब **बीरभद्र** लज्जा से गड़ गये । सब ने देवदेव महादेव को केवल प्रणाम किया । कुछ बोले नहीं । पर शंकर सब समझ गये ।

यह सब देखकर विधाता ने शंकर की स्तुति से उन्हें प्रसन्न कर कहा– 'दयालो! इस **दक्ष** पर प्रसन्न हों और जैसे पहले सब थे, वैसे ही वे सब कर दिए जायँ । वैदिक-विधि पुनः प्रचलित हो । विचार की दृष्टि से देखने पर यह दीन **दक्ष** भी आपका बड़ा भक्त है । जिसने अपने अनीश्वर कर्म को दृष्टान्त बनाया । अब कोई भी महेश्वर के बिना न कोई कर्म करेगा और न उनकी निन्दा सुनेगा या करेगा । जो शिवनिन्दक हैं, वे मूक पशुतुल्य हैं । तब **बीरभद्र** ने दक्ष को **मेषमुख** बना दिया ।

सती के चले जाने और शरीरत्याग के कारण शिव भी वानप्रस्थार्थ ब्रह्मा से पूछकर हिमालय लौट गये; क्योंकि किसी को भी आश्रमविहीन नहीं रहना चाहिए । ब्रह्मा ने शिक्षा दी–शिवनिन्दाजन्य पापपङ्क के निर्मलीकरणार्थ हे दक्ष ! तुम भी काशी-पुरी, जो पवित्रपुरी पापपुञ्जनिवारिणी है, वहाँ जाकर शिवलिंग की स्थापना कर उसकी उपासना-पूजा करो । इसी से महेश्वर सन्तुष्ट होंगे । उनके तुष्ट होने से समस्त संसार तुष्ट हो जायगा । काशीपुरी में शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा करने वाले सब कुछ कर चुके ।

ब्रह्मा के कहने से दक्ष काशीपुरी जाकर, शिवलिङ्ग की स्थापना कर बारह हजार वर्ष दिन-रात महेश्वर की स्तुति-पूजा, तपस्या आदि में निमग्न हो गए । तब तक हिमालय और मैना-पुत्री पार्वती अपनी तपस्या के बल से शिव को अपना पति बना चुकी थी । शिव के साथ विवाह के अनन्तर पार्वती एक दिन काशी में तपस्यालीन रहकर शिवाराधन करते और तपःक्षीण दक्ष को देखकर शिव से उन्हें वरदान देने को कहा और शिव ने भी दक्ष से प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा । दक्ष ने स्तुति करते हुए शिव के चरणों में निर्द्वन्द्व भक्ति का वरदान माँगा । उसे देते हुए और दक्ष के अपराध को क्षमा करते हुए शिव ने

यह भी वरदान दिया कि दक्ष द्वारा स्थापित लिङ्ग का **दक्षेश्वर** नाम होगा, जिसके पूजन से शिव; लोगों के सहस्रों अपराध क्षमा करेंगे । इसी कारण शिव-पूजा के अन्त में मेषमुख दक्ष की भाँति गाल बजाया जाता है । इससे शिव प्रसन्न होकर सब पाप नष्ट कर देते हैं ।

[१०]

[पार्वतीश्वर लिङ्ग की कथा]

तपश्चर्या से प्रसन्न होकर शिव ने जब पार्वती को अपनी अर्धाङ्गिनी पत्नी बनाया, तब वे पार्वती के साथ ही रहने लगे । एक दिन पतिव्रता हिमालय-पत्नी मैना ने पार्वती से कहा कि इन जामाता महादेव का आवास कहाँ है ? क्या पार्वती जानती हैं ? इसका कोई स्वजन आदि भी है या नहीं ? मातृ-वचन से लज्जित होकर गिरीश-किशोरी ने शिव से प्रणाम कर कहा– "कान्त, आज तो मैं अवश्य ही सास के घर जाऊँगी । अब यहाँ का रहना अच्छा नहीं है । अब आप मुझे अपने घर ले चलिए" । तत्त्ववेत्ता शिव शैलजा की बात सुन हिमालय छोड़ अविच्छिन्न आनन्द समूहवाली आनन्दपुरी काशी में आ पहुँचे । शिव ने शैलपुत्री को यह भी बताया कि पंचक्रोशात्मक मुक्ति-क्षेत्र-मन्दिर में एक तिलस्थान भी बिना शिवलिङ्ग के नहीं है । यह भी बताया–

"अन्यत्र भी एक-एक लिङ्ग के चारों ओर की क्रोशात्मक भूमि आनन्दकारण हो जाती है, तब काशीपुरी का क्या पूछना ? यहाँ शिवलिङ्ग ही लिङ्ग है । सभी पुण्यात्माओं ने यहाँ लिङ्ग स्थापित कर रखे हैं । ऐसे जनों का अनन्त कल्याण होता है" ।

यह सुनकर शंकर के चरणों में प्रणति निवेदन कर शैलपुत्री ने भी पतिव्रता नारी की भाँति पति की आज्ञा लेकर, शिवलिङ्ग की स्थापना करने की लालसा प्रकट की–

> **"पत्युराज्ञां समासाद्य यच्छेच्छ्रेयः पतिव्रता ।**
> **न तस्याः श्रेयसो हानिः संवर्तेऽपि कदाचन"** ॥ (का. अ. १०, श्लो. १७)

चैत्र शुक्ल तृतीया के दिन पार्वतीश्वर के पूजन से भुक्ति-मुक्ति सब कुछ मिल जाती है । इस भाँति पति से आज्ञा लेकर महादेव लिंग के समीप ही **'पार्वतीश्वर'** लिङ्ग प्रतिष्ठित किया । इस पार्वतीश्वर लिंग की पूजा करने वाले सभी जन शरीरान्त में निष्पाप होकर सदा इसी लिङ्ग में लीन हो जाते हैं । इस आख्यान के श्रवण से भी सभी ऐहिक, पारलौकिक कामनाएँ पूर्ण होती हैं ।

[९१]

[गङ्गेश्वर लिङ्ग की स्थापना का आख्यान]

स्कन्द ने अगस्त्य को **गङ्गेश्वर** के प्रादुर्भाव की कथा बताते हुए कहा कि. गङ्गेश्वर-लिङ्ग-कथा-श्रवण गंगास्नान का फलदाता है । उन्होंने बताया कि : गंगा दिलीपनंदन (रघु के पिता से भिन्न उनके पूर्वज) भगीरथ के साथ आनन्दवन के चक्रपुष्करिणी तीर्थ पर आ पहुँची । इस क्षेत्र की अतुल विभूति और प्रभाव को समझकर काशी में लिङ्ग-प्रतिष्ठा के लोकोत्तर पुण्य का स्मरण कर विश्वेश्वर के पूर्व भाग में **गंगेश्वर** नामक लिङ्ग की गंगा ने स्थापना की । काशीपुरी में उन **गङ्गेश्वर** लिंग का दर्शन कलियुग में मिलना बहुत ही दुर्लभ है । जो कोई **गंगादशहरा** के दिन **गङ्गेश्वर** का पूजन करता है, उसके सहस्रों जन्मार्जित पाप नष्ट हो जाते हैं । कलियुग में यह **गङ्गेश्वर** लिङ्ग प्रायः गुप्त ही रहेगा । किसी परम योगी को ही **गङ्गेश्वर** का दर्शन मिल पाता है । वह गङ्गेश्वर दर्शनकर्ता शरीरधारिणी गंगा के दर्शन का पुण्यभागी होता है ।

कलियुग में पापहारिणी गंगा दुर्लभ हो जायेंगी । गंगेश्वर तो और भी दुर्लभ हो जायेंगे । इस आख्यान के सुनने से नर, नरकभागी नहीं होता । वह बड़ा पुण्यात्मा हो जाता है । (यहाँ नारायणी टीका के कर्ता ने बताया कि काशी में कहीं भी गंगेश्वर का दर्शन नहीं होता । चुनार में जहाँ भर्तृहरि योगसाधना करते थे, वहीं एक गङ्गेश्वर हैं) ।

[९२]

[नर्मदेश्वर लिङ्ग के प्रादुर्भाव की कथा]

स्कन्द ने मुनि को बताया – वाराहकल्प के आरम्भ में प्रधान मुनियों ने मार्कण्डेय ऋषि से पूछा– 'हे मृकण्डनन्दन ! सब नदियों में श्रेष्ठ नदी को आप बताएँ । मार्कण्डेय ने बताया कि सब नदियों में समुद्रगामिनी नदियाँ श्रेष्ठ हैं । उनमें भी चार उत्तम नदियाँ – गंगा, यमुना, नर्मदा और सरस्वती श्रेष्ठ और परम पवित्र हैं । यथा–

"सर्वाभ्योऽपि नदीभ्यश्च श्रेष्ठाः सर्वाः समुद्रगाः ।
ततोऽपि हि महाश्रेष्ठाः सरित्सु सरिदुत्तमाः ॥
गङ्गा च यमुना चाऽथ नर्मदा च सरस्वती ।
चतुष्टयमिदं पुण्यं धुनीषु मुनिपुङ्गवाः ॥

ऋग्वेदमूर्त्तिर्गङ्गा स्याद्यमुना च यजुर्ध्रुवम् ।
नर्मदा साममूर्तिस्तु स्यादथर्वा सरस्वती ॥
(काशी. अध्या. ९२ श्लो. ४–६)

गंगा सब नदियों में आदि योनि है और समुद्रपूरणी भी है । कोई भी नदी गंगा की समानता नहीं करती ।

पूर्वकाल में बड़ी तपस्या के बाद नर्मदा ने ब्रह्मा से प्रार्थना की थी कि 'प्रभो! आप मुझे गंगा कि तुल्यता प्रदान करें' । ब्रह्मा ने हँसकर उत्तर देते हुए बताया कि यदि कोई महादेव शिव की समानता कर सके या कोई पुरुष, पुरुषोत्तम के तुल्य हो सके या कोई नारी गौरी के समान हो जाय, कोई पुरी काशीपुरी सम हो जाय, तो तुम गंगा की समानता कर सकती हो । नदी-श्रेष्ठा नर्मदा ब्रह्मा की बात सुनकर काशी चली गयीं ।

वहाँ पहुँचकर नर्मदा ने **पिलपिलां तीर्थ** पर त्रिलोचन के समीप शिवलिंग की विधिपूर्वक स्थापना की । इस पर शिव ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा । रेवा (नर्मदा) ने शिव के चरणों में निर्द्वन्द्व भक्ति बनी रहने का वरदान माँगा । शिव ने उस वरदान को देकर अपनी ओर से भी वरदान दिया कि तुम्हारे तट में जितने पत्थर हैं, वे सब **लिङ्ग** रूप हो जायेंगे –

'यावन्त्यो दृषदः सन्ति तव रोधसि नर्मदे ।
तावन्त्यो लिङ्गरूपिण्यो भविष्यन्ति वरान्मम ॥
अन्यं च ते वरं दद्यां तमप्याकर्णयोत्तमम् ।
दुष्प्रापं यच्च तपसां राशिभिः परमार्थतः ॥
सद्यः पापहरा गङ्गा सप्ताहेन कलिन्दजा ।
त्र्यहात्सरस्वती तीरे त्वं तु दर्शनमात्रतः ॥
(काशी. अ. ९२, श्लो २१-२३)

शिव ने कहा – "एक और भी वर देता हूँ । तुम्हारे स्थापित लिङ्ग का नाम **नर्मदेश्वर** होगा और वह शाश्वत मुक्ति देगा । जो लोग इस लिङ्ग के भक्त होंगे, उन्हें यमराज प्रणामपूर्वक कल्याण देंगे" । इस लिङ्ग की महिमा काशी के अन्य लिंगों की अपेक्षा विचित्र है । नर्मदेश्वर-माहात्म्य के श्रवण मात्र से पापपुञ्ज नाश सहित उत्तम ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

[९३]

सतीश्वर की उत्पत्ति कथा का आरम्भ करते हुए स्कन्द ने अगस्त्य को बताया– पुराकाल में ब्रह्मा की तपस्या से प्रसन्न होकर **शिव** ने वर देने की इच्छा

प्रकट की। ब्रह्मा ने कहा—"यदि आप प्रसन्न हैं, तो यही वर दें कि आप मेरे पुत्र हों और देवी (गौरी) दक्ष की कन्या हों"। शिव ने ब्रह्मा द्वारा याचित वर दे दिया। ब्रह्मा के कपाल से चन्द्रमौलि बालक रूप में प्रकट हो गए। तब वह बालक रोते हुए ब्रह्मा के मुख की ओर ताकने लगा। ब्रह्मा ने कहा कि "मुझे पिता पाकर भी तुम क्यों रो रहे हो"। बालक ने कहा—'मैं अपने नाम के लिए रो रहा हूँ। मेरा नाम रख दीजिए'। उस मायामय बच्चे का रोने के कारण **'रुद्र'** नाम पड़ा। इस पर अगस्त्य ने जानना चाहा कि महेश्वर के बालक होने पर भी रोने का क्या कारण था।

स्कन्द ने कुम्भयोनि को बताया कि बालक इस आनन्द के कारण रो रहा था कि परमेष्ठी चतुर चतुरानन ने अपने बुद्धि-वैभव के कारण शिव को अपना पुत्र बना लिया। विधाता की बुद्धिमत्ता का स्वरूप बताते हुए स्कन्द ने कहा— "शिव ने मन ही मन सोचा कि प्रथम कारण था कि अपत्य के बिना पिता का कौन उद्धार करेगा? दूसरा कारण यह था कि स्मरणमात्र से दुःखहारक परमेष्ठी के अपत्य बन जाने से प्रतिक्षण ब्रह्मा को शिव का दर्शन, अङ्गस्पर्श, एक शय्याशयन आदि और एकत्र आहार-विहार प्राप्त होगा। यह भी सोचा कि जो मन के भी अगोचर हैं, वे ही जब मेरे पुत्र हो जायेंगे, तो सब कुछ मुझे मिल गया समझना चाहिए। इनके दर्शन-स्पर्श-प्रभृति से भुक्ति और मुक्ति सब सुलभ हो जायगी। यदि शिव स्वयं मेरे घर के खिलौने हो जायेंगे, तो मैं सुखनिधान हो जाऊँगा। विधाता के इन सभी अभिलाषों को जानकर महेश्वर ने अपने तीनों नेत्र आनन्दाश्रु से आप्लुत कर लिये। दोनों परम देवों के अन्तर्मन की इस जानकारी को जान लेने से चिदानन्दस्वरूप स्कन्द को कुम्भज ने प्रणाम किया। स्कन्द ने भी मुनि भक्तिशील जैसे श्रोता की प्रशंसा की।

तदनन्तर स्कन्द ने बताया कि ब्रह्मा के पुत्र रुद्र के होने पर भगवती सती नाम से दक्ष की पुत्री हुई। सती ने वरार्थिनी होकर काशीधाम में घोर तपस्या की। महादेव ने लिङ्गरूप में प्रकट होकर वर दिया कि अब तपस्या करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इस लिंग का नाम भी तुम्हारे नामानुसार **सतीश्वर** होगा; क्योंकि तुम्हारा मनोरथ इससे सिद्ध हुआ। यह भी कहा कि जैसे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ, वैसे **सतीश्वर** शिवलिङ्ग की आराधना से सबका मनोरथ भी पूर्ण होगा। कुमारी इसकी आराधना से मन से भी उन्नत पति पाएगी। पुरुष को भी इस **सतीश्वर** लिङ्ग के पूजन से उत्तम पत्नी मिलेगी। जो भी इसकी आराधना करेगा उसकी सभी इच्छाएँ सफल होंगी।

आगे शिव ने सती को यह भी बताया कि आज से आठवें दिन तुम्हारे पिता दक्ष प्रजापति – मुझे तुम्हारा कन्यादान कर तुम्हारी लालसा पूरी करेंगे। वैसा ही

हुआ। आठवें दिन शिव-सती का व्याह हुआ। वह कथा केवल स्मरण मात्र से नर को सत्त्वगुण सम्पन्न कर देती है। यह सतीश्वर काशी में रत्नेश्वर के पूर्व भाग में विराजमान हैं।

[९४]

[अमृतेश्वर इत्यादि लिंगों का आख्यान]

अमृतेश्वर इत्यादि लिङ्गों की कथा बताते हुए स्कन्द ने कुम्भयोनि से कहा—पुराने समय की बात है कि काशी में ब्रह्मयज्ञतत्पर और अतिथिपूजक **सनारु** नाम के एक गृहस्थ मुनि रहते थे। बिना शिवलिंग की पूजा के वे न भोजन करते और न तीर्थ में प्रतिग्रह लेते थे। उस मुनि को उपजंघनि नामक एक ही पुत्र था। वन में समवयस्कों के साथ खेलते समय उसे साँप ने काट लिया। वन से वह घर लाया गया। घर से उपजंघनि को महाश्मशान ले गए। जहाँ श्रीफल (बेल या शरीफा) के आकार का एक शिवलिङ्ग था। उसी के ऊपर 'मृत' बालक को ज्यों ही रखा, त्यों ही वह बालक उपजंघनि सोता हुआ जैसे जागता है, वैसे ही जीवित होकर उठ बैठा। सभी उपस्थित शवयात्री विस्मयापन्न सोचते ही रहे कि एक पिपीलिका मरी हुई चींटी को उठा लाई। उस भूमि का स्पर्श होते ही चींटी जी उठी। उस भूमि के प्रभाव को जानने के लिए ज्यों ही वहाँ खोदा गया, त्यों ही वहाँ उक्त शिवलिङ्ग दिखाई पड़ा। सनारु मुनि ने उस शिवलिङ्ग की पूजा कर वहीं स्थापित कर दिया।

मुनि अपने जीवित पुत्र को लेकर घर आए। उनके द्वारा स्थापित शिवलिङ्ग **अमृतेश्वर** नाम से विख्यात हुआ, जिसके स्पर्श मात्र से मृत जीवित हो उठता था। पर कलियुग में अमृतेश्वर शिव गुप्त ही हैं। **अमृतेश्वर** के समान **शिवलिंग** अन्यत्र कहीं न होने से कलिकाल में उसे गुप्त कर रखा है। उनका नाम लेना भी बड़ा फलदायक है और नामग्राही को कोई उपसर्गजनित फल नहीं मिलता।

मोक्षेश्वर एवं करुणेश्वर शिवलिङ्ग

काशी में मोक्षद्वार के समीप मोक्षेश्वर के आगे **करुणेश्वर** नाम का एक अन्य शिवलिंग भी है। उसका जो दर्शन कर लेता है, उसे अविमुक्त क्षेत्र से बाहर कहीं नहीं जाना पड़ता। एक भी सोमवार को एकभक्त होकर करुणेश्वर का पूजन करना चाहिए। **मणिकर्णिका** में स्नान और **करुणेश्वर** के दर्शन का ही उपयुक्त फल है कि अविमुक्त क्षेत्र से बाहर नहीं जाना पड़ता। उन **करुणेश्वर** का पूजन करुणापुष्प (करना के फूल) से करे। फूल न मिले तो उसके पत्र से ही पूजन

करे । यदि किसी को करुणेश्वर की ठीक-ठीक पहचान न मिले, तो उसे करना के वृक्ष की ही पूजा करनी चाहिए । काशी में उनका दर्शन अवश्य करना चाहिए । उनका माहात्म्य श्रवण भी असीम फलदायक है ।

काशी धाम में **मोक्षद्वारेश्वर** एवं **स्वर्गद्वारेश्वर** का दर्शन करने से मोक्ष और स्वर्ग प्राप्त होता है । काशी के **ज्योतीश्वर** शिवलिङ्ग का दर्शन करने से मनुष्य ज्योति-रूप हो जाता है । चक्रपुष्करिणी के तीर पर ज्योतीश्वर की उपासना-पूजा करनी चाहिए । जब से गंगा काशी आयीं तब से प्रतिदिन उस लिङ्ग का पूजन करती हैं । पुरा युग में विष्णु के वहाँ तपस्या करने से वह तेजोमय लिंग आप से आप प्रकट हुआ था । इसी कारण यह क्षेत्र सर्वोत्तम हुआ । चक्रपुष्करिणी के तीर पर विराजमान **ज्योतिरूपेश्वर** का ध्यान महती सिद्धि को देता है । यदि कोई दूर देश से चक्रपुष्करिणी तीरस्थ ज्योतीरूपेश्वर का ध्यान करे, तो उसे सर्वसिद्धि सुलभ होती है ।

स्कन्द ने यह भी शिवमुख से गिरिजा को बताया कि जैसे महावीर्यशाली पूर्वोक्त चौदह शिवलिंग हैं । ओंकारेश्वरादि चतुर्दश लिंग, वैसे ही पूर्वोक्त आठ शिवलिंग और ये छत्तीस शिवलिंग [१४+१४+८=३६] भी हैं । इन छत्तीस शिवलिङ्गों में षट्त्रिंशत्तत्त्वरूप [तुलना कीजिए– शैवदर्शन में छत्तीस पदार्थ हैं] सदाशिव सदा वर्त्तमान रहकर सर्वसिद्धिदायक एवं तारकब्रह्म के उपदेष्टा हैं । इनका भजन करने से कभी दुर्गति नहीं होती । इन्हीं के प्रभाव से काशी में मुक्ति सदा स्थिर है ।

यहाँ के निवासी मुक्त ही हैं । इस क्षेत्र में शिव के अनादिसिद्ध शिवलिङ्ग सदा प्रकाशमान रहकर योगसिद्धि, तपःसिद्धि, व्रतसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, तीर्थसिद्धि सहित अणिमादिक आठों सिद्धियों के अधिष्ठान हैं । आनन्दवनरूप मोक्षलक्ष्मी भवन काशी के मिल जाने पर कभी नहीं छोड़ना चाहिए । यही लाभ है, यही तपस्या है । काशी अवश्यमेव ही सेवनीय है । दुर्लभ मानुषतन पाकर यदि काशीपुरी पा जाय, तो मुक्ति कहाँ जा सकती है? जिस प्रकार की तपस्या या योगसाधना से मुक्ति मिलती है, भला कलि में इस संसार में कैसे सुलभ है? मैं बारंबार घोषणा करता हूँ कि भूमण्डल में काशीतुल्य मुक्तिस्थली कहीं नहीं है –

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यपूर्वं पुनः पुनः ।
न काशीसदृशी मुक्त्यै भूमिरन्या महीतले" ॥

(काशी. अध्या. ९४, श्लो. ५२)

मुक्तिदाता केवल विश्वेश्वर ही हैं । यहीं सायुज्यमुक्ति मिलती है । अन्यत्र सान्निध्यादि मुक्ति ही प्राप्त होती है ।

[९५]

[वेदव्यास के भुजस्तम्भ का आख्यान]

व्यास ने महाबुद्धि सूत से बताया कि 'स्कन्द ने अगस्त्य से जो कुछ मेरा भविष्य-वर्णन किया था, उसे सुनो' । स्कन्द ने कहा–पराशरात्मज ! परमबुद्धिमान् ! चारों वेदों की नाना शाखाओं को विभक्त कर अष्टादश पुराणों को पढ़ाकर, श्रुति-स्मृति-पुराणों के संहारस्वरूप अपूर्व ग्रन्थ महाभारत का निर्माण किया । यह सर्वपापनाशक, परम शान्तिकारक एवं ब्रह्महत्या को भी श्रवण मात्र से दूर करने वाला है । एक बार भूमण्डल में भ्रमण करते हुए वेदव्यास उस नैमिषारण्य में उस समय जा पहुँचे, जिस समय अट्ठासी सहस्र शौनक प्रभृति तपोधन, मुनीश्वर, भाल में त्रिपुण्ड, गले में रुद्राक्षमाला, सर्वाङ्ग में भस्म रमाए, भक्तिपूर्वक शिवनाम का भजन-कीर्तन, रुद्रसूक्त के पाठ से कर रहे थे । वे विश्वासपूर्वक मानते थे कि 'विश्वेश्वर ही मुक्तिदाता हैं' ।

नैमिषारण्य में दृढ़विश्वासी शैव मुनीश्वरों के मध्य, तर्जनी अङ्गुलि उठाकर उच्च स्वर से वेदव्यास कहने लगे–वेद, पुराण, रामायण और महाभारतादि के आदि-मध्य-अन्त में सर्वत्र हरि ही व्याप्त हैं, दूसरा कोई नहीं । न तो वेद से बढ़कर कोई शास्त्र है और न भगवान् विष्णु से बढ़कर कोई देवता–

सत्य सत्यं पुनः सत्यं त्रिसत्यं न मृषा पुनः ।
न वेदादपरं शास्त्रं न देवोऽच्युततः परः ॥

(काशी. अध्या.९५, श्लो. १३)

केवल लक्ष्मीश्वर ही ध्येय हैं, भोग और मुक्ति के एकमात्र दाता हैं । वे ही संसार के जन्म-मरण चक्र से एकमात्र उद्धारक हैं । विष्णु ही धर्मार्थ-काम-मोक्ष के दाता हैं । जो गदाधर को छोड़कर अन्य देवों की उपासना करते हैं, वे 'वेदहीन' ब्राह्मणवत् त्याज्य हैं ।

वहाँ उपस्थित कम्पमान हृदय मुनि और बालकों को भी व्यास की घोषणा पर विश्वास नहीं हुआ । वे व्यास के प्रति आदर, परमादर व्यक्त करते हुए कहने लगे–आपने शपथ-पूर्वक जो प्रतिज्ञा की है, उन वचनों पर श्रद्धा तभी हो सकती है, जब उस काशीपुरी में जाकर यही प्रतिज्ञा करें, जहाँ युगधर्म नहीं व्यापता, जो त्रिलोक से न्यारी है और जहाँ भगवान् विश्वेश्वर ही सदा विराजमान रहते हैं । इस पर व्यास मुनि मन ही मन कुछ क्रुद्ध होकर अपने दश सहस्र शिष्यों के साथ वहाँ से चलकर तुरन्त काशी पहुँचे । वहाँ पंचनद (पंचगंगा) में स्नानकर, विन्दुमाधव का उन्होंने पूजन किया । तदनन्तर पादोदक तीर्थ पर जाकर

आदिकेशव का दर्शन किया। पाँच दिन वहाँ बिताकर प्रमोदपूर्वक शंखध्वनि करते हुए वैष्णवों से अभिनन्दित यह कहते हुए–"जय विष्णो! इत्यादि" विष्णु की नामावली स्तुति की। स्तुति करते-करते हर्षपूर्वक नृत्य करने लगे। अन्त में वे ज्ञानवापी जा पहुँचे। वहाँ वैष्णव भागवतों के साथ करताल लेकर नाचने लगे और हाथ उठाकर उच्चस्वर से उन्हीं श्लोकों का उच्चारण करने लगे। ज्यों ही व्यास ऐसा करने लगे, त्यों ही नन्दी ने उनके हाथ और वाणी का स्तम्भन कर दिया।

इसी बीच विष्णु आकर प्रकट हो गए और कहा–"मुने! तुमने बड़ा भारी अपराध किया। तुम्हारे इस अपराध से मुझे भी भारी भय हो गया है; क्योंकि इस विश्वमण्डल में विश्वनाथ ही सब कुछ हैं। उनका प्रसादरूप चक्र मुझे मिला है। उन्हीं की कृपा से मैं लक्ष्मीपति, जगत् का पालनकर्त्ता और ऐश्वर्यशाली हूँ। व्यास! यदि मेरा तुम कल्याण चाहते हो तो ऐसी बुद्धि फिर न करना"। व्यास ने सङ्केत से नन्दी द्वारा वाक्स्तम्भनादि की बात श्रीविष्णु को समझाई। भगवान् विष्णु से अपना कण्ठ छू देने को संकेत से कहा। गुप्तरूप से वैसा कर भगवान् विष्णु अन्तर्ध्यान हो गए और व्यास विश्वनाथ की स्तुति करने लगे।

स्तोत्र ग्रंथों में 'गङ्गातरङ्गरमणीयजटाकलापम्' इत्यादि एक और महर्षि व्यासकृत शिवाष्टक मिलता है। पाठक उसे भी देखें।

इस पर महेश्वर की दृष्टि-चेष्टा को समझ कर नन्दी ने भुजस्तंभन भी दूर कर दिया और व्यासकृत उपरोक्त स्तुति की फलस्तुति भी बतायी।

तब से रुद्राक्षधारी, भस्माङ्गी होकर वेदव्यास घंटाकर्ण ह्रद के ऊपर व्यासेश्वर शिवलिङ्ग को स्थापित कर रुद्रसूक्त से पूजा करते हैं। इस कुण्ड में स्नान और व्यासेश्वर के दर्शन की बड़ी महिमा है।

[९६]

[व्यास-शापविमोचन का आख्यान]

स्कन्द के सम्मुख अगस्त्य ने जिज्ञासा प्रकट की 'जब कृष्णद्वैपायन काशी क्षेत्र के रहस्यज्ञाता शिव के प्रभाववेत्ता और शिवभक्तिपरायण थे, तब क्षेत्रसंन्यास लेने के अनन्तर वाराणसी पुरी को क्यों शाप दिया? यह सच है कि व्यास भुज-वाक्स्तम्भन और उसके विमोचन के पश्चात् यह मानने लगे कि शिवलिङ्गों में विश्वेश्वर और तीर्थों में मणिकर्णिका ही श्रेष्ठ है। इसी से वे मणिकर्णिका-स्नान के पश्चात् नित्य ही मुक्तिमंडप में बैठकर अपने शिष्यों के साथ बड़े उल्लास के साथ उक्त दोनों की महिमा का आख्यान करने लगे। वे कहते कि यहाँ कृतकर्म

शाश्वत होता है । इस क्षेत्र में सिद्धि के अभिलाषियों को चक्रपुष्करिणी में स्नान और पत्र, पुष्पादि से विश्वनाथ का पूजन सदा करना चाहिए । अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार क्षेत्र का माहात्म्य भी प्रतिदिन सुनना चाहिए । सदा उत्सवादि भी करना चाहिए । परोपकारी रहना आवश्यक है । पर्वों पर स्नान-दानादि कर्म बड़ा फलदायक है ।

इस क्षेत्र में प्राणसंकट में भी असत्य-भाषण नहीं करना चाहिए, पर किसी की रक्षा के लिए झूठ भी बोला जा सकता है । पर दार, पर द्रव्यापहरण, परापकार, पर मर्मवार्ता भाषण निषिद्ध है । काशी में क्षेत्रसंन्यास लेकर रहनेवाले को वस्तुतः जीवनमुक्त और रुद्रस्वरूप मानना चाहिए–

"ये वसन्ति सदा काश्यां क्षेत्रसंन्यासकारिणः ।
त एव रुद्रा मन्तव्या जीवन्मुक्ता न संशयः" ॥

[काशी. अध्या. ९६, श्लो २०]

इसी प्रकार वेदव्यास ने काशी में करणीय और अकरणीय का विस्तार से वर्णन किया, साथ ही काशी का माहात्म्य भी विस्तार से बताते हुए यहाँ कृत तप, दान, स्नान, होम, रुद्रसूक्त का पाठ, काशी में नित्य वास, विषम स्थिति में भी काशी का अत्याग आदि का वर्णन अध्याय के पचासवें श्लोक तक किया है । कृच्छ्र आदि व्रत, चान्द्रायणव्रत आदि की विधि सविस्तार से बताते हुए यति चान्द्रायण, ब्रह्मचारि-चान्द्रायण आदि का विधान भी बतलाया है । यह भी बताया कि यहाँ की दिनचर्या क्या हो? इत्यादि सबका व्यास भगवान् अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए तथा स्वयमपि उनका आचार-निर्वाह करते रहे । इस प्रकार वेदव्यास काशीवास करते रहे । [अध्याय के ५१ श्लोक से श्लोक ८१ तक पाठक मूल अवश्य पढ़े ।]

इसी अध्याय में श्लोक बहत्तरवें में कहा गया है कि शरीर की शुद्धि जल से, मन की शुद्धि सत्य से, भूतात्मा की शुद्धि विद्या एवं तप से तथा बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है –

"अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति" ॥

(काशी. अध्या. ९६ श्लोक ७२)

एक बार व्यास की परीक्षा लेने के लिए भव ने भवानी से कहा– "हे सुन्दरि ! उस परम धार्मिक व्यास को भिक्षाटन के लिए निकलने पर आज कहीं भी भिक्षा न मिले । भवानी ने शिव की इच्छानुसार वैसा ही भिक्षा का निषेध कर

दिया । मुनि व्यास अपनी शिष्य-मंडली के साथ समस्त दिवस भिक्षार्थ घूमते रहे । पर कहीं भी उन्हें भिक्षा न मिली । सायंकाल सन्ध्योपासन कर महर्षि व्यास अपनी शिष्य-मंडली के साथ उपवास करके रात्रि विश्राम किया । दूसरे दिन मध्याह्निक कृत्य के पश्चात् भिक्षार्थ अटन करते रहे । पर उस दिन भी भिक्षा न मिली । तब व्यास के घूमते-घूमते थककर शिष्यों के साथ बारंबार नगर में धनिकों के यहाँ चक्कर काटने पर भी उन्हें उस दिन भी भिक्षा कहीं न मिली । इसका कारण जानने हेतु दो तीन शिष्यों को नगर में भेजा कि नगर में क्या हो गया है? इस विशाल काशी पुरी में क्यों अन्नक्षय हो गया है? इत्यादि-इत्यादि । कारण या कारणों का पता लगाकर शीघ्र लौटने की उन्हें महर्षि व्यास ने आज्ञा दी । अन्नक्षय या भिक्षा न मिलने की स्थितियों का व्यास ने विस्तार से वर्णन किया ।

तत्पश्चात् उन शिष्यों ने नगर में पुरवासियों की अटूट संपत्ति देखकर अपार अन्नराशि और खाद्य सामग्री का अंवेलाकन कर महर्षि व्यास को लौट कर सब कुछ विस्तार से बताया । यह भी कहा-"गुरुचरण ! जहाँ साक्षात् विश्वनाथ वर्तमान हैं, अन्नपूर्णा हैं, स्वर्गतरंगिणी गंगा हैं और आप (महिर्ष व्यास) के समान पुण्यात्मा वास करते हैं, जहाँ बच्चे-बच्चे ब्रह्मवाद का ही विवाद करते हैं, वहाँ सभी पूर्ण धनधान्य, पूर्णकाम हैं । श्लोक ९७ से श्लो. १२१ तक उन शिष्यों ने काशी की सम्पन्नता बताकर मुक्ति-मुक्ता बिखेरने वाली काशी की महिमा गायी । व्यास ने अपने शिष्यों से उक्त अन्तिम श्लोक पुनः पढ़ने को कहा –

"विद्यानामाश्रयः काशी काशी लक्ष्म्याः परालयः ।
मुक्तिक्षेत्रमिदं काशी काशी सर्वा त्रयीमयी" ॥

[वही श्लो. १२३]

इसका भाव नारायणी टीका में यों है–

"सब विद्या की खानि है, है कमला को गेह ।
त्रयीमयी यह काशिका प्रकट मुक्ति को देह" ॥

इस पर व्यास क्रोध से जल उठे । वे क्षुधाग्नि से जल ही रहे थे । उन्होंने काशी को शाप दे डाला–

"मा भूत्त्रैपुरुषी विद्या मा भूत्त्रैपूरुषं धनम् ।
मा भूत्त्रैपूरुषी मुक्तिः काशीं व्यासः शपन्निति" ॥

[वही. श्लो. १२५]

"काशी में तीन पुरुष तक न विद्या हो और न धन हो, तीन पुरुषपर्यन्त मुक्ति भी न मिले" इस भाँति व्यास ने काशी को शाप दिया; क्योंकि व्यास के मत

से काशी के लोग विद्या, धन आदि के दर्प से और मुक्ति के गर्व से भिक्षुकों को भिक्षा नहीं देते । पर शाप देकर भी क्रोधित मुनि भिक्षार्थ चल निकले ।

शीघ्रता से नगर के प्रत्येक घरों में घूमे । पर कहीं भिक्षा न मिली । अन्त में सूर्यास्त की बेला निकट देख भिक्षापात्र फेंककर आश्रम की ओर जा ही रहे थे कि साधारण गृहिणी के रूप में द्वार पर बैठी हुई अन्नपूर्णा महादेवी बोलीं– "भगवन्, आज तो कहीं कोई भिक्षुक नहीं दीखता और मेरे स्वामी अतिथि को बिना भोजन कराए वैश्वदेवादिक कर्म करके बड़ी देर से अतिथि–प्रतीक्षारत हैं; क्योंकि जो गृहस्थ बिना अतिथि को भोजन कराए स्वयं भोजन करता है, वह पितरों के सहित पाप ही भोजन करता है –

बिनाऽतिथिं गृहस्थो यस्त्वन्नमेको निषेवते ।
निषेवतेऽघं स परं सहितः स्वपितामहैः ॥

[वही, श्लोक. १३३]

अतः आज आप ही मेरे अतिथि होकर मेरे वृद्ध स्वामी का मनोरथ पूर्ण करें ।

उस स्त्री से व्यास जी बोले– "हे सर्वांगसुन्दरि ! तुम कौन हो? तुम्हें तो मैंने पहले कभी इस पुरी में नहीं देखा । तुम्हें देखकर लगता है तुम धर्ममयी मूर्ति हो या सुधा हो या साक्षात् लक्ष्मी हो" । यह भी कहा कि "तुम इस काशी की अधिष्ठात्री देवता मुक्तिलक्ष्मी हो या मेरी भाग्यरूपा, भक्तों को पार उतारने वाली भगवती (अन्नपूर्णा) हो । तुम्हारे दर्शन से ही मेरी समस्त इन्द्रियाँ प्रसन्न हो उठीं हैं । तुम मेरे मोह को दूर करने वाली मेरी इष्ट देवता ही हो । तुम्हारे दर्शन से ही मैं पराधीन हो गया हूँ । तुम नागकन्या असुरी, किन्नरी आदि भी नहीं हो । तुम चाहे जो हो, इससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं । तुम जो आज्ञा दोगी, मैं वही करूँगा" । पर इसके पहले तुम बताओ–हे पवित्रताप्रतिमे ! सुन्दरि ! तुम हो कौन ?

इस पर देवी ने कहा कि "मैं यहाँ की एक गृहस्थ की कुटुम्बिनी हूँ । भिक्षा के लिए अपने शिष्यों के साथ जाते हुए आप को नित्य ही देखती हूँ । अब बहुत बात करने का समय नहीं है । सूर्य अस्त होना चाहते हैं । उसके पूर्व ही मेरे स्वामी को आतिथ्य करने का अवसर दें" । इसके उत्तर में व्यास ने कहा–"मेरा एक नियम है । जहाँ मैं भिक्षा करता हूँ, वहीं अपने दश सहस्र शिष्यों के साथ ही भिक्षा करता हूँ । इस नियम का जहाँ प्रतिपालन होता है, मैं वहीं सूर्यास्त से पूर्व भिक्षा करता हूँ" । इस पर भगवती ने कहा–"तब आप विलम्ब क्यों करते हैं ? मुने! यहाँ किसी पदार्थ की न्यूनता नहीं है । आप झट अपने दश सहस्र शिष्यों को शीघ्र ले आएँ और भिक्षा कर लें । यह भी कहा कि यहाँ सर्वदा भोजन प्रस्तुत रहता है" ।

इस पर व्यास ने समझ लिया कि यहाँ भोजन से सबकी तृप्ति हो जाएगी। इस साध्वी के बूढ़े पति के अनुग्रह से यहाँ सर्वदा सब कुछ सुलभ रहता है। महादेवी के कथन से यह भी समझ लिया कि शिष्यों सहित सूर्यास्त के पूर्व यहाँ भोजन कर लेना चाहिए। व्यास चले गए और अपने दश सहस्र शिष्यों सहित भिक्षार्थ लौट कर आ गए। तपस्वीगण मणियों की किरणों से उज्ज्वल, दीप्त आँगन में ज्यों ही पहुँचे, त्यों ही उत्तमोत्तम व्यंजनों को देख तथा उनकी सुगन्धि से संतुष्ट होकर उन स्वादिष्ट पक्वानों को खा कर असीम तृप्ति पायी। तदनन्तर मुखादि प्रक्षालन कर, चन्दन माला वस्त्रादि से भूषित होकर ज्यों ही गृहस्वामी के सम्मुख बैठ जाने का उपक्रम करने लगे बूढ़े गृहस्थ की प्रेरणा पाकर त्यों ही गृहिणी ने पूछा–तीर्थ में वास करने वालों के मुख्य आचार और धर्मों से हमें अभिज्ञ करें, ताकि हम तदनुसार आचरण करें। इस पर आतिथ्य सत्कार और भोजन से परम सन्तुष्ट महर्षि व्यास कहने लगे–

"हे देवि तुम जो (आतिथ्य सत्कारादि) कर्म करती हो, वही धर्म है। पतिदेव की सेवा में तत्पर रहने से धर्म का मर्म तुम्हीं जानती हो। फिर भी मुझसे जो हो सकेगा, मैं धर्म का मर्म बताऊँगा; क्योंकि किसी के पूछने पर जो कुछ जानता हो, उसे अवश्य बताना चाहिए। जिससे आपके बूढ़े पति सन्तुष्ट रहें, वही तुम्हारा एक मात्र धर्म है। साधारण धर्म भी मैं बताता हूँ। पर मर्मन्तुद वाणी कभी न बोले, दूसरे की उन्नति से ईर्ष्या-डाह न करना चाहिए। अपने गृह की उन्नति सर्वदा सोचनी चाहिए। यही साधारण धर्म है"।

इसी बीच बूढ़े गृहस्थ ने पूछ दिया–"हे विद्वन्! इनमें जो धर्म आप में है, उसे भी कह सुनाइए"। इस पर व्यास स्तब्ध होकर निरुत्तर हो गए। पुनः गृहस्थ ने कहा–"यदि इन्हीं को आप धर्म मानते हैं, तो काशी को आपने शाप का उत्तम दान देकर, आपने अपने दानशीलता को दिखाकर, दया एवं धीरता की पराकाष्ठा ही प्रदर्शित की। अच्छा यह बताएँ, मुनिवर! यदि स्वार्थ सिद्धि के अभाव में क्रोधवश जो कोई शाप दे दे, तो वह शाप का भागी कौन होता है?" इस पर व्यास ने कहा–"अभाग्यवश क्रोधी का शाप शापदाता पर ही पड़ता है"। इस पर बूढ़े गृहस्थ ने पुनः पूछा– "बार-बार काशी पुरी का चक्कर काटने पर भी आपको यदि भिक्षा न मिली तो इसमें काशी क्षेत्रवासियों का क्या दोष है? इस नगरी में जो दूसरे की सम्पत्ति नहीं देख सकता, वही स्वयं शापग्रस्त है। हे कोपमुने! शाप वर्जित मेरे इस क्षेत्र में तुम्हारा रहना नहीं हो सकता। तुम इस क्षेत्र से बाहर चले जाओ। तुम जैसे लोगों के रहने योग्य यह मोक्षदात्री पुरी नहीं है"।

अद्यप्रभृति न क्षेत्रे मदीये शापवर्जिते।
आवस क्रोधनमुने न वासे योग्यताऽत्र ते॥

इदानीमेव निर्गच्छ बहिः क्षेत्रादितो भव ।
त्वद्विधानां न योग्यं मे क्षेत्रं मोक्षैकसाधनम्" ॥
(वही. अ. ९६ श्लो. १९०-१९१)

इस विश्वनाथादेश को सुनते ही व्यास के ओठ और तालु सूख गये । काँपते हुए भवानी के चरणों पर गिर क्षमा माँगने लगे और स्वयं को बचा लेने की बारंबार प्रार्थना की । यह भी कहा कि "महादेव का शाप अन्यथा नहीं हो सकता ! फिर भी ऐसा कीजिए कि प्रति अष्टमी और चर्तुदशी को मैं इस नगरी में प्रवेश कर सकूँ" । बाबा विश्वनाथ का संकेत पाकर पार्वती मैया ने "तथास्तु" कह दिया । तत्पश्चात् शिव-पार्वती अन्तर्धान हो गये और व्यास भी अपने अपराध को कहते हुएं क्षेत्र से बाहर हो गए । तब से व्यास दृष्टि से दूर से काशी का दर्शन करते रहते हैं । लोलार्क के अग्निकोण में बैठे रहकर व्यास काशी की शोभा देखते रहते है । प्रति अष्टमी और चतुर्दशी को क्षेत्र में प्रवेश करते हैं ।

"रामनगर एक धाम, पुरते गंगा पार में ।
तहाँ व्यास को धाम, काशिराज के दुर्ग में" ॥
(नारायणी टीकाकार)

इसके अतिरिक्त भी काशी जनपद में बड़े वेदव्यास का एक स्थान है । वहाँ माघ मास में विशेषतः सोमवार को बड़ा मेला लगता है ।

इस कथा के श्रवण से बड़े से बड़े उपसर्गों का भय नहीं रहता ।

[९७]

[क्षेत्रतीर्थ-वर्णन]

देवी गौरी ने शंकर भगवान् से काशीधाम के जो-जो शिवलिंग, कुण्ड आदि हैं, उनके सम्बन्ध में पूछा । भगवान् शिव ने बताया-"सभी लिंग तीर्थ कहे जाते हैं । इन्हीं मूर्तियों से सम्बद्ध जलाशय भी तीर्थ कहे जाते हैं । ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, शिव और गणेशादि की मूर्तियाँ होती हैं, पर शिवलिंग ही प्रसिद्ध और मुख्य माने जाते हैं । ये सब जहाँ रहते हैं, वही तीर्थ कहलाते हैं । वाराणसी में प्रथम तीर्थ महादेव ही हैं । उसके उत्तर में सारस्वतपद का देने वाला बड़ा भारी एक कूप है । उस कूप के दर्शनमात्र से मनुष्य पशुपाश से मुक्त हो जाता है ।

यहाँ आरम्भ में ही यह बता देना आवश्यक है कि २९७ श्लोकात्मक इस विशाल अध्याय में इतने शिवलिंगों-तीर्थादिकों के माहात्म्य सहित नाम गिनाए गए हैं, उन सबका उल्लेख यहाँ विस्तारभय से अनावश्यक है और अधिसंख्यक का पता भी नहीं चलता। इसी से नारायणी टीकाकार ने अध्याय के अन्त में उनका सूक्ष्म अनुसन्धान करने के अनन्तर लिखा है –

"गुप्त, लुप्त औ प्रकट हैं, लिंग तीर्थ बहुतेक।
करि प्रयत्न ढूंढ़े मिलै, एहि लगि धरिये टेक॥
जहँ पूरब कुंड अनेक रहे, तहँ पै अब लोगन की बसती।
जब बावलि कूप हेराय चले, तब लिंगन की कहँ लों गिनती॥
अब ढूँढ़हु पै मिलते नहिं सब, तीरथ हैं जिनकी भनती।
अजहूँ कितने हि प्रसिद्ध लखात, जथारुचि दर्शन की बिनती" ॥

इसी कारण इस अध्याय सारांश में कुछ का ही उल्लेख किया जायेगा।

उस **सारस्वत कूप** के पीछे मूर्तिमती **वाराणसी देवी** विराजमान हैं। पूर्व में **गोप्रेक्षेश्वर** लिंग है, दक्षिण में **दधीचीश्वर** लिंग है। पूर्व में **अत्रीश्वर** और समीप ही **विज्वर** नामक लिंग है। उससे भी पूर्व **वेदेश्वर** है। उससे उत्तर क्षेत्रज्ञाता **आदिकेशव** हैं। उनके पूर्व **संगमेश्वर** लिंग है। उनसे भी पूर्व **चतुर्मुखप्रयाग** लिंग है। वरुणा के तट पर **कुन्तीश्वर** हैं। उनसे उत्तर **कपिलधारा** तीर्थ है। वहाँ स्नान और श्राद्ध का बड़ा माहात्म्य है। वहीं पास में **अनुसूयेश्वर** लिंग है। महादेव के पश्चिम **स्कन्देश्वर** लिंग है। **प्रसन्नवदनेश्वर** नामक लिंग भी है। उन्हीं के उत्तर **प्रसन्नोद** नामक कुण्ड है। वहीं पास में **मित्रावरुण** नामक महापातकहारी दो लिंग हैं। पार्श्व में **वृद्धवसिष्ठ**-संज्ञक लिंग है, **कृष्णेश्वर** और **याज्ञवल्क्येश्वर** लिंग भी है। उसके पीछे **प्रह्लादेश्वर** शिवलिंग भी है।

पूजक लोगों को अभीष्ट फल देनेवाला **वाणेश्वर** लिंग भी है। **चन्द्रेश्वर** से पूर्व **विद्येश्वर** लिंग है। उनके दक्षिण भाग में **महासिद्धिविनायक, वीरेश्वर** लिंग और समीप में ही **दुःखमोचनी विकटादेवी** भी है। यह स्थान सर्वसिद्धिदायक **पंचमुद्रा** नामक महापीठ है। पास ही में **वालीश्वर, सुग्रीवेश्वर** और **हनूमदीश्वर** लिंग भी हैं। पास ही **आश्विनेयेश्वर** शिवलिंग है। उनके उत्तरभाग में **भद्रह्रद** नामक कुंड में पूर्वभाद्रपदयुक्त पौर्णमासी के पुण्यकाल में स्नान का बड़ा फल है।

उपशांत शिवलिंग भी है। समीप ही योनिचक्र निवारक **चक्रेश्वर** शिवलिंग और **चक्रह्रद** का बड़ा माहात्म्य है। **शूलेश्वर** के दर्शन से नर रुद्रलोक चला जाता है। **नारदकुण्ड** और **नारदेश्वर** का स्नान-दर्शन भी महाफलदायी है। पास ही में विघ्नहर्त्ता नामक गणेश और उसी नाम का एक कुंड भी है। उनका दर्शन, स्नान

भी महापुण्यदायी हैं । **अनारकेश्वर** लिंग और **नारक**-कुण्ड भी है । उनका दर्शन-स्नान नरक भोग का मोचक है । उनके उत्तर, वरुणा (नदी) के तट पर **वरूणेश्वर** लिंग है । उनकी आराधना से अक्षपादनामा शैव को स्थूल शरीर से शाश्वती गति प्राप्त हुई । पास ही में शैलेश्वर, और **कोटीश्वर** शिवलिंग **कोटितीर्थ** नामक रुद्र है । उनका पूजन-स्नान यथोक्त फलार्थ करणीय है ।

"कोटीश्वर से अग्निकोण पर महाश्मशान का स्तंभ है । उसमें साम्बशिव का सदा वास रहता है । पास ही स्थित **कपालमोचन तीर्थ** में स्नान से अश्वमेध का फल मिलता है । उत्तर में **ऋणमोचन तीर्थ** और **अंगारकतीर्थ** भी हैं । पास ही **विश्वकर्मेश्वर** लिंग है और एक **महामुंडेश्वर लिंग** है । वहीं पर शिव द्वारा मुण्डमाला रख देने से **महामुंडा** देवी और **खट्वांग** रखने से **खट्वांगेश्वर** लिंग प्रकट हुए । विमलोदक कुण्ड और विमलेश्वर भी हैं । पश्चिम में भृगु का आश्रम तथा **शुभेश्वर** लिंग के पास में रमणीय गुहा है, **यज्ञोदक** कूप भी है । यहीं **आदिवर्णमयात्मक** ओंकार हैं और **मत्स्योदरी** के उत्तर तट पर **नारदेश्वर** जहाँ **नारदेश्वर** के दर्शनार्थ **गंगा** वहाँ जाकर मत्स्योदरी कही जाती हैं । **कापिलेश्वर** के पूर्व की ओरं **मत्स्योदरी** में तीर्थ **गंगा** की सोती आकर मिलने से दुर्लभ संगमयोग बनता है ।

शंकुकर्णेश्वर, कौस्तुभेश्वर, वाष्कुलीश्वर आदि भी लिंग है । **कपिलेश्वर** की गुफा के द्वार पर **अघोरेश्वर हैं** । वहीं पर अघोरोदक कूप भी है । **दमनेश्वर** और **गर्गेश्वर** भी हैं । दक्षिण भाग में **रुद्रावास महाकुण्ड** है । चतुर्दशी तिथि और आर्द्रा नक्षत्र में उक्त कुण्ड में स्नान और **रुद्रेश्वर** का दर्शन करने से रुद्रलोक प्राप्त होता है । **महालयेश्वर** और **पितृकूप** भी समीप में ही है । श्राद्ध करके पिंडों को उसी कूप में फेंक देना चाहिए । इससे श्राद्धकर्ता को रुद्रलोक मिलता है । वहीं पश्चिम मुख की ओर **वैतरणी** नामक बावली है । पश्चिम में **बृहस्पतीश्वर हैं** । पुण्य नक्षत्र और गुरुवार को दर्शनमात्र ही दिव्यवाणी का दाता है । **रुद्रावास** के दक्षिण में **कामेश्वर** लिंग और **कामकुंड** भी हैं । पास में ही **सूर्यचन्द्रमोक्षेश्वर** नामक दो लिंग हैं, जो पूजन मात्र से अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं ।

पंचशिखेश्वर से पश्चिम पुण्यवर्धक **मार्कण्डेय** ह्रद है । पास में **कुंडेश्वर** शिव-लिंग है । **शांडिल्येश्वर** भी समीप हैं । **चण्डेश्वर, कपालेश्वर** आदि लिंग भी हैं । **कपालेश्वर** के दक्षिण की ओर **श्रीकण्ठ** कुण्ड है । उसमें स्नान से मानव महादाता हो जाता है । उसी के समीप **महालक्ष्मीश्वर** लिंग भी है । स्वर्गवासी देवगण मत्स्योदरी की यात्रा-वेला में उसी मार्ग से आते हैं । **मत्स्योदरी** के रमणीय तट पर **सत्यवतीश्वर** भी हैं । **गायत्रीश्वर** एवं **सावित्रीश्वर, तपःश्रीवर्धन, उग्रेश्वर** आदि शिवलिंग एवं **उग्रकुण्ड** हैं । **मरीचिकुंड** और **मरीचेश्वर** लिंग है । वहीं पीछे **इन्द्रकुण्ड** एवं **इन्द्रेश्वर** लिंग भी हैं । उसके दक्षिण भाग में **कर्कोटकवापी** एवं कर्कोटेश्वर के

स्नान-दर्शन से नर नागलोकाधिपति होता है । ब्रह्महत्या पापमोचक **दण्डिमचण्डेश्वर** लिंग भी है । **अग्नीश्वर लिंग,** आग्नेयकुंड भी है । **बालचन्द्रेश्वर** और उनके समीप अनेकानेक गणों द्वारा स्थापित **शिवलिंग** हैं । पास ही पितृगण प्रिय **कूप** भी है । उसके पूर्व में **विश्वेश्वर** नामक पवित्र लिंग, **कालोदकूप,** सर्वरोगनाशक **वृद्धकालेश्वर** महादेव आदि भी हैं । **कालोद** कूप-जल का अपार माहात्म्य है ।

वृद्धकालेश्वर से दक्षिण-अपमृत्युनाशक-मृत्य्वीश (मृत्युञ्जय) नाम का शिव लिंग हैं । वहीं उत्तर की ओर **दक्षेश्वर** से पूर्व **महाकालेश्वर** नामक बड़ा भारी शिव लिंग है । **महाकाल कुंड** में स्नान और **महाकालेश्वर** के पूजन का अमित पुण्य होता है । **अन्तकेश्वर** का दर्शन मात्र अन्तक भयनाशक है । अन्य भी अनेकानेक शिवलिंग आस-पास हैं । **महाकाल कुण्ड** से उत्तर **वन्दीश्वर** शिव लिंग है और **वन्दीकुण्ड** भी है । दर्शन-पूजन और स्नान **महाफलदायक है । धन्वन्तरीश्वर** कुण्ड (जिसमें धन्वन्तरि ने बड़ी-बड़ी औषधियाँ डाल दी हैं,जो सर्वव्याधि पाथोधि नाशक हैं) और **धन्वन्तरीश्वर** के स्नान-दर्शन-पूजादि से समस्त पाप, व्याधि आदि नष्ट हो जाते हैं । पास ही **यमदग्नीश्वर** लिंग भी है । **भैरवेश्वर** शिवलिंग और **भैरवकूप भी** है । **सुकेश्वर** और निर्मल **व्यासकूप** भी है । वह **घंटाकर्ण** नाम से प्रसिद्ध है । **व्यासेश्वर** शिवलिंग भी पास ही है । पास में ही जड़ता-नाशक **गौरीकूप** भी है । **पंचचूड़ा** नामक अप्सरा के सरोवर के पास ही है ।

पास ही में महापापहारी **मन्दाकिनी** नामक महातीर्थ भी है । वह (मन्दाकिनी) स्वर्लोक और भूर्लोक में परम पवित्र है । उसके उत्तर में **मध्यमेश्वर शिव हैं** । वे अविमुक्त क्षेत्र के मध्यभाग में सुख से शयन करते हैं । इसी मध्यमेश्वर लिंग से लेकर एक कोस चारों ओर मुक्तिक्षेत्र का प्रमाण माना गया है । मनुष्य के **मन्दाकिनी** में स्नान करने और **मध्यमेश्वर** का दर्शन करने से तेरहों विश्वदेवों के पूजन का फल होता है । उसके पूर्व महावीरपददाता **वीरभद्रेश्वर** हैं । **शौनकादि ह्रद** में स्नान और सुबुद्धिवर्धक **शौनकेश्वर** का दर्शन दिव्यज्ञान का दाता है । आस पास में बड़ी संख्या में शिवलिंग हैं । **सिद्धकूप** में स्नान और **सिद्धेश्वर** का दर्शन अनेकानेक सिद्धियों के दाता हैं । **सिद्धिवापी** भी है ।

उसके दक्षिण में **जम्बुकेश्वर** हैं । वे तिर्यग्योनि के दुःखमोचक हैं । वहीं **मतङ्गेश्वरादि** बहुत-से लिंग हैं । उनके वायव्य कोण पर और भी बहुत से लिंग हैं । वहीं एक **सिद्धकूप** है । वहाँ सहस्रों सिद्ध लोग रहते हैं । पास में ही **व्याघ्रेश्वर, ज्येष्ठेश्वर** और **प्रहसितेश्वर** हैं । उनके उत्तर भाग में काशीवास के फलदाता **निवासेश्वर** लिंग और **चतुःसमुद्र कूप** है ।

उसमें स्नान से चतुःसमुद्र के स्नान का फल प्राप्त होता हैं । वहीं ज्येष्ठा देवी भी हैं । **चण्डीश्वर** नामक शिव लिंग, **दंडखात सरोवर** (देवखात) में ग्रहणानन्तर स्नान का बड़ा माहात्म्य है । **जैगीषव्येश्वर, देवकेश्वर, अक्षपादेश्वर, कणादेश्वर** (कणादकूपोद) भी हैं । **आषाढीश्वर**, पापभारापहारक-भारभूतेश्वर आदि शिवलिंग भी हैं । (काशी में **'भारभूतेश्वर'** की गली नामक मुहल्ला भी है ।) **शंखेश्वर लिखितेश्वर, अवधूतेश्वर, गोभिलेश्वर, पशुपतीश्वर, जीमूतवाह्नेश्वर, गभस्तीश्वर** भी हैं । उनके उत्तर मंगलागौरी हैं और मंगलोदककूप भी हैं ।

"मुखप्रेक्षेश्वर, पंचनदेश्वर, व्याघ्र-पादेश्वर, गभस्तीश्वर, जैमिनीश्वर, रावणेश्वर माण्डव्येश्वर, प्रचण्डेश्वर, योगेश्वरादि शिवलिंग हैं । **कनकेश्वर** उनके उत्तर में पाँचों **पाण्डवों** द्वारा स्थापित पाँच लिंग हैं । **चित्रगुप्तेश्वर, यदृच्छेश्वर** आदि लिंग भी हैं । उसके दक्षिण में **कंबलाश्वतरेश्वर** नामक दो शिवलिंग हैं । वहीं **पितामहस्रोती** तीर्थ भी है । कूष्माण्डेश्वर आदि और भी अनेक लिंग हैं । **वैवस्वतेश्वर, काल्मकेश्वर** और लोकपाल, नाग, गन्धर्व, यक्ष किन्नरादि के स्थापित अनेक लिंग हैं । वहीं पास में **महापाशुपतेश्वर** और **ईशानेश्वर** भी वर्तमान हैं । **लाङ्गलीश्वर, नकुलीश्वर कपिलेश्वर** भी हैं । पास में प्रीतिकेश्वर भी हैं । वहाँ शिवरात्रादि पर्व पर जागरण का महाफल है । वहीं पास में **शुभोदका** वापी भी है ।

शुभोदका वापी के पश्चिम भाग में **दण्डपाणि**, पूर्व में **तारकेश्वर** दक्षिण और उत्तर में क्रमशः **कालेश्वर** एवं **नन्दिकेश्वर** हैं । **अविमुक्तेश्वर** से सटे हुए **मोक्षेश्वर** पास ही **स्वर्णाक्षेश्वर, ज्ञानदेश्वर** आदि भी हैं । **निकुम्भेश्वर, विरूपाक्षेश्वर** भी हैं । **शुक्रेश्वर** पुत्र-पौत्रादिवर्द्धक हैं । वहीं पर **शुक्रकूप** भी है । लङ्केश्वर का वधकर रघुनाथ द्वारा स्थापित **रघुनाथेश्वर** का स्पर्शमात्र ब्रह्महत्यापापमोचक है । **त्रिपुरान्तकेश्वर, हरिकेश्वर** गोकर्णेश्वर भी हैं । **गोकर्ण सरोवर** भी हैं । उसके पीछे **ध्रुवेश्वर और ध्रुवकुण्ड, पितृकुण्ड, पित्रीश्वर** हैं । समीपस्थ परिसर में और भी बहुत से शिवलिङ्गादि हैं । **ध्रुवेश्वर, तारकेश्वर, तारकेश्वर** (वैद्यनाथ), **ऋष्यशृङ्गीश्वर, गौतमेश्वरादि** भी हैं । **मुचकुन्देश्वर, भगीरथेश्वर, हिरण्याक्षेश्वर, दिलीपेश्वरादि** हैं ।

विधीश्वर के दक्षिण में **वाजिमेधेश्वर** (दशाश्वमेधेश्वर) लिंग है । वहाँ स्नान करके उस लिंग का दर्शन करने से दश अश्वमेध यज्ञफल की प्राप्ति होती है । **अगस्त्यकुण्ड**, (वर्तमान अगस्तकुण्डा मुहाल) के दक्षिण **मातृतीर्थ** है । वहीं ऋषिगणों द्वारा स्थापित अनेक लिंग है । अन्यत्र देवताओं से **आनन्दकानन** के तृण भी पुनर्जन्म न लेने के कारण श्रेष्ठ हैं । अगणित, शिवलिंगमयी काशी–तीर्थों की जन्मभूमि है –

एतेषां दर्शनात्स्नानात्फलमत्रोत्तरोत्तरम् ।
अत्रत्यानां च लिङ्गानां कूपानां सरसामपि ॥
वापीनाञ्चापि मूर्त्तीनां कः सङ्ख्यातुं प्रभुर्भवेत् ।
आनन्दकाननस्थानि तृणान्यपि परं वरम् ॥
दिवौकसोऽपि नान्यत्र यत्पुनर्जन्मभाजनम् ॥

(वही श्लो. २६७-२६९ ।)

इस २९७ श्लोकात्मक ९७वें अध्याय श्लोक संख्या २६४ से २७७ तक काशी की महिमा और फलस्तुति है । श्लोक संख्या २७८ से २९१ संख्यक श्लोकों में इस ९७वें अध्याय के पाठ-श्रवण की फ़लस्तुति है । अतः इस काशीखण्ड के पाठक इस अध्याय और इन फलस्तुतियों को अवश्य पढ़ें ।

जिस वेला में बाबा शंकर जगदम्बा से ये वातें कर ही रहे थे कि उसी वेला में **नन्दी** ने आकर प्रणतिपुरःसर निवेदन करते हुए बताया "प्रभो ! विशाल राजमंन्दिर का निर्माण हो चुका है । भगवान् पुण्डरीकाक्ष भी गरुडारूढ़ होकर अनुचरों और पुरस्थित मुनीश्वरों के साथ आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । चौदहों भुवनवासी सुव्रतजन इस प्रावेशिक महोत्सव का समाचार सुन एकत्र हैं । नन्दी का समाचार सुनते ही भगवान् शंकर पार्वती के साथ त्रिविष्टप (त्रिलोचन) से चल पड़े ।

[९८]

[मुक्तिमण्डप में प्रवेश]

स्कन्द ने अगस्त्य मुनि को भगवान् विश्वनाथ के मुक्तिमण्डप में प्रवेश-महोत्सव की कथा सुनाई । भगवान् शंकर मन्दराचल से विचरण करने लगे । मोक्षलक्ष्मी विलास नामक राजप्रासाद के निर्मित हो जाने पर कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा, बुधवार, अनुराधा नक्षत्र, सप्तम राशिस्थ चन्द्र और उच्चराशिस्थ सब ग्रहों के योग उपस्थित होने पर त्रिलोचन भगवान् अपने त्रिलोचन पीठ से उठकर अन्तर्गृह में प्रविष्ट हुए । उस समय महान् कोलाहल के साथ, महोत्सव होने लगा । सब दिशाएँ सुहावनी हो उठीं । ब्राह्मणों की वेदध्वनि एवं गन्धर्व-किन्नर-यक्ष प्रभृति नृत्य-गीत-वाद्य आदि की ध्वनि के साथ-साथ समस्त काशीपुरी महोत्सवमय होकर, ध्वजा-पताकाएँ, धूप-दीपादि से उल्लसित हो उठीं । सर्वत्र चतुर्विधवाद्य बजने लगे । शिवालयों पर भी पताकाएँ फहराने लगीं । काशीपुरी का घर-घर सज उठा था । ऐसा लगता था मानो काशीपुरी के सभी अचेतन भी सचेतन हो उठे हैं । उक्त प्रकार के समारोह के साथ भगवान् विश्वेश्वर ने मुक्तिमंडप में प्रवेश किया ।

भगवान् महेश्वर कुमारों सहित भवानी भगवती के साथ उत्कृष्ट सिंहासन पर आ विराजे । महर्षिवृन्द के साथ ब्रह्मा, विष्णु-प्रभृति उनका अभिषेक करने लगे । देव-नाग-समुद्रगण-गिरीन्द्रवृन्द और सभी पूतबुद्धि लोग, रत्न, वस्त्रादि, सुंगधित द्रव्यदि के साथ भगवान् शिव की मंगल आरती उतारते हुए सुगन्धित द्रव्यों से उनकी पूजा करने लगे । भगवान् शंकर ने हृदयस्थ अभिलाषा वाले मुनिजनों को सन्तुष्ट किया । फिर ब्रह्मा और विष्णु का आदर करते हुए अपने पूर्वोक्त प्रभुता एवं सम्मान का हेतु बताया । कहा– तुम्ही ने **राजा दिवोदास** को ऐसा उपदेश दिया कि राजा ने परम सिद्धि प्राप्त की और मेंरा भी अभिलषित सिद्ध हुआ । आनन्दकानन में मेरे पहुँचने के कारण तुम (विष्णु) और गणेश ही है । त्रैलोक्य में मुक्तिदायिनी, ब्रह्मरसायन की खानि, परमसौख्य-भूमि काशी मुझे सर्वप्रिय है–

"न मे प्रियं किञ्चन विष्टपत्रये तथा यथेयं परसौख्यभूमिः ।
वाराणसी ब्रह्मरसायनस्य खनिर्ज्जनिर्यत्र न दीर्घशायिनाम् " ॥

(काशी. अध्याय. ९८, श्लो. २८)

भगवान् विश्वेश्वर को वरदानोन्मुख जान शंकर से कहा–"हे पिनाकपाणे ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो यही वर दीजिए कि मैं आपके चरणारविन्द से कभी दूर न होने पाऊँ" । इस पर त्रिपुरारि ने कहा–"तुम सदैव मोक्षलक्ष्मीविलास में मेरे पास ही रहा करो । जो कोई मेरा अनन्य भक्त होकर भी तुम्हारी आराधना किए बिना मेरी पूजा करेगा, उसके मनोरथ कभी सिद्ध न होंगे" । यह भी कहा कि इस मुक्तिमंडप में मुझे कहीं भी रहना पड़े, उस सुख के समान आनन्द न तो मुझे कैलास पर्वत पर मिलता है और न अपने अनन्य सेवक के हृदय में । महादेव ने बताया कि समस्त तीर्थों की मुकुटमणि चक्रपुष्करिणी है । उसमें स्नानकर मुक्तिमंडप में प्रवेश से नर निष्पाप हो जाता है । उसके अन्य भी फल शिव ने बताए । श्रवण, गोदान आदि का भी महत्पुण्य गिनाया । यद्यपि काशी में अनेक तीर्थादि हैं तथापि माणिकर्णिका में स्नान-दानादि से किसी की तुलना नहीं हो सकती । भविष्यत्काल की चर्चा करते हुए शिव ने विष्णु को बताया कि द्वापर युग में मुक्तिमंडप का नाम लोक में मुकुटमंडप प्रसिद्ध होगा । इस नाम के कारण हेतुभूत द्वापर में होने वाले **महानन्द** नामक ब्राह्मण की कथा सुनायी ।

[महानन्द ब्राह्मण का आख्यान]

द्वापरयुग में महानन्द नामक एक ब्राह्मण यहाँ होगा । वह सदाचारी, परम धार्मिक, ऋग्वेदपाठी, अदम्भी और अतिथि-सेवक होगा । पर युवा काल में पिता

के मर जाने पर कुमार्गी और कामी एवं कुलटासक्त हो जाएगा । मित्रपत्नीहारी तक हो जाएगा । कुलटा के जाल में फँसकर अगम्यागमन, अपेयपानादि कदाचार-परायण हो जाएगा । वैष्णवों से शैव बनकर और शैवों से वैष्णव बनकर निन्दा करने में अग्रणी हो जाएगा । वह परम पाखण्डी होगा । स्नान–सन्ध्यादि रहित होने पर लम्बी माला, बड़ी शिखा और लम्बा तिलक लगाकर शुभ्रवस्त्रादिधारी होगा । वह अधम दान भी लेगा । उसे दो सन्तान होंगी । इस प्रकार वह पक्का पाखंडी हो जायगा ।

पर्वतप्रदेश से एक चाण्डाल काशी आकर मणिकर्णिका पर स्नानकर कहेगा– "मैं धनी और उत्तम चांडाल हूँ । मुझे कुछ दान की कामना है । यदि यहाँ ऐसा दान लेनेवाला हो, तो मैं उसे धनादि संकल्प कर सकूँ" । किसी के द्वारा अंगुल्या निर्देश से ध्यानमुद्राधारी (पाखंडी) जमाकर्ता को चाण्डाल दानग्रहणेच्छु बताया । वहाँ पर्वतदेशी के पहुँचने पर और पाखंडी के पूछने पर चांडाल ने बताया कि जितने धन से आप संतुष्ट होंगे, उतना धन मैं दूँगा । पाखंडी ने कहा कि "तुम्हारे पास जितना भी धन है, उसमें से थोड़ा-सा भी किसी को न देकर यदि सब मुझ को दो तो मैं तुम्हारा धन ले सकता हूँ, अन्यथा नहीं" । तब चांडाल कहेगा – "हे द्विजोत्तम ! विश्वेश्वर की प्रसन्नता के लिए जितना धन मैं लाया हूँ, मेरे विश्वस्वरूप ! सब आपको ही दूँगा । क्योंकि शिव की राजधानी काशी में ऊँच-नीच सभी विश्वेश्वरांश हैं । दूसरों के अभिलाषपूरक परोपकारी यहाँ विश्वेश्वरांश ही हैं" ।

पाखंडी ब्राह्मण ने अन्त्यज से कुशसंकल्पपूर्वक सब धन दान करा लेगा और विश्वनाथ की प्रसन्नता का आशीर्वाद देगा । उक्त चाण्डाल अपने देश चला जाएगा । महानन्द दूसरे ब्राह्मणों के धिक्कारने पर भी वहीं रहने लगेगा । अन्य ब्राह्मण कहने लगे कि यह चांडाल का दान लेने से चांडाल ब्राह्मण हो गया । जहाँ काशी में जाएगा, सभी थू-थू करेगें । उसे (महानन्द को) घर से बाहर निकलना भी दूभर हो जायगा । सदा वह शिर झुकाए ही रहेगा । सदानंद अपनी पत्नी से सम्मति लेकर गया की ओर कीकट देश में सकुटुम्ब जाने लगेगा । मार्ग में ही वह गोसाइयों के साथ रहने लगेगा । फिर भी महानन्द को स्वर्णादिपूर्ण देखकर ठग घेर लेगें और घोर जंगल में उसे ले जाकर उसे जीते जी लूट लेंगे । कठिन महानन्द को मार डालने का निश्चय कर कहेगें–"हे पथिक, अब तुम जीते जी नहीं बचोगे । तुम्हारी जो इच्छा हो उसे स्मरण कर लो; क्योंकि अब ये लोग तुम्हें सकुटुम्ब मार डालेंगे" । ऐसा कहकर कुटुम्बियों को मार डालेंगे । महानन्द कहने लगेगा–"हाय जिनके (कुटुम्बियों के) लिए मैंने सब दान लिया, वे सब मार ड़ाले गए । मेरा जीवन भी व्यर्थ हुआ । काशीवास भी छूटा । वह कहने और

सोचने लगेगा । उस नीच का दान काशी में लेने के कारण मैं कहीं का नहीं रहा ।

मरणवेला में काशी का स्मरण करने से महानन्द कीकटदेश में कुक्कुट होगा । उसकी स्त्री भी कुक्कुटी होगी । बहुत दिनों बाद उसके साथी गोसाईं लोग उसी मार्ग से काशी का स्मरण करते हुए आयेंगे । काशी का नाम सुनकर वे कुक्कुट-कुक्कुटी आदि भी उनके पीछे चलकर काशीक्षेत्र जा पहुँचेगें । राह में कार्पटिक चारों कुक्कुटों को चारा फैंकते हुए मुक्तिमंडप में लिवा ले जायेगें । वहाँ सब कुक्कुट, निर्लोभी, ज्ञानी, शिव भक्तों को शिव की कथा में लीन देखेंगे । वे शिव भक्त यह भी कहेंगे कि पूर्वजन्म के संस्कार के कारण वे कुक्कुट सत्पथावलम्बी है । तब वे चारों कुक्कुट आहार घटाते-घटाते अपने प्राण त्याग देगें ।

शिव ने कहा – हे विष्णो ! सब के सामने ही वे कुक्कुटगण मरणोपरान्त विमान पर चढ़कर कैलास जा पहुँचेगें । उसी दिन से **मुक्तिमंडप** कुक्कुटमंडप नाम से ख्यात होगा । इन कुक्कुटों के भविष्यकालिक चरित्र को शिव ब्रह्मा को सुना रहे थे, इसकी महिमा बता रहे थे । उसी समय घड़ी-घंटा का भारी शब्द सुनाई पड़ा । शिव ने नन्दी को बुलाकर उस महाध्वनि का पता लगाने को कहा । नंदी ने सब देख सुन–आकर बताया–"बहुत से लोग मोक्षलक्ष्मी विलास का पूजन कर रहे हैं, उसी की यह ध्वनि है । शिव ने कहा–'हम लोगों की चेष्टा सफल हो गयी' । तदनन्तर विश्वेश्वर, भगवती, ब्रह्मा, विष्णु आदि उस रंग-मण्डप से चले गए । इस पवित्र अध्याय के पाठ के श्रवणमात्र से नर कैलासवासी होता है ।

[९९]

[विश्वेश्वर लिङ्ग की महिमा]

महर्षि व्यास ने सूत को बताया जो स्कन्द ने कुम्भयोनि से कहा था । स्कन्द ने कहा था– महेश्वर मुक्तिमंडप से उठकर शृङ्गारमण्डप जा पहुँचे । वहाँ जाने पर **विश्वेश्वर** ने शृङ्गारमण्डप में पूर्व की ओर मुखकर भगवती और हम लोगों के साथ जा विराजे । उनकी दाहिनी और प्रजापति की वायीं ओर विष्णु बैठे । इन्द्रादि ने चामर डुलाना प्रारंभ किया । गण लोग भी सशस्त्र, मौन रह कर बैठ गए । बाबा विश्वनाथ ने दाहिना हाथ उठाकर ब्रह्मा और विष्णु को दिखाकर कहा– देखो, यही लिंग परंज्योति और परम श्रेष्ठ है । यही परमसिद्धिदाता मेरा स्वरूप है । ये शैव लोग सिद्धपुरुष, समस्त आवश्यक आचारविचारसंपन्न, विधाननिष्ठ, मेरे पुत्र स्वरूप एवं मेरी मूर्ति हैं । इन लोगों का पूजन करने से मैं प्रसन्न होता हूँ । ये ही स्थावररूप **विश्वेश्वर** साक्षात् जगत् के प्रभु हैं । मैं आनन्दवन में स्वेच्छा से कभी दृश्य और कभी अदृश्य रूप होकर भक्तों को अभीष्ट

फल देने हेतु बैठा रहूँगा । यह भी कहा कि असंदिग्धरूप से यह लिंग मेरी सर्वोत्कृष्ट मूर्ति है –

"सर्वेषां सर्वसिद्धीनां कर्ता भक्तिजुषामिह ।
अहं कदाचिद्दृश्यः स्यामदृश्यः स्यां कदाचन ॥
आनन्दकानने चात्र स्वैरं तिष्ठामि देवताः ।
अनुग्रहाय सर्वेषां भक्तानामिह सर्वदा ॥
स्थास्यामि लिङ्गरूपेण चिन्तितार्थफलप्रदः ।
स्वयम्भून्यस्वयम्भूनि यानि लिङ्गानि सर्वतः ॥
तानि सर्वाणि चाऽऽयान्ति द्रष्टुं लिङ्गमिदं सदा ।
अहं सर्वेषु लिङ्गेषु तिष्ठाम्येव न संशयः" ॥

(काशी. अध्या. ९९, श्लो. १७-२०)

श्रद्धापूर्वक इस लिंग का दर्शन मेरे साक्षात् दर्शन तुल्य है । [अध्याय ९९ के श्लोक २२ से विश्वनाथ की दर्शनयात्रा विविध प्रकार के पूजन, अर्चन, दान, वस्तु समर्पण आदि की जानकारी के लिए पाठकगण मूल ग्रन्थ देखें]।

विश्वनाथ बाबा ने यह भी बताया कि विश्वेश्वर का दर्शन करने के पश्चात् जो काशी से अन्य स्थान में मृत्यु पाता है वह निःसंदेह दूसरे जन्म में मुक्त हो जाता है । जिसकी जिह्वाग्र पर विश्वनाथ का नाम, कानों में विश्वेश्वर की कथा और चित्त में उनका ध्यान बना रहता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

"यस्तु विश्वेश्वरं दृष्ट्वा ह्यन्यत्रापि विपद्यते ।
तस्य जन्मान्तरे मोक्षो भवत्येव न संशयः ॥
विश्वेशाख्या तु जिह्वाग्रे विश्वनाथकथा श्रुतौ ।
विश्वेशशीलनं चित्ते यस्य तस्य जनिः कुतः" ॥

(वही–श्लो. ४२-४३)

उन्होंने यह भी बताया–जो पुण्यात्मा–विश्वनाथ, विश्वेश, विश्वेश्वर ऐसा जपता है, वह मेरे चित्त में सदा जागरूक बना रहता है । आगे उन्होंने कहा –हे देवगण, यह महालिंग मेरा भी सदैव पूज्य है । परन्तु जिसने विश्वेश्वर का न दर्शन किया, न स्मरण किया, उन्हें यमदूत देखते रहते हैं और उन्हें जन्म-मरण के भवचक्र में पड़े रहना पड़ता है । पर जिसने एक बार भी इस लिंग को प्रणाम कर दिया, उसके लिए दिक्पाल पद भी छोटा है । विश्वेश्वर ने सबके मध्य घोषणा की–"समस्त चौदहों भुवनों में विश्वनाथ के समान लिंग नहीं है" । सबको सुनाकर यह भी कहा–"विश्वनाथ के समान लिंग, मणिकर्णिका तुल्य तीर्थ तथा आनन्दकानन के समान दूसरा कोई तपोवन नहीं है । यद्यपि समस्त वाराणसी तीर्थमयी है, उसका नाम तीर्थों का तीर्थ है, तथापि महापवित्रा मणिकर्णिका मेरे सौख्य की भूमि ही है" ।

"न विश्वनाथस्य समं हि लिङ्गं न तीर्थमन्यन्मणिकर्णिकातः ।
तपोवनं कुत्रचिदस्ति नान्यच्छुभं ममानन्दवनेन तुल्यम् ॥
वाराणसी तीर्थमयी समस्ता यस्यास्तु नामापि हि तीर्थतीर्थम् ।
तत्रापि काचिन्मम सौख्यभूमिर्महापवित्रा मणिकर्णिकाऽसौ" ॥

(वही - श्लो. ५१-५२)

विश्वनाथ ने मणिकर्णिका की सीमा भी बतायी–"मेरे इस राज प्रासाद से किंचित् ईशान कोण पर (पूर्व और उत्तर) उत्तर दिशा के बीच वामभाग में तीन सौ हाथ, दक्षिण की ओर दो सौ हाथ और उत्तर-पश्चिम के मध्य में पाँच सौ हाथ गंगा के भीतर तक मणिकर्णिका की सीमा है । यह भूमि तीनों लोकों की सारभूमि एवं परमात्मा का धाम हैं । अतः इसके सेवक, मेरे हृदय में सुखस्वापी होते हैं" । यह भी देवादि के मध्य शिव ने घोषित किया कि "यह मदीय लिंग– समस्त स्थानों का परमधाम हैं, स्वयम्भुव है, सप्तपातालों का भेदन कर स्वयमुत्थित है" इत्यादि । श्लोक ५६ से लेकर शिव-विश्वेश्वर के पूजनादि की फलस्तुति श्लोक ६० तक है । इस अध्याय के श्लोक ६१ में महेश्वर ने घोषणा की–

उत्क्षिप्य बाहुं त्वसकृद् ब्रवीमि त्रयीमयेऽस्मिंस्त्रयमेव सारम् ।
विश्वेशलिङ्गं मणिकर्णिकाम्बु काशीपुरी सत्यमिदं त्रिसत्यम्" ॥

(वही. श्लो. ६१)

इस कथन के पश्चात् महादेव जी शक्ति-सहित उस लिंग की पूजा कर उसी में लीन हो गए । षाण्मातुर ने मित्रावरुणनन्दन अगस्त्य से संक्षेप में अविमुक्तक्षेत्र का माहात्म्य बताकर कहा–"थोड़े ही दिनों में तुम भी सर्वोत्तम काशी को प्राप्त करोगे । अब सूर्यास्त वेला निकट है, तुम्हारे और हमारे मौन होने का समय हो गया है" । व्यास ने सूत को बताया कि विश्वनाथ और उनके क्षेत्र के गूढ़ रहस्य को जानकर महर्षि अगस्त्य उन्हीं की आराधना में लीन रहने लगे । अध्याय के अन्त में फलस्तुति है ।

[१००]

[काशीखण्ड अनुक्रमणिका एवं माहात्म्य]

सूत के पूछने पर वेद व्यास ने कहा–"जातुकर्णीतनय ! सूत ! मैं काशी खण्ड की अनुक्रमणिका अध्याय को किसी के भी पापनोदन एवं पुण्यवृद्धि के लिए कह रहा हूँ । इसे शुक एवं वैशम्पायन-प्रभृति लड़के भी सुन लें । इसके अनन्तर श्लोक

संख्या ५ से श्लोक संख्या ३३ तक शत संख्यक उपाख्यानों का उल्लेख है, जो पूर्व के तीनों भागों तथा चतुर्थ भाग में कथा सारांशों के अन्तर्गत वर्णित हैं । अन्तिम अध्याय का अनुक्रमणिका अध्याय और अनुपम काशी (विश्वेश्वर-गंगा आदि) के माहात्म्य को अध्याय कहा गया है । अनुक्रमणिका अध्याय में काशी की विविध यात्राओं का वर्णन और उनकी फलस्तुति तथा काशीखण्ड के पाठ की महिमा एवं उसका फल बताया गया है ।

पञ्चतीर्थी यात्रा का वर्णन

सूत के पूछने पर व्यासदेव ने बताया–"सिद्धि प्रार्थी लोगों के हितार्थ यात्राओं एवं परिक्रमाओं का संक्षेप में वर्णन करता हूँ । यात्री सर्वप्रथम **मणिकर्णिका** कुंड में सचैल स्नान कर, तर्पण करके, ब्राह्मणादि को दक्षिणा देकर, सूर्यदेव, द्रौपदी, विष्णु, दण्डपाणि और महेश्व . को नमस्कार करके ढुण्ढिराज का दर्शन करने के पश्चात् ज्ञानवापी जाकर उसका जलस्पर्श करे । तदनन्तर नन्दिकेश्वर, तारकेश्वर, महाकालेश्वर की पूजा के पश्चात् दण्डपाणीश्वर का दर्शन कर इस यात्रा को समाप्तकरे । इस यात्रा का नाम पञ्चतीर्थी यात्रा है । महाफलाभिलाषी जनों को प्रतिदिन पंचतीर्थी यात्रा करनी चाहिए ।

चतुर्दश आयतन यात्रा

एतदनन्तर कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ कर चतुर्दशीपर्यन्त **चौदह दिनों में** पूर्वोक्त **चौदह आयतनों** की यात्रा करनी चाहिए । अथवा क्षेत्रसिद्धिकामी पुरुषों को चाहिए कि चतुर्दशी को ही उन तीर्थों में स्नान करे एवं उन लिंगों का पूजन करे । मौन होकर यात्रा करनेवाले यात्री को ही यात्रा का समस्त फल मिलता है । सर्वप्रथम **मत्स्योदरी** तीर्थ में स्नानादि क्रियाओं को करके सर्वप्रथम (१) ओंकारेश्वर का तदनन्तर (२) त्रिलोचन, (३) महादेव, (४) कृत्तिवासेश्वर, (५) रत्नेश्वर, (६) चन्द्रेश्वर, (७) केदारेश्वर, (८) धर्मेश्वर, (९) वीरेश्वर, (१०) कामेश्वर, (११) विश्वकर्मेश्वर, (१२) मणिकर्णेश्वर (१३) अविमुक्तेश्वर का दर्शन करके अन्त में (१४) विश्वेश्वर का दर्शन-पूजन करना चाहिए । क्षेत्रवासी को यह यात्रा अवश्य करनी चाहिए, अन्यथा क्षेत्रवासी को क्षेत्र से उच्चाटनकर्त्ता विघ्न उपस्थित करते हैं ।

अष्टायतन की यात्रा

"विघ्नों की शांति के हेतु एक दूसरी अष्टायतन की यात्रा भी करणीय है । सबसे पहले (१) **दक्षेश्वर** का दर्शन करने के अनन्तर क्रमशः (२) पार्वतीश्वर, (३) पशुपतीश्वर, (४) गंगेश्वर, (५) नर्मदेश्वर, (६) गभस्तीश्वर, (७) सतीश्वर और (८) तारकेश्वर का दर्शन करे ।

बड़े-बड़े पापों की शान्ति और पुरुष के योगक्षेमार्थ इन आठों लिङ्गों का दर्शन बड़ा लाभप्रद है।

योगक्षेम-शान्तिकारिणी एवं विघ्नविनाशार्थ शुभदा एकादशी यात्रा

"सबसे पूर्व वरुणा नदी में स्नान, तदुत्तर **शैलेश्वर** का दर्शन विहित है। पुनः **गंगावरुणा** के संगम पर स्नानानन्तर, संगमेश्वर का दर्शन, **स्वर्लीन तीर्थ** में स्नान तथा **स्वलीनेश्वर** का दर्शन करना चाहिए। तत्पश्चात् **मन्दाकिनी** तीर्थ में स्नान कर **मध्यमेश्वर** का दर्शन विहित है। इसी प्रकार **हिरण्यगर्भ तीर्थ** में स्नान और **हिरण्यगर्भेश्वर** का दर्शन करें। तत्पश्चात् **मणिकर्णिका** में स्नान तथा **ईशानेश्वर** का दर्शन करना चाहिए। फिर **गोप्रेक्षकूप** के जल से मार्जनानन्तर **गोप्रेक्षेश्वरलिंग** का दर्शन, पुनः **कापिलेय** ह्रद में स्नानानन्तर **वृषभध्वज** का दर्शन, **पंचचूड़ाह्रद** में स्नान **ज्येष्ठस्था** की अर्चना, **चतुःसमुद्रकूप** में स्नान, **चतुःसमुद्रेश्वर** की दर्शन-पूजा करता हुआ सम्मुखस्थ वापी का जल स्पर्श करने के अनन्तर, **शुक्र कूप** में जलकृत्य और **शुक्रेश्वर** का दर्शन करे। **दण्डखात** तीर्थ में स्नान के पश्चात् व्याघ्रेश्वर का दर्शन, **शौनकेश्वर** कुंड में स्नान और **जम्बुकेश्वर** नामक महालिंग का पूजन करना चाहिए। इस यात्रा से पुनर्जन्म नहीं होता। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से चतुर्दशी-पर्यन्त यह यात्रा मोक्षदायिनी है।

एकादशायतन की यात्रा

एकादशायतन यात्रा भी सर्वथा करणीय है। **आग्नीध्रकुण्ड** में स्नान करके क्रमशः (१) **आग्नीध्रेश्वर**, (२) **उर्वशीश्वर**, (३) **नकुलीश्वर**, (४) **आषाढ़ीश्वर**, (५) **भारभूतेश्वर**, (६) **लाङ्गलीश्वर**, (७) **त्रिपुरान्तकेश्वर**, (८) **मनःकामेश्वर**, (९) **प्रीतिकेश्वर**, (१०) **मदालसेश्वर एवं** (११) **तिलपर्णेश्वर**—इन एकादश लिंगों की यात्रा सप्रयत्न करने से रुद्रपद की प्राप्ति होती है।

परम समृद्धिदायिनी गौरी यात्रा

शुक्लपक्ष की तृतीया को यह यात्रा करने से परम समृद्धि प्राप्त होती है। सर्वतः पूर्व **गोप्रेक्ष** तीर्थ में स्नानादि के अनन्तर, (१) **मुखनिर्मालिका** देवी का दर्शन, (२) **ज्येष्ठा वापी** में स्नान कर (२) **ज्येष्ठा देवी** का दर्शन-पूजन (३) **ज्ञानवापी** में उदकक्रिया कर (३) **सौभाग्यगौरी** का दर्शन-अर्चन, वहीं पर स्नान के पश्चात् (४) **शृंङ्गार गौरी** का दर्शन तत्पश्चात्, **विशाल गंगा** में स्नान (५) **विशालाक्षी** दर्शन, (६) **ललितातीर्थ** में स्नान, (६) **ललिता देवी** का पूजन, (७) **भवानीतीर्थ** में स्नान (७) भवानी अन्नपूर्णा का दर्शन-पूजन (८) **विन्दुतीर्थ** में स्नान (८) **मंगला गौरी** का दर्शन, तदनन्तर स्थिर लक्ष्मी प्राप्त्यर्थ (९) **महालक्ष्मी** की यात्रा करनी चाहिए।

चतुर्थी तिथि को गणेश की प्रसन्नता के लिए **गणेशयात्रा** और ब्राह्मणों को लड्डू देना चाहिए । इसी प्रकार प्रत्येक मंगलवार को पापनाशिनी **भैरवयात्रा** विहित है । समस्त विघ्नशान्त्यर्थ रविवार, भानुषष्ठी एवं भानुसप्तमी को **सूर्यनारायण** की यात्रा फलप्रद है । अष्टमी अथवा नवमी को **चण्डिका (दुर्गा)** की यात्रा शुभकारिणी है ।

अन्तर्गृही यात्रा (अन्तर्गृह-यात्रा)

यथासम्भव प्रतिदिन की **अन्तर्गृही यात्रा** महापुण्यकारी है । सर्वप्रथम स्नान कर, पंच विनायकों के नमस्कारानन्तर **मुक्तिमंडप** में बैठकर **विश्वेश्वर** को प्रणाम कर कहे–"मैं समस्त पापों की शान्ति हेतु **अन्तर्गृह** की यात्रा का संकल्प करता हूँ । इसके पश्चात् **मणिकर्णिका** जाकर मौन रहते हुए **मणिकर्णिकेश्वर** का दर्शन-पूजन के अनन्तर दोनों **कम्बलाश्वतरेश्वरों** तथा **वासुकीश्वर** को प्रणाम करे । तत्पश्चात् **पर्वतेश्वर, गंगाकेशव, ललितादेवी** एवं **जरासन्धेश्वर सोमनाथ, आदिवाराह, ब्रह्मेश्वर, अगस्तीश्वर, कश्यपेश्वर, हरिकेशव, वैद्यनाथ, ध्रुवेश्वर, गोकर्णेश्वर** आदि का दर्शन-पूजन करता हुआ **हाटकेश्वर** पहुँचकर **अस्थिक्षेप तड़ाग** (हड़हा-बेनिया) **कीकसेश्वर, भारभूतेश्वर, चित्रगुप्तेश्वर चित्रघंटा** देवी आदि को प्रणाम-दर्शन आदि करे । तत्पश्चात् **पशुपतीश्वर, पितामहेश्वर, कलशेश्वर, चन्द्रेश्वर, वीरेश्वर, विश्वेश्वर, अग्नीश्वर, नागेश्वर, हरिश्चन्द्रेश्वर** को प्रणाम-दर्शन करने के बाद समस्त विघ्नविनाशक **चिन्तामणिविनायक** एवं **सेनाविनायक** का दर्शन करे । **वसिष्ठ-वामदेव** रूप धर कर ये बड़े-बड़े विघ्नों को दूर कर देते हैं । यत्नपूर्वक उनका दर्शन करना चाहिए ।

तदनन्तर **सीमाविनायक** एवं **करुणेश्वर** होता हुआ **त्रिसंध्येश्वर, विशालाक्षी देवी, धर्मेश्वर, विश्वभुजा गौरी, आशा विनायक, वृद्धादित्य, चतुर्वर्णेश्वर, ब्राह्मीश्वर, मनःकामेश्वर, ईशानेश्वर, चण्डिकादेवी, चण्डीश्वर, भवानीशंकर** का दर्शन करता हुआ, **ढुण्ढिराज गणेश** को प्रणाम करने के पश्चात् **राजराजेश्वर** का दर्शन-पूजन करे, तदनन्तर **लांगलीश्वर, नकुलीश्वर, परान्नेश्वर, परद्रव्येश्वर, प्रतिग्रहेश्वर, निष्कलङ्केश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, अप्सरेश्वर, गंगेश्वर** आदि का दर्शन-पूजन करने के पश्चात् **ज्ञानवापी** में स्नान करे । तत्पश्चात् **नन्दिकेश्वर, तारकेश्वर, महाकालेश्वर, दण्डपाणि, महेश्वर, मोक्षेश्वर, वीरभद्रेश्वर अविमुक्तेश्वर** एवं **पंचविनायकों** को प्रणाम करके **विश्वनाथ** में आकर मौन भंग करके हाथ जोड़कर यह मंत्र पढ़े–'यथा सम्भव मेरी की हुई इस यात्रा में न्यूनातिरिक्त दोष परिहार करते हुए–**भगवान् शंकर** मुझ पर प्रसन्न हों –

अन्तर्गृहस्य यात्रेयं यथावद्या मया कृता ।
न्यूनातिरिक्तया शम्भुः प्रीयतामनया विभुः ॥

(काशी. अध्या. १००, श्लो. ९६)

प्रार्थनारूप इस मन्त्र का उच्चारण करने के पश्चात्, मुक्तिमण्डप में कुछ काल विश्राम कर अन्तर्गृही यात्री अपने घर चला जाय । हरिवासर प्राप्त होने पर विष्णुतीर्थों की भी यात्रा करनी चाहिए । भाद्रपद की पूर्णिमा को कुलस्तम्भ (लाटभैरव) का पूजन रुद्रपिशाचमोचक है । पर्वों पर विशेष रूप से सब तीर्थों की यात्रा करनी चाहिए । पुण्यशाली कभी भी पर्वदिन को निष्फल न बनाए । बिना यात्रा के काशीवासी का दिन चले जाने पर पितर निराश हो जाते हैं । जिस दिन **विश्वेश्वर** का दर्शन न हुआ वह दिन व्यर्थ हो जाता है । जो कोई **मणिकर्णिका** में स्नान और विश्वेश्वर का दर्शन कर लेता है, वह बड़ा पुण्यशाली है । इस अध्याय की यात्राओं में **पञ्चक्रोशी** यात्रा का विवरण नहीं है । क्षेत्रान्तर्गत यात्राएँ ही यहाँ वर्णित हैं । तदर्थ पाठक अन्यत्र अनुसन्धान करें ।

इस अनुक्रमणिकाध्याय और काशीमाहात्म्य में क्षेत्रान्तर्गत तीर्थों का वर्णन है । श्लोक संख्या १०६ से १३४ तक काशीखण्ड के श्रवण, पुस्तक पूजन, मनन आदि क़ी महिमा और फ़ल बताए गए हैं । लिखित ग्रन्थ का पूजन और इस ग्रन्थ के श्रवण की बुद्धि भगवान् विश्वेश्वर की कृपा से ही होती है । इन सबका बड़ा फल होता है ।

●

विषयानुक्रमणिका

श्रीमन्महर्षिव्यासविरचिते

स्कन्दमहापुराणे

काशीखण्डः

[चतुर्थो भागः]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ श्रीत्रिलोचनाय विश्वेश्वराय नमः ॥

श्रीमन्महर्षिव्यासविरचिते स्कन्दमहापुराणे

काशीखण्डः

[चतुर्थो भागः]

॥ अथ षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

शृणुष्व मैत्रावरुणे पुरा कल्पे रथन्तरे ।
इतिहास इहाऽऽसीद्यः पीठे विरजसंज्ञिते ॥ १ ॥
त्रिलोचनस्य प्रासादे मणिमाणिक्यनिर्मिते ।
नानाभङ्गिगवाक्षाढ्ये रत्नसानाविवायते ॥ २ ॥
कदाचिदपि कल्पान्ते द्युलोके भ्रंशति क्षये ।
प्रोत्तम्भनस्तम्भ इव दत्तो विश्वकृता स्वयम् ॥ ३ ॥

षट्सप्ततितमेऽध्याये प्रभावोऽतिमहत्तरः ।
त्रिलोचनस्य देवस्य वर्ण्यतेऽतिसुखप्रदः ॥ १ ॥

अन्यच्चात्रैव यद्वृत्तं तद्ब्रवीमीत्युक्तं तमेवेतिहासं श्रोतृमनःसमाधानप्रार्थनापूर्वकं प्रस्तावयति–**शृणुष्वेति** । इतिहासः पुरावृत्तः संवादः ॥ १ ॥

त्रिलोचनस्य प्रासाद इत्येतस्य पारावतद्वन्द्वं कलरवयुगलं वसेद् वसति स्माऽवसदिति वेति पञ्चमेनाऽन्वयः । प्रासादं विशिनष्टि । मणीत्यादि पादोनचतुर्भिः । नानाभङ्गिगवाक्षाढ्ये नानापरिपाटिभित्तिच्छिद्राढ्ये । रत्नसानौ मेरौ ॥ २ ॥

कल्पान्ते स्थित्यवसाने । द्युलोके स्वर्गलोके भ्रंशति भ्रश्यति सति । क्षये प्रलये । याति संक्षयमिति पाठान्तरम् । प्रोत्तम्भनस्तम्भो धारणस्तम्भः । विश्वकृता विश्वेश्वरेण ब्रह्मणा वा दत्त इव यस्तस्मिन्नित्यिर्थः ॥ ३ ॥

(इतिहासपूर्वक त्रिलोचन का माहात्म्य)

स्कन्द कहने लगे–

हे मित्रावरुणतनय ! अगस्त्य ! इस विरजसंज्ञक (सिद्ध) पीठ पर पूर्वकाल के रथन्तर कल्प में जो बात हुई थी, उसका इतिहास श्रवण करो ॥ १ ॥

त्रिलोचन का मन्दिर मणि और माणिक्यों से निर्मित था । उसमें नाना भाँति की जालियाँ और झरोखे बने थे । वह मन्दिर सुमेरु के समान ऊँचा था ॥ २ ॥

ऐसा लगता था मानो विश्वकर्ता ने आप ही प्रलयकाल में कदाचित् स्वर्गलोक को अधःपात से बचाने के लिये उसे प्रोत्तंभन (चांड़) का खंभा लगा दिया है ॥ ३ ॥

मरुत्तरङ्गिताग्राभिः पताकाभिरितस्ततः ।
सन्निवारयतीवेत्थमघौघान्विशतो मुने ॥ ४ ।
देदीप्यमानसौवर्णकलशेन विराजिते ।
पार्वणेन शशाङ्केन खेदादिव समाश्रिते ॥ ५ ।
तत्र पारावतद्वन्द्वं वसेत् स्वैरं कृतालयम् ।
प्रातः सायं च मध्याह्ने कुर्वन्नित्यं प्रदक्षिणम् ॥ ६ ।
उड्डीयमानं परितः पक्षवातैरितस्ततः ।
रजःप्रासादसंल्लग्नं दूरीकुर्वद्दिने दिने ॥ ७ ।
त्रिलोचनेति सततं नाम भक्तैरुदाहृतम् ।
त्रिविष्टपेति च तथा तयोः कर्णातिथी भवेत् ॥ ८ ।
चतुर्विधानि वाद्यानि शम्भुप्रीतिकराण्यलम् ।
तयोः कर्णगुहां प्राप्य प्रतिशब्दं प्रतन्वते ॥ ९ ।

इत्थमनेन प्रकारेण । तमेव प्रकारमाह । मरुत्तरङ्गिताग्राभिः पवनचञ्चलाग्राभिः सर्वतः पताकाभिरघौघान् सन्निवारयतीव यस्तस्मिन्नित्यर्थः ॥ ४ ।

उभयत्राऽप्युत्प्रेक्षा । पार्वणेन पूर्णिमासम्बन्धिना ॥ ५ ।

कर्णातिथिः कर्णगोचरः ॥ ८ ।

चतुर्विधानि कांस्यतालादीनि । कर्णगुहां कर्णशष्कुलीम् । प्रतिशब्दं प्रतिध्वनिं प्रतन्वते प्रजनयन्ति ॥ ९ ।

हे मुनिवर ! (वह शिवालय अपने ऊपर के) वायु से हिलती हुई पताकाओं के अग्रभाग से मानों इधर-उधर से घुसते हुए पापवर्ग को निषेध कर रहा जान पड़ता है ॥ ४ ।

उसके ऊपर चमकता हुआ सुवर्णकलश ऐसा शोभायमान हो रहा था, मानो पूर्णिमा का चन्द्रमा खेद से (थक कर) मन्दिर पर विश्राम कर रहा है ॥ ५ ।

उसी मन्दिर पर एक जोड़ा कपोत (कबूतर) अपना घर बनाकर रहता था । वह सबेरे-साँझ और दोपहर के समय में भी नित्य ही (उस शिवालय की) प्रदक्षिणा करता रहता था ॥ ६ ।

प्रतिदिन उसके पंखों की वायु से मन्दिर पर इधर-उधर से उड़कर लगी हुई चारों ओर की धूलि उधिरा जाती थी, दूर जा पड़ती थी ॥ ७ ।

उसके कानों में भक्तों के कहे हुए त्रिलोचन और त्रिविष्टप् इत्यादि नाम बराबर सुनाई पड़ा करते थे ॥ ८ ।

महादेव के बड़े ही रुचिकर काँस्य-तालादि चतुर्विध वाद्य उस जोड़े के कानरूपी गुफा में जाकर प्रतिध्वनि करने लगते थे ॥ ९ ।

मङ्गलारार्तिकज्योतिस्त्रिसन्ध्यं पक्षिणोस्तयोः ।
नेत्रान्तर्निविशन्नित्यं भक्तचेष्टां प्रदर्शयेत् ॥ १० ।
प्राणयात्रां विहायाऽपि कदाचित्स्थिरमानसौ ।
नोड्डीय वाञ्छितं यातः पश्यन्तौ कौतुकं खगौ ॥ ११ ।
तत्र भक्तजनाकीर्णं प्रासादं परितो मुने ।
तण्डुलादि चरन्तौ तौ कुर्वाते च प्रदक्षिणम् ॥ १२ ।
देवदक्षिणदिग्भागे चतुःस्रोतस्विनीजलम् ।
तृषार्तौ धयतो विप्र स्नातौ जातुचिदण्डजौ ॥ १३ ।
तयोरित्थं विचरतोस्त्रिलोचनसमीपतः ।
अगाद् बहुतिथः कालो द्विजयोः साधुचेष्टयोः ॥ १४ ।

मङ्गलाय यदारार्तिकं बहुदीपयुक्तं पात्रं तत्सम्बन्धि यज्ज्योतिस्तत्कर्तृ तयोः पक्षिणोः नेत्रान्तर्नेत्रमध्ये निविशत् प्रविशद् भक्तानां चेष्टां पूजादिव्यापारं प्रदर्शयेद् दर्शयतीत्यर्थः ॥ १० ।

प्राणयात्रां प्राणवृत्तिमाहारमिति यावत् । वाञ्छितमभिमतप्रदेशम् । नो यातो न गच्छतः ॥ ११ ।

प्रासादं परितः देवगृहस्य सर्वत इत्यर्थः ॥ १२ ।

गङ्गासरस्वतीयमुनानर्मदाश्चतस्रः स्रोतस्विन्यो नद्यस्तासां जलं धयतः पिबतः । धेट् पाने । जातुचित् कदाचित् ॥ १३ ।

द्विजयोः पक्षिणोः ॥ १४ ।

उन पक्षियों की आँखों में मंगल आर्ति (आरती) की ज्योति नित्य ही त्रिकाल प्रवेश करके भक्तों की पूजादि चेष्टा को दिखाती रहती थी ॥ १० ।

कभी-कभी तो वे दोनों ही खग स्थिर चित्त से बैठ ऐसा कौतुक देखने लगते थे कि खाना-पीना छोड़कर वहाँ से कहीं भी नहीं उड़ते थे ॥ ११ ।

हे महर्षे! वहीं पर मन्दिर के इधर-उधर भक्तलोग जो कुछ अक्षत (चाउर) इत्यादि छींट (छिड़क) देते थे, वे दोनों प्रदक्षिणा करते हुए उसी को खा लेते थे ॥ १२ ।

हे विप्र ! वे दोनों ही अण्डज प्यास लगने पर भगवान् के दक्षिण की ओर गंगा, यमुना, सरस्वती और नर्मदा इन चारों नदियों के सोते का जल पीते और कभी-कभी नहाते भी थे ॥ १३ ।

इस प्रकार से त्रिलोचन के समीप ही में विचरण करते हुए उन दोनों ही साधु-स्वभाव वाले पक्षियों का बहुत समय बीत गया ॥ १४ ।

अथ देवालयस्कन्धे गवाक्षान्तर्गतौ च तौ ।
श्येनेन केनचिद् दृष्टौ क्रूरदृष्ट्या सुखस्थितौ ॥ १५ ।
तच्च पारावतद्वन्द्वं श्येनः परिजिघृक्षुकः ।
अवतीर्याऽम्बरादाशु प्रविष्टोऽन्यशिवालये ॥ १६ ।
ततो विलोकयामास तदागमविनिर्गमौ ।
केन मार्गेण विशतो दुर्गमे तौ पतत्रिणौ ॥ १७ ।
केनाऽध्वना च निर्यातः क्व काले कुरुतश्च किम् ।
कथं युगपदे तौ मे ग्राह्यौ स्वैरं भविष्यतः ॥ १८ ।
मध्येदुर्गं प्रविष्टौ च मम वश्याविमौ न यत् ।
एकदृष्टिः क्षणं तस्थौ श्येन इत्थं विचिन्तयन् ॥ १९ ।
अहो दुर्गबलं प्राज्ञाः शंसन्त्येवेति हेतुतः ।
दुर्बलोऽप्याकलयितुं सहसाऽरिर्न शक्यते ॥ २० ।

देवालयस्कन्धे देवालयशृङ्गादधोभागे ॥ १५ ।

ननु दुर्बलयोर्ग्रहणे किमिति कथङ्कारस्तत्राह । **मध्येदुर्गं** दुर्गस्य मध्ये । यद्यस्मात् । इत्थं वक्ष्यमाणम् ॥ १९ ।

तदनन्तर एक बार एक श्येन पक्षी (बाज) ने क्रूरदृष्टि से देवालय के मध्य में झरोखा के भीतर सुख से बैठे हुए उन दोनों ही (पक्षियों) को देख लिया ॥ १५ ।

उस कपोत के जोड़े को पकड़ लेने की इच्छा से वह बाज आकाश से उतर कर झटपट एक दूसरे शिवालय में जा घुसा ॥ १६ ।

और वहाँ से उनके निकलने-पैठने को देखने लगा कि, ये दोनों पक्षी किस मार्ग से इस दुर्ग में जाते ॥ १७ ।

और किधर से निकलते हैं ? फिर किस वेला क्या करते हैं ? और किस प्रकार से एक साथ ही ये दोनों मेरे हाथ लग सकते हैं ? ॥ १८ ।

क्योंकि इस दुर्ग के भीतर घुसे रहने पर तो ये दोनों कभी मेरे वश में नहीं आ सकते । वह बाज क्षण भर यही चिन्ता करता हुआ उसी ओर दृष्टि लगाकर बैठा रहा ॥ १९ ।

अहो! बुद्धिमान् लोग दुर्गबल की बड़ाई बहुत ही ठीक कहते हैं, क्योंकि दुर्गस्थ दुर्बल भी शत्रु सहसा दबा लिया नहीं जा सकता ॥ २० ।

करिणां तु सहस्रेण वराश्वानां न लक्षतः ।
तत्कर्मसिद्धिर्नृपतेर्दुर्गेणैकेन यद्भवेत् ॥ २१ ।
दुर्गस्थो नाऽभिभूयेत विपक्षः केनचित् क्वचित् ।
स्वतन्त्रं यदि दुर्गं स्यादमर्मज्ञप्रकाशितम् ॥ २२ ।
इति दुर्गबलं शंसन् श्येनो रोषारुणेक्षणः ।
असाध्वसौ कलरवौ वीक्ष्य यातो नभोऽङ्गणम् ॥ २३ ।
अथ पारावती दक्षा विपक्षं प्रेक्ष्य पक्षिणम् ।
महाबलं दुर्गबला प्राह पारावतं पतिम् ॥ २४ ।

कलरव्युवाच–

प्रिय पारावत प्राज्ञ सर्वकामि सुखारव ।
तव दृग्विषयं प्राप्तः श्येनोऽयं प्रबलो रिपुः ॥ २५ ।
सावज्ञं वाक्यमाकर्ण्य पारावत्याः स तत्पतिः ।
पारावतीमुवाचेदं का चिन्तेति तव प्रिये ॥ २६ ।

पारावत उवाच–

कति नाम न सन्तीह सुभगे व्योमचारिणः ।
कति देवालयेष्वेषु खगा नोपविशन्ति हि ॥ २७ ।

लक्षतः लक्षेण ॥ २१ ।
शंसन् स्तुवन् ॥ २३ ।

अकेले दुर्ग से ही राजा का जो काम सिद्ध हो जाता है, वह काम सहस्रों हाथी अथवा लाखों बढ़ियाँ (उत्तम) घोड़ों से भी नहीं चल सकता ॥ २१ ।

यदि दुर्ग स्वतंत्र और सब प्रकार से गुप्त हो तो तत्रस्थ शत्रु कभी किसी से नहीं हार सकता है ॥ २२ ।

वह बाज इसी भाँति से दुर्गबल की प्रशंसा करता हुआ उन दोनों ही कपोतों को निर्भय देख, क्रोध से आँखें लाल करके आकाश मंडल में चला गया ॥ २३ ।

तत्पश्चात् केवल दुर्ग की ही बलवती चतुर कपोती अपने शत्रु बाज पक्षी को देखकर बड़े बली अपने स्वामी कपोत से कहने लगी ॥ २४ ।

कपोती ने कहा–

हे सर्वकामसुखाकर ! प्रियतम ! पारावत! आपने इस प्रबल शत्रु बाज को देखा ? ॥ २५ ।

कपोती का वचन सुनकर उसका पति अहंकार के साथ कपोती से कहने लगा कि–"प्यारी ! तुम किस चिन्ता में पड़ी हो" ॥ २६ ।

कबूतर बोला–

"हे सुभगे ! यहाँ पर क्या बहुतेरे गगनचारी नहीं पड़े हैं? और फिर इन देवालयों में क्या बहुतेरी चिड़ियाँ नहीं घुसा करती हैं ? ॥ २७ ।

कति चैव न पश्यन्ति नौ सुखस्थाविह प्रिये ।
तेभ्यो यदीह भेत्तव्यं कुतो नौ तत्सुखं प्रिये ॥ २८ ।
रमस्व त्वं मया सार्धं त्यज चिन्तामिमां शुभे ।
अस्य श्येनवराकस्य गणनाऽपि न मे हृदि ॥ २९ ।
इत्थं पारावतवचः श्रुत्वा पारावती ततः ।
मौनमालम्ब्य संतस्थे पत्युः पादार्पितेक्षणा ॥ ३० ।
हितवर्त्मोपदिश्यापि प्रियप्रियचिकीर्षया ।
साध्व्या जोषं समास्थेयं कार्यं पत्युर्वचः सदा ॥ ३१ ।
अन्येद्युरप्यथायातः श्येनोऽपश्यत्स दम्पती ।
अपरिच्छिन्नया दृष्ट्या यथा मृत्युर्गतायुषम् ॥ ३२ ।
अथ मण्डलगत्या स प्रासादं परितो भ्रमन् ।
निरीक्ष्य तद्गतायातौ यातो गगनमार्गतः ॥ ३३ ।

तत्तदा ॥ २८ ।

पत्युः पादयोरर्पिते ईक्षणे नेत्रे यया सा ॥ ३० ।

युक्तं चैतदित्याह–**हितेति** । जोषं प्रीतिर्यथा स्यात्तथा स्थेयम् । किमित्यत आह–**कार्यमिति** ॥ ३१ ।

मण्डलगत्या परिभ्रमणगमनेन स श्येनस्तद्गतायातौ तयोर्गमनागमनमार्गौ । **गगनमार्गतः** आकाशमार्गेण ॥ ३३ ।

एवं प्रिये ! क्या कितने ही (लोग) हम दोनों जन को यहाँ पर सुख से रहते हुए नहीं देखते हैं ? यदि उन सबों से डरते ही रहना पड़े तो प्यारी ! वह सुख हम लोगों को कैसे होगा ? ॥ २८ ।

हे सुन्दरी ! तुम मेरे साथ क्रीड़ा करो और इस चिन्ता को छोड़ दो । इस तुच्छ (बिचारे) बाज की तो मेरे मन में कुछ गिनती ही नहीं है " ॥ २९ ।

तब कपोत की ऐसी बातें सुनकर वह कपोती पति के चरणों में दृष्टि लगाकर चुपचाप बैठी रही ॥ ३० ।

क्योंकि पति का प्रिय चाहने वाली पतिव्रता नारी को यही उचित है कि, हितमार्ग बता कर फिर चुपचाप बैठ रहे (अर्थात् अनुचित बात का भी खंडन न करे) और स्वयं सर्वदा पति की आज्ञा का पालन करे ॥ ३१ ।

फिर दूसरे दिन वह बाज वहाँ आकर जैसे मृत्यु गतायु को देखे, वैसे ही टकटकी लगाकर उन दोनों ही को देखता रहा ॥ ३२ ।

अनन्तर मन्दिर के चारों ओर चक्कर लगाता और घूमता हुआ वह बाज उन सबों का निकलना-पैठना देखकर आकाशमार्ग से उड़ गया ॥ ३३ ।

गतेऽथ नभसि श्येने पुरः पारावताङ्गना ।
प्रोवाच प्रेयसी नाथ दृष्टो दुष्टस्त्वयाऽहितः ॥ ३४ ।
तस्या वाक्यं समाकर्ण्य पुनः कलरवोऽब्रवीत् ।
किं करिष्यत्यसौ मुग्धे मम व्योमविहारिणः ॥ ३५ ।
दुर्गञ्च स्वर्गतुल्यं मे यत्र नास्त्यरितो भयम् ।
अयं न ता गतीर्वेत्ति या वेदाऽहं नभोऽङ्गणे ॥ ३६ ।
प्रडीनोड्डीनसंडीनकाण्डव्याडकपाटिकाः ।
स्रंसनीमण्डलवतीगतयोऽष्टावुदाहृताः ॥ ३७ ।
यथैतास्विह कौशल्यं मयि पारावति प्रिये ।
गतिषु क्वापि कस्यापि पक्षिणो न तथाऽम्बरे ॥ ३८ ।
सुखेन तिष्ठ का चिन्ता मयि जीवति ते प्रिये ।
इति तद्वचनं श्रुत्वा सा स्थिता मूकवत्सती ॥ ३९ ।

प्रडीनेति । व्याडेत्येका । एतासां भेदो ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यः ॥ ३७ ।

बाज के आकाश में उड़ जाने पर फिर उस कपोती ने अपने पति से कहा कि, नाथ! इस दुष्ट शत्रु को आपने देखा ? (न) ॥ ३४ ।

उसकी बात सुनकर फिर कपोत बोला– "मुग्धे ! मैं तो गगनविहारी हूँ, यह भला मेरा क्या कर सकता है? ॥ ३५ ।

फिर यह मेरा दुर्ग भी तो स्वर्ग के तुल्य है, इसमें शत्रु का कोई भय नहीं है, आकाशमंडल के विषय में जो चालें मैं जानता हूँ, भला यह क्या जानेगा ? ॥ ३६ ।

प्रडीन, उड्डीन, संडीन, कांड, व्याड, कपाटिका, स्रंसनी और मंडलवती ये आठ प्रकार की गतियाँ कही गई हैं ॥ ३७ ।

अयि प्रिये ! कपोति! इन चालों की निपुणता जैसी मुझमें है, वैसी आकाश के भीतर दूसरे किसी भी पक्षी की नहीं है ॥ ३८ ।

प्यारी ! तुम सुख से चल कर बैठो । मेरे जीते जी यहाँ तुम किसकी चिन्ता कर रही हो"? उसकी बात सुनकर वह पतिव्रता कपोती गूँगे की नाईं (तरह) चुप हो गई ॥ ३९ ।

अपरेद्युरपि श्येनस्तत्र भारशिलातले ।
कियदन्तरमासाद्योपविष्टोऽतिप्रहृष्टवत् ॥ ४० ।
आयामं तत्र संस्थित्वा तत्कुलायं विलोक्य च ।
पुनर्विनिर्गतः श्येनः साऽपि भीताऽब्रवीत्पुनः ॥ ४१ ।
प्रिय स्थानमिदं त्याज्यं दुष्टदृष्टिविदूषितम् ।
असौ क्रूरोऽतिनिकटमुपविष्टोऽतिहृष्टवत् ॥ ४२ ।
सावज्ञं स पुनः प्राह किं करिष्यत्यसौ प्रिये ।
मृगाक्षीणां स्वभावोऽयं प्रायशो भीरुवृत्तयः ॥ ४३ ।
इतरेद्युरपि प्राप्तः स च श्येनो महाबलः ।
तयोरभिमुखं तत्र स्थितो यामद्वयावधि ॥ ४४ ।
पुनर्विलोक्य तद्वर्त्म शीघ्रं यातो यथागतम् ।
गतेऽथ शकुनौ तस्मिन् सा बभाषे विहङ्गमी ॥ ४५ ।

तत्र मठे । भारशिलातले भारधारणार्थं दत्ता या शिला तस्यास्तले उपरि भारवच्छिलातल इति वा । महापाषाण इत्यर्थः । ४० ।

आयामं प्रहरमात्रं व्याप्य । कुलायं नीडम् ॥ ४१ ।

भीरुवृत्तयो भीरुस्वभावाः ॥ ४३ ।

उसके दूसरे दिन फिर वह बाज मन्दिर पर आकर एक बड़ भारी पत्थर के नीचे दरार में घुसकर बड़ी प्रसन्नता से बैठा रहा ।। ४० ।

पहर भर तक वहाँ पर बैठ उनका खोंता भलीभाँति से देख-भाल कर वह बाज फिर चला गया । तब फिर उस कपोती ने भयभीत होकर कहा ।। ४१ ।

हे प्रिय ! (देखो आज) यह दुष्ट बहुत निकट में आकर बड़ा धृष्ट-सा बैठा रहा है । अब तो यह स्थान दुष्ट की दृष्टि द्वारा दूषित हो जाने से त्याग ही देने योग्य है ।। ४२ ।

फिर भी उसने बड़े अहंकार के साथ कह दिया कि, 'अरी प्यारी ! यह क्या कर सकता है ? मृगनैनियों का तो यह स्वभाव ही है, जो वे प्रायः करके बड़ी ही डरपोंक होती हैं' ।। ४३ ।

दूसरे दिन फिर वह महाबली बाज वहाँ पर आ पहुँचा और उन दोनों ही के सन्मुख दो पहर तक बैठा रहा ।। ४४ ।

फिर उन सबों का मार्ग आदि देख-भाल कर तुरन्त ही चलता हुआ । उसके उड़ जाने पर पुनः उस (बिचारी) कपोती ने कहा ।। ४५ ।

नाथ स्थानान्तरं यावो मृत्युर्नौ निकटोऽत्र यत् ।
पुनर्दुष्टे प्रणष्टेऽस्मिन्नावां स्यावः सुखं प्रिय ॥ ४६ ।
प्रिय यस्य सपक्षस्य गतिः सर्वत्र सिद्धिदा ।
स किं स्वदेशरागेण नाशं प्राप्नोति बुद्धिमान् ॥ ४७ ।
सोपसर्गं निजं देशं त्यक्त्वा योऽन्यत्र न व्रजेत् ।
स पङ्गुर्नाशमाप्नोति कूलस्थित इव द्रुमः ॥ ४८ ।
प्रियोदितं निशम्येति स [1]भवित्रीदशार्दितः ।
सरीढं पुनरप्याह प्रिये मा भैः खगात्ततः ॥ ४९ ।
अथाऽपरस्मिन्नहनि स श्येनः प्रातरेव हि ।
तद्द्वारदेशमासाद्य सायं यावत्स्थितो बलः ॥ ५० ।

प्रणष्टेऽदर्शनं गते ॥ ४६ ।
सपक्षस्य सपत्रस्य ॥ ४७ ।
पङ्गुः पङ्गुतुल्यः ॥ ४८ ।
सरीढं सावज्ञम् ॥ ४९ ।

नाथ! यहाँ पर हम लोगों की मृत्यु निकट चली आयी है, अत एव अब दूसरे ही स्थान पर चलना उचित है, जब इस दुष्ट का आना-जाना बन्द हो जावेगा, तब फिर हम दोनों यहाँ पर (आकर) सुख से रहने लगेंगे ॥ ४६ ।

हे प्रियतम! जिस पक्षवाले की गति सर्वत्र ही सिद्धि दे सके, भला वह बुद्धिमान् स्वदेशानुराग के कारण क्या (विपक्ष के द्वारा) अपना नाश करवा सकता है? ॥ ४७ ।

जो कोई उपद्रव से पूर्ण अपने देश को त्याग कर अन्यत्र नहीं चला जाता, वह पंगुजन (लूला) नदी के तटस्थ वृक्ष की नाईं (शीघ्र ही) विनष्ट हो जाता है ।

दोहा–**"विपतिपूर्ण निज देश तजि, जो अन्यत्र न जाय ।**
नदीतीर के वृक्ष सम, सो पंगुल बिनसाय ॥ ४८ ।

वह कपोत अपनी पत्नी का यह कथन सुनकर फिर भी गर्व के साथ होनहारवश कहने लगा–'प्यारी !उस खग (बाज) से तुम मत डरो' ॥ ४९ ।

फिर दूसरे दिन वह बली बाज बड़े तड़के ही से आकर साँझ तक उसके द्वार पर बैठा रहा ॥ ५० ।

---

1. पुंवद्भावाऽभाव आर्षः ।

अस्ताचलस्य शिखरं याते भानौ गते खगे ।
कुलायाद् बाह्यमागत्योवाच पारावती पतिम् ॥ ५१ ।
नाथ निर्गमनस्याऽयं कालः कालोऽतिदूरतः ।
यावत्तावद् विनिर्याहि त्यक्त्वा मामपि सन्मते ॥ ५२ ।
त्वयि जीवति दुष्प्राप्यं न किञ्चिज्जगतीतले ।
पुनर्दाराः पुनर्मित्रं पुनर्वसु पुनर्गृहम् ॥ ५३ ।
यद्यात्मा रक्षितः पुंसा दारैरपि धनैरपि ।
तदा सर्वं हरिश्चन्द्रभूपेनेवेह लभ्यते ॥ ५४ ।
अयमात्मा प्रियो बन्धुरयमात्मा महद्धनम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामयमात्मार्जकः परः ॥ ५५ ।
यावदात्मनि वै क्षेमं तावत्क्षेमं जगत्त्रये ।
सोऽपि क्षेमः सुमतिना यशसा सह वाञ्छ्यते ॥ ५६ ।

कालो मृत्युरूपः श्येनो यावद्दूरे वर्तते, तावद्दूरं विनिर्याहीति ॥ ५२ ।
आत्मा देहः ॥ ५५ ।

जब कि सूर्य अस्ताचल के शिखर पर चले गये. तब वहाँ से उठा, बाज के चले जाने पर वह कपोती खोंते से बाहर निकल कर अपने स्वामी से कहने लगी ॥ ५१ ।

हे नाथ! इस घड़ी वह कालरूप बाज दूर चला गया, इससे अब यहाँ से उड़ भागने का यही समय है, हे सुबुद्धे! जब तक वह फिर यहाँ नहीं आ जाता, तब तक आप मुझे भी छोड़कर निकल जाइये ॥ ५२ ।

क्योंकि संसार में आपके जीते रहने से कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है, (कारण यह कि आप पुरुष हैं, आप के जीने पर) स्त्री, मित्र, धन और घर यह सब फिर होते रहेंगे ॥ ५३ ।

यदि पुरुष स्त्री और धन इत्यादि से अपनी रक्षा कर सके, तो वह इसी संसार में राजा हरिश्चन्द्र की तरह सब कुछ फिर से पा सकता है ॥ ५४ ।

यह आत्मा ही प्यारा बन्धु और यही आत्मा बड़ा धन है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सबका उपार्जन करनेवाला भी यही आत्मा है ॥ ५५ ।

अपने ही कुशल से त्रैलोक्य भर का कुशल समझता है, परन्तु बुद्धिमान् जन उस कुशल को भी सुयश के साथ चाहते हैं ॥ ५६ ।

यशोहीनं तु यत्क्षेमं तत्क्षेमान्निधनं वरम् ।
तद्यशः प्राप्यते पुंभिर्नीतिमार्गप्रवर्तने ॥ ५७ ।
अतो नीतिपथं श्रुत्वा नाथ स्थानादितो व्रज ।
न गमिष्यसि चेत्प्रातस्ततो मे संस्मरिष्यसि ॥ ५८ ।
इत्युक्तोऽपि स वै पत्न्या पारावत्या सुमेधया ।
न निर्ययौ प्रतिस्थानाद् भवित्र्या प्रतिवारितः ॥ ५९ ।
अथोषसि समागत्य श्येनेन बलिना तदा ।
तन्निर्गमाध्वा संरुद्धः किञ्चिद्भक्ष्यवता मुने ॥ ६० ।
दिनानि कतिचित्तत्र स्थित्वा श्येनो महामतिः ।
पारावतमुवाचेदं धिक् त्वां पौरुषवर्जितम् ॥ ६१ ।
किं वा युध्यस्व दुर्बुद्धे किं वा निर्याहि मे गिरा ।
क्षुधाक्षीणो मृतः पश्चान्निरयं यास्यसि ध्रुवम् ॥ ६२ ।

मे वच इति शेषः ॥ ५८ ।
भवित्र्या महामायया ॥ ५९ ।

जिस कुशल में यश न हो, उससे तो मर जाना ही अच्छा हैं, एवं वह कुशल भी न्यायमार्ग से चलने पर ही मिलता है ॥ ५७ ।

अत एव हे नाथ! नीति के अनुसार तो अब यहाँ से चल देना ही उचित है, यदि आप यहाँ से न उठ जावेंगे, तो प्रातःकाल ही मेरी बातों को स्मरण करेंगे ॥ ५८ ।

इस प्रकार से परमबुद्धिमती पत्नी के बारंबार कहने पर भी वह कपोत होनहारवश उस स्थान से नहीं निकला । (सच है, होनहार की बात ऐसी ही होती है, जैसा कि इस प्राचीन दोहे में कहा है) –

दोहा–"जैसी होय होतव्यता, तैसी उपजे बुद्धि ।
होनहार हृदये बसे, बिसरि जाय सब बुद्धि ॥ ५९ ।"

हे महर्षे! (इधर) दूसरे दिन फिर वह बलवान् बाज प्रातःकाल से ही कुछ भोजन (ले) कर उसके निकलने का मार्ग रोक बैठा ॥ ६० ।

और कुछ समय तक वहाँ बैठकर उस चतुर बाज ने कबूतर से कहा–अरे कपोत ! तू तो बड़ा ही पौरुषहीन है, तुझे धिक्कार है ! ॥ ६१ ।

रे दुर्बुद्धे ! तू मेरे साथ लड़, किं वा मेरे कहने से बाहर निकल आ, नहीं तो अन्त में भूख के मारे मरकर नरकगामी हो जावेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ६२ ।

द्वौ भवन्तावहं चैकश्चलौ जयपराजयौ ।
स्थानार्थं युध्यतः सत्त्वात्स्वर्गो वा दुर्गमेव वा ॥ ६३ ।
पुरुषार्थं समालम्ब्य ये यतन्ते महाधियः ।
विधिरेव हि साहाय्यं कुर्यात्तत्सत्त्वचोदितः ॥ ६४ ।
इत्थं स श्येनसम्प्रोक्तः पत्न्याऽप्युत्साहितः खगः ।
अयुध्यत्तेन श्येनेन स्वदुर्गद्वारमाश्रितः ॥ ६५ ।
क्षुधितस्तृषितः सोऽथ श्येनेन बलिना धृतः ।
चरणेन दृढेनाशु चञ्च्वा साऽपि धृता खगी ॥ ६६ ।
तावादायोड्डयाञ्चक्रे श्येनो व्योमनि सत्वरम् ।
चिन्तयद्भक्षणस्थानमन्यपक्षिविवर्जितम् ॥ ६७ ।
अथ पत्न्या कलरवः प्रोक्तस्तत्र सुमेधया ।
वचोऽवमानितं नाथ त्वया मे स्त्रीति बुद्धितः ॥ ६८ ।

युध्यतो युद्धं कुर्वाणस्य पुंसः । सत्त्वात् सत्त्वगुणाददृष्टादिति वा ॥ ६३ ।
तत्सत्त्वचोदितस्तस्य युध्यमानस्य सत्त्वेन गुणेनादृष्टेन वा प्रेरितः ॥ ६४ ।

मैं तो अकेला ही हूँ और तू जोड़ा है, फिर जीत और हार का कोई ठिकाना भी नहीं । जो बुद्धिमान् लोग पुरुषार्थ के बल पर प्रयत्न करते हैं, उनके पराक्रम से उत्साहित होकर स्वयं विधाता ही उन लोगों की सहायता करता है ॥ ६३-६४ ।

इस प्रकार से उस बाज के ललकारने पर और पत्नी के उत्तेजना देने पर ढाँढस बाँधकर वह कपोत अपने दुर्ग के द्वार पर उस बाज से लड़ने लगा ॥ ६५ ।

फिर क्या था, तुरन्त उस बली बाज ने उस भूखे और प्यासे कपोत को अपने दृढ़ चंगुल में और कपोती को चोंच में पकड़ लिया ॥ ६६ ।

(बस) अनन्तर उन दोनों ही को लेकर वह बाज बड़ी तेजी स आकाश में उड़ चला और अन्य पक्षियों से रहित निराला (सुनसान) स्थान पर भोजन करने के लिये सोचने लगा ॥ ६७ ।

उस बुद्धिमती कपोती ने कपोत से कहा कि–"हे नाथ! आपने स्त्री समझ कर मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया ॥ ६८ ।

अतोऽवस्थामिमां प्राप्तः किं कुर्यामबला यतः ।
अधुनाऽपि वचश्चैकं करोषि यदि मे प्रिय ॥ ६९ ।
तदा हितं ते वक्ष्यामि कुरु चैवाविचारितम् ।
ममैकवाक्यकरणात्स्त्रीजितो न भविष्यसि ॥ ७० ।
यावदास्यगतास्म्यस्य यावत्स्वस्थो न भूमिगः ।
तावदात्मविमुक्त्यै त्वमरेः पादं दृढं दश ॥ ७१ ।
इति पत्नीवचः श्रुत्वा तथा स कृतवान् खगः ।
स पीडितो दृढं पादे श्येनश्चीत्कृतवान् बहु ॥ ७२ ।
तेन चीत्करणेनाऽथ मुक्ता सा मुखसम्पुटात् ।
पादाङ्गुलिश्लथत्वेन सोऽपि पारावतोऽपतत् ॥ ७३ ।
विपद्यपि च न प्राज्ञैः सन्त्याज्यः क्वचिदुद्यमः ।
क्व च चञ्चुपुटस्तस्य क्व च तत्पादपीडनम् ॥ ७४ ।
क्व च द्वयोस्तथाभूतादरेर्मोक्षणमद्भुतम् ।
दुर्बलेऽप्युद्यमवति फलं भाग्यं यतोऽर्पयेत् ॥ ७५ ।

दश चञ्च्वा त्रोटय ॥ ७१ ।
चीत्कृतवान् श्येनजातिशब्दमकरोत् ॥ ७२ ।
अपतन्मुक्तः ॥ ७३ ।

इसी से आप इस दशा में आ पड़े हैं, मैं तो अबला ही हूँ, फिर और कर ही क्या सकती हूँ । पर प्यारे! यदि आप अब भी मेरी एक बात मान जावें, तो मैं आप का हित कह सकती हूँ, पर आप कुछ सोचने-विचारने के बिना ही उसे कर डालें और मेरी एक बात मान लेने से आप स्त्री के वश में नहीं हो जावेंगे ॥ ६९-७० ।

(हे नाथ!) जब तक यह बाज स्वस्थतापूर्वक किसी स्थान पर नहीं बैठता और मैं इसके चोंच में पड़ी हूँ, इसी के बीच में आप अपने छुटकारा के लिये इसे पैर में बलपूर्वक काटिये" ॥ ७१ ।

पत्नी की बात सुनकर उस कपोत ने वैसा ही किया, तब तो वह बाज पैर में बड़ी कठोरता के साथ बहुत काटे जाने पर चीं-चीं करने लगा ॥ ७२ ।

इतने में जो उसका मुख खुला, त्यों ही कपोती निकल गई और चंगुल के ढीला पड़ जाने से वह कबूतर भी गिर पड़ा ॥ ७३ ।

बुद्धिमान् लोगों को विपत्ति पड़ने पर भी कभी उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए; क्योंकि (देखो) वह कपोत का जोड़ा शत्रु के मुख में पड़कर भी उसके पैरों को काटकर वैसे बली शत्रु से अपने को विचित्र रीति से छुड़ा सका । सच है–यदि कोई दुर्बल भी उद्योग करे, तो भाग्य उसे अवश्य ही फल देता है ॥ ७४-७५ ।

तस्माद्भाग्यानुसारेण फलत्येव सदोद्यमः ।
प्रशंसन्त्युद्यमं चातो विपद्यपि मनीषिणः ॥ ७६ ।
अथ तौ कालयोगेन विपन्नौ सरयूतटे ।
मुक्तिपुर्यामयोध्यायामेको विद्याधरोऽभवत् ॥ ७७ ।
मृतानां यत्र जन्तूनां काशीप्राप्तिर्भवेद्ध्रुवम् ।
मन्दारदामतनयो नाम्ना परिमलालयः ॥ ७८ ।
अनेकविद्यानिलयः कलाकौशलभाजनम् ।
कौमारं वय आसाद्य शिवभक्तिपरोऽभवत् ॥ ७९ ।
नियमं चातिजग्राह विजितेन्द्रियमानसः ।
एकपत्नीव्रतं नित्यं चरिष्यामीति निश्चितम् ॥ ८० ।
परयोषित्समासक्तिरायुः कीर्तिं बलं सुखम् ।
हरेत्स्वर्गगतिं चापि तस्मात्तां वर्जयेत्सुधीः ॥ ८१ ।

नियमं विशिनष्टि–**निश्चितमिति** । निश्चयेन चितं व्याप्तमित्यर्थः, तत्स्वरूप-मेवाह–**एकपत्नीति** ॥ ८० ।

किमित्येतादृशं नियमं गृहीतवांस्तत्राह–**परयोषिदेति** ॥ ८१ ।

अत एव भाग्यानुसार ही उद्यम सदैव फलता है, इससे पंडित लोग विपत्ति में भी उद्योग की ही बड़ाई गाते हैं ॥ ७६ ।

इस प्रकार से वे दोनों कबूतर मृत्यु के मुख से बचकर कालानुसार सरयू के तीर पर मुक्तिक्षेत्र अयोध्यापुरी में, जहाँ के मरनेवाले प्राणियों को काशी अवश्य प्राप्त होती है, (वहाँ जाकर) मृत्यु को प्राप्त हुए, उनमें कपोत मन्दारदाम का पुत्र परिमलालय नामक विद्याधर हुआ ॥ ७७-७८ ।

वह कुमारावस्था ही में अनेक विद्याओं का ज्ञाता और कला-कौशल का पात्र और परमशिवभक्त हो गया ॥ ७९ ।

उसने जितेन्द्रियचित्त होकर यह दृढ़-नियम ठान लिया था कि, मैं सदा ही एकपत्नीव्रत करूँगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ८० ।

(लोक में) परस्त्री पर आसक्त होने से, आयुष्य, यश, सुख, बल और स्वर्ग सब कुछ नष्ट हो जाता है । अत एव बुद्धिमान् जन परस्त्रीगमन को सर्वथा त्याग देवें ॥ ८१ ।

अपरं चापि नियमं स शुचिष्मान् समाददे ।
गतजन्मान्तराभ्यासात्त्रिलोचनसमाश्रयात् ॥ ८२ ।
समस्तपुण्यनिलयं समस्तार्थप्रकाशकम् ।
समस्तकामजनकं परानन्दैककारणम् ॥ ८३ ।
यावच्छरीरमरुजं यावन्नेन्द्रियविप्लवः ।
तावत्त्रिलोचनं काश्यामनर्च्याश्नामि नाण्वपि ॥ ८४ ।
इत्थं मान्दारदामिः स नित्यं परिमलालयः ।
काश्यां त्रिविष्टपं द्रष्टुं समागच्छेत् प्रयत्नवान् ॥ ८५ ।
पारावत्यपि सा जाता रत्नदीपस्य मन्दिरे ।
नागराजस्य पाताले नाम्ना रत्नावलीति च ॥ ८६ ।
समस्तनागकन्यानां रूपशीलकलागुणैः ।
एकैव रत्नभूताऽऽसीद्रत्नदीपोरगात्मजा ॥ ८७ ।
तस्याः सखीद्वयं चासीदेका नाम्ना प्रभावती ।
कलावती तथाऽन्या च नित्यं तदनुगे उभे ॥ ८८ ।

त्रिलोचन के आश्रयवश व्यतीत जन्म के अभ्यास से उस शुचिष्मान् विद्याधर ने एक और भी नियम धारण कर लिया ॥ ८२ ।

जब तक शरीर निरोग है और जब तक इन्द्रियाँ शिथिल नहीं पड़ जातीं, तब तक मैं काशीपुरी में अशेष पुण्यों के भवन, चारों पुरुषार्थों के साधक, समस्त कामनाओं के दाता एवं परमानन्द के एकमात्र कारण भगवान् त्रिलोचन का पूजन किये बिना कुछ भी नहीं खाऊँगा ॥ ८३-८४ ।

इस प्रकार से वह मन्दारदाम का पुत्र परिमलालय (नियमों को धारण कर) प्रतिदिन काशी में बड़े प्रयत्न से दर्शन करने को आता था ॥ ८५ ।

(उधर) वह कपोती भी पाताल में नागराज रत्नदीप के गृह में रत्नावली नाम की कन्या उत्पन्न हुई ॥ ८६ ।

वह रत्नदीप की कन्या समस्त नाग-कन्याओं में रूप, शील और कला आदि गुणों से एक रत्न-सी हो गई थी ॥ ८७ ।

उसकी प्रभावती और कलावती नाम से (विदित) दो सखियाँ थीं । वे सर्वदा उसके साथ रहती थीं ॥ ८८ ।

स्वदेहादनपायिन्यौ छायाकान्ती यथा तथा ।
ते द्वे सख्यावभूतां हि रत्नावल्या घटोद्भव ॥ ८९ ।
सा तु बाल्ये व्यतिक्रान्ते किञ्चिदुद्भिन्नयौवना ।
शिवभक्तं स्वपितरं दृष्ट्वा नियमभग्रहीत् ॥ ९० ।
पितस्त्रिलोचनं काश्यामर्चयित्वा दिने दिने ।
आभ्यां सखीभ्यां सहिता मौनं त्यक्ष्यामि नान्यथा ॥ ९१ ।
एवं नागकुमारी सा सखीद्वयसमन्विता ।
त्रिलोचनं समभ्यर्च्य गृहानहरहो व्रजेत् ॥ ९२ ।
दिने दिने सा प्रत्यग्रैः कुसुमैरिष्टगन्धिभिः ।
सुविचित्राणि माल्यानि परिगुम्फ्याऽर्चयेद् विभुम् ॥ ९३ ।
तिस्रोऽपि गीतं गायन्ति लसद्गान्धारसुन्दरम् ।
रासमण्डलभेदेन लास्यं तिस्रोऽपि कुर्वते ॥ ९४ ।

प्रत्यग्रैर्विकसितैः । माल्यानि मालाः । परिगुम्फ्य गुम्फित्वा सीवित्वेति यावत् । ग्रथ्येति क्वचित् ॥ ९३ ।

लसद्गान्धारसुन्दरं शोभमानगान्धाररागेण मनोहरम् । रासमण्डलभेदेन बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषो रासस्तद्भ्रमणबाहुल्येन । लास्यं नृत्यम् ॥ ९४ ।

हे घटज ! मुने ! जैसे अपने शरीर से छाया और कान्ति कभी दूर नहीं हो सकती, वैसे ही वे दोनों ही सखियाँ रत्नावली से कभी पृथक् नहीं होती थीं ॥ ८९ ।

रत्नावली, लड़कपन बीत जाने पर, जब कुछ-कुछ युवती होने लगी तब अपने बाप को बड़ा शिवभक्त देख आप भी यह नियम धारण कर कहने लगी ॥ ९० ।

हे पितः! मैं प्रतिदिन इन दोनों सखियों के साथ काशी में जाकर त्रिलोचन की पूजा कर लेने पर बोलूँगी, नहीं तो मौन ही रहूँगी ॥ ९१ ।

इस भाँति से (पिता की अनुमति पाकर) वह नागकुमारी दोनों सखियों के साथ प्रतिदिन त्रिलोचन का पूजन करके गृह पर जाती (और मौनभाव त्यागती) थीं ॥ ९२ ।

वह नित्य ही टटके (ताजे) और बड़े ही सुगन्धवाले चित्र-विचित्र पुष्पों की माला गूँथकर भगवान् को चढ़ाती थी ॥ ९३ ।

वे तीनों ही मनोहर गान्धार स्वर से सुहावने गीतों को गातीं और रास का मंडल बाँध कर नाचती थीं ॥ ९४ ।

वीणावेणुमृदङ्गांश्च लयतालविचक्षणाः ।
वादयन्ति मुदा युक्तास्तिस्रोऽपीश्वरसन्निधौ ॥ ९५ ।
इत्थमाराधयन्तीशं तिस्रो नागकुमारिकाः ।
विचित्रगन्धमालाभिः सम्मार्जनविलेपनैः ॥ ९६ ।
एकदा माधवे मासि तृतीयायामुपोषिताः ।
रात्रौ जागरणं कृत्वा नृत्यगीतकथादिभिः ॥ ९७ ।
प्रातश्चतुर्थीं स्नात्वाऽथ तीर्थे पैलिपिले शुभे ।
त्रिलोचनं समर्च्याऽथ प्रसुप्ता रङ्गमण्डपे ॥ ९८ ।
सुप्तासु तासु बालासु त्रिनेत्रः शशिभूषणः ।
शुद्धकर्पूरगौराङ्गो जटामुकुटमण्डलः ॥ ९९ ।
तमालनीलसुग्रीवः स्फुरत्फणिविभूषणः ।
वामार्धविलसच्छक्तिर्नागयज्ञोपवीतवान् ॥ १०० ।
तस्मादेव विनिष्क्रम्य लिङ्गात्पन्नगमेखलात् ।
उवाच च ततो बाला विभुरुत्तिष्ठतेति सः ॥ १०१ ।

पिलिपिलैव पैलिपिलं तस्मिन् ॥ ९८ ।

एवं भगवान् के समीप में बीन, बाँसुरी और पखावज को लय-ताल की निपुणता से हर्षपूर्वक बजाती थीं ॥ ९५ ।

वे तीनों ही नागकन्याएँ इसी प्रकार से विचित्र गन्ध और माला इत्यादि के द्वारा तथा संमार्जन, विलेपन प्रभृति सेवाओं से भगवान् त्रिलोचन की आराधना करती रहीं ॥ ९६ ।

इसी में एक बार वे सब वैशाख मास की शुक्ला तृतीया को व्रत और रात्रि में नृत्यगीत और कथादिक से जागरण कर प्रातःकाल चतुर्थी को पिलपिला तीर्थ में नहाकर श्री त्रिलोचन की पूजा कर रंगमण्डल में जाकर सो गईं ॥ ९७-९८ ।

उन कन्याओं के सो जाने पर भगवान् त्रिलोचन उसी पन्नगमेखला वाले लिंग से शुद्ध कर्पूर के समान गौरांग, जटाजूट से मंडित, चन्द्रशेखर, तमाल ऐसे नीलकंठ, वामार्ध देह में शक्ति से सुशोभित और सर्प के भूषण एवं यज्ञोपवीत से विराजित रूप धर निकलकर उन सब कुमारियों से कहने लगे कि, उठ जाओ ॥ ९९-१०१ ।

उत्थाय ता विनिर्मार्ज्य लोचने श्रुतिसङ्गते ।
अङ्गमोटनवत्यश्च जृम्भाभिः क्वणिताननाः ॥ १०२ ॥
यावत्पश्यन्ति पुरतः सम्भ्रमापन्नमानसाः ।
अतर्कितागमस्तावत्ताभिर्दृष्टस्त्रिलोचनः ॥ १०३ ॥
ववन्दुरथ ता बाला ज्ञात्वा लक्ष्मभिरीश्वरम् ।
तुष्टुवुश्च प्रहृष्टास्याः सन्नकण्ठ्योऽतिगद्गदम् ॥ १०४ ॥
जय शम्भो जयेशान जय सर्वग सर्वद ।
जय त्रिपुरसंहर्तर्जयान्धकनिषूदन ॥ १०५ ॥
जय जालन्धरहर जय कन्दर्पदर्पहृत् ।
जय त्रैलोक्यजनक जय त्रैलोक्यवर्धन ॥ १०६ ॥

अङ्गमोटनवत्यः शरीरचालनवत्यः । क्वणिताननाः शब्दितमुखाः ॥ १०२ ॥

सम्भ्रमेणादरेण आपन्नं व्याप्तं मानसं यासां ताः सम्भ्रमापन्नमानसाः । अतर्किता-गमोऽसम्भावितागमनः ॥ १०३ ॥

लक्ष्मभिः शशिभूषणादिचिह्नैः ॥ १०४ ॥

तिस्रो नागकुमार्यस्ताः श्रीकण्ठं शशिभूषणम् । एकादशसु पद्यैस्तु तुष्टुवुः प्रणता शिवम् । जय सर्वोत्कर्षमाविष्कुरु ॥ १०५ ॥

अनन्तर वे सब उठकर अपने बड़े-बड़े नेत्रों को मीजती हुईं अंगराकर जँभाई लेने लगीं ॥ १०२ ।

और ज्यों ही उन सबों ने घबराहट के साथ आगे की ओर दृष्टि डाली, त्यों ही अचानक भगवान् त्रिलोचन को देखा ॥ १०३ ।

फिर तो वे सब नागकन्या चिह्नों के द्वारा परमेश्वर को पहचान कर प्रणाम करने लगीं और प्रसन्नमुख होने पर भी कंठ के सन्न हो (रुक) जाने से गद्गद स्वर में उनकी स्तुति करने लगीं ॥ १०४ ।

हे शंभो! आप सर्वव्यापी हैं, आप की जय हो, हे ईशान! आप ही सब कुछ के दाता हैं, आप की जय हो, हे त्रिपुरान्तक ! आप ही ने अन्धक दैत्य को मारा है, आप की जय हो ॥ १०५ ।

हे त्रिलोकीजनक! आप ही ने जालन्धर असुर का विनाश किया । हे त्रैलोक्यवर्धन ! आप ही के द्वारा कन्दर्प का दर्प दूर हुआ है, आप की जय हो, जय हो ॥ १०६ ।

जय त्रैलोक्यनिलय जय त्रैलोक्यवन्दित ।
जय भक्तजनाधीन जय प्रमथनायक ॥ १०७ ।
जय त्रिपथगापाथः प्रक्षालितजटातट ।
जय चन्द्रकलाज्योतिर्विद्योतितजगत्त्रय ॥ १०८ ।
जय सर्पफणारत्नप्रभाभासितविग्रह ।
जयाद्रिराजतनयातपःक्रीतार्धदेहक ॥ १०९ ।
जय श्मशाननिलय जय वाराणसीप्रिय ।
जयाऽऽनन्दवनाध्यासिप्राणिनिर्वाणदायक ॥ ११० ।
जय विश्वपते शर्व शर्वरीपरिवर्जित ।
जय नृत्यप्रियेशोग्र जय गीतविशारद ॥ १११ ।
जय प्रणवसद्वास जय धाममहानिधे ।
जय शूलिन् विरूपाक्ष जय प्रणतसर्वद ॥ ११२ ।

पाथो जलम् ॥ १०८ ।

प्रणव प्रणवस्वरूप । सद्वास सतां वास आश्रय । सद्धामेति पाठेऽपि स एवार्थः । धाममहानिधे तेजसां महाशेवधे महाश्रयेत्यर्थः । विरूपाक्ष त्रिनेत्र ॥ ११२ ।

हे विश्वाधार ! आप तो त्रैलोक्य भर में वन्दित हैं । हे प्रमथनाथ ! आप (सदैव) अपने भक्त लोगों के अधीन रहते हैं । आप की बारंबार जय हो ॥ १०७ ।

हे देव ! आप का जटाजूट त्रिपथगा गंगा के जल से प्रक्षालित रहता है । और आप के (मुकुटमणि) चन्द्रमा की कलाओं की ज्योतियों से त्रैलोक्यमात्र प्रकाशित होता है । आप की जय हो ॥ १०८ ।

हे प्रभो ! आप का शरीर तो सर्पों के फणामणि की प्रभा से भासमान हो रहा है, एवं गिरिराजनन्दिनी ने आप का आधा शरीर अपने तपोबल से खरीद लिया है । आप की जय हो ॥ १०९ ।

हे श्मशानवासिन् ! वाराणसीवल्लभ ! आप आनन्दवनवासी प्राणियों के मोक्षदाता हैं, आप की जय, जय हो ॥ ११० ।

हे विश्वनाथ ! शर्व ! आप शर्वरी से वर्जित हैं, हे नृत्यप्रिय ! उग्र ! आप समस्त गीतविशारद हैं, आप की जय हो ॥ १११ ।

हे शूलपाणे ! आप ही प्रणव के आलय और समस्त तेजों की महानिधि हैं । हे विरूपाक्ष ! आप प्रणतजन के सर्वस्वदाता हैं, आपकी जय हो, जय हो ॥ ११२ ।

विधिः सर्वविधिज्ञोऽपि न त्वां स्तोतुं विचक्षणः ।
वाचो वाचस्पतेर्नाथ त्वत्स्तुतौ परिकुण्ठिताः ॥ ११३ ।
विदन्ति वेदाः सर्वज्ञ न त्वां नाथ यथार्थतः ।
मनतीह मनो न त्वामनन्तं चादिवर्जितम् ॥ ११४ ।
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमो नमः ।
त्रिलोचन नमस्तुभ्यं त्रिविष्टप नमोऽस्तु ते ॥ ११५ ।
इत्युक्त्वा दण्डवद् भूमौ प्रणिपेतुः कुमारिकाः ।
अथोत्थाप्य कुमारीस्ताः प्रोवाच शशिभूषणः ॥ ११६ ।
सुतो मन्दारदाम्नश्च नाम्ना परिमलालयः ।
पतिर्विद्याधरवरो भवतीनां भविष्यति ॥ ११७ ।
चिरं विद्याधरे लोके भोगान् भुक्त्वा समन्ततः ।
ततो निर्वेदमापन्नाः काशीसिद्धिमवाप्स्यथ ॥ ११८ ।

विधिर्ब्रह्मा ॥ ११३ ।
मनसि मननविषयं न करोतीत्यर्थः ॥ ११४ ।
नमःशब्दावृत्तिरादरार्था ॥ ११५ ।

हे नाथ ! स्वयं विधि समस्त विधियों के ज्ञाता होने पर भी आप की स्तुति करने में समर्थ नहीं हैं । और वाचस्पति की भी वाणियाँ आप के स्तुतिगान में कुंठित हो जाती हैं ॥ ११३ ।

हे सर्वज्ञ ! आप को तो वेदगण भी यथार्थरीति से नहीं जान सके हैं, हे नाथ ! फिर इस संसार में (हम लोगों का) मन भी आदि-अन्त से रहित आप को अपने मनन का विषय नहीं बना सकता ॥ ११४ ।

अत एव हे त्रिलोचन ! आप को बारंबार नमस्कार है । हे त्रिविष्टप ! हम सब (लोग) आप को अनेकशः दण्डवत् प्रणाम करती हैं ॥ ११५ ।

वे सब नागकन्याएँ इसी भाँति स्तुति कहकर भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करने लगीं । तब स्वयं भगवान् शशिभूषण उन सब कुमारियों को उठाकर कहने लगे ॥ ११६ ।

"मन्दारदाम नामक विद्याधर का बेटा परिमलालय तुम लोगों का पति होगा ॥ ११७ ।

तुम लोग बहुत दिनों तक विद्याधरों के लोक में यथेष्ट भोगों का सुख भोगकर तदनन्तर निर्वेद पा जाने पर काशी में परम सिद्धि को प्राप्त करोगी ॥ ११८ ।

यूयं तिस्रोऽपि मे भक्ताः स च विद्याधरो युवा ।
चत्वारोऽप्येत एवाऽत्र प्रान्ते मोक्षमवाप्स्यथ ॥ ११९ ।
जन्मान्तरेऽपि मे सेवा भवतीभिश्च तेन च ।
विहिता तेन वो जन्म निर्मलं भक्तिभावितम् ॥ १२० ।
एतच्च भवती-स्तोत्रं यः पठिष्यति मे पुरः ।
तस्य कामं प्रदास्यामि भवतीनामिव स्फुटम् ॥ १२१ ।
त्यजेत्क्षपाकृतं पापं शुचिः प्रातः पठन्नरः ।
दिवाकृतमलं हन्ति सायं पठनतः स्फुटम् ॥ १२२ ।
इत्युक्तवति देवेशे ताः कन्या हृष्टमानसाः ।
प्रणम्य प्रोचुरीशानं प्रबद्धकरसम्पुटाः ॥ १२३ ।

नागकन्या ऊचुः—

पृच्छामो ब्रूहि नो नाथ करुणाकर शङ्कर ।
जन्मान्तरे कथं सेवा चतुर्भिर्भवतः कृता ॥ १२४ ।

स च भक्त इत्येकवचनं परिणमय्याऽनुषङ्गः ॥ ११९ ।
निर्मलत्वे हेतुः । भक्तिभावितं भक्त्या युक्तमित्यर्थः ॥ १२० ।

तुम तीनों और वह नौजवान विद्याधर ये चारों ही जन यहीं पर अन्त में मोक्ष को पाओगे ॥ ११९ ।

पूर्वजन्म में तुम लोगों ने और उसने भी मेरी बड़ी सेवा की थी, इसीलिये यह जन्म निर्मल और भक्तिभाव से भरा हुआ है ॥ १२० ।

तुम लोगों के कहे हुए इस स्तोत्र का पाठ जो कोई मेरे आगे (सामने सन्निधि में) करेगा, उसके भी मनोरथ को तुम लोगों के समान मैं अवश्य ही पूर्ण कर दूँगा ॥ १२१ ।

जो मनुष्य प्रातःकाल इस स्तोत्र का पाठ करेगा, उसके रात्रि के किये हुए सब पाप दूर हो जावेंगे तथा जो मनुष्य सन्ध्या समय में पाठ करेगा, उसके दिन भर के सब पाप दूर हो जावेंगे" ॥ १२२ ।

भगवान् के इस प्रकार कहने पर वे सब नागकन्याएँ प्रहृष्टमन हो दोनों हाथों को जोड़ प्रणाम कर महादेव से बोलीं ॥ १२३ ।

नागकन्याओं ने कहा—

हे करुणाकर ! नाथ ! शंकर ! हम चारों ने पूर्वजन्म में कैसे आप की सेवा की थी ? ॥ १२४ ।

भव प्राग्भववृत्तान्तं तस्यापि सुकृतात्मनः ।
अस्माकमपि चाख्याहि कृपां कुरु कृपानिधे ॥ १२५ ।
इति श्रुत्वा प्रणयतो बालोदीरितमीशिता ।
प्रोवाच तासां तस्यापि भवान्तरविचेष्टितम् ॥ १२६ ।

ईश्वर उवाच–

शृणुध्वं नागतनयास्तिस्रोऽपि हि समाहिताः ।
प्राग्भवं भवतीनां च तस्याऽपि कथयाम्यहम् ॥ १२७ ।
एषा रत्नावली पूर्वमासीत्पारावती खगी ।
स च विद्याधरवरः पतिरस्याः खगोऽभवत् ॥ १२८ ।
प्रासादेऽत्र ममैताभ्यामुषितं सुचिरं सुखम् ।
रजः प्रासादसंलग्नं नुन्नं पक्षानिलैः पुनः ॥ १२९ ।
उपरिष्टादधस्ताच्च कृता बह्व्यः प्रदक्षिणाः ।
व्योम्ना सञ्चरमाणाभ्यां सञ्चरद्भ्यां ममाऽजिरे ॥ १३० ।

तस्य परिमलालयस्य ॥ १२६ ।
नुन्नं प्रेरितं दूरीकृतमिति यावत् ॥ १२९ ।

एवं हे कृपानिधे ! भव ! देव! उस सुकृती विद्याधर का और हम लोगों के पूर्वजन्म का वृत्तान्त आप कृपा करके कहें ॥ १२५ ।

भगवान् शिव इस प्रकार से उन नागकन्याओं की विनती सुनकर उन सबों के एवं परिमलालय के जन्मान्तर की कथा को कहने लगे ॥ १२६ ।

ईश्वर ने कहा–

हे नागकन्याओं ! मैं तुम तीनों और उस विद्याधर कुमार के पूर्वजन्म का सब वृत्तान्त कहता हूँ, सावधान हो (कर) सुनो ॥ १२७ ।

यह रत्नावली और वह विद्याधर ये दोनों ही पूर्वजन्म में कपोत पक्षी के जोड़े थे ॥ १२८ ।

इन दोनों ने मेरे इसी मन्दिर पर बहुत दिनों तक वास किया और फिर इस शिवालय पर पड़ी हुई धूलि को अपने पंख की वायु से अनेक बार उड़ा दिया था ॥ १२९ ।

आकाश में उड़ते हुए ऊपर से और मन्दिर के आँगन में घूम-घूम कर नीचे से इन दोनों ने मेरी बहुत-सी प्रदक्षिणाएँ कीं ॥ १३० ।

स्नातं चतुर्नदे तीर्थे पीतं तत्राऽम्बु चाऽसकृत् ।
आभ्यां कलरवाभ्यां च कृतः कलरवो मुदे ॥ १३१ ।
एताभ्यां स्थिरचेतोभ्यां मुदिताभ्यामतीव हि ।
दृष्टानि कौतुकान्यत्र मम भक्तैः कृतानि वै ॥ १३२ ।
अमूभ्यां बहुशो दृष्टा मम मङ्गलदीपिकाः ।
पीतं श्रुतिपुटाभ्यां च मम नामाक्षराऽमृतम् ॥ १३३ ।
तिर्यग्योनिप्रभावेण न मृतौ मम सन्निधौ ।
मृतौ पुर्यामयोध्यायां काशीप्राप्तिकृति ध्रुवम् ॥ १३४ ।
अयोध्यानिधनादेषा रत्नदीपसुताऽभवत् ।
पतिः पारावतोऽस्याः स जातो विद्याधराङ्गजः ॥ १३५ ।
एषा प्रभावती नागी नागराजस्य पद्मिनः ।
इह जन्मनि कन्याऽऽसीत्पूर्वजन्म ब्रवीमि वः ॥ १३६ ।
त्रिशिखस्योरगेन्द्रस्य सुता चेयं कलावती ।
एतस्या अपि वृत्तान्तं निशामयत वच्म्यहम् ॥ १३७ ।

चतुर्नदे चतसृणां नदीनां समाहारश्चतुर्नदं तस्मिन् मुदे हर्षाय ममेति शेषः ॥ १३१ ।
काशीप्राप्तिं करोतीति तथा काश्यां काशीप्राप्तिकृति ॥ १३४ ।

बारंबार चतुर्नदतीर्थ में स्नान किया । वहाँ का जल पिया और अपने मधुर ध्वनि से मुझे हर्षित किया ॥ १३१ ।

इन दोनों ने बड़े प्रसन्न और स्थिरचित्त से यहाँ पर मेरे भक्तों के किये हुए बड़े-बड़े कौतुकों को देखा ॥ १३२ ।

एवं मेरे मंगल आर्ति की (मंगला आरती की) शोभा का दर्शन किया और अपने श्रवणपुट से मेरे नामाक्षररूप अमृत का पान किया ॥ १३३ ।

पर (यह सब होने पर भी) तिर्यक् योनि के प्रभाववश मेरे समीप में मृत्यु नहीं हुई । ये दोनों ही काशी में अवश्य पहुँचा देने वाले अयोध्यातीर्थ में जाकर मृत्यु को प्राप्त हुए[1] ॥ १३४ ।

फिर अयोध्या में मृत्यु होने ही से यह तो रत्नदीप नाग की कन्या हुई और इसका पति वह कबूतर विधाधर का पुत्र हुआ है ॥ १३५ ।

नागराज पद्मी की कन्या जो यह प्रभावती नाम से इस जन्म में उत्पन्न हुई है, इसकी एवं त्रिशिर नाम के नागेन्द्र की पुत्री इस कलावती के भी पूर्वजन्म का वृत्तान्त कहता हूँ, सुनती जाओ ॥ १३६-१३७ ।

---

1. विश्वासानुसार अयोध्यातीर्थ में देहत्याग करनेवाले को दूसरे जन्म में काशी प्राप्त होती है ।

भवान्तरे तृतीयेऽतः कन्ये चारायणस्य ह ।
आस्तां महर्षेः शीलाढ्ये प्रेमवत्यौ परस्परम् ॥ १३८ ।
पित्रा चारायणेनाऽपि ताभ्यां सम्प्रेरितेन ते ।
आमुष्यायणपुत्राय दत्ते नारायणाय हि ॥ १३९ ।
अप्राप्तयौवनः सोऽथ समिदाहरणाय वै ।
गतो विधिवशाद्दष्टो दन्दशूकेन कानने ॥ १४० ।
भवानी-गौतमी-नाम्न्यौ ते तु चारायणाङ्गजे ।
वैधव्यदुःखमापन्ने दैन्यग्रस्ते बभूवतुः ॥ १४१ ।
अत एव प्रयत्नेन परिणेता विवर्जयेत् ।
देवतासरिदाह्वानां कन्यां पाणिग्रहे सुधीः ॥ १४२ ।
अथर्षेः कस्यचिद्दैवादाश्रमे परमाद्भुते ।
रम्भाफलान्यदत्तानि मोहाज्जगृहतुस्तदा ॥ १४३ ।

दन्दशूकेन सर्पेण ॥ १४० ।
परिणेता विवाहकर्ता । देवतासरिदाह्वानां देवनदीनाम्नीम् ॥ १४२ ।
रम्भा कदली ॥ १४३ ।

इस जन्म से ती·ा जन्म पहले ये दोनों ही महर्षि (वर) चारायण की बड़ी ही शीलवती और परस्पर प्रेमवती कन्या हुई थीं ॥ १३८ ।

अनन्तर इन्हीं की प्रेरणा से इनके पिता चारायण ऋषि ने इन दोनों ही को अमुष्यायण मुनि के पुत्र नारायण को दान कर दिया ॥ १३९ ।

परन्तु वह ऋषिकुमार जवान होने के पहले ही (किशोरावस्था में) एक बार कहीं वन में समिधा लाने के लिये गया था, दैवात् वहीं पर उसे साँप ने डँस लिया ॥ १४० ।

तब तो ये दोनों ही भवानी और गौतमी नाम्नी चारायण की कन्याएँ वैधव्य का दुःख पाकर बहुत ही दैन्यग्रस्त हो गईं ॥ १४१ ।

तभी से कोई भी बुद्धिमान् जन देवता और नदी के नामवाली कन्या का पाणिग्रहण प्रयत्नपूर्वक नहीं करता है[1] ॥ १४२ ।

फिर इन दोनों ने कुछ दिन के अनन्तर किसी ऋषि के बड़े विचित्र आश्रम में जाकर दैवात् मोह के वश में पड़कर बिना दिये हुए केला का फल ले लिया ॥ १४३ ।

---

1. यह भी पौराणिक लोकास्था है कि 'नदी' या 'देवता' के नामवाली कन्या का पाणिग्रहण प्रयत्नपूर्वक नहीं करना चाहिए ।

कृत्वा मासोपवासादिव्रतानि ब्राह्मणाङ्गजे ।
अवाप्य निधनं कालाच्छाखामृग्यौ बभूवतुः ॥ १४४ ।
फलचौर्यविपाकेन वानरीत्वं तयोरभूत् ।
शीलरक्षणधर्मेण काश्यां जनिमवापतुः ॥ १४५ ।
स च नारायणो विप्रः पितृशुश्रूषणव्रतः ।
दष्टोऽपि दन्दशूकेन काश्यां पारावतोऽभवत् ॥ १४६ ।
एवं भवान्तरे चासीदेतयोः पतिरेष कः[1] ।
तिसृणां भवतीनाञ्च भावी भर्ताऽधुनाऽपि हि ॥ १४७ ।
प्रासादस्याऽस्य पार्श्वे तु न्यग्रोधस्तु महानभूत् ।
तस्मिन् शाखिनि शाखाढ्ये शाखामृग्यौ बभूवतुः ॥ १४८ ।
चतुःस्रोतस्विनीतीर्थे क्रीडया च ममज्जतुः ।
पपतुश्चापि पानीयं तस्मिंस्तीर्थे तृषातुरे ॥ १४९ ।

शाखामृग्यौ वानर्यौ ॥ १४४ ।

ननु मासोपवासादिकृतवत्योस्तयोः कथं शाखामृगीत्वं तत्राह—**फलेति** । विपाकेन फलेन । तर्हि मासोपवासादिना पातिव्रत्यरक्षणे किं कृतं तत्राह—**शीलेति** ॥ १४५ ।

पश्चात् ये ऋषि-कन्याएँ मासोपवास इत्यादि व्रतों को करके कालवश जब मरीं, तो फिर वानरी हो गईं ॥ १४४ ।

यद्यपि फल चुराने के कारण इन दोनों को (पिछले जन्म में) वानरी होना पड़ा, तथापि अपने शीलरक्षणरूप धर्म के बल से काशी में जन्म हुआ ॥ १४५ ।

और वह नारायण नामक ऋषिकुमार पिता के सेवन व्रत करने से साँप के काटने पर भी काशी में (जाकर) कपोत हुआ ॥ १४६ ।

इस प्रकार से यही परिमलालय पूर्वजन्म में भी इन दोनों का पति रह चुका है और अब भी तुम तीनों (जनी) का भर्ता होनेवाला है ॥ १४७ ।

इसी मन्दिर के पास में एक बहुत बड़ा बरगद का पेड़ था, जिसमें बहुतेरी शाखें लगी थीं । उसी पर ये दोनों वानरियाँ रहती थीं ॥ १४८ ।

और क्रीडावश इसी चतुर्नदतीर्थ में डुबकी मारतीं और प्यास लगने पर इसी तीर्थ का पानी भी पीती थीं ॥ १४९ ।

---

1. एष स इति क्वचित्पाठः ।

जातिस्वभावचापल्यात् क्रीडन्त्यौ च प्रदक्षिणम् ।
चक्रतुर्बहुकृत्वश्च लिङ्गं ददृशतुर्बहु ॥ १५० ।
विचरन्त्याविति स्वैरं तत्र न्यग्रोधसन्निधौ ।
केनचिद्योगिवेषेण पाशेन च नियन्त्रिते ॥ १५१ ।
भिक्षार्थं शिक्षिते तेन तदुत्प्लुत्यादिनर्तनम् ।
अथ ते क्वापि मर्कट्यौ कालधर्मवशं गते ॥ १५२ ।
काशीवासजपुण्येन त्रैलोचन्यानुसेवया ।
प्रादक्षिण्यादिरूपिण्या जाते नागसुते इति ॥ १५३ ।
अधुना तं पतिं प्राप्य विद्याधरकुमारकम् ।
निर्विश्य स्वर्गभोगांश्च काश्यां निर्वृतिमेष्यथ ॥ १५४ ।
यदल्पमपि वै काश्यां कृतं कर्म शुभावहम् ।
तस्य मोक्षः परीपाको निश्चितं मदनुग्रहात् ॥ १५५ ।

तदुत्प्लुत्यादि-वानरजातेरुत्फालादि तत्प्रसिद्धमिति वा । **मर्कट्यौ** शाखा-मृग्यौ ॥ १५२ ।

अपने जातिस्वभाव की चंचलता से अनेक बार क्रीड़ा करती हुईं लिंग की प्रदक्षिणा और दर्शन भी कर लेती थीं ॥ १५० ।

एक बार उसी बरगद के पास में ये दोनों घूम रहीं थीं, इसी में एक योगीवेषधारी (मन्दारी) ने फाँस में बाँध लिया ॥ १५१ ।

और इन दोनों ही को उसने नाचना और कूदना, भीख माँगने के लिये सिखाया । फिर कुछ दिन के पश्चात् ये दोनों वानरियाँ मर गईं ॥ १५२ ।

पर काशीवास के पुण्य और त्रिलोचन की प्रदक्षिणा आदि सेवा से ये दोनों ही नागकन्या हुईं ॥ १५३ ।

अब फिर उस विद्याधर कुमार को पति पाकर स्वर्ग के सुखों का अनुभव करती हुईं यह काशी में निर्वाणपद को पावेंगी ॥ १५४ ।

काशी में यदि थोड़ा भी सत्कर्म करते बन पड़े तो उसका फल मेरी कृपा से मोक्ष ही मिलता है ॥ १५५ ।

त्रिलोक्या अपि सर्वस्याः श्रेष्ठा वाराणसी पुरी ।
ततोऽपि लिङ्गमोङ्कारं ततोऽप्यत्र त्रिलोचनम् ॥ १५६ ।
तिष्ठमानोऽत्र लिङ्गेऽहं भक्तमुक्तिं दिशाम्यहम् ।
अतः सर्वप्रयत्नेन काश्यां पूज्यस्त्रिलोचनः ॥ १५७ ।
इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तत्प्रासादान्तराविशद् ।
अवाच्यरूपमासाद्य स्थूलं त्रिभुवनादपि ॥ १५८ ।
ताश्च स्वं स्वं पदं प्राप्य तद्वृत्तान्तमशेषतः ।
स्वमातृपुरतश्चोक्त्वा कृतकृत्या इवाऽभवन् ॥ १५९ ।
एकदा माधवे मासि महायात्रा समागता ।
विद्याधरास्तथा नागा मिलिताः सपरिच्छदाः ॥ १६० ।
विरजस्के महाक्षेत्रे त्रिलोचनसमीपतः ।
देवस्य वरदानाच्च पृष्ट्वाऽन्योन्यं कुलावलीम् ॥ १६१ ।
विद्याधराय ता नागैः कन्यास्तिस्रोऽपि कल्पिताः ।
मन्दारदामा सन्तुष्टः प्राप्य तच्च स्नुषात्रयम् ॥ १६२ ।

अवाच्यं वाङ्मनसयोरगोचरं स्थूलं व्यापकं परिपूर्णमिति यावत् ॥ १५८ ।
कुलावलीं कुलपरम्पराम् ॥ १६१ ।

त्रैलोक्य भर में काशीपुरी से बढ़कर कोई स्थान श्रेष्ठ नहीं है, उसमें भी ओंकारेश्वर सब के प्रधान हैं । पर यह त्रिलोचन का स्थान उससे भी बढ़ा-चढ़ा है ॥ १५६ ।

इस लिंग में सदा वर्तमान रहकर मैं भक्तों को भोग और मोक्ष देता रहता हूँ । अत एव सर्वात्मना काशी में त्रिलोचन की पूजा करनी चाहिए ॥ १५७ ।

यह कहकर भगवान् त्रिलोचन त्रिभुवन भर से बड़े होने पर भी अवाच्यरूप (सूक्ष्मरूप) को धारण कर उसी मन्दिर के भीतर चले गये ॥ १५८ ।

इधर ये सब नागकन्याएँ अपने-अपने घर में पहुँच अपनी माताओं से यह सब वृत्तान्त कहकर मानो कृतकृत्य हो गईं ॥ १५९ ।

फिर एक बार वैशाख मास की महायात्रा आ पहुँची । उसी समय त्रिलोचन के पास विरजस्क महापीठ क्षेत्र में अपने स्वजन गण के साथ समस्त विद्याधर और नागगण वहाँ जुटे थे । सुतरां देव के वरदान से उन लोगों के एक-दूसरे की कुल-परम्परा इत्यादि समझ-बूझ लेने पर ॥ १६०-१६१ ।

नागों ने विद्याधर के पुत्र परिमलालय को उन तीनों ही कन्याओं का दान कर दिया और मन्दारदाम भी उन तीनों पुत्र-वधुओं को पाकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ ॥ १६२ ।

रत्नदीपश्च नागेन्द्रः पद्मी च भुजगेश्वरः ।
त्रिशिखोऽपि फणीन्द्रश्च हृष्टा एते त्रयोऽपि च ॥ १६३ ।
जामातरं समासाद्य शुभं परिमलालयम् ।
अन्योऽन्यं स्वजनास्ते तु मुदा विकसितेक्षणाः ॥ १६४ ।
विवाहोत्सवमाकल्य स्वं स्वं भुवनमाविशन् ।
त्रिलोचनस्य लिङ्गस्य वर्णयन्तोऽतिगौरवम् ॥ १६५ ।
स च विद्याधरः श्रीमान्नागीभिर्विपुलं सुखम् ।
भुक्त्वा वाराणसीं प्राप्य संसेव्याऽथ त्रिलोचनम् ॥ १६६ ।
गायन् गीतं सुमधुरं नागीभिः सहितः कृती ।
आत्मानं चातिसंस्मृत्य मध्येलिङ्गं लयं गतः ॥ १६७ ।

स्कन्द उवाच–

त्रिलोचनस्य महिमा कलौ देवेन गोपितः ।
अतोऽल्पसत्त्वा मनुजा न तल्लिङ्गमुपासते ॥ १६८ ।

अतिगौरवम् अतिमाहात्म्यम् ॥ १६५ ।
मध्येलिङ्गं लिङ्गस्य मध्ये ॥ १६७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ।

यों ही नागराज रत्नदीप, पद्मी और त्रिशिखी भी परिमलालय को सब प्रकार से योग्य जामाता पाकर बड़े ही सन्तुष्ट हुए और दोनों ओर के बन्धु-बान्धवगण भी हर्ष के मारे विकसितनयन हो गये ॥ १६३-१६४ ।

इस प्रकार से उन सबों ने विवाहोत्सव को सम्पन्न कर त्रिलोचन लिंग की महिमा का गान करते हुए अपने-अपने लोकों की यात्रा की ॥ १६५ ।

इसके उपरान्त वह श्रीमान् परिमलालय विधाधर उन तीनों नागकन्याओं के साथ विपुल सुख भोग कर अन्त को काशी धाम में पहुँच श्री त्रिलोचन की सेवा करता हुआ और मधुर गीतों को गाता हुआ उन नागकन्याओं के साथ अपने को भूल जाने पर उसी त्रिलोचन लिंग में लीन हो गया ॥ १६६-१६७ ।

स्कन्द ने कहा–

कलियुग में महादेव ने त्रिलोचन लिंग की महिमा को गुप्त कर रखा है । इसी से अल्प सत्त्ववाले मनुष्य लोग उस लिंग की उपासना नहीं करते ॥ १६८ ।

त्रिलोचनकथामेतां श्रुत्वा पापान्वितोऽप्यहो ।
विपाप्मा जायते मर्त्यो लभते च परां गतिम् ॥ १६९ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे त्रिलोचनप्रभावो
नाम षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ।

अहो ! यह त्रिलोचन की कथा यदि पापी के भी कानों में जा पड़े, तो उसे निष्पाप करके परमगति का लाभ करा सकती है ॥ १६९ ।

दोहा—त्रिपथगामिनी तीर पै, श्री तिरलोचन घाट ।
वहाँ त्रिलोचन हरत हैं, त्रिभुवन के अघठाट ॥ १ ॥
अछय तृतीया पर्व पर, काशी के सब लोक ।
वहाँ नहाय नसावते, अपने दुख अघ शोक ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां
षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ।

●

॥ अथ सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥

पार्वत्युवाच–

नमस्ते देवदेवेश प्रणमत्करुणानिधे ।
वद केदारमाहात्म्यं भक्तानामनुकम्पया ॥ १ ।
तस्मिँल्लिङ्गे महाप्रीतिस्तव काश्यामनुत्तमा ।
तद्भक्ताश्च जना नित्यं देवदेव महाधियः ॥ २ ।

देवदेव उवाच–

शृण्वपर्णेऽभिधास्यामि केदारेश्वरसंकथाम् ।
समाकर्ण्याऽपि यां पापोऽप्यपापो जायते क्षणात् ॥ ३ ।
केदारं यातुकामस्य पुंसो निश्चितचेतसः ।
आजन्मसञ्चितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ ४ ।
गृहाद्विनिर्गते पुंसि केदारमभिनिश्चितम् ।
जन्मद्वयार्जितं पापं शरीरादपि निर्व्रजेत् ॥ ५ ।

अध्याये सप्ततितमे सप्ताधिक उशत्तमम् ।
केदारेशस्य माहात्म्यं वर्ण्यते सर्वकामदम् ॥ १ ।

त्रिसप्ततितमेऽध्याये ओंकारादिचतुर्दशलिङ्गगणनामध्ये ओंकारादीनां षण्णां प्रादुर्भावमाहात्म्ययोः पूर्वमुक्तत्वात् क्रमप्राप्तं केदाराविर्भावमाहात्म्यं प्रणतिपूर्वकं पृच्छति– **नमस्त इति** ॥ १ ।

(श्रीकेदारेश्वर का माहात्म्य)

पार्वती ने कहा–

"हे प्रणतजनदयानिधे ! देवदेवेश ! मैं आप को प्रणाम करती हूँ । आप भक्तों पर कृपा करके केदारेश्वर का माहात्म्य-वर्णन कीजिये ॥ १ ।

क्योंकि काशी में उस लिंग पर आप की बड़ी ही प्रीति है और उसके भक्तलोग भी नित्य ही बड़े बुद्धिमान् होते हैं" ॥ २ ।

महादेव बोले–

हे अपर्णे ! मैं **केदारेश्वर** की कथा कहता हूँ, श्रवण करो, इसके सुनने से पापी भी तुरंत ही निष्पाप हो जाता है ॥ ३ ।

जो पुरुष दृढ़चित्त होकर केदारेश्वर की यात्रा करने की इच्छा करता है, उसके जन्म भर के संचित पाप उसी क्षण में नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ।

और जो कोई केदारयात्रा के लिये घर से निकल पड़ता है, उसके तो दो जन्म के उपार्जित पाप भी शरीर से अवश्य ही निकल भागते हैं ॥ ५ ।

मध्येमार्गं प्रपन्नस्य त्रिजन्मजनितं त्वघम् ।
देहगेहाद्विनिःसृत्य निराशं याति निःश्वसत् ॥ ६ ।

सायं केदार केदार केदारेति त्रिरुच्चरन् ।
गृहेऽपि निवसन्नूनं यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ ७ ।

दृष्ट्वा केदारशिखरं पीत्वा तत्रत्यमम्बु च ।
सप्तजन्मकृतात्पापान्मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥ ८ ।

हरपापह्रदे स्नात्वा केदारेशं प्रपूज्य च ।
कोटिजन्मार्जितैनोभिर्मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥ ९ ।

सकृत्प्रणम्य केदारं हरपापकृतोदकः ।
स्थाप्य लिङ्गं हृदम्भोजे प्रान्ते मोक्षं गमिष्यति ॥ १० ।

मध्येमार्गं मार्गस्य मध्ये ॥ ६ ।

केदारशिखरं केदारेश्वरप्रासादाऽग्रम् । सप्तजन्मकृतात् सप्तजन्मस्वनुष्ठितात् । जन्मजन्मकृतादिति क्वचित् ॥ ८ ।

एनोभिः पापैः ॥ ९ ।

पापं हरतीति हरपापं हरति पापं यत्तद्वा हरपापम् । उभयथाप्यार्षम् ॥ १० ।

एवं जो कोई आधा मार्ग साध लेता है, उसके तीन जन्म के पाप देहरूप गेह से बाहर हो उसाँसें लेते हुए निराश होकर पराय (भाग) जाते हैं ॥ ६ ।

यदि कोई घर में भी रहकर सन्ध्या समय तीन बार केदार का नाम ले लेवे, उसे केदार की यात्रा का फल निश्चय मिल जाता है ॥ ७ ।

केदारनाथ के शिवालय का शिखर देख और वहाँ का जल पीकर सभी कोई अपने सात जन्मों के पापों से छूट जाते हैं । इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ८ ।

हरपापकुंड में स्नान और **केदारेश्वर** के पूजन से तो करोड़ों जन्म के पातक छूट जाते हैं । यह बात निश्चित है ॥ ९ ।

यदि कोई **हरपाप** में स्नानादि-कृत्यों को कर अपने हृदयरूप कमल में **केदारेश्वरलिंग** को रख एक बार भी प्रणाम करे, तो वह अन्त में मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ १० ।

हरपापह्रदे श्राद्धं श्रद्धया यः करिष्यति ।
उद्धृत्य सप्तपुरुषान् स मे लोकं गमिष्यति ॥ ११ ।

पुरा राथन्तरे कल्पे यदभूदत्र तच्छृणु ।
अपर्णे दत्तकर्णा त्वं वर्णयामि तवाऽग्रतः ॥ १२ ।

एको ब्राह्मणदायाद उज्जयिन्या इहाऽऽगतः ।
कृतोपनयनः पित्रा ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ॥ १३ ।

स्थलीं पाशुपतीं काशीं स विलोक्य समन्ततः ।
द्विजैः पाशुपतैः कीर्णां जटामुकुटभूषितैः ॥ १४ ।

कृतलिङ्गसमर्चैश्च भूतिभूषितवर्ष्मभिः ।
भिक्षाहृतान्नसन्तुष्टैः पुष्टैर्गङ्गामृतोदकैः ॥ १५ ।

केदारेश्वरं दिदृक्षूणां मध्येमार्गं मृतानां कैलासे वासो भवत्यस्मिन्नर्थे इतिहासमुत्थापयति— **पुरेति** । राथन्तरे कल्पे रथन्तरनाम्नि ॥ १२ ।

जटा एव मुकुटानि, तैः भूषितैरलङ्कृतैः ॥ १४ ।

भूतिभूषितवर्ष्मभिः विभूतिभूषितदेहैः । भिक्षा माधूकरप्राक्प्रणीताऽयाचिता तात्कालिकोपपन्नरूपा पञ्चविधाः । तदुक्तम्—

माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।
तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ इति ।

असंक्लृप्तमिति माधूकरविशेषणम् । ताभिः कृतानि यान्यन्नानि तैः सन्तुष्टैः ॥ १५ ।

हरपाप ह्रद पर श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करे तो उसके सात पुरुषों का उद्धार हो जाता है एवं वह मनुष्य मेरे लोक में चला जाता है ॥ ११ ।

हे अपर्णे ! पूर्व-रथन्तर कल्प में जो बात यहाँ हुई थी, उसे मैं तुम्हारे आगे प्रकट करता हूँ, कान देकर सुनो ॥ १२ ।

एक ब्राह्मण का लड़का पिता के यज्ञोपवीत कर देने पर ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करके उज्जयिनी से यहाँ (काशीपुरी में) आया ॥ १३ ।

वह जटामुकुट से भूषित, लिंगपूजक, भस्म से लेपित शरीर, भिक्षामात्र के अन्न से सन्तुष्ट, गंगा के जलपान से पुष्ट, पाशुपत ब्राह्मणों से चारों ओर भरी हुई शिवपुरी काशी को देखा ॥ १४-१५ ।

बभूवाऽऽनन्दितमना व्रतं जग्राह चोत्तमम् ।
हिरण्यगर्भादाचार्यान्महत्पाशुपताऽभिधम् ॥ १६ ।
स च शिष्यो वशिष्ठोऽभूत्सर्वपाशुपतोत्तमः ।
स्नात्वा ह्रदे हरपापे नित्यं प्रातः समुत्थितः ॥ १७ ।
विभूत्याऽहरहः स्नाति त्रिकालं लिङ्गमर्चयन् ।
नान्तरं स विजानाति शिवलिङ्गे गुरौ तथा ॥ १८ ।
स द्वादशाब्ददेशीयो वशिष्ठो गुरुणा सह ।
ययौ केदारयात्रार्थं गिरिं गौरीगुरोर्गुरुम् ॥ १९ ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति किञ्चित्संसारिणः क्वचित् ।
प्राश्योदकं लिङ्गरूपं लिङ्गरूपत्वमागताः ॥ २० ।
असिधारं गिरिं पाप्य वशिष्ठस्य तपस्विनः ।
गुरुर्हिरण्यगर्भाख्यः पञ्चत्वमगमत्तदा ॥ २१ ।
पश्यतां तापसानां च विमाने सार्वकामिके ।
आरोप्य तं पारिषदाः कैलासमनयन्मुदा ॥ २२ ।

प्रकृष्टो वशी वशिष्ठ इति यावत् । वसिष्ठ इति वा पाठः ॥ १७ ।

वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और (वहीं पर) आचार्य से उसने परमोत्तम पाशुपतव्रत को ग्रहण किया ॥ १६ ।

उस शिष्य का नाम **वशिष्ठ** था । वह समस्त शैवों में प्रधान हो गया । वह प्रतिदिन प्रातःकाल उठने पर **हरपापकुंड** में नहाता ॥ १७ ।

और नित्य ही भस्म से स्नान कर त्रिकाल लिंग का पूजन करता एवं शिवलिंग और गुरु में कुछ भी अन्तर नहीं समझता था ॥ १८ ।

(एक बार) जब वह बारह वर्ष का था, अपने गुरु के साथ **केदारेश्वर** की यात्रा के लिये हिमालय पर्वत पर गया ॥ १९ ।

जहाँ जाने से संसारियों को कभी कोई भी शोच नहीं करना पड़ता और वहाँ के लिंगरूप जल के पीनें से लोग स्वयं भी लिंगरूप को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २० ।

इसके अनन्तर **वशिष्ठ** के आचार्य तपस्वी **हिरण्यगर्भ** असिधारपर्वत पर पहुँच कर काल के ग्रास हो गये ॥ २१ ।

फिर उनको सब तपस्वियों के देखते ही देखते शिव के पारिषद लोग स्वेच्छाचारी विमान पर चढ़ा कर बड़े हर्ष से कैलास में ले गये ॥ २२ ।

यस्तु केदारमुद्दिश्य गेहादर्धपथेऽप्यहो ।
अकातरस्त्यजेत्प्राणान् कैलासे स चिरं वसेत् ॥ २३ ।
तदाश्चर्यं समालोक्य स वशिष्ठस्तपोधनः ।
केदारमेव लिङ्गेषु बह्वमंस्त सुनिश्चितम् ॥ २४ ।
अथ कृत्वा स केदारीं यात्रां वाराणसीमगात् ।
अग्रहीन्नियमं चापि यथार्थं चाकरोत्पुनः ॥ २५ ।
प्रतिचैत्रं सदा चैत्र्यां यावज्जीवमहं ध्रुवम् ।
विलोकयिष्ये केदारं वसन् वाराणसीं पुरीम् ॥ २६ ।
तेन यात्राः कृताः सम्यक् षष्टिरेकाधिका मुदा ।
आनन्दकानने नित्यं वसता ब्रह्मचारिणा ॥ २७ ।
पुनर्यात्रां स वै चक्रे मधौ निकटवर्तिनि ।
परमोत्साहसन्तुष्टः पलिताकलितोऽप्यलम् ॥ २८ ।
तपोधनैस्तन्निधनं शङ्कमानैर्निवारितः ।
कारुण्यपूर्णहृदयैरन्यैरपि च सङ्गिभिः ॥ २९ ।

(क्योंकि) केदारेश्वर के उद्देश्य से जो कोई यात्रा करता है, वह यदि आधे मार्ग में अकातर रहकर मर जावे, तो बहुत दिनों तक कैलास में वास करता है ॥ २३ ।

उस आश्चर्यकर घटना को देखकर वह तपोधन वशिष्ठ निश्चयरूप से केदार ही को सब लिंगों में बड़ा समझने लगा ॥ २४ ।

पश्चात् वह केदारेश्वर की यात्रा करके फिर काशी में लौट आया और इस नियम को धारण करके यथार्थ रीति से उसका पालन भी करने लगा कि प्रतिवर्ष चैत्र की पूर्णिमा को जब तक मैं जीता रहूँगा, काशी में रहने पर भी केदारेश्वर का दर्शन किया करूँगा ॥ २५-२६ ।

फिर तो आनन्दवन में रहकर उस बाल-ब्रह्मचारी ने सम्यक् प्रकार से **केदारनाथ** की **एकसठ** यात्रा बड़े हर्ष से की ॥ २७ ।

अनन्तर वह तपस्वी बालों के बहुत श्वेत हो जाने पर भी बड़े उत्साह के साथ सन्तुष्टचित्त से फिर चैत्रमास के निकट आने पर यात्रा का प्रबन्ध करने लगा ॥ २८ ।

यह देखकर उसके संगी दूसरे तपस्वी लोग वृद्धता के कारण उसकी मृत्यु के सन्देहवश दयार्द्रचित्त होकर उसे निषेध करने लगे ॥ २९ ।

ततोऽपि न तदुत्साहभङ्गोऽभूद्दृढचेतसः ।
मध्येमार्गं मृतस्यापि गुरोरिव गतिर्मम ॥ ३० ।
इति निश्चितचेतस्के वशिष्ठे तापसे शुचौ ।
अशूद्रान्नपरीपुष्टे तुष्टोऽहं चण्डिकेऽभवम् ॥ ३१ ।
स्वप्ने मया स सम्प्रोक्तो वशिष्ठस्तापसोत्तमः ।
दृढव्रत प्रसन्नोऽस्मि केदारं विद्धि मामिह ॥ ३२ ।
अभीष्टं च वरं मत्तः प्रार्थयस्वाऽविचारितम् ।
इत्युक्तवत्यपि मयि स्वप्नो मिथ्येति सोऽब्रवीत् ॥ ३३ ।
ततोऽपि स मया प्रोक्तः स्वप्नो मिथ्याऽशुचिष्मताम् ।
भवादृशाममिथ्यैव स्वाख्यासदृशवर्तिनाम् ॥ ३४ ।
वरं ब्रूहि प्रसन्नोऽस्मि स्वप्नशङ्कां त्यज द्विज ।
तव सत्त्ववतः किञ्चिन्मयाऽदेयं न किञ्चन ॥ ३५ ।
इत्युक्तं मे समाकर्ण्य वरयामास मामिति ।
शिष्यो हिरण्यगर्भस्य तपस्विजनसत्तमः ॥ ३६ ।

गुरोर्महतः हिरण्यगर्भस्य वा ॥ ३० ।
स्वाख्यासदृशं वर्तितुं शीलं येषां तेषाम् ॥ ३४ ।
सत्त्ववतो धैर्यवतः सात्त्विकस्येति वा ॥ ३५ ।

पर उस दृढ़चित्त शैव का उत्साह नहीं टूटा, उसने सोचा कि, यदि मैं मार्ग ही में मर जाऊँगा, तो भी गुरु की तरह मेरी गति हो जावेगी ॥ ३० ।

हे पार्वति ! इस प्रकार के दृढ़संकल्प और द्विजमात्र के अन्नभोजी उस पवित्र तपोधन पर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ ३१ ।

और स्वप्न में उस तापसोत्तम वशिष्ठ से बोला– हे दृढ़व्रत! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ । तुम मुझको केदारेश्वर जानो ॥ ३२ ।

और जो कुछ तुमको अभीष्ट हो, उस वर की मुझसे प्रार्थना करो, इसमें कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं है । मेरे ऐसा कहने पर भी उसने कहा कि, स्वप्न तो झूठा होता है ॥ ३३ ।

तब फिर मैंने उससे कहा कि, अपवित्र लोगों का ही स्वप्न झूठा होता है, परन्तु तुम्हारे जैसे जितेन्द्रियों का तो सर्वथा सच्चा ही होता है ॥ ३४ ।

हे द्विज ! तुम स्वप्न की शंका को छोड़कर वर माँगो, मैं प्रसन्न हूँ, तुम जैसे सात्त्विक वृत्तिवालों को कुछ भी अदेय नहीं है ॥ ३५ ।

मेरे इस कथन को सुनकर **हिरण्यगर्भ** के शिष्य उस तपस्विसत्तम ने मुझसे यह वरदान माँगा (कि) ॥ ३६ ।

यदि प्रसन्नो देवेश तदा मे सानुगा इमे ।
सर्वे शूलिन्ननुग्राह्या एष एव वरो मम ॥ ३७ ।
देवि तस्येदमाकर्ण्य परोपकृतिशालिनः ।
वचनं नितरां प्रीतस्तथेति तमुवाच ह ॥ ३८ ।
पुनः परोपकरणात्तत्तपो द्विगुणीकृतम् ।
तेन पुण्येन स मया पुनः प्रोक्तो वरं वृणु ॥ ३९ ।
स वशिष्ठो महाप्राज्ञो दृढपाशुपतव्रतः ।
देवि मे प्रार्थयामास स हिमशैलादिह स्थितिम् ॥ ४० ।
ततस्तत्तपसाकृष्टः कलामात्रेण तत्र हि ।
हिमशैले ततश्चात्र सर्वभावेन संस्थितः ॥ ४१ ।
ततः प्रभाते सञ्जाते सर्वेषां पश्यतामहम् ।
हिमाद्रेः प्रस्थितः प्रातः स्तूयमानः सुरर्षिभिः ॥ ४२ ।

मे मम सम्बन्धिनः । सार्थभूता इत्यर्थः ॥ ३७ ।

स वशिष्ठ इत्यारभ्यात्र पूर्वं त्वित्यतः प्राक्तनस्य ग्रन्थस्याऽयं भावः – हरपापं तीर्थं केदाराख्यं लिङ्गं च काश्यां पूर्वमप्यस्त्येव । वशिष्ठवरप्रार्थना तु तत्र कलामात्राव- शेषेणात्र सर्वात्मनावस्थितिरिति । अत एव काशीस्थस्य वशिष्ठस्य पूर्वम् । स्नात्वा ह्रदे हरपापे नित्यं प्रातः समुत्थितः, विभूत्याऽहरहः स्नाति त्रिकालं लिङ्गमर्चयन् । इत्याद्युक्तमुपपन्नतरम् ॥ ४० ।

हे देवेश ! यदि आप प्रसन्न ही हैं, तो मेरे साथ चलने वाले इन सब लोगों पर आप अनुग्रह करें । हे शूलिन् ! (बस) मेरा यही वर है ॥ ३७ ।

हे देवि ! उस परोपकारी **वशिष्ठ** की इस बात को सुनकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ और उससे "तथास्तु" (वैसा ही होगा) कहा ॥ ३८ ।

मैंने परोपकार करने से उसकी तपस्या को दूनी कर दिया और उसी के पुण्याधिक्य से फिर कहा, 'वर माँगो' ॥ ३९ ।

हे उमे ! उस दृढ़ शैवव्रत, महाप्राज्ञ वशिष्ठ ने मुझसे यही प्रार्थना की कि, आप हिमाचल से आकर यहाँ पर वास करें ॥ ४० ।

तदनन्तर मैं उसके तप से आकृष्ट हो तभी से हिमालय पर कलामात्र छोड़ कर इस काशी में सर्वभाव से रहने लगा ॥ ४१ ।

फिर तो प्रभात हो जाने पर सब लोगों के समक्ष ही देवता और ऋषियों की स्तुति के सहित मैंने हिमालय से प्रस्थान किया ॥ ४२ ।

वशिष्ठं पुरतः कृत्वा सर्वसार्थसमायुतम् ।
हरपापह्रदे तीर्थे स्थितोऽहं तदनुग्रहात् ॥ ४३ ।
मत्परिग्रहतः सर्वे हरपापे कृतोदकाः ।
आराध्य मामनेनैव वपुषा सिद्धिमागताः ॥ ४४ ।
तदा प्रभृति लिङ्गेऽस्मिन् स्थितः साधक सिद्धये ।
अविमुक्ते परे क्षेत्रे कलिकाले विशेषतः ॥ ४५ ।
तुषाराद्रिं समारुह्य केदारं वीक्ष्य यत्फलम् ।
तत्फलं सप्तगुणितं काश्यां केदारदर्शने ॥ ४६ ।
गौरीकुण्डं यथा तत्र हंसतीर्थं च निर्मलम् ।
यथा मधुस्रवा गङ्गा काश्यां तदखिलं तथा ॥ ४७ ।
इदं तीर्थं हरपापं सप्तजन्माघनाशनम् ।
गङ्गायां मिलितं पश्चाज्जन्मकोटिकृताघहम् ॥ ४८ ।
अत्र पूर्वं तु काकोलौ युध्यन्तौ खान्निपेततुः ।
पश्यतां तत्र संस्थानां हंसौ भूत्वा विनिर्गतौ ॥ ४९ ।

तत्र हिमाद्रौ केदारे ॥ ४७ ।

गौरीकुण्डं यथा तत्रेत्याद्युक्तं क्रममनादृत्य तद्दर्शयति– **अत्रेति** । काकोलौ द्रोणकाकौ ॥ ४९ ।

समस्त यात्रिवर्ग के साथ **वशिष्ठ** को अग्रसर बना उस पर अनुग्रह करके हरपापह्रद तीर्थ पर निवास किया ॥ ४३ ।

मेरे ही सम्बन्ध से हरपापह्रद में स्नान और मेरा आराधन करके वे सब वशिष्ठ के साथी लोग भी इसी शरीर सें सिद्धि को प्राप्त हो गये ॥ ४४ ।

तभी से मैं अविमुक्त क्षेत्र में विशेष करके कलियुग के समय इसी लिंग में साधक लोगों की सिद्धि के लिये (सर्वदैव) वास करने लगा ॥ ४५ ।

हिमालय पर्वत पर चढ़कर **केदारनाथ** के दर्शन से जो फल मिलता है, काशी में **केदारेश्वर** के दर्शन से उसका सात गुना अधिक पुण्य होता है ॥ ४६ ।

जैसे हिमाचल पर निर्मल **गौरीकुंड, हंसतीर्थ** और **मधुस्रवा** गंगा विराजमान हैं, काशी में भी वे सब ज्यों के त्यों वर्तमान हैं ॥ ४७ ।

यह **हरपापतीर्थ** (पहले तो) सात ही जन्म के पापों को हरता था, पर जब से गंगा में मिल गया, तब से करोड़ों जन्म के किये हुए पापों का नाश कर डालता है ॥ ४८ ।

यहाँ पर पूर्वकाल में दो कौवे लड़ते हुए आकाश से गिर पड़े थे । वे दोनों भी वहाँ वालों के देखते ही देखते हंस होकर निकल गये । इसी से तो यह हंसतीर्थ हुआ ॥ ४९ ।

गौरि त्वया कृतं पूर्वं स्नानमात्रं महाह्रदे ।
गौरीतीर्थं ततः ख्यातं सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम् ॥ ५० ।
अत्राऽमृतस्रवा गङ्गा महामोहान्धकारहृत् ।
अनेकजन्मजनितजाड्यध्वंसविधायिनी ॥ ५१ ।
सरसा मानसेनात्र पूर्वं तप्तं महातपः ।
अतस्तु मानसं तीर्थं जने ख्यातिमिदं गतम् ॥ ५२ ।
अत्र पूर्वं जनः स्नानमात्रेणैव प्रमुच्यते ।
पश्चात्प्रसादितश्चाहं त्रिदशैर्मुक्तिदुर्दशैः ॥ ५३ ।
सर्वे मुक्तिं गमिष्यन्ति यदि देवेह मानवाः ।
केदारकुण्डे सुस्नातास्तदोच्छित्तिर्भविष्यति ॥ ५४ ।
सर्वेषामेव वर्णानामाश्रमाणां च धर्मिणाम् ।
तस्मात्तनुविसर्गेऽत्र मोक्षं दास्यति नान्यथा ॥ ५५ ।

मानसेन सरसा मानससरोऽधिष्ठात्रा । द्विजेनेति क्वचित् । तत्र तन्नाम्ना ब्राह्मणेनेत्यर्थः । अत्र हरपापे । मानसमिति ख्यातिं गतम् । इदं हरपापम् ॥ ५२ ।
मुक्तिदुर्दशैः मनुष्याणां प्राप्यं कैवल्यं द्रष्टुमशक्नुवद्भिः ॥ ५३ ।
तनुविसर्गे तनुत्यागे ॥ ५५ ।

हे गौरि ! इस महाह्रद में सर्वप्रथम तुम्हीं ने स्नान किया था, इस कारण से यह सब तीर्थों में परमोत्तम **गौरीकुंड** के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ५० ।

यहाँ पर गंगा भी मधुस्रवा कहलाती हैं; क्योंकि वह यहाँ महामोहान्धकार को हरती एवं अनेक जन्मजनित जड़ता को दूर करती हैं ॥ ५१ ।

इसी हरपापतीर्थ पर 'मानस-नामक' सरोवर ने पूर्वकाल में बड़ी कठोर तपस्या की थी । इसी से इसको लोग मानसतीर्थ कहने लगे ॥ ५२ ।

पहले तो लोग इस तीर्थ में केवल स्नान ही कर लेने से मुक्त हो जाते थे; पर पीछे से मुक्ति के विषय में दुर्दशाग्रस्त देवताओं ने (आकर) मुझसे प्रार्थना की कि, हे देव ! इस **केदारकुंड** में स्नान करने से यदि सभी लोगों को मुक्ति मिल जाया करेगी, तो फिर सभी वर्ण, आश्रम और धर्मियों का उच्छेद (होकर सृष्टि का लोप) हो जावेगा । इसलिये आप यहाँ पर शरीर त्यागने वालों को ही मुक्ति देवें । अन्यथा मत दिया कीजिये ॥ ५३-५५ ।

ततस्तदुपरोधेन तथेति च मयोदितम् ।
तदारभ्य महादेवि स्नानात्केदारकुण्डतः ॥ ५६ ।
समर्चनाच्च भक्त्या वै मम नामजपादपि ।
नैःश्रेयसीं श्रियं दद्यामन्यत्रापि तनुत्यजाम् ॥ ५७ ।
केदारतीर्थे यः स्नात्वा पिण्डान् दास्यति चात्वरः ।
एकोत्तरशतं वंश्यास्तस्य तीर्णा भवाम्बुधिम् ॥ ५८ ।
भौमवारे यदा दर्शस्तदा यः श्राद्धदो नरः ।
केदारकुण्डमासाद्य गयाश्राद्धेन किं ततः ॥ ५९ ।
केदारं गन्तुकामस्य बुद्धिर्देया नरैरियम् ।
काश्यां स्पृशंस्त्वं केदारं कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ ६० ।
चैत्रकृष्णचतुर्दश्यामुपवासं विधाय च ।
त्रिगण्डूषान् पिबन् प्रातर्हल्लिङ्गमधितिष्ठति ॥ ६१ ।
केदारोदकपानेन यथा तत्र फलं भवेत् ।
तथाऽत्र जायते पुंसां स्त्रीणां चापि न संशयः ॥ ६२ ।

भवाम्बुधिं संसारार्णवम् । भवाम्बुधेरिति च पाठः ॥ ५८ ।

उन लोगों के अनुरोध से मैंने तथास्तु (तो) कह दिया, (पर) हे महादेवि ! तब से **केदारकुंड** में स्नान, भक्ति भाव से मेरा पूजन और नाम के जप करने से अन्यत्र मरनेवालों को भी मैं मोक्षलक्ष्मी का दान करने लगा ॥ ५६-५७ ।

केदारतीर्थ में स्नान कर यदि कोई स्थिरचित्त से पिण्डदान करेगा, तो उसके एक सौ एक पुरुष (पितर) भवार्णव से पार हो जावेंगे ॥ ५८ ।

यदि **भौमवती अमावास्या** में कोई केदारकुंड पर श्राद्ध कर सके, तो फिर उसे गया में श्राद्ध करने का कौन प्रयोजन है ? ॥ ५९ ।

यदि कोई केदार की यात्रा किया चाहता हो तो लोगों को यही बुद्धि देनी चाहिये कि, काशी ही में **केदारेश्वर** का स्पर्श करके तुम कृतकृत्य हो जावोगे ॥ ६० ।

जो कोई चैत्रमास की कृष्ण चतुर्दशी को व्रत रहकर प्रातःकाल यदि तीन घूँट जल (वहाँ पर) पी लेवे, तो उसके हृदय में लिंग का वास हो जाता है ॥ ६१ ।

हिमालय के केदारोदक का पान करने से जो फल होता है, यहाँ पर भी निःसन्देह वही पुण्य स्त्री हो अथवा पुरुष , सभी लोगों को मिल जाता है ॥ ६२ ।

केदारभक्तं सम्पूज्य वासोऽन्नद्रविणादिभिः ।
आजन्मजनितं पापं त्यक्त्वा याति ममालयम् ॥ ६३ ।
आषण्मासं त्रिकालं यः केदारेशं नमस्यति ।
तं नमस्यन्ति सततं लोकपाला यमादयः ॥ ६४ ।
कलौ केदारमाहात्म्यं योऽपि कोऽपि न वेत्स्यति ।
यो वेत्स्यति स पुण्यात्मा सर्वं वेत्स्यति स ध्रुवम् ॥ ६५ ।
केदारेशं सकृद्दृष्ट्वा देवि मेऽनुचरो भवेत् ।
तस्मात्काश्यां प्रयत्नेन केदारेशं विलोकयेत् ॥ ६६ ।
चित्राङ्गदेश्वरं लिङ्गं केदारादुत्तरे शुभम् ।
तस्याऽर्चनान्नरो नित्यं स्वर्गभोगानुपाश्नुते ॥ ६७ ।
केदाराद्दक्षिणे भागे नीलकण्ठविलोकनात् ।
संसारोरगदष्टस्य तस्य नास्ति विषाद्भयम् ॥ ६८ ।

विषाद्दुःखरूपात् ॥ ६८ ।

जो कोई धन, वस्त्र और अन्न इत्यादि के द्वारा केदारेश्वर के भक्त की भी पूजा करता है, वह अपने जन्म भर के पापों से छूटकर मेरे स्थान में प्राप्त होता है ॥ ६३ ।

छह मास पर्यन्त जो कोई प्रतिदिन तीन बार (त्रिकाल में) केदारनाथ को प्रणाम करता है, उसे यमराज आदिक लोकपाल लोग सर्वदैव नमस्कार करते हैं ॥ ६४ ।

कलियुग में सब कोई केदारेश्वर की महिमा को नहीं समझ सकते, पर जो जानता है, वह पुण्यात्मा सब कुछ जान सकता है, यह ध्रुव है ॥ ६५ ।

हे देवि! जो कोई एक बार भी केदारेश्वर का दर्शन कर लेता है, वह मेरा अनुचर होता है । अत एव प्रयत्न करके काशी में केदारनाथ का दर्शन करना चाहिए ॥ ६६ ।

केदारेश्वर के उत्तरभाग में परमोत्तम **त्रिभाण्डेश्वर** नामक लिंग विराजमान है, उसके पूजन से मनुष्य स्वर्ग के नित्यभोगों को पाता है ॥ ६७ ।

केदारेश्वर के दक्षिण भाग में **नीलकण्ठेश्वर** के दर्शन से संसाररूपी सर्प के डँसे हुए लोगों को (दुःखरूप) विष से कोई भय नहीं रहने पाता ॥ ६८ ।

तद्वायव्येऽम्बरीषेशो नरस्तदवलोकनात् ।
गर्भवासं न चाप्नोति संसारे दुःखसङ्कुले ॥ ६९ ।
इन्द्रद्युम्नेश्वरं लिङ्गं तत्समीपे समर्च्य च ।
तेजोमयेन यानेन स स्वर्गभुवि मोदते ॥ ७० ।
तद्दक्षिणे नरो दृष्ट्वा लिङ्गं कालञ्जरेश्वरम् ।
जरां कालं विनिर्जित्य मम लोके वसेच्चिरम् ॥ ७१ ।
दृष्ट्वा क्षेमेश्वरं लिङ्गमुदक् चित्राङ्गदेश्वरात् ।
सर्वत्र क्षेममाप्नोति लोकेऽत्र च परत्र च ॥ ७२ ।

स्कन्द उवाच–

देवदेवेन विन्ध्यारे केदारमहिमा महान् ।
इत्याख्यायि पुराऽम्बायै मया तेऽपि निरूपितः ॥ ७३ ।
केदारेश्वरलिङ्गस्य श्रुत्वोत्पत्तिं कृती नरः ।
शिवलोकमवाप्नोति निष्पापो जायते क्षणात् ॥ ७४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे केदारमहिमाख्यानं नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ।

आख्यायि कथितः ॥ ७३ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ।

उसके वायव्यकोण पर **अंबरीषेश्वर** के दर्शन करने से मनुष्य दुःखमय संसार में गर्भवास की यातना नहीं भोगने पाता ॥ ६९ ।

उसी के पास में **इन्द्रद्युम्नेश्वर** नामक लिंग का पूजन करने से मनुष्य तेजोमय विमान पर चढ़कर स्वर्गलोक में आनन्द करता है ॥ ७० ।

उसके दक्षिण ओर **कालंजेश्वर** नामक लिंग का दर्शन करने से मनुष्य जरा और काल को जीत कर मेरे लोक में बहुत दिनों तक वास करता है ॥ ७१ ।

चित्रांगदेश्वर के उत्तर ओर **क्षेमेश्वर** लिंग के दर्शन करने से सर्वत्र ही अर्थात् इस लोक और परलोक में भी क्षेम ही मिलता है ॥ ७२ ।

स्कन्द ने कहा–

हे विन्ध्यविमर्दक! इस प्रकार से महादेव ने श्रीकेदारेश्वर का बड़ा भारी माहात्म्य जगदम्बा से निरूपण किया था । वह सब मैंने तुमसे कह दिया ॥ ७३ ।

जो मनुष्य केदारेश्वर के प्रकट होने की कथा को श्रवण करता है, वह क्षणमात्र में निष्पाप होकर शिवलोक में चला जाता है ॥ ७४ ।

दोहा– **गौरीकुंड नहाय कै, जो केदारहिं देख ।**
सो मनुष्य निष्पाप है, सब लेखन में लेख ॥ १ ।
शोभन सावन मास में, सोमवार परदोष ।
केदारेश्वर घाट पै, मेला लगत निदोष ॥ २।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ।

●

॥ अथाष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥

पार्वत्युवाच–

आनन्दकानने शम्भो यल्लिङ्गं पुण्यवर्धनम् ।
यन्नामस्मरणादेव महापातकसंक्षयः ॥ १ ।
यत्सेव्यं साधकैर्नित्यं यत्र प्रीतिरनुत्तमा ।
यत्र दत्तं हुतं जप्तं ध्यातं भवति चाऽक्षयम् ॥ २ ।
यस्य संस्मरणादेव यल्लिङ्गस्य विलोकनात् ।
यल्लिङ्गप्रणतेश्चापि यस्य संस्पर्शनादपि ॥ ३ ।
पञ्चामृतादिस्नपनपूर्वाद्यस्यार्चनादपि ।
तल्लिङ्गं कथयेशान भवेच्छ्रेयःपरम्परा ॥ ४ ।

स्कन्द उवाच–

इति देवीसमुदितं समाकर्ण्य घटोद्भव ।
सर्वज्ञेन यथाख्यातं तदाख्यास्यामि ते शृणु ॥ ५ ।

अष्टाधिके महाश्चर्ये श्रोत्रानन्दविधायिनि ।
अध्याये सप्ततितमे धर्मेशमहिमोच्यते ॥ १ ।

विशेषं ज्ञातुं पृच्छति–आनन्देति ॥ १ ।
श्रेयःपरम्परा निरन्तरं श्रेयः ॥ ४ ।
समुदितं सम्यक् पृष्टम् ॥ ५ ।

(धर्मेश्वर लिंग की उत्पत्ति की कथा)

पार्वती बोलीं –

हे शंभो ! आनन्दकानन में ऐसा कौन-सा लिंग है, जो पुण्य का वर्द्धक हो और जिसके नाम का स्मरण करने ही से समस्त महापातकों का क्षय हो जावे ! ॥ १ ।

साधक लोग जिस पर बड़ी प्रीति रखकर सदैव जिसका सेवन करते रहना चाहते हैं और जिसके समीप में किया हुआ दान, ध्यान, जप और होम (इत्यादि) अक्षय हो जाता हो ॥ २ ।

फिर जिस लिंग के स्मरण, दर्शन, स्पर्शन, प्रणाम और पंचामृत स्नपनपूर्वक पूजन करने से असीम कल्याण होता हो । हे ईशान ! आप उस लिंग का वर्णन कीजिए ॥ ३-४ ।

स्कन्द ने कहा–

हे घटज! भगवती के इस प्रश्न को सुनकर सर्वज्ञ भगवान् ने जो कुछ उत्तर दिया था, उसे मैं कहता हूँ, तुम श्रवण करो ॥ ५ ।

देवदेव उवाच–

उमे भवत्या यत्पृष्टं भवबन्धविमोक्षकृत् ।
ततोऽहं कथयिष्यामि लिङ्गं स्थिरमना भव ॥ ६ ।
आनन्दकानने चाऽत्र रहस्यं परमं मम ।
न मया कस्यचित् ख्यातं न प्रष्टुं वेत्ति कश्चन ॥ ७ ।
सन्ति लिङ्गान्यनेकानि ममाऽऽनन्दवने प्रिये ।
परं त्वया यथा पृष्टं यथावत्तद् ब्रवीमि ते ॥ ८ ।
यत्र मुक्तिस्वरूपा त्वं स्वयं तिष्ठसि विश्वगे ।
यत्र ते नन्दनश्चास्ति क्षेत्रविघ्नविघातकृत् ॥ ९ ।
ममाऽपि येन त्रिपुरसमरे जयकाङ्क्षिणः ।
जयाशा पूरिता स्तुत्या बहुमोदकदानतः ॥ १० ।

उमे इति ॥ **उ इति सम्बोध्य तपसे मा इति मात्रा निषिद्धत्वादुमा** । तथा च हरिवंशे –

एका तत्र निराहारा तां माता प्रत्यबोधयत्[1] ।
उमा इति निषेधन्ती मातृस्नेहेन यन्त्रिता ॥
सा तथोक्ता तदा मात्रा देवी दुश्चरचारिणी ।
उमेत्येवाऽभवत्ख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ इति ॥ ॥ ६ ।

यत्रेति सप्तम्यन्तानां पदानां तस्य लिङ्गस्येति सप्तमेनान्वयः । सर्वत्र सामीप्ये सप्तमी । यस्य लिङ्गस्य समीपे इत्यर्थः । स्वयं विश्वभुजाख्या । नन्दनः पुत्र आशाविनायकाख्य इत्यर्थः ॥ ९ ।

महादेव ने कहा–

हे उमे ! हे देवि ! तुमने जो संसार के बन्धन छुड़ानेवाले लिंग को पूछा है, उसे मैं कहता हूँ । स्थिरचित्त हो जावो ॥ ६ ।

(क्योंकि) इस आनन्दवन काशीक्षेत्र में यह मेरा बड़ा भारी रहस्य है और इस बात को (आज तक) मैंने किसी से नहीं कहा है । कारण, इस प्रकार से कोई पूछना ही नहीं जानता ॥ ७ ।

हे प्रिये ! यद्यपि मेरे आनन्दवन में अनेक लिंग वर्तमान हैं, परन्तु तुमने जैसे पूछा है, मैं तुम्हारे अभिप्राय के अनुरूप (वैसा ही लिंग) तुम से कहता हूँ ॥ ८ ।

हे विश्वगे ! जहाँ पर स्वयं तुम्हीं मुक्तिस्वरूपा हो और जहाँ पर तुम्हारे पुत्र भी क्षेत्र के विघ्नों का विघात करते रहते हैं ॥ ९ ।

उन्होंने त्रिपुरासुर के संग्रामकाल में जय की आकांक्षा से बड़ी स्तुति करने और लड्डू चढ़ाने से मेरी भी जयाशा को पूर्ण कर दिया था ॥ १० ।

---

1. प्रत्यषेधयदिति पुस्तकान्तरे ।

यत्राऽस्ति तीर्थमघहृत् पितृप्रीतिविवर्धनम् ।
यत्स्नानाद् वृत्रहा वृत्रवधपापाद्विमुक्तवान् ॥ ११ ॥
धर्माधिकरणं यत्र धर्मराजोऽप्यवाप्तवान् ।
सुदुष्करं तपस्तप्त्वा परमेण समाधिना ॥ १२ ॥
पक्षिणोऽपि हि यत्रापुर्ज्ञानं संसारमोचनम् ।
रम्यो हिरण्मयो यत्र बभूव बहुपादद्रुमः ॥ १३ ॥
यल्लिङ्गदर्शनादेव दुर्दमो नाम पार्थिवः ।
उद्वेजकोऽपि लोकानां क्षणाद्धर्ममतिस्त्वभूत् ॥ १४ ॥
तस्य लिङ्गस्य माहात्म्यमाविर्भावं च सुन्दरि ।
निशामयाऽभिधास्यामि महापातकनाशनम् ॥ १५ ॥
धर्मपीठं तदुद्दिष्टमत्रानन्दवने मम ।
तत्पीठदर्शनादेव नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ १६ ॥
पुरा विवस्वतः पुत्रो यमः परमसंयमी ।
तपस्तताप विपुलं विशालाक्षि तवाऽग्रतः ॥ १७ ॥

धर्मपीठं धर्मस्थानम् । तद्धर्मेशायतनम् ॥ १६ ।
विवस्वतः सूर्यस्य ॥ १७ ।

जहाँ पर पापनाशक और पितरों का प्रीतिवर्धक एक उत्तम तीर्थ है । इन्द्र भी जिसमें स्नान करके वृत्रासुर की हत्या से छूट गये थे ॥ ११ ।

फिर वहाँ पर धर्मराज ने भी समाधि लगाय (लगाकर) बड़ी कठोर तपस्या करके धर्माधिकारी (दंडधर) के पद को पाया है ॥ १२ ।

जहाँ पर पक्षी लोगों ने भी भवमोचक ज्ञान को प्राप्त किया था और जिस स्थान पर एक सुहावना बरगद का पेड़ सुवर्णमय हो चुका है ॥ १३ ।

फिर जिस लिंग के केवल दर्शन करने ही से राजा दुर्दम, जो कि लोगों को उद्वेजित कर (उबिआय) देता था, क्षणमात्र में धर्मबुद्धि बन गया था ॥ १४ ।

हे सुन्दरि ! उसी महापातकनाशक लिंग का माहात्म्य और उसके आविर्भाव का मैं वर्णन करता हूँ, श्रवण करो ॥ १५ ।

मेरे इस आनन्दवन में यह स्थान **धर्मपीठ** के नाम से प्रसिद्ध है और इस पीठ के दर्शन से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है ॥ १६ ।

हे विशालाक्षि ! पूर्वकाल में सूर्यनारायण के पुत्र परमसंयमी यमराज ने (वहीं पर) तुम्हारे सन्मुख ही घोर तपस्या की थी ॥ १७ ।

शिशिरे जलमध्यस्थो वर्षास्वभ्रावकाशकः ।
तपर्तौ पञ्चवह्निस्थः कदाचिदिति तप्तवान् ॥ १८ ।
पादाग्राङ्गुष्ठभूस्पर्शी बहुकालं स तस्थिवान् ।
एकपादस्थितः सोऽपि कदाचिद् बह्वनेहसम् ॥ १९ ।
समीराभ्यवहर्ताऽऽसीद् बहुदिष्टं स दिष्टवान् ।
पपौ स तु पिपासुः सन् कुशाग्रजलविप्रुषः ॥ २० ।
दिव्यां चतुर्युगीमित्थं स निनाय तपश्चरन् ।
चतुर्गुणं दिदृक्षुर्मां परमेण समाधिना ॥ २१ ।
ततोऽहं तस्य तपसा सन्तुष्टः स्थिरचेतसः ।
ययौ तस्मै वरं दातुं शमनाय महात्मने ॥ २२ ।

शिशिरे शिशिरर्तौ । अभ्रावकाशको मेघप्रावरणकः । आसारषाडित्यर्थः । तपर्तौ ग्रीष्मर्तौ । पञ्चवह्निस्थः सूर्येण सार्धं चतुर्दिशमग्निस्थः ॥ १८ ।

बह्वनेहसं बहुकालम् ॥ १९ ।

समीराभ्यवहर्ता वाय्वाहारः । बहुदिष्टमनेककालम् । दिष्टवान् भाग्यवान् । बहुदानं दत्तवानित्यर्थः । विप्रुषः कणान् ॥ २० ।

दिव्यां देवपरिमाणां चतुर्युगीं सत्यत्रेताद्वापरकल्याख्याम् । चतुर्गुणं यथा स्यात्तथा निनाय । चतुर्गुणामिति वा पाठः ॥ २१ ।

शमनाय यमाय ॥ २२ ।

वह शिशिर-ऋतु में जल के बीच में बैठ, वर्षा में अनाच्छादित भाव से रह एवं ग्रीष्मकाल में पंचाग्नि ताप कर, तपस्या करने लगे थे ॥ १८ ।

बहुत दिनों तक तो एक पैर सें खड़ा रहकर फिर पीछे केवल अँगूठे से भूमि को स्पर्श करते हुए वे तपस्या करते रहे ॥ १९ ।

उस भाग्यवान् यम ने बहुत समय तो केवल वायु-भोजन ही से बिता दिया एवं प्यास लगने पर कुशाग्रभाग से टपकनेवाले बूँदों ही को चाटकर काल को काट दिया ॥ २० ।

वे मेरे ही दर्शन के लिये उग्र समाधि लगाकर चारों युगों की चार चौकड़ी तक घोर तपश्चर्या करते रहे ॥ २१ ।

तब तो उस दृढ़चित्त महात्मा धर्मराज की तपस्या से अत्यन्त ही सन्तुष्ट होकर मैं वरदान करने के लिये वहाँ गया ॥ २२ ।

वटः काञ्चनशाखाख्यो यस्तपस्तापसन्ततिम् ।
दूरीचकार सुच्छायो बहुद्विजसमाश्रयः ॥ २३ ॥
मन्दमन्दमरुल्लोलपल्लवैः करपल्लवैः ।
योऽध्वगानध्वसन्तप्तानाह्वयेदिव तापहृत् ॥ २४ ॥
स्वानुरागैः सुरभिभिः स्वादुभिश्च पचेलिमैः ।
प्रीणयेदर्थिसार्थं यो वृत्तैर्निजफलैरलम् ॥ २५ ॥
तदधस्तात् परं वीक्ष्य तमहं तपनाङ्गजम् ।
स्थाणुनिश्चलवर्ष्माणं नासाग्रन्यस्तलोचनम् ॥ २६ ॥
तपस्तेजोभिरुग्रद्भिः परितः परिधीकृतम् ।
भानुमन्तमिवाकाशे सुनीले स्वेन तेजसा ॥ २७ ॥
स्वाख्याङ्कितं महालिङ्गं प्रतिष्ठाप्याऽतिभक्तितः ।
स्वच्छसूर्योपलमयं तेजःपुञ्जैरिवार्चितम् ॥ २८ ॥

तपस्तापसन्ततिं तपोजन्यतापपरम्पराम् । द्विजाः पक्षिणः ॥ २३ ॥

कररूपाः पल्लवाः करपल्लवाः शाखा इत्यर्थः । तैः कथम्भूतैः । मन्दमन्दमरुल्लोलपल्लवैः ईषदीषत्पवनान्दोलितपत्रैः ॥ २४ ॥

स्वानुरागैः स्वीयस्नेहैः । पचेलिमैः पक्वैः । वृत्तैर्वर्तुलैः । वृत्तैरुत्पन्नैरिरिति वा ॥ २५ ॥

तदधस्तात् तस्य वृक्षस्य मूले परन्तपः श्रेष्ठं धर्मराजं वरं ब्रूहीत्यहं प्रत्यवोचमिति चतुर्थेनान्वयः ॥ २६ ॥

परिधीकृतं परिवेषीकृतं मण्डलाकारेणपरिवेष्टितमित्यर्थः । स्वेन सौरेण ॥ २७ ॥

स्वस्याख्या स्वाख्या धर्म इत्येवंरूपा तयाऽङ्कितं चिह्नितं धर्मेश्वरमित्यर्थः । उपलः पाषाणः ॥ २८ ॥

वहाँ पर **कांचनशाख** नामक वट, जो अनेक पक्षियों से भरा और बड़ी छायायुक्त होने से तपस्याजनित सन्तापों को (दूर करता था) ॥ २३ ॥

और जो वट मन्द-मन्द वायु के धक्के से हिलते हुए पल्लवरूपी करपल्लवों के द्वारा मार्गश्रम से नितान्त क्लान्त (थके हुए) पथिकों को (अपनी ठंढी छाया में) विश्राम करने के लिये मानो पुकार रहा था ॥ २४ ॥

और लोग उस पर अनुराग करके उसका आश्रय ग्रहण करते थे । उन अर्थियों को वह अपने गोल-गोल पक्के सुगन्धित और स्वादिष्ट फलों से सन्तुष्ट कर देता था ॥ २५ ॥

उसी बड़े बरगद के नीचे (पहुँचकर) मैंने यमराज को देखा । वह (तो मानो) अत्यन्त नीले आकाशमंडल में अपने तेज से देदीप्यमान सूर्य की तरह फैलते हुए तपस्या के तेज से चारों और परिधि (मंडल) से वेष्टित और बड़ी भक्ति से

साक्षीकृत्येव तल्लिङ्गं तप्यमानं महत्तपः ।
प्रत्यवोचं धर्मराजं वरं ब्रूहीति भास्करे ॥ २९ ।
अलं तप्त्वा महाभाग प्रसन्नोऽस्मि शुभव्रत ।
निशम्य शमनश्चेति दृष्ट्वा मां प्रणनाम ह ॥ ३० ।
चकार स्तवनं चापि परिहृष्टेन्द्रियेश्वरः ।
निर्व्याजं स समाधिं च विसृज्य ब्रध्ननन्दनः ॥ ३१ ।

धर्म उवाच–

नमो नमः कारणकारणानां नमो नमः कारणवर्जिताय ।
नमो नमः कार्यमयाय तुभ्यं नमो नमः कार्यविभिन्नरूप ॥ ३२ ।
अरूपरूपाय समस्तरूपिणे पराणुरूपाय परापराय ।
अपारपाराय पराब्धिपारप्रदाय तुभ्यं शशिमौलये नमः ॥ ३३ ।

परिहृष्टानि इन्द्रियाणि तेषामीश्वरं मनश्च यस्य स परिहृष्टेन्द्रियेश्वरः । निर्व्याजं निष्कपटम् । स धर्मराजः ॥ ३१ ।

पद्यैर्दशभिरुत्कृष्टैः प्रजासंयमनो यमः । तुष्टाव जगदीशानं शङ्करं चन्द्रशेखरम् ॥ कारणानां प्रकृत्यादीनाम् । कार्यमयाय विवर्तरूपप्रपञ्चाधिष्ठानाय ॥ ३२ ।

वस्तुतोऽरूपरूपाय मायया समस्तरूपिणे । पराणुरूपाय परमसूक्ष्माय । परापराय कार्यकारणरूपाय । अपारः पारो यस्य स तथा तस्मै परिपूर्णायेत्यर्थः । पराब्धिपारप्रदाय शत्रुरूपसंसारार्णवनाशायेत्यर्थः ॥ ३३ ।

अपने नामानुसार सूर्यकान्तमणि का महालिंग स्थापित कर मानो तेजपुंज हो से उसको पूजित करता हुआ, उसी लिंग को साक्षी बनाकर स्थाणु की तरह निश्चलदेह होकर और नासा के अग्रभाग पर दृष्टि देकर तपनतनय घोर तपस्या कर रहा था । तब मैंने धर्मराज से कहा– हे भास्करनन्दन ! वर माँगो, हे महाभाग ! अब तपस्या करने का कोई प्रयोजन नहीं है, हे सुव्रत ! मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ, यह सुनकर यमराज ने मेरी ओर ताककर प्रणाम किया ॥ २८-३०।

तदनन्तर परम हृष्टचित्त हो, निष्कपटभाव से समाधिको छोड़ कर भानुनन्दन मेरी स्तुति करने लगे ॥ ३१ ।

धर्मराज कहने लगे–

हे कारणों के भी कारण ! आप को नमस्कार है, हे कारणरहित ! आप को प्रणाम है । हे देव ! आप समस्त कार्यों के स्वरूप होने पर भी कार्यों से पृथक् स्वरूपहीन हैं, पर (माया करके) समस्त रूपों से परिपूर्ण हैं । फिर आप परमाणु स्वरूप हैं, तो भी कार्यकारणरूप हैं, हे अपारपार ! आप ही संसाररूपी घोरसमुद्र के पार पहुँचाने वाले हैं, अत एव आप को नमस्कार करता हूँ ॥ ३२-३३ ।

अनीश्वरस्त्वं जगदीश्वरस्त्वं गुणात्मकस्त्वं गुणवर्जितस्त्वम् ।
कालात्परस्त्वं प्रकृतेः परस्त्वं कालाय कालात्प्रकृते नमस्ते ॥ ३४ ।
त्वमेव निर्वाणपदप्रदोऽसि त्वमेव निर्वाणमनन्तशक्ते ।
त्वमात्मरूपः परमात्मरूपः त्वमन्तरात्माऽसि चराचरस्य ॥ ३५ ।
त्वत्तो जगत्त्वं जगदेव साक्षाज्जगत्त्वदीयं जगदेकबन्धो ।
हर्ताऽविता त्वं प्रथमो विधाता विधातृविष्ण्वीश नमो नमस्ते ॥ ३६ ।
मृडस्त्वमेव श्रुतिवर्त्मगेषु त्वमेव भीमोऽश्रुतिवर्त्मगेषु ।
त्वं शङ्करः सोम सुभक्तिभाजामुग्रोऽसि रुद्र त्वमभक्तिभाजाम् ॥ ३७ ।

अनीश्वरः अधीश्वरः । कालमत्तीति कालात्तथात्वमित्यर्थः, कालात्कालद्वारा प्रकृते कारणेति वा । कालान्तकृत इति पाठे कालस्यान्तं करोतीति कालान्तकृत्, तस्मै ॥ ३४ ।

आत्मरूपो जीवरूपः । अन्तरात्माऽन्तर्यामी ॥ ३५ ।

प्रथमो विधाता स्रष्टा तदनन्तरमविता ततो हर्तेत्यर्थः । विधात्रादिस्वरूपमाह– विधातृविष्ण्वीशेति । विधाता चतुराननः ॥ ३६ ।

मृडः सुखरूपः । भीमो दुर्दर्शो दुःखद इत्यर्थः । शङ्करः कल्याणकरः । **सोम उमया सह वर्तमान** ॥ ३७ ।

हे स्वामिन् ! आप का ईश्वर तो कोई भी नहीं है, पर समग्र जगत् के ईश्वर आप ही हैं, आप गुणात्मक होने पर भी गुणातीत हैं, आप स्वयं कालमूर्ति होकर भी काल और प्रकृति से परे हैं, परन्तु आप ही कालान्तक प्रकृति हैं, अत एव आप को नमस्कार है ॥ ३४ ।

हे अनन्तशक्ते ! आप ही निर्वाण हैं और आप ही निर्वाणपद के दाता हैं, आप ही आत्मा और आप ही परमात्मा के रूप हैं एवं आप ही समस्त चराचर के अन्तरात्मा भी हैं ॥ ३५ ।

हे जगदेकबन्धो ! यह सारा जगत् आप ही से है और आप ही साक्षात् विश्वरूप हैं एवं समस्त संसार आप का ही है; क्योंकि पहले तो इसके स्रष्टा, फिर पालयिता और अन्त में संहर्ता ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप आप ही हैं । अतः आप को बारंबार नमस्कार है ॥ ३६ ।

जो लोग वेदमार्गानुसारी हैं, उनके लिए आप सुखमय मृडस्वरूप हैं और जो लोग वेद के विरुद्ध आचरण करते हैं, उनके लिए आप ही भयंकर भीममूर्ति हो जाते हैं, हे उमासहित ! अपने भक्तों के लिए तो आप शंकर हैं, पर भक्तिहीनों के लिये उग्ररूप हैं, अत एव हे रुद्र ! आप को अनेक बार नमस्कार है ॥ ३७ ।

त्वमेव शूली द्विषतां त्वमेव विनम्रचेतो वचसां शिवोऽसि ।
श्रीकण्ठ एकः स्वपदश्रितानां दुरात्मनां हालहलोग्रकण्ठः ॥ ३८ ।
नमोऽस्तु ते शङ्कर शान्त शम्भो नमोऽस्तु ते चन्द्रकलावतंस ।
नमोऽस्तु तुभ्यं फणिभूषणाय पिनाकपाणेऽन्धकवैरिणे नमः ॥ ३९ ।
स एव धन्यस्तव भक्तिभाग्यस्तवाऽर्चको यः सुकृती स एव ।
तव स्तुतिं यः कुरुते सदैव स स्तूयते दुश्च्यवनादिदेवैः ॥ ४० ।
कस्त्वामिह स्तोतुमनन्तशक्ते शक्नोति मादृग्लघुबुद्धिवैभवः ।
प्राचां न वाचामिह गोचरो यः स्तुतिस्त्वयीयं नतिरेव यावत् ॥ ४१ ।

स्कन्द उवाच–

उदीर्य सूर्यस्य सुतोऽतिभक्त्या नमः शिवायेति समुच्चरन् सः ।
इलामिलन्मौलिरतीव हृष्टः सहस्रकृत्वः प्रणनाम शम्भुम् ॥ ४२ ।

शूली त्रिशूली । शिवः कल्याणरूपः ।हालहलेन विषेण उग्रः कण्ठो यस्य सः ॥ ३८ ।
अवतंसो भूषणम् ॥ ३९ ।
दुश्च्यवनः इन्द्रः । लघुबुद्धिरेव वैभवं यस्य सः । प्राचां प्राचीनानाम् । तस्मिंस्त्वयि यावदिति साकल्यार्थे। साकल्येन या इयं स्तुतिः, सा नतिरेवेत्यर्थः ॥ ४१ ।
इलामिलन्मौलिः पृथिवीस्पृशन्मस्तकः ॥ ४२ ।

हे नाथ ! द्वेषियों के हेतु आप शूलपाणि हैं, परन्तु मनसा-वचसा प्रणतजनों के लिए आप ही शिवरूप हैं, अपने चरणशरणों के विषय में आप एकमात्र श्रीकंठ हैं, पर दुरात्माओं के निमित्त तो आप हलाहल विषधारी उग्र नीलकंठ (स्वरूप) हो जाते हैं ॥ ३८ ।

हे शान्तमूर्ते ! शंकर ! शंभो ! चंद्रकलावतंस ! फणिभूषण ! पिनाकपाणे ! अन्धकरिपो ! आप को कोटिशः नमस्कार है ॥ ३९ ।

हे भगवन् ! जो कोई (इस संसार में) आप की भक्ति अथवा पूजा कर सकता है, वही धन्य और सुकृती होता है एवं जो कोई आप की स्तुति करता है, वह तो इन्द्रादि देवों से भी स्तूयमान हो जाता है ॥ ४० ।

हे असीममहिमन् ! भला मुझ-सा मन्दबुद्धि-सम्पन्न जन आप की स्तुति क्यों कर सकता है; जबकि इस लोक में आप प्राचीन लोगों के भी वचनगोचर नहीं हुए, तो मेरी यह स्तुति तो केवल प्रणतिमात्र हुई है ॥ ४१ ।

स्कन्द ने कहा–

सूर्य के पुत्र यमराज इस प्रकार से स्तुतिगान कर अत्यन्त दृढ़चित्त से '**ॐनमः शिवाय**' कहते हुए बड़ी भक्ति से भूतल में माथा टेककर महादेव को सहस्र बार प्रणाम करते रहे ॥ ४२ ।

ततः शिवस्तं तपसाऽतिखिन्नं निवार्य ताभ्यः प्रणतिभ्य ईश्वरः ।
वरान् ददौ सप्ततुरङ्गसूनवे त्वं धर्मराजो भव नामतोऽपि ॥ ४३ ।
त्वमेव धर्माधिकृतौ समस्तशरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम् ।
मया नियुक्तोऽद्यदिनादिकृत्यः प्रशाधि सर्वान् मम शासनेन ॥ ४४ ।
त्वं दक्षिणायाश्च दिशोऽधिनाथस्त्वं कर्मसाक्षी भव सर्वजन्तोः ।
त्वुद्दर्शिताध्वान इतो व्रजन्तु स्वकर्मयोग्यां गतिमुत्तमाऽधमाः ॥ ४५ ।
त्वया यदेतन्मम भक्तिभाजा लिङ्गं समाराधितमत्र धर्म ।
तद्दर्शनात् स्पर्शनतोऽर्चनाच्च सिद्धिर्भविष्यत्यचिरेण पुंसाम् ॥ ४६ ।
धर्मेश्वरं यः सकृदेव मर्त्यो विलोकयिष्यत्यवदातबुद्धिः ।
स्नात्वा पुरस्तेऽत्र च धर्मतीर्थे न तस्य दूरे पुरुषार्थसिद्धिः ॥ ४७ ।

सप्ततुरङ्गः सूर्यः । नामतोऽपि अपिशब्दार्थतोऽपि ॥ ४३ ।

धर्माधिकृतौ धर्माधिकारे । धर्मेत्युपलक्षणम् । धर्माऽधर्माधिकार इत्यर्थः । अद्यदिनादिकृत्यः । अद्यदिनादौ इदं दिनमारभ्य कृत्यं धर्माऽधर्मादिविचारलक्षणं यस्य सः ॥ ४४ ।

इतो मर्त्यलोकात् ॥ ४५ ।

अवदातबुद्धिर्निर्मलान्तःकरणः ॥ ४७ ।

तब भगवान् शंकर ने तप करने से बड़े ही खिन्न यम को प्रणाम करने से रोक कर वरदान किया कि, तुम्हारा नाम धर्मराज हो ॥ ४३ ।

और आज के दिन से मैं तुमको स्थावर और जंगम समस्त देहधारियों के धर्माधिकार पर नियुक्त करता हूँ, अत एव मेरे आदेश से तुम सब लोगों के धर्म और अधर्म का शासन करो ॥ ४४ ।

एवं दक्षिण दिशा के अधीश्वर होकर तुम समस्त प्राणियों के कर्मसाक्षी बने रहो और तुम्हारे दर्शित मार्ग के अनुसार ही उत्तम और अधम लोग यहाँ से अपनी-अपनी गति को प्राप्त कर सकेंगे ॥ ४५ ।

हे धर्मराज! मेरे परमभक्त तुमने इस काशी में जो इस (**'धर्मेश्वर'**) लिंग की आराधना की है, इसके दर्शन, स्पर्शन और पूजन से लोग थोड़े ही काल में सिद्धिलाभ कर सकेंगे ॥ ४६ ।

जो कोई शुद्धबुद्धि से तुम्हारे सन्मुख इस **धर्मतीर्थ** में नहाकर एक बार भी धर्मेश्वर का दर्शन कर लेगा, उसके लिए चतुर्वर्ग की सिद्धि कुछ दूर नहीं रह जावेगी ॥ ४७ ।

कृत्वाऽप्यघानामिह यः सहस्रं धर्मेश्वरं पश्यति दैवयोगात् ।
सहेत नो जातु स नारकीं व्यथां कथां तदीयां दिवि कुर्वतेऽमराः ॥ ४८ ।
यो धर्मपीठं प्रतिलभ्य काश्यां स्वश्रेयसे नो यततेऽत्र मर्त्यः ।
कथं स धर्म त्वमिवाऽतितेजाः करिष्यति स्वं कृतकृत्यमेव ॥ ४९ ।
त्वया यथाप्ता इह धर्मराज मनोरथास्ते गुरुभिस्तपोभिः ।
तथैव धर्मेश्वरभक्तिभाजां कामाः फलिष्यन्ति न संशयोऽत्र ॥ ५० ।
कृत्वाऽप्यघान्येव महान्त्यपीह धर्मेश्वरार्चां सकृदेव कुर्वन् ।
कुतो बिभेति प्रियबन्धुरेव तव त्वदीयार्चितलिङ्गभक्तः ॥ ५१ ।
पत्रेण पुष्पेण जलेन दूर्वया यो धर्म धर्मेश्वरमर्चयिष्यति ।
समर्चयिष्यन्त्यमृतान्धसस्तं मन्दारमालाभिरतिप्रहृष्टाः ॥ ५२ ।

दैवयोगाद्यदृच्छातः । सहेत प्राप्नुयात् ॥ ४८ ।
हे धर्म ! स्वमात्मानम् । कथम्भूतम्? कृतं कृत्यं येन तं कृतार्थमित्यर्थः ॥४९ ।
त्वदीयं त्वया स्थापितमर्चितमर्थात्त्वया यल्लिङ्गं तद्भक्तः ॥ ५१ ।

यदि कोई सहस्रों पाप करने पर भी दैवयोग से काशी में **धर्मेश्वर** का दर्शन पा जावे, तो उसे कभी नरक का क्लेश नहीं भोगना पड़ेगा, वरन् स्वर्ग में देवता लोग भी उसकी चर्चा करते रहेंगे ॥ ४८ ।

हे धर्म ! जो मनुष्य इस संसार में काशी के **धर्मपीठस्थान** को पाकर भी अपने कल्याण का प्रयत्न नहीं करता, भला वह अपने को तुम-सा तेजस्वी और कृतकृत्य कैसे बना सकेगा ॥ ४९ ।

हे धर्मराज ! यहाँ पर जैसे तुमने अपनी बड़ी तपस्याओं से अपने सब मनोरथों को पूर्ण कर लिया, वैसे ही धर्मेश्वर के भक्तों की सब कामनाएँ निःसन्देह सफल हो जावेंगी ॥ ५० ।

बड़े से बड़े पापों को करके जो कोई यहाँ पर एक बार भी **धर्मेश्वर** का पूजन कर लेगा, वह तुम्हारे पूजित लिंग का भक्त होने से तुम्हारा प्यारा बन्धु बनकर फिर तुमसे क्यों डरेगा ? ॥ ५१ ।

हे धर्म! जो कोई पत्र, पुष्प, दूर्वा और जल इत्यादि से धर्मेश्वर का पूजन करेगा, देवता लोग बड़ी प्रसन्नता के साथ मन्दार की मालाओं से उसकी पूजा करेंगे ॥ ५२ ।

त्वत्तो विभेष्यन्ति कृतैनसो ये भयं न तेषां भविता कदाचित् ।
धर्मेश्वरार्चारचनां करिष्यतां हरिष्यतां बन्धुतया मनस्ते ॥ ५३ ।
यदत्र दास्यन्ति हि धर्मपीठे नरा द्युनद्यां कृतमज्जनाश्च ।
तदक्षयं भावियुगान्तरेऽपि कृतप्रणामास्तव धर्मलिङ्गे ॥ ५४ ।
ये कार्तिके मासि सिताष्टमीतिथौ यात्रां करिष्यन्ति नरा उपोषिताः ।
रात्रौ च वै जागरणं महोत्सवैर्धर्मेश्वरे ते न पुनर्भवा भुवि ॥ ५५ ।
स्तुतिं च ये वै त्वदुदीरितामिमां नराः पठिष्यन्ति तवाऽग्रतः क्वचित् ।
निरैनसस्ते मम लोकगामिनः प्राप्स्यन्ति ते वै भवतः सखित्वम् ॥ ५६ ।
पुनर्वरं ब्रूहि यथेप्सितं ददे तेजोनिधेर्नन्दन धर्मराज ।
अदेयमत्राऽस्ति न किञ्चिदेव ते विधेहि वागुद्यममात्रमेव ॥ ५७ ।

चरिष्यतांमिति पाठे ते मनोऽनुकूलं करिष्यतामित्यर्थः ॥ ५३ ।
युगान्तरेऽपि अपिशब्दात्कल्पान्तरेऽपि ॥ ५४ ।
निरेनसो निष्पापाः ॥ ५६ ।
तेजोनिधेः सूर्यस्य । विधेहि कुरु ॥ ५७ ।

जो लोग पाप करने के कारण तुमसे डरते होंगे, वे सब धर्मेश्वर की अर्चना की रचना कर बन्धुता से तुम्हारे मन को प्रसन्न करके तुमसे कदापि नहीं डरेंगे ॥ ५३ ।

लोग यहाँ पर उत्तरवाहिनी गंगा में स्नान और धर्मेश्वरलिंग को प्रणाम कर इस धर्मपीठ पर जो कुछ दान करेंगे, वह युगान्तर में भी अक्षयफल का दाता होगा ॥ ५४ ।

कार्तिक मास की शुक्ला अष्टमी के दिन व्रत रहकर जो लोग धर्मेश्वर में बड़े उत्सवों के साथ यात्रा और रात्रि में जागरण करेंगे, पृथिवी पर फिर उनका जन्म कभी नहीं होगा ॥ ५५ ।

जो मनुष्य तुम्हारी कही हुई इस स्तुति को तुम्हारे आगे कभी पढ़ेंगे, वे निष्पाप होकर मेरे लोक में जायेंगे और तुम्हारे मित्र होवेंगे ॥ ५६ ।

हे सूर्यनन्दन धर्मराज! तुम्हारे लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं है, अत एव जो कुछ इच्छा हो और भी वर माँग लो, तुमको केवल कह देने भर का ही परिश्रम उठाना पड़ेगा ॥ ५७ ।

प्रसन्नमूर्तिं स विलोक्य शङ्करं कारुण्यपूर्णं स्वमनोरथाभिधम् ।
आनन्दसन्दोहसरो निमग्नो वक्तुं क्षणं नैव शशाक किञ्चित् ॥ ५८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे धर्मेशमहिमाख्यानं नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ।

स्वमनोरथाभिधं स्वमनोरथानभितो ददातीति तम् ।
आनन्दसन्दोह एव सरंस्तस्मिन् मग्नः ॥ ५८ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ।

(स्कन्द ने कहा) यमराज अपने मनोरथपूरक करुणामय भगवान् शंकर को प्रसन्नमूर्ति देख आनन्दरस के सरोवर में डूबकर क्षणमात्र (निःस्तब्ध हो) कुछ भी नहीं बोल सके ॥ ५८ ।

दोहा— **धर्ममूल संसार सब, धर्महि से शुभ कर्म ।**
शुभकर्मन के शर्मफल, करु विचार तजि भर्म ॥ १ ।
पुरुषार्थन में श्रेष्ठ है, धर्महि सो तनु धारि ।
तप कीन्ह्यो धर्मेश हित, कहु को तस अनुहारि ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायाम् अष्टसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७८ ।

॥ अथैकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

आनन्दवाष्पसलिलरुद्धकण्ठं विलोक्य तम् ।
मृडः पस्पर्श पाणिभ्यां सौधाभ्यां तु सुधाम्बुधिः ॥ १ ।
अथ तत्स्पर्शसौख्येन धर्मराजो महातपाः ।
पुनरङ्कुरयामास तपोऽग्निज्वलितां तनुम् ॥ २ ।
ततः प्रोवाच स ब्राध्निर्देवदेवमुमापतिम् ।
प्रसन्नवदनं शान्तं शान्तपारिषदावृतम् ॥ ३ ।
प्रसन्नोऽसि यदीशान सर्वज्ञ करुणानिधे ।
किमन्येन वरेणाऽत्र यत्त्वं साक्षात्कृतो मया ॥ ४ ।

एकेन रहितेऽशीतितमेऽध्याये मनोरमे ।
धर्मेश्वरस्य महिमा वर्ण्यतेऽतिमनोहरः ॥ १ ।
सौधाभ्याममृतसंस्राविभ्याम् ॥ १ ।
अङ्कुरयामास रोहयामास ॥ २ ।
ब्रध्नस्य सूर्यस्य पुत्रो ब्राध्निः ॥ ३ ।

(धर्मेश्वर का उपाख्यान)

स्कन्द ने कहा–

सुधा-सागर भगवान् शंकर ने धर्मराज को आनन्द-वाष्प के जल से रुद्धकंठ देखकर अमृतवर्षी अपने दोनों हाथों से उनको सुहरा दिया (सहला दिया) ॥ १ ।

तब तो वे परमतपस्वी धर्मराज उस स्पर्श के सुख से फिर तपोरूप अग्नि से प्रज्ज्वलित अपने शरीर को अंकुरित (रोमांचित) करने लगे ॥ २ ।

तदनन्तर तपोनन्दन शान्त पारिषदों से घिरे हुए, परम शान्त, प्रसन्नमुख, देवदेव उमापति से बोले ॥ ३ ।

हे सर्वज्ञ! करुणानिधे! ईशान! जब आप प्रसन्न हुए, तभी तो मैं आप का साक्षात्कार कर सका, अब दूसरे वर का कौन प्रयोजन है? ॥ ४ ।

यं न वेदा विदुः सम्यङ् न च तौ वेदपूरुषौ ।
ततोऽपि वरयोग्योऽस्मि तन्नाथ प्रार्थयाम्यहम् ॥ ५ ।

श्रीकण्ठाऽण्डजडिम्भानाममीषां मधुरब्रुवाम् ।
मत्तपश्चिरसाक्षीणां[1] मत्पुरःप्राप्तजन्मनाम् ॥ ६ ।

पितृभ्यांपरिहीनानामितिहासकथाविदाम् ।
त्यक्ताहारविहाराणां कीराणां वरदो भव ॥ ७ ।

एतत्प्रसूतिसमये आमयेन प्रपीडिता ।
शुकी पञ्चत्वमापन्ना शुकः श्येनेन भक्षितः ॥ ८ ।

रक्षितानामनाथानां सदा मन्मुखदर्शिनाम् ।
अनाथनाथ भवता ह्यायुःशेषस्वरूपिणा ॥ ९ ।

वेदपूरुषौ ब्रह्मविष्णू । ततोऽपि साक्षात्कारादेव । तत्तस्मात् । यद्वा ततः साक्षात्कारादपि चेद् वरयोग्योऽहं भवामि तर्हि वरं प्रार्थयामीति ॥ ५ ॥

प्रार्थनामेवाह – **श्रीकण्ठेति** चतुर्भिः । अण्डजडिम्भानां पक्षिबालकानां वरदो भवेति द्वितीयेनान्वयः ॥ ६-७ ।

पितृभ्यां परिहीनानामिति स्पष्टयति – **एतदिति** । आमयेन रोगेण । सामनस्येति पाठे प्रसवसमयोत्पन्नरोगेणेत्यर्थः । पञ्चत्वं मरणम् ॥ ८ ॥

(पर) जिसे न तो वेदों ही ने जाना, न दोनों वेद-पुरुष ब्रह्मा और विष्णु ही समझ सके, उसके निकट मैं वरदान के योग्य ठहरा, तो फिर हे नाथ! मैं (वरप्राप्ति की) प्रार्थना करता हूँ ॥ ५ ।

हे श्रीकण्ठ! इन सब मधुरभाषी, मेरे तप के साक्षी, मेरे आगे के उत्पन्न, माता-पिता से रहित, इतिहास और कथाओं के ज्ञाता, आहार-विहारत्यागी, सुग्गा (तोता) के बच्चों को (कुछ) वरदान कीजिये ॥ ६-७ ।

इन सबों के जनमने ही की वेला में रोग से पीड़ित होकर सुग्गी तो मर गई और सुग्गे को बाज ने खा डाला ॥ ८ ।

अत एव सर्वथा अनाथ होकर मेरा ही मुख ताकनेवाले इन पक्षियों को, हे अनाथनाथ! आप ही ने आयुष्य शेषरूप होकर रक्षित किया था ॥ ९ ।

---

1. दीर्घत्वमार्षम् ।

इति धर्मवचः श्रुत्वा परोपकृतिनिर्मलम् ।
तानाहूय मुने शम्भुर्विनयावनताननान् ॥ १० ॥

उवाच धर्मेऽतिप्रीतः शुकशावानिदं वचः ।
अयि पत्त्ररथा ब्रूत साधवो धर्मसङ्गताः ॥ ११ ॥

को वरो भवतां देयो धर्मेशपरिचारिणाम् ।
साधुसंसर्गसंक्षीणजन्मान्तरमहैनसाम् ॥ १२ ॥

इति श्रुत्वा महेशस्य वचनं ते पतत्त्रिणः ।
प्रोचुः प्रणम्य देवेशं नमस्ते भवनाशन ॥ १३ ॥

पक्षिण ऊचुः –

अनाथनाथ सर्वज्ञ को वरो नः समीहितः ।
इतोऽपि त्र्यक्ष यत्साक्षात्तिर्यक्त्वेऽपि समीक्षिताः ॥ १४ ॥

तर्हि कथं जीवितास्तत्राह – **रक्षितानामिति** । भवता रक्षितानामिति सम्बन्धः । ननु **"नाऽकाले म्रियते कश्चित्प्राप्तकालो न जीवति"** इति न्यायेन आयुःशेषेणैव ते रक्षिता न तु मयेत्याशङ्क्य विशिनष्टि – **आयुःशेषस्वरूपिणेति** ॥ ९-१० ॥

धर्मे यमे । प्रथमान्तपाठे धर्मो धर्मेश्वरः पत्त्ररथाः हे पक्षिणः । यूयं साधवः । धर्मेण धर्मराजेन संङ्गताः ॥ ११ ॥

तिर्यक्त्वेऽपि पक्षित्वेऽपि। समीक्षिताः भवतेति शेषः ॥ १४ ॥

हे महर्षे! महादेव ने धर्मराज के परोपकार से निर्मल इस वचन को सुन, बड़े ही प्रसन्न हो, विनय से नम्रमुख उन सब शुक-शावकों को बुलाकर यह बात कही 'धर्मसंगत साधु पक्षिगण! तुम लोग सत्संग करके अपने जन्मान्तर के सब पापों को क्षीण कर चुके हो और **धर्मेश्वर** के परिचारक हो, अत एव तुम लोगों को कौन-सा वरदान किया जावे' ॥ १०-१२ ।

इस भाँति से महेश्वर के वचन को सुनकर उन सब पक्षियों ने शंकर को प्रणाम करके कहा कि, हे भवनाशन! भव! आप को नमस्कार है ॥ १३ ।

(फिर) वे सब पक्षी कहने लगे– "हे अनाथनाथ! सर्वज्ञ! हम लोग तिर्यग्योनि में रहकर भी जो साक्षात् आप का दर्शन पा रहे हैं, भला इससे बढ़कर और कौन वर है? जिसकी इच्छा करें ॥ १४ ।

लाभाः सन्तूद्यमवतां गिरीशेह परःशताः ।
परं परोऽयं लाभोऽत्र यत्त्वं दृग्गोचरीभवेः ॥ १५ ।
यदेतद्दृश्यते नाथ तत्सर्वं क्षणभङ्गुरम् ।
अभङ्गुरो भवानेकस्त्वत्सपर्याऽप्यभङ्गुरा ॥ १६ ।
विचित्रजन्मकोटीनां स्मृतिर्नोऽत्र परिस्फुरेत् ।
एतत्तपस्विरचितलिङ्गपूजाविलोकनात् ॥ १७ ।
देवयोनिरपि प्राप्ता चिरमस्माभिरीशितः ।
दिव्याङ्गनाः सहस्राणि तत्र भुक्ताः[1] स्वलीलया॥ १८ ।
आसुरी दानवी नागी नैर्ऋती चाऽपि कैन्नरी ।
विद्याधरी च गान्धर्वी योनिरस्माभिरर्जिता ॥ १९ ।
नरत्वे भूपतित्वं च परिप्राप्तमनेकशः ।
जले ज़लचरत्वं च स्थले च स्थलचारिता ॥ २० ।

भवेः भवसि ॥ १५ ।

सपर्या पूजा । अभङ्गुरा अविनाशिफलत्वात् ॥ १६ ।

एतत्तपस्वीत्यत्रैतच्छब्दो **यमपरः** ॥ १७ ।

अनेकजन्मस्मृतीरेव दर्शयन्ति – **देवयोनिरिति** सार्धसप्तभिः । ईशितः ! हे ईश्वर ॥ १८ ।

हे गिरीश! उद्यमशील लोगों के ऐहिक सैकड़ों ही लाभ हो सकते हैं । पर आप जो नयनगोचर हो रहे हैं, यह तो परम लाभ हो रहा है ॥ १५ ।

हे नाथ! यह जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सब क्षणभंगुर ही है । केवल आप और आप की पूजा भर ही अभंगुर है ॥ १६ ।

इस तपस्वी के रचित लिंग की पूजा को देखने से हम लोगों को करोड़ों जन्म की विचित्र स्मरणशक्ति प्रस्फुरित हो रही है ॥ १७ ।

हे ईशान! हम सबों ने देवयोनि भी पाई थी, उस घड़ी लीलानुसार बहुत दिनों तक सहस्रशः दिव्यांगनाओं का भोग भी किया था ॥ १८ ।

असुरयोनि, दानवयोनि, नागयोनि, राक्षसयोनि, किन्नरयोनि, विद्याधरयोनि, और गन्धर्वयोनियों को भी प्राप्त किया था ॥ १९ ।

मनुष्ययोनि में तो अनेक बार राजा भी हुए, जल में जलचर, स्थल पर स्थलचर हुए ॥ २० ।

---

1. भुक्तानि लीलयेति पाठोऽपेक्षित इति भाति ।

वने वनौकसो जाता ग्रामेषु ग्रामवासिनः ।
दातारो याचितारश्च रक्षितारश्च घातुकाः ॥ २१ ।

सुखिनोऽपि वयं जाता दुःखिनो वयमास्म च ।
जेतारश्च वयं जाताः पराजेतार एव च ॥ २२ ।

अधीतिनोऽपि मूर्खाश्च स्वामिनः सेवका अपि ।
चतुर्षु भूतग्रामेषु उत्तमाऽधममध्यमाः ॥ २३ ।

अभूम भूरिशः शम्भो न क्वापि स्थैर्यमागताः ।
इतो योनेस्ततो योनौ ततो योनेस्ततोऽन्यतः ॥ २४ ।

पिनाकिन् क्वापि न प्रापि सुखलेशो मनागपि ।
इदानीं पुण्यसम्भारैर्धर्मेश्वरविलोकनात् ॥ २५ ।

तापनेः सुतपोवह्निज्वालाप्रज्वलितैनसः ।
संवीक्ष्य त्र्यक्ष साक्षात्त्वां कृतकृत्या बभूविम ॥ २६ ।

घातुकाः हिंस्राः ॥ २१ ।

आस्म जाताः ॥ २२ ।

चतुर्षु जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु ॥ २३ ।

मनागपि सुखलेशः अत्यल्पोऽप्यानन्दलवोऽस्माभिर्न लब्ध इति शेषः । **तापनेः** तपनात्मजस्य ॥ २६ ।

वन में वनेचर एवं ग्राम में ग्रामवासी (गँवार) भी बने । दाता, याचक, रक्षक, घातक भी हुए ॥ २१ ।

सुखी, दुःखी, विजयी, पराजयी भी बने ॥ २२ ।

अध्ययनशील, मूर्ख एवं स्वामी और सेवक भी हो चुके । (कहाँ तक कहें) चारों प्रकार के भूतग्रामों में हम सब उत्तम, मध्यम और अधम बहुत कुछ हुए; परन्तु हे शंभो! स्थिरता को कहीं पर भी नहीं पा सके । इस योनि से उस योनि में और उस योनि से फिर दूसरी योनि में चक्कर लगाते रहे ॥ २३-२४ ।

हे पिनाकिन्! किसी योनि में कुछ भी सुख का लेश नहीं प्राप्त कर सके, पर इस घड़ी धर्मेश्वर के दर्शन-जनित पुण्यभार से एवं धर्मराज की तपरूपी अग्नि की ज्वाला से पापों के जल जाने के कारण हे त्र्यक्ष! आप का साक्षात् दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये ॥ २५-२६ ।

तथापि चेद्वरो देयस्तिर्यक्ष्वस्मासु धूर्जटे ।
कृपणेष्वपि शोच्येषु ज्ञानं सर्वज्ञ देहि तत् ॥ २७ ।

येन ज्ञानेन मुक्ताः स्मोऽमुष्मात्संसारबन्धनात् ।
यन्त्रिताः प्राकृतैः पाशैरदुर्भेद्यैश्च मादृशैः ॥ २८ ।

ऐन्द्रं पदं न वाञ्छामो न चान्द्रं नाऽन्यदेव हि ।
वाञ्छामः केवलं मृत्युं काश्यां शम्भोऽपुनर्भवम् ॥ २९ ।

त्वत्सान्निध्याद्विजानीमः सर्वज्ञ सकलं वयम् ।
यथा चन्दनसंसर्गात्सर्वे सुरभयो द्रुमाः ॥ ३० ।

एतदेव परं ज्ञानं संसारोच्छित्तिकारणम् ।
वपुर्विसर्जनं काले यत्तवाऽऽनन्दकानने ॥ ३१ ।

न विद्यते पुनर्भवोऽस्मिंस्तं मृत्युम् ॥ २९ ।

ननु काशीमरणे कैवल्यमिति कुतोऽज्ञायि तत्राहुः— **त्वदिति** ॥ ३० ।

ननु तथापि ज्ञानं देहीति प्रार्थयित्वा काशीमृत्युप्रार्थनमकाण्डताण्डवमत्याशङ्क्याहुः — **एतदेवेति** । वपुर्विसर्जनमिति लाङ्गलं जीवनमितिवत् सामानाधिकरण्यम् ॥ ३१ ।

हे धूर्जटे! तथापि यदि दीन-हीन-शोचनीय हम सब पक्षियों को भी (आप) वर दिया चाहते हैं, तो हे सर्वज्ञ! वह ज्ञान-दान कीजिये जिस ज्ञान के द्वारा मेरे ऐसे प्राणियों से दुर्भेद्य और प्रकृति के पाश में नियन्त्रित हम लोग भी इस बन्धन से छूट जावें ॥ २७-२८ ।

हम लोग न तो इन्द्रासन ही चाहते हैं, न चन्द्रमा ही के अधिकार की वांछा रखते हैं, न दूसरे ही किसी पद की इच्छा करते हैं । हे शंभो! यदि कुछ चाहते हैं, तो केवल काशी में मृत्यु, जिससे फिर जन्म नहीं लेना पड़े ॥ २९ ।

हे सर्वज्ञ ! आप ही के सान्निध्य से हम लोग भी सब कुछ समझ सकते हैं । जैसे चन्दन के संसर्ग से सभी वृक्ष परिपूर्ण हो जाते हैं (वैसे हम भी ज्ञानवान् हो गए हैं) ॥ ३० ।

यही परमज्ञान संसार का उच्छेदक है, आप के आनन्दवन में कालानुसार शरीर का त्याग हो जावे (वही परम ज्ञान है) ॥ ३१ ।

निर्मथ्य विष्वग्वाग्जालं सारभूतमिदं परम् ।
ब्रह्मणोदीरितं पूर्वं काश्यां मुक्तिस्तनुत्यजाम् ॥ ३२ ।
यद्वाच्यं बहुभिर्ग्रन्थैस्तद्दृष्टाभिरिहाक्षरैः ।
हरिणोक्तं रविपुरः कैवल्यं काशिसंस्थितौ ॥ ३३ ।
याज्ञवल्क्यो मुनिवरः प्रोक्तवान् मुनिसंसदि ।
रवेरधीत्य निगमान् काश्यामन्ते परं पदम् ॥ ३४ ।
स्वामिनाऽपि जगद्धात्री पुरतो मन्दराचले ।
इदमेव पुरा प्रोक्तं काशीनिर्वाणजन्मभूः ॥ ३५ ।
कृष्णद्वैपायनोऽप्येवं शम्भो वक्ष्यति नान्यथा ।
यत्र विश्वेश्वरः साक्षान्मुक्तिस्तत्र पदे पदे ॥ ३६ ।
वदन्त्यन्येऽपि मुनयस्तीर्थसंन्यासकारिणः ।
चिरन्तना लोमशाद्याः काशिका मुक्तिकाशिका ॥ ३७ ।

काश्यां मृतौ ज्ञानद्वारा मुक्तिरित्यत्रेश्वराणां मुनीनां च सम्मतिमाहुः – **निर्मथ्येति** ॥ ३२ ।

समस्त वाग्जाल को मथकर परम सारभूत इसी बात को पहले ब्रह्मा ने कहा था कि, "काशी में देहत्याग करनेवालों को मुक्ति मिलती है" ॥ ३२ ।

जो बात बहुत से ग्रन्थों में कहने योग्य है, उसी को भगवान् हरि ने सूर्यदेव से आठ ही अक्षरों में कहा था कि, "कैवल्यं काशिसंस्थितौ" अर्थात् केवल काशी में मरने ही से कैवल्य मिलता है ॥ ३३ ।

मुनिराज याज्ञवल्क्य ने भी सूर्यनारायण से समस्त वेदों को पढ़कर ऋषि-समाज में यही कहा था कि, "काशी में अन्तकाल होने ही से परमपद प्राप्त होता है" ॥ ३४ ।

पूर्वकाल में (एक बार) स्वामी ने भी मन्दराचल पर जगदम्बा के आगे कहा था कि, "काशी ही निर्वाण की जन्मभूमि है" ॥ ३५ ।

हे शंभो! कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) भी यही बात कहेंगे । "जहाँ पर साक्षात् विश्वेश्वर विराजमान हैं, वहाँ तो पद-पद पर मुक्ति हो सकती है, इसमें कुछ अन्यथा नहीं है" ॥ ३६ ।

तीर्थसंन्यासकारी लोमश इत्यादि अन्यान्य प्राचीन ऋषिलोग भी यही कहते हैं कि, "काशी ही मोक्ष की प्रकाशिका है" ॥ ३७ ।

वयमप्येवं जानीमो यत्र स्वर्गतरङ्गिणी ।
आनन्दकानने शम्भोर्मोक्षस्तत्रैव निश्चितम् ॥ ३८ ।
भूतं भावि भविष्यं यत्स्वर्गे मर्त्ये रसातले ।
तत्सर्वमेव जानीमो धर्मेशाऽनुग्रहात्परात् ॥ ३९ ।
अतो हिरण्यगर्भोक्तं हरिप्रोक्तं मुनीरितम् ।
भवतोक्तं च निखिलं शम्भो जानीमहे वयम् ॥ ४० ।
करामलकवत्सर्वमेतद् ब्रह्माण्डगोलकम् ।
अस्मद्वाग्गोचरेऽस्त्येव धर्मपीठनिषेवणात् ॥ ४१ ।
धर्मराजस्य तपसा तिर्यञ्चोऽपि वयं विभो ।
जाताः स्म निर्विकल्पं हि सर्वज्ञानस्य भाजनम् ॥ ४२ ।
मधुरं मृदुलं सत्यं स्वप्रमाणं सुसंस्कृतम् ।
हितं मितं सदृष्टान्तं श्रुत्वा पक्षिसुभाषितम् ॥ ४३ ।

ननु तिरश्चामेतादृशं ज्ञानं कथमित्याशङ्क्य त्वत्सान्निध्यादित्यादिनोक्तं सहेतुकं ज्ञानं स्पष्टयन्ति – **भूतमिति** ॥ ३९ ।

स्वप्रमाणं स्वानुभवैकगोचरम् ॥ ४३ ।

और हम लोग भी यही समझते हैं कि जहाँ पर स्वर्गतरंगिणी गंगा बह रही हैं, उस महादेव के आनन्दकानन में ही मोक्ष निश्चित है ॥ ३८ ।

सवैया–**कमलासन औ कमलापतिजू, मुनि याग्यवल्क्य यहई कहि साख्यो ।**
पुनि आपहु मंदरपर्वत पै, जगदम्ब से मुक्ति मही वहि भाख्यो ॥
कहिहैं यह व्यासहु लोमश आदिक, हैं कहते हम लोग सुराख्यो ।
जहँ गंग बहै वहि शंभुपुरी, तन त्याग किये सब मुक्तिहि चाख्यो ॥ ३८ ।

(इन्हीं) धर्मेश्वर के परम अनुग्रह से हमलोग स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में, भूत, भविष्य एवं वर्तमान जो कुछ होता है, वह सब जान जाते हैं ॥ ३९ ।

हे शंकर! इसी कारण से, ब्रह्मा का कहा, विष्णु का उक्त, मुनियों का भाषित एवं आप का भी कथित, सब कुछ हम लोग जान सके हैं ॥ ४० ।

इसी धर्मपीठ के सेवन से ये समग्र ब्रह्माण्ड-मंडल करतलगत आमलक (आँवला) फल के समान हम सबों के जिह्वाग्र भाग पर बना रहता है ॥ ४१ ।

हे विभो! धर्मराज के ही तपःप्रभाव से हम लोग तिर्यग्योनि होने पर भी विकल्परहित समस्त ज्ञान के पात्र हो गये हैं" ॥ ४२ ।

देवदेव ने इस प्रकार से मधुर, मृदुल, सत्य, हित, मित, सुसंस्कृत, दृष्टान्तपूर्ण और अनुभवसिद्ध उन पक्षियों का वचन सुना ॥ ४३ ।

देवोऽतिविस्मयापन्नोऽवर्णयत्पीठगौरवम् ।
त्रैलोक्यनगरे चात्र काशी राजगृहं मम ॥ ४४ ।
तत्रापि भोगभवनमनर्घ्यमणिनिर्मितम् ।
मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यः प्रासादो मेऽतिशर्मभूः ॥ ४५ ।
पतत्त्रिणोऽपि मुच्यन्ते यं कुर्वाणाः प्रदक्षिणम् ।
स्वेच्छया विचरन्तः खे खेचरा अपि देवताः ॥ ४६ ।
मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यप्रासादस्य विलोकनात् ।
शरीराद्दूरतो याति ब्रह्महत्याऽपि नान्यथा ॥ ४७ ।
मोक्षलक्ष्मीविलासस्य कलशो यैर्निरीक्षितः ।
निधानकलशास्तांस्तु न मुञ्चन्ति पदे पदे ॥ ४८ ।
दूरतोऽपि पताकाऽपि मम प्रासादमूर्धगा ।
नेत्रातिथीकृता यैस्तु नित्यं तेऽतिथयो मम ॥ ४९ ।

पीठगौरवं स्थानमाहात्म्यम् ॥ ४४ ।
नेत्रातिथीकृता चक्षुर्विषयीकृता ॥ ४९ ।

वे अत्यंत ही विस्मित होकर उस धर्मपीठ की बड़ाई करने लगे, इस त्रैलोक्यरूपी नगर में यह काशी ही मेरा राजमन्दिर है ॥ ४४ ।

उसमें भी **मोक्षलक्ष्मीविलास** नामक परममंगलमय प्रासाद, बहुत मूल्य के मणियों से निर्मित मेरा भोग-भवन है ॥ ४५ ।

स्वेच्छानुसार आकाश में विचरण करते हुए पक्षी लोग भी (दैवात्) उस प्रासाद की प्रदक्षिणा कर जाने से विमानचारी देवता हो जाते हैं ॥ ४६ ।

मोक्षलक्ष्मीविलास नामक मन्दिर के दर्शन करने से ब्रह्महत्या भी शरीर से दूर चली जाती है, इसमें अन्यथा नहीं है ॥ ४७ ।

जो लोग **मोक्षलक्ष्मीविलास** नामक मन्दिर के ऊपर का कलश भी देख लेते हैं, उन लोगों को निधियों के कलसे पग-पग पर भी नहीं छोड़ सकते हैं ॥ ४८ ।

इस मन्दिर के शिखर की पताका को भी जो लोग दूर ही से देख लेते हैं, वे सदा के लिये मेरे पाहुने (अतिथि) बन जाते हैं ॥ ४९ ।

भूमिं भित्त्वा स्वयं जातस्तत्प्रासादमिषेण हि ।
आनन्दाख्यस्य कन्दस्य कोऽप्येष परमोऽङ्कुरः ॥ ५० ।
ब्रह्मादिस्थावरान्तानि यत्र रूपाण्यनेकशः ।
मामेवोपासते नित्यं चित्रं चित्रगतान्यपि ॥ ५१ ।
स सौधो मेऽखिले लोके स्थानं परमनिर्वृतेः ।
रतिशाला स मे रम्या स मे विश्वासभूमिका ॥ ५२ ।
मम सर्वगतस्यापि प्रासादोऽयं परास्पदम् ।
परं ब्रह्म यदाम्नातं परमोपनिषद्गिरा ॥
अमूर्तं तदहं मूर्तो भूयां भक्तकृपावशात् ॥ ५३ ।
नैःश्रेयस्याः श्रियो धाम तद्याम्यां मण्डपोऽस्ति मे ।
तत्राऽहं सततं तिष्ठेत्तत्सदोमण्डपं मम ॥ ५४ ।

कन्दस्य मूलस्य ॥ ५० ।

स प्रासादः । सौधो दत्तचूर्णः । प्रासादोद इति पाठे षण्ढत्वमार्षम् ॥ ५२ ।

ननु परिच्छिन्नस्य मूर्तस्यैव प्रासादो घटते, तद्विपरीतस्य तव कथं स इत्यत आह– **परमिति** ॥ ५३ ।

तद्याम्यां तस्य प्रासादस्य याम्यां दक्षिणस्यां दिशि । **सदोमण्डपं सभास्थानम्** ॥ ५४ ।

उस प्रासाद के व्याज से भूमि को भेद कर आनन्द नामक कन्द का यह अपूर्व परम अंकुर स्वयं उग आया है ॥ ५० ।

कैसी आश्चर्यमयी बात है कि, ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक अनेक चित्रस्थित रूप भी सर्वदा मेरी ही उपासना करते रहते हैं ॥ ५१ ।

वही प्रासाद समस्त लोक में मेरे आनन्द का स्थान है और वही मेरी रम्य रतिशाला और विश्वास-भूमिका है ॥ ५२ ।

यद्यपि मैं सर्वव्यापक हूँ । पर यह मन्दिर मेरा बड़ा ही प्रधान स्थान हैं । उपनिषद् के वाक्यों से जो निराकार परम ब्रह्म कहा जाता है, वही निराकार मैं भक्तों पर अनुकंपा करके साकार हो जाता हूँ ॥ ५३ ।

मोक्षलक्ष्मीविलास-मन्दिर के दक्षिण भाग में निःश्रेयस लक्ष्मी का धाम मेरा सभा-मंडप है, जहाँ मैं सदैव निवास करता हूँ ॥ ५४ ।

निमेषार्धप्रमाणं च कालं तिष्ठति निश्चलः ।
तत्र यस्तेन वै योगः समभ्यस्तः समाः शतम् ॥ ५५ ।
निर्वाणमण्डपं नाम तत्स्थानं जगतीतले ।
तत्रर्चं सञ्जपन्नेकां लभेत्सर्वश्रुतेः फलम् ॥ ५६ ।
प्राणायामं तु यः कुर्यादप्येकं मुक्तिमण्डपे ।
तेनाऽष्टाङ्गः समभ्यस्तो योगोऽन्यत्राऽयुतं समाः ॥ ५७ ।
निर्वाणमण्डपे यस्तु जपेदेकं षडक्षरम् ।
कोटिरुद्रेण जप्तेन यत्फलं तस्य तद्भवेत् ॥ ५८ ।
शुचिर्गङ्गाऽम्भसि स्नातो यो जपेच्छतरुद्रियम् ।
निर्वाणमण्डपे ज्ञेयः स रुद्रो द्विजवेषभृत् ॥ ५९ ।
ब्रह्मयज्ञं सकृत्कृत्वा मम दक्षिणमण्डपे ।
ब्रह्मलोकमवाप्याऽथ परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ६० ।

अष्टौ अङ्गानि यमनियमासनप्राणसंरोधप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिलक्षणानि यस्य सः ॥ ५७ ।

षडक्षरं 'ओं नमः शिवाये'ति मन्त्रम् ॥ ५८ ।

ब्रह्मयज्ञं तत्त्वज्ञानोपदेशं वेदपाठं वा ॥ ६० ।

वहाँ पर जो कोई आधा निमेष भी स्थिरचित्त होकर बैठ जाता है, उसे सौ वर्ष पर्यन्त योगाभ्यास करने का फल प्राप्त होता है ॥ ५५ ।

वह स्थान भूमंडल पर **मुक्तिमंडप** नाम से प्रसिद्ध है । वहाँ पर एक भी ऋचा पढ़ने से समस्त वेदाध्ययन का फल मिलता है ॥ ५६ ।

उस मुक्तिमंडप में जिसने एक भी प्राणायाम किया, उसे अन्यत्र दश सहस्र वर्ष अष्टांग योगाभ्यास करने का पुण्य प्राप्त होता है ॥ ५७ ।

जो कोई मुक्तिमंडप में शिव का एक बार भी षडक्षर मंत्र[1] जपता है, उसे एक करोड़ रुद्रिय जप करने का फल प्राप्त होता है ॥ ५८ ।

गंगा के जल में स्नान कर पवित्र हो जो कोई शतरुद्रिय को मुक्तिमंडप में जपे, उसे द्विजवेषधारी रुद्र ही समझना चाहिए ॥ ५९ ।

जो कोई मेरे दक्षिणमंडप में एक बार भी ब्रह्मयज्ञ को कर लेता है, वह ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर परब्रह्म का लाभ करता है ॥ ६० ।

---

1. शिव का पञ्चाक्षर मंत्र है – 'नमः शिवाय' और षडक्षर शिवका मन्त्र है– 'ॐ नमः शिवाय' ।

धर्मशास्त्रं पुराणानि सेतिहासानि तत्र यः ।
पठेन्निरभिलाषुः सन् स वसेन्मम वेश्मनि ॥ ६१ ।
तिष्ठेदिन्द्रियचापल्यं यो निवार्य क्षणं कृती ।
निर्वाणमण्डपेऽन्यत्र तेन तप्तं महत्तपः ॥ ६२ ।
वायुभक्षणतोऽन्यत्र यत्पुण्यं शरदां शतम् ।
तत्पुण्यं घटिकार्धेन मौनं दक्षिणमण्डपे ॥ ६३ ।
मितं कृष्णलकेनाऽपि यो दद्यान्मुक्तिमण्डपे ।
स्वर्णं सौवर्णयानेन स तु सञ्चरते दिवि ॥ ६४ ।
तत्रैकं जागरं कुर्याद्यस्मिन्कस्मिन् दिनेऽपि यः ।
उपोषितोऽर्चयेल्लिङ्गं स सर्वव्रतपुण्यभाक् ॥ ६५ ।
तत्र दत्वा महादानं तत्र कृत्वा महाव्रतम् ।
तत्राऽधीत्याऽखिलं वेदं च्यवते न नरो दिवः ॥ ६६ ।

मौनं मौनात् । कृत्वेति शेषो वा ॥ ६३ ।
कृष्णलकेन रक्तिकापरिमाणेन ॥ ६४ ।

वहाँ पर निष्काम होकर जो कोई धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराणों को पढ़ता है, वह मेरे घर में वास करता है ॥ ६१ ।

जो पुण्यप्राणी इन्द्रियों की चंचलता को रोककर क्षणमात्र भी मुक्तिमंडप में बैठता है, उसे दूसरे स्थान पर बड़ी तपस्या करने का फल मिलता है ॥ ६२ ।

अन्यत्र सौ वर्ष वायुभक्षण से जो पुण्य होता है, मुक्तिमंडप में आधी घड़ी मौन हो रहने से भी वही फल प्राप्त होता है ॥ ६३ ।

जो कोई मुक्तिमंडप में एक घुँघुची भर (रत्ती भर) भी सुवर्ण दान करता है, वह स्वर्ग में सुवर्ण के विमान पर चढ़कर भ्रमण करता है ॥ ६४ ।

जो कोई वहाँ पर चाहे कोई भी दिन हो, व्रत रहकर जागरण करे और लिंग का पूजन करे, तो वह समस्त व्रतों के पुण्य का भागी होता है ॥ ६५ ।

वहाँ पर बड़े भारी दान करने, महाव्रत के धारण करने और समस्त वेदों का पाठ करने से मनुष्य स्वर्ग से पतित नहीं होता ॥ ६६ ।

प्रयाणं कुर्वते यस्य प्राणा मे मुक्तिमण्डपे ।
स मामनुप्रविष्टोऽत्र तिष्ठेद्यावदहं खलु ॥ ६७ ।
जलक्रीडां सदा कुर्यां ज्ञानवाप्यां सहोमया ।
यदम्बुपानमात्रेण ज्ञानं जायेत निर्मलम् ॥ ६८ ।
तज्जलक्रीडनस्थानं मम प्रीतिकरं महत् ।
अमुष्मिन् राजसदने जाड्यहृज्जलपूरितम् ॥ ६९ ।
तत्प्रासादपुरोभागे मम शृङ्गारमण्डपः ।
श्रीपीठं तद्धि विज्ञेयं निःश्रीकश्रीसमर्पणम् ॥ ७० ।
मदर्थं तत्र यो दद्याद्दुकूलानि शुचीन्यहो ।
माल्यानि सुविचित्राणि यक्षकर्दमवन्ति च ॥ ७१ ।
नानानेपथ्यवस्तूनि पूजोपकरणान्यपि ।
स श्रियाऽलङ्कृतस्तिष्ठेद्यत्र कुत्रापि सत्तमः ॥ ७२ ।

तत्प्रसादपुरोभाग इति । स चासौ प्रासादश्चेति तत्प्रासादो मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यस्तस्य पुरोभागेऽग्रभागे भैरवप्रदेशे पश्चिमायां दिशि इत्येतत् । पूर्वदिग्भागे ज्ञानमण्डपस्योक्तत्वात् । शृङ्गारमण्डपं प्राप्य यच्चकार वदामि तत् । प्राङ्मुखस्तूपविश्येश इति वक्ष्यमाणत्वाच्च शृङ्गारमण्डपोऽलङ्कारस्थानम् ॥ ७० ।

नेपथ्यं भूषणम् ॥ ७२ ।

जिसका प्राण इस मुक्तिमंडप में निकल जाता है, वह मुझमें लीनहोकर यहाँ पर जब तक मैं रहूँगा, बना रहेगा ॥ ६७ ।

मैं उमादेवी के साथ ज्ञानवापी में सदैव जलक्रीड़ा करता हूँ । उसमें जलपान करने से ही निर्मल ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ६८ ।

मेरे इस राजभवन में वह जलक्रीड़ा का स्थान मुझे बहुत ही प्यारा है और जड़ता हरनेवाले जल से भरपूर रहता है ॥ ६९ ।

उस प्रासाद के अग्रभाग में मेरा **शृंगारमंडप** है, उसी को **श्रीपीठ** भी समझना चाहिए; क्योंकि वह श्रीहीन लोगों को भी श्रीमान् बना देता है ॥ ७० ।

उस स्थान पर जो कोई मेरे लिए निर्मल वस्त्र, परमविचित्र मालाएँ, यक्षकर्दम, नाना प्रकार की शृंगारसम्बन्धी वस्तु और पूजन की सामग्री इत्यादि को समर्पण करता है, वह सज्जन सर्वत्र ही 'श्री' से भूषित रहता है ॥ ७१-७२ ।

निर्वाणलक्ष्मीर्वृणुते तं निर्वाणपदाप्तये ।
यत्र कुत्रापि निधनं प्राप्नुयादपि सद्ध्रुवम् ॥ ७३ ।
मोक्षलक्ष्मीविलासाख्यप्रासादस्योत्तरे मम ।
ऐश्वर्यमण्डपं रम्यं तत्रैश्वर्यं ददाम्यहम् ॥ ७४ ।
मत्प्रासादैन्द्रदिग्भागे ज्ञानमण्डपमस्ति यत् ।
ज्ञानं दिशामि सततं तत्र मां ध्यायतां सताम् ॥ ७५ ।
भवानिराजसदने ममाऽस्ति हि महानसम् ।
यत्तत्रोपहृतं पुण्यं निविशामि मुदैव तत् ॥ ७६ ।
विशालाक्ष्या महासौधे मम विश्रामभूमिका ।
तत्र संसृतिखिन्नानां विश्रामं श्राणयाम्यहम् ॥ ७७ ।
नियमस्नानतीर्थं च चक्रपुष्करिणी मम ।
तत्र स्नानवतां पुंसां तन्नैर्मल्यं दिशाम्यहम् ॥ ७८ ।

वृणुते आवृणोति ॥ ७३ ।

महानसं पाकगृहम् । उपहृतं उपहारत्वेन समर्पितम् । पुण्यं पुण्यहेतुत्वात् । निर्विशामि नितरां गृह्णामि । भक्तोपहृतं गृहीतुं निर्विशामि प्रविशामीति वा ॥ ७६ ।

विगतः श्रमो यस्मिंस्तं मोक्षमित्यर्थः । श्राणयामि ददामि ॥ ७७ ।

नियमस्नानतीर्थं नियमेन मध्याह्ने स्नानं यस्मिंस्तच्च तत्तीर्थं च, तत्प्रसिद्धं ब्रह्मलक्षणं वा ॥ ७८ ।

वह चाहे कहीं भी मरे, पर निर्वाणलक्ष्मी उसे निर्वाणपद देने के लिए अवश्य ही वरण करती है ॥ ७३ ।

मेरे **मोक्षलक्ष्मीविलास** नामक प्रासाद के उत्तर भाग में रमणीय ऐश्वर्यमंडप है । वहाँ पर मैं ऐश्वर्य दान करता हूँ ॥ ७४ ।

मेरे मन्दिर के पूर्व ओर जो ज्ञानमंडप है, उसमें जो लोग मेरा ध्यान करते हैं, उनको मैं सर्वदा ज्ञान का उपदेश देता रहता हूँ ॥ ७५ ।

भवानी का राजभवन ही मेरा जेवनहरा (भोजनगृह) है, वहाँ पर उपहाररूप से जो कुछ पवित्र वस्तु प्राप्त होती है, उसे मैं हर्षपूर्वक स्वीकार कर लेता हूँ॥ ७६ ।

विशालाक्षी देवी का बड़ा मन्दिर ही मेरे विश्राम का स्थान है । वहाँ पर मैं संसार से खिन्न लोगों को विश्राम वितरण करता हूँ ॥ ७७ ।

मेरे नियम स्नान का तीर्थ चक्रपुष्करिणी (मणिकर्णिका) है । वहाँ पर नहाने वालों को मैं वही निर्मलता दे देता हूँ ॥ ७८ ।

यदाहुः परमं तत्त्वं यदाहुर्ब्रह्मसत्तमम् ।
स्वसंवेद्यं यदाहुश्च तत्तत्रान्ते दिशाम्यहम् ॥ ७९ ।
यदाहुस्तारकं ज्ञानं यदाहुरतिनिर्मलम् ।
स्वात्मारामं यदाहुश्च तत्तत्रान्ते दिशाम्यहम् ॥ ८० ।
जगन्मङ्गलभूर्याऽत्र परमा मणिकर्णिका ।
विपाशयामि तत्राऽहं कर्मभिः पाशितान् पशून् ॥ ८१ ।
निर्वाणश्राणने यत्र पात्राऽपात्रं न चिन्तये ।
आनन्दकानने तन्मे दानस्थानं दिवानिशम् ॥ ८२ ।
भवाम्बुधौ महाऽगाधे प्राणिनः परिमज्जतः ।
भूत्वैव कर्णधारोऽन्ते यत्र सन्तारयाम्यहम् ॥ ८३ ।
सौभाग्यभाग्यभूर्या वै विख्याता मणिकर्णिका ।
ददामि तस्यां सर्वस्वमग्रजायान्त्यजाय वा ॥ ८४ ।

विपाशयामि मोचयामि । पाशितान् बद्धान् । पशून् अज्ञमात्रान् ॥ ८१ ।
तदेवाह—**निर्वाणेति** । दानस्थानं मुक्तिदानस्थानम् ॥ ८२ ।
सौभाग्यभाग्यभूः भागो भगसमुदायस्तस्य शोभनो भावः सौभाग्यं तस्य प्रापकं भाग्यमदृष्टं तद्भूः भगसमुदायप्रापकाऽदृष्टजन्मस्थानमित्यर्थः । भागभूरिति पाठे सौभाग्यं सौन्दर्यं भागो भगसमुदायस्तयोर्भूरिति व्याख्येयम् । ॥ ८४ ।

जिसे (शास्त्रों में) परमतत्त्व के नाम से कहा गया है और जिसे सर्वोत्तम ब्रह्म कहते हैं एवं वही स्वयं संवेद्य भी कहा जाता है, अन्त के समय वहाँ पर मैं उसी का उपदेश करता हूँ ॥ ७९ ।

जिसे **तारकज्ञान** कहते हैं, किं वा जो परमनिर्मल कहलाता है एवं जिसे स्वात्माराम भी कहा जाता है, मणिकर्णिका पर अन्त में मैं वही उपदेश करता हूँ ॥ ८० ।

इस लोक में जगत् भर की जो मंगलभूमि मणिकर्णिका है, वहाँ पर कर्म के पाश में बँधे हुए पशुओं को मैं छुड़ाता रहता हूँ ॥ ८१ ।

जहाँ पर मैं मोक्ष की भिक्षा देने में रात-दिन पात्र-कुपात्र का कुछ भी विचार नहीं करता, आनन्दवन में वही मेरे दान का स्थान है ॥ ८२ ।

अपार अथाह संसार-सागर में डूबते हुए प्रणियों को कर्णधार बनकर जहाँ पर मैं पार उतार देता हूँ, वही मणिकर्णिका सौभाग्य की भाग्यभूमि कही जाती है, अत एव वहाँ पर मैं अग्रज और अन्त्यज सभी को सर्वस्व दे डालता हूँ ॥ ८३-८४ ।

महासमाधिसम्पन्नैर्वेदान्तार्थनिषेविभिः ।
दुष्प्रापोऽन्यत्र यो मोक्षः शोच्यैरपि स लभ्यते ॥ ८५ ।
दीक्षितो वा दिवाकीर्तिः पण्डितो वाऽप्यपण्डितः ।
तुल्यो मे मोक्षदीक्षायां सम्प्राप्य मणिकर्णिकाम् ॥ ८६ ।
यत्त्यागेऽन्यत्र कृपणस्तत्प्राप्य मणिकर्णिकाम् ।
ददामि जन्तुमात्राय सर्वस्वं चिरसञ्चितम् ॥ ८७ ।
यदि दैवादिह प्राप्तस्त्रिसंयोगोऽतिदुर्घटः ।
अविचारं तदा देयं सर्वस्वं चिरसञ्चितम् ॥ ८८ ।
शरीरमथ सम्पत्तिरथ सा मणिकर्णिका ।
त्रिसंयोगोऽयमप्राप्यो देवैरिन्द्रादिकैरपि ॥ ८९ ।
पुनः पुनर्विचार्येति जन्तुमात्रेभ्य एव च ।
निर्वाणलक्ष्मीं यच्छामि सदोपमणिकर्णिकम् ॥ ९० ।

स लभ्यते तस्यां मणिकर्णिकायामित्यनुषञ्जनीयम् ॥ ८५ ।

दिवाकीर्तिश्चाण्डालः ॥ ८६ ।

यत् कैवल्यम् ॥ ७८ ।

त्रिसंयोगोऽतिदुर्घट इत्येतत्स्वयमेव व्याकरोति – **शरीरमिति** । सम्पत्ति-र्धनम् ॥ ८९ ।

उपमणिकर्णिकं मणिकर्णिकाह्रदसमीप इत्यर्थः ॥ ९० ।

महासमाधि के लगाने वाले तथा वेदान्तों के अर्थसेवियों को भी अन्यत्र जो मोक्ष दुर्लभ है, यहाँ पर शोचनीय लोगों को भी वह प्राप्त हो जाता है ॥ ८५ ।

चाहे कोई यज्ञ से दीक्षित हो, अथवा चाण्डाल हो एवं पंडित हो, किं वा मूर्ख ही हो, यदि मणिकर्णिका पर पहुँच जावे तो मेरी ओर से मोक्ष की दीक्षा में समान अधिकारी हो जाता है ॥ ८६ ।

अन्य स्थानों में मैं जिसके देने में कृपण हो जाता हूँ, इस मणिकर्णिका पर उस चिरसंचित सर्वस्व को प्राणिमात्र के लिये देने में तत्पर रहता हूँ ॥ ८७ ।

यदि दैववश यहाँ पर परम दुर्घट तीनों संयोग हो जावें, तो बिना विचारे ही चिरसंचित सर्वस्व दे देता हूँ ॥ ८८ ।

शरीर, सम्पत्ति और मणिकर्णिका इन तीनों का इकट्ठा हो जाना ही त्रिसंयोग है, यह इन्द्रादिक देवतावों को भी दुर्लभ है ॥ ८९ ।

मैं इसे बारंबार विचार कर समस्त प्राणियों को मणिकर्णिका पर सदैव मुक्तिलक्ष्मी का दान करता रहता हूँ ॥ ९० ।

मुक्तिदानमही सा मे वाराणस्यां महीयसी ।
तन्महीरजसा साम्यं त्रिलोक्यपि न चोद्वहेत् ॥ ९१ ।
परं लिङ्गार्चनस्थानमविमुक्तेश्वरेश्वरम् ।
तत्र पूजां सकृत्कृत्वा कृतकृत्यो नरो भवेत् ॥ ९२ ।
सायं पाशुपतीं सन्ध्यां कुर्यां पशुपतीश्वरे ।
विभूतिधारणात्तत्र पशुपाशैर्न वध्यते ॥ ९३ ।
प्रातःसन्ध्यां करोम्येव सदोङ्कारनिकेतने ।
तत्रैकाऽपि कृता सन्ध्या सर्वपातककृन्तनी ॥ ९४ ।
वसामि कृत्तिवासेऽहं सदा प्रतिचतुर्दशि ।
अत्र जागरणं कृत्वा चतुर्दश्यां न गर्भभाक् ॥ ९५ ।
रत्नेश्वरोऽर्चितो दद्यान्महारत्नानि भक्तितः ।
रत्नैः समर्च्य तल्लिङ्गं स्त्रीरत्नादि लभेन्नरः ॥ ९६ ।
विष्टपत्रितयान्तस्थोऽप्यहं लिङ्गे त्रिविष्टपे ।
तिष्ठामि सततं भक्तमनोरथसमृद्धये ॥ ९७ ।

विष्टपत्रितयान्तस्थः सर्वव्यापकोऽपीत्यर्थः । **त्रिविष्टपे** त्रिलोचने ॥ ९७ ।

इस वाराणसीपुरी में वही स्थान मेरे मुक्तिदान का प्रधान स्थान है; क्योंकि उस भूमि की धूलि के समान भी त्रैलोक्य भर नहीं हो सकता ॥ ९१ ।

मेरे लिंगपूजन के प्रधान स्थान **अविमुक्तेश्वर** हैं, वहाँ पर यदि कोई मनुष्य एक बार भी पूजा कर ले तो कृतकृत्य हो जाता है ॥ ९२ ।

संध्या के समय मैं **पशुपतीश्वर** पर **शैवी-संध्या** करता हूँ, उस वेला वहाँ पर विभूतिधारण करने ही से पशुपाश में बँधना नहीं पड़ता ॥ ९३ ।

और प्रातःकाल की संध्या (तो) मैं सदैव **ओंकारेश्वर** के मन्दिर में करता हूँ, (क्योंकि) वहाँ पर एक भी संध्या करने से समस्त पाप दूर हो जाते हैं ॥ ९४ ।

मैं प्रत्येक चतुर्दशी को **कृत्तिवासेश्वर** पर वास करता हूँ, वहाँ पर चतुर्दशी को जागरण करने से गर्भभागी नहीं होना पड़ता ॥ ९५ ।

भक्तिपूर्वक **रत्नेश्वर** के पूजन करने से वह बहुत भारी रत्नों को देते हैं एवं जो नर रत्नों से उस लिंग का पूजन करता है, उसे स्त्रीरत्न इत्यादि प्राप्त होते हैं ॥ ९६ ।

मैं त्रैलोक्य भर में सर्वव्यापी होने पर भी भक्तों की मनोरथसिद्धि के लिए त्रिलोचन मंदिर में सदैव बैठा रहता हूँ ॥ ९७ ।

विरजस्कं महापीठं तत्र संसेव्य मानवः ।
विरजा जायते नूनं चतुर्नदकृतोदकः ॥ ९८ ।
महादेवे महापीठं मम साधकसिद्धिदम् ।
तत्पीठदर्शनादेव महापापैः प्रमुच्यते ॥ ९९ ।
पितृप्रीतिप्रदं पीठं वृषभध्वजसंज्ञकम् ।
पितृतर्पणकृत्तत्र पितृंस्तारयति क्षणात् ॥ १०० ।
आदिकेशवपीठेऽहमादिकेशवरूपधृक् ।
श्वेतदीपं नये भक्तान् वैष्णवानतिवल्लभान् ॥ १०१ ।
तत्रैव मङ्गलापीठे सर्वमङ्गलदायिनि ।
उपपञ्चनदे तीर्थे भक्तान् सन्तारयाम्यहम् ॥ १०२ ।
बिन्दुमाधवरूपेण यत्राऽहं वैष्णवान् जनान् ।
नये पञ्चनदस्नातांस्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०३ ।

विरजा निष्पापः । रजोगुणरहितो वा । चतुर्नदे पिलिपिलातीर्थे ॥ ९८ ।
महादेवे तन्नाम्नि लिङ्गे ॥ ९९ ।
श्वेतद्वीपमनिरुद्धमूर्त्यधिष्ठितं वैकुण्ठसदृशं स्थानविशेषम् । नये प्रापये ॥१०१ ।
उपपञ्चनदं पञ्चनदसमीपे ॥ १०२ ।
यत्र उपपञ्चनदे ॥ १०३ ।

मनुष्य वहाँ पर विरजस्क महापीठ का सेवन और चतुर्नदतीर्थ में उदक्रिया को कर अवश्य ही रजोगुण से शून्य हो जाता है ॥ ९८ ।

महादेव में मेरा साधकों का **सिद्धिदायक महापीठ** है, उस पीठ के दर्शन करने ही से कठोर पापों से भी छुट्टी हो जाती है ॥ ९९ ।

पितरों का परमप्रीतिप्रद **वृषभध्वजतीर्थ** (पीठ) है, वहाँ पर पितरों का तर्पण करनेवाला क्षणमात्र में पितरों का उद्धार कर देता है ॥ १००।

आदिकेशवतीर्थ पर मैं आदिकेशवरूप से रहता हूँ । वहाँ के अपने परमप्रिय वैष्णव-भक्तों को श्वेतद्वीप प्राप्त करा देता हूँ ॥ १०१ ।

सकल मंगलदायक, **मंगलापीठ** पर जो पंचनदतीर्थ के समीप में है, मैं अपने भक्तों का निस्तार करता हूँ ॥ १०२ ।

जहाँ पर मैं बिन्दुमाधव का रूप धारण कर, पंचनदतीर्थ में स्नान करनेवाले अपने वैष्णव-भक्तों को विष्णु के प्रसिद्ध परम पद पर पहुँचा देता हूँ ॥ १०३ ।

पञ्चमुद्रे महापीठे ये वीरेश्वरसेवकाः ।
तेषां परमनिर्वाणं कालेनाऽल्पेन जायते ॥ १०४ ।
तत्र सिद्धेश्वरीपीठे चन्द्रेश्वरसमीपतः ।
तत्र सन्निधिकर्तॄणां सिद्धिः षण्मासतो भवेत् ॥ १०५ ।
काश्यां च योगिनीपीठे योगसिद्धिविधायिनि ।
सिद्धीरुच्चाटनाद्याश्च कैर्न लब्धाः सुसाधकैः ॥ १०६ ।
अनेकानीह पीठानि सन्ति काश्यां पदे पदे ।
परं धर्मेशपीठस्य काचिच्छक्तिरनुत्तमा ॥ १०७ ।
यत्रामी बालकीराश्च निर्मलज्ञानभाजनम् ।
आसुः सदुपदेशान्मे त्रात त्रातेति भाषिणः ॥ १०८ ।
एतद्धर्मेश्वरं पीठं त्यजाम्यद्यदिनावधि ।
न कदाचित्तरणिज त्वत्तपोवनमुत्तमम् ॥ १०९ ।

यदर्थं पीठानि निरूपितानि तदाह । **अनेकानीति** ॥ १०७ ।
आसुर्बभूवुः ॥ १०८ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ।

पंचमुद्र नामक महापीठ पर जो लोग वीरेश्वर के सेवक हैं, वे थोड़े ही काल में निर्वाणपद को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १०४ ।

चन्द्रेश्वर के समीप में **सिद्धेश्वरी** पीठ है, वहाँ पर रहनेवालों की छह मास में सिद्धि हो जाती है ॥ १०५ ।

काशी में योगसिद्धि-विधायकं **योगिनीपीठ** में किन सुसाधकों ने उच्चाटनादि सिद्धियों को नहीं पाया (है) ? इस काशीपुरी में पद-पद पर अनेक पीठ हैं । पर **धर्मेश्वरपीठ** की कुछ अपूर्व शक्ति है, महिमा है ॥ १०६-१०७ ।

जहाँ पर "रक्षा करो, रक्षा करो" ऐसा आर्तनाद करनेवाले ये सब सुग्गों के बच्चे भी मेरे उत्तम उपदेश से निर्मल ज्ञान के पात्र बन गये हैं ॥ १०८ ।

हे सूर्यनन्दन! आज से मैं तुम्हारे इस उत्तम तपोवन **धर्मेश्वरपीठ** को कभी नहीं छोड़ूँगा ॥ १०९ ।

ममाऽनुग्रहतः कीरानेतान् पश्य रवेः सुत ।
दिव्यं विमानमारुह्य गन्तारो मत्पुरं महत् ॥ ११० ।
तत्र भुक्त्वा चिरं भोगान् ज्ञानं प्राप्य मयेरितम् ।
इह मुक्तिमवाप्स्यन्ति त्वत्संसर्गातिनिर्मलाः ॥ १११ ।
इत्युक्तवति देवेशे कैलासशिखरोपमम् ।
दिव्यं विमानमापन्नं रुद्रकन्यापरिष्कृतम् ॥ ११२ ।
आरुह्य तेन यानेन दिव्यरूपधराः खगाः ।
कैलासमभिसंजग्मुर्धर्ममापृच्छ्यतेऽमलाः ॥ ११३ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे धर्मेशाख्यानं नामैकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ।

हे रवितनूज ! देखो, मेरे अनुग्रह से ये सब सुग्गे भी दिव्य-विमान पर चढ़कर मेरे महापुर को जा रहे हैं ॥ ११० ।

तुम्हारे सत्संग से परम निर्मल होकर ये सब वहाँ पर बहुत दिनों तक सुखभोग करने के अनंतर मेरे कहे हुए ज्ञान को प्राप्त कर, (फिर) यहीं पर मुक्ति को पावेंगे ॥ १११ ।

भगवान् शंकर के यह कहते ही रुद्रकन्याओं से भूषित और कैलास के शृंगसमान दिव्य विमान वहाँ पर आ पहुँचा ॥ ११२ ।

परम निर्मल वे सब शुकशावक दिव्यरूप को धारण कर धर्मराज से पूछ (बिदा हो) उस विमान पर चढ़कर कैलास की ओर चले गये ॥ ११३ ।

दोहा– श्री धर्मेश्वर लिंग को, प्रनवौं बारंबार ।
शुकशावक पाये जहाँ, निर्मल स्थान अपार ॥ १ ।
धर्मपीठ सम नहिं कहीं, पीठ मध्य संसार ।
जहां पच्छियो ज्ञान लहि, पाये भवनिस्तार ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायाम्
एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ।

॥ अथाशीतितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

कुम्भोद्भूत तदाश्चर्यं विलोक्य जगदम्बिका ।
उवाच शम्भुं प्रणता प्रणतार्तिहरं परम् ॥ १ ।

अम्बिकोवाच–

अस्य पीठस्य माहात्म्यं महादेव महेश्वर ।
तिरश्चामपि यज्जातं ज्ञानं संसारमोचनम् ॥ २ ।
अतः प्रभावं विज्ञाय धर्मपीठस्य धूर्जटे ।
धर्मेश्वरसमीपेऽहं स्थास्याम्यद्यदिनावधि ॥ ३ ।
अत्र लिङ्गे तु ये भक्ताः स्त्रियो वा पुरुषास्तु वा ।
तेषामभीष्टां संसिद्धिं साधयिष्याम्यहं सदा ॥ ४ ।

अथाशीतितमेऽध्याये धर्मेशाख्यानमध्यगे ।
श्रीमद्विश्वभुजाशाख्यगणेशस्तुतिपूर्वकम् ॥ १ ।
सर्वकामप्रदं पुंसां स्त्रीणां चैव विशेषतः ।
मनोरथतृतीयाख्यव्रतं सम्यङ् निरुच्यते ॥ २ ।

विश्वभुजाशा विनायकदैवतं मनोरथतृतीयाख्यं व्रतं कथयितुं प्रस्तावयति– **कुम्भोद्भूतेति ॥ १ ।**

(मनोरथ-तृतीयाव्रत-कथन)

स्कन्द बोले–

हे कुंभज ! जगदम्बा ने उस आश्चर्य घटना को देख, प्रणाम कर प्रणतार्तिहारी भगवान् शिव से कहा ॥ १ ।

अम्बिका बोलीं–

'हे महेश्वर ! महादेव ! इस पीठ का कैसा माहात्म्य है, जो तिर्यग् योनिवाले (पक्षियों) को भी संसारमोचक ज्ञान उत्पन्न हो गया ? ॥ २ ।

इसी कारण से हे धूर्जटे ! धर्मपीठ का प्रभाव समझकर आज़ के दिन से सर्वदा मैं धर्मेश्वर के समीप में रहा करूँगी ॥ ३ ।

जो स्त्री अथवा पुरुष इस लिंग के भक्त होंगे, मैं सदैव उनकी अभीष्टसिद्धि का साधन करती रहूँगी' ॥ ४ ।

ईश्वर उवाच–

साधु कृतं त्वया देवि कृतवत्या परिग्रहम् ।
अस्येह धर्मपीठस्य मनोरथकृतः सताम् ॥ ५ ।
त एव विश्वभोक्तारो विश्वमान्यास्त एव हि ।
ये त्वां विश्वभुजामत्र पूजयिष्यन्ति मानवाः ॥ ६ ।
विश्वे विश्वभुजे विश्वस्थित्युत्पत्तिलयप्रदे ।
नरास्त्वदर्चकाश्चाऽत्र भविष्यन्त्यमलात्मकाः ॥ ७ ।
मनोरथतृतीयायां यस्ते भक्तिं विधास्यति ।
तन्मनोरथसंसिद्धिर्भवित्री मदनुग्रहात् ॥ ८ ।
नारी वा पुरुषो वाऽथ त्वद्व्रताचरणात्प्रिये ।
मनोरथानिह प्राप्य ज्ञानमन्ते च लप्स्यते ॥ ९ ।

देव्युवाच–

मनोरथतृतीयायां व्रतं कीदृक्कथा कथम् ।
किं फलं कैः कृतं नाथ कथयैतत्कृपां कुरु ॥ १० ।

मनोरथं करोतीति मनोरथकृत् तस्य मनोरथकृतः ॥ ५ ।

पूजाप्रकारमाह–**विश्व इत्यर्धेन** । यद्वा विश्वे इत्यादीनि महेशकृतसम्बोधनानि ॥ ७ ।

मनोरथतृतीया चैत्रशुक्लतृतीया, तस्याम् ॥ ८ ।

ईश्वर ने कहा–

'हे देवि ! सज्जन लोगों के मनोरथ को पूर्ण करने वाले इस धर्मपीठ का आश्रयण करके तुमने बहुत अच्छा किया ॥ ५ ।

जो लोग यहाँ पर विश्वभुजारूप से तुम्हारा पूजन करेंगे, वे ही सब संसार-सुखों के भोक्ता और जगत्पूज्य होंगे तथा हे विश्वे ! विश्वभुजे ! विश्व-स्थित्युत्पत्तिलयप्रदे ! जो लोग यहाँ पर तुम्हारी पूजा करेंगे, वे निर्मल हृदयवाले हो जावेंगे ॥ ६ - ७ ।

जो कोई **मनोरथ-तृतीया** को तुम्हारा सेवन करेगा, मेरी कृपा से उसके मनोरथों की सिद्धि हो जावेगी ॥ ८ ।

हे प्रिये ! क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभी कोई तुम्हारे व्रत का अनुष्ठान करने से इस लोक में अपने मनोरथों को पाकर अन्त में ज्ञान भी पावेंगे' ॥ ९ ।

देवी ने पूछा–

'हे नाथ! मनोरथतृतीया का व्रत कैसे होता है ? और उसकी कथा कैसी है ? एवं उसके करने से कौन-सा फल मिलता है ? और किसने उसे किया था ? इन सब बातों को आप कृपा करके बतला देवें' ॥ १० ।

ईश्वर उवाच–

शृणु देवि यथा पृष्टं भवत्या भवतारिणि ।
मनोरथव्रतं चैतद् गुह्याद् गुह्यतरं परम् ॥ ११ ।
पुलोमतनया पूर्वं ततात परमं तपः ।
किञ्चिन्मनोरथं प्राप्तुं न चाप तपसः फलम् ॥ १२ ।
अपूपुजत्ततो मां सा भक्त्या परमया मुदा ।
गीतेन सरहस्येन कलकण्ठीकलेन हि ॥ १३ ।
तद्गानेनाऽतिसन्तुष्टो मृदुना मधुरेण च ।
सुतालेन सुरङ्गेण धातुमात्राकलावता ॥ १४ ।
प्रोवाच त्वं वरं ब्रूहि प्रसन्नोऽस्मि पुलोमजे ।
अनेन च सुगीतेन त्वनया लिङ्गपूजया ॥ १५ ।

पुलोमजोवाच–

यदि प्रसन्नो देवेश तदा यो मे मनोरथः ।
तं पूरय महादेव महादेवी-महाप्रिय ॥ १६ ।

भवात्तारिणि संसारतारिणि ॥ ११ ।

पुलोमा नाम दैत्यस्तत्तनया शची ॥ १२ ।

सरहस्येन गोप्यसहितेन । कलकण्ठीकलेन कोकिलाया मधुरस्वनतुल्येन मधुरेण सुश्रव्येण ॥ १३ ।

सुतालेन शोभनतालयुक्तेन । सरङ्गेण शोभनो रङ्गो यस्मात्तेन । धातुमात्राकलावता तानमानकलावता । एतत्पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः ॥ १४ ।

ईश्वर ने कहा–

'हे संसारतारिणि ! देवि ! यह जो तुमने पूछा है, वह मनोरथ-व्रत गोपनीय से भी परम गोपनीय है ॥ ११ ।

पूर्वकाल में पुलोम की पुत्री शची ने किसी मनोरथ की सिद्धि के लिए घोर तपस्या की थी. पर तपस्या का कछ फल नहीं पाया ॥ १२ ।

तब उसने बड़ी भक्ति के साथ हर्षपूर्वक कोकिला के मधुर स्वन के तुल्य सरहस्य गीतों के गान से मेरा पूजन किया ॥ १३ ।

तानमानकला से पूर्ण राग और तालवाले उसके मृदु-मधुर गान से मैं बड़ा ही सन्तुष्ट हुआ ॥ १४ ।

मैंने उससे कहा–हे पुलोमनन्दिनी ! तुम्हारे इस सुन्दर गान और इस लिंगपूजन से मैं बड़ा प्रसन्न हूँ । वर माँगो' ॥ १५ ।

पुलोमजा ने कहा–

हे देवाधिदेव ! महादेवी-महाप्रिय ! महादेव ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मेरे मनोरथ को पूर्ण कीजिये ॥ १६ ।

सर्वदेवेषु यो मान्यः सर्वदेवेषु सुन्दरः ।
यायजूकेषु सर्वेषु यः श्रेष्ठः सोऽस्तु मे पतिः ॥ १७ ।
यथाऽभिलषितं रूपं यथाऽभिलषितं सुखम् ।
यथाभिलषितं चायुः प्रसन्नो देहि मे भव ॥ १८ ।
यदा यदा च पत्या मे सङ्गः स्याद्धृत्सुखेच्छया ।
तदा तदा च तं देहं त्यक्त्वाऽन्यं देहमाप्नुयाम् ॥ १९ ।
सदा च लिङ्गपूजायां मम भक्तिरनुत्तमा ।
भव भूयाद् भवहर जरामरणहारिणी ॥ २० ।
भर्तुर्व्ययेऽपि वैधव्यं क्षणमात्रमपीह न ।
मम भावि महादेव पातिव्रत्यं च यातु मा ॥ २१ ।

स्कन्द उवाच–

इमं मनोरथं तस्याः पौलोम्याः पुरसूदनः ।
समाकर्ण्य क्षणं स्मित्वा प्राहेशो विस्मयान्वितः ॥ २२ ।

ईश्वर उवाच –

पुलोमकन्ये यश्चैष त्वयाऽकारि मनोरथः ।
लप्स्यसे व्रतचर्यातः तत्कुरुष्व जितेन्द्रिये ॥ २३ ।

जो सब देवताओं में माननीय और समग्र देवगण में सुन्दर एवं समस्त यज्ञों के कर्ताओं में श्रेष्ठ हो, वही मेरा पति हो ॥ १७ ।

हे भव ! यदि आप प्रसन्न हैं, तो इच्छानुरूप रूप और इच्छानुरूप सुख एवं इच्छानुरूप आयु दीजिये ॥ १८ ।

मन की सुखेच्छा से जब-जब मेरा पति से संगम होवे, तब-तब मैं उस शरीर को त्यागकर फिर दूसरा धारण कर सकूँ ॥ १९ ।

हे संसारमोचक ! भव ! लिंगपूजन के विषय में सदैव जरामरणहारिणी, सर्वोत्तम मेरी भक्ति बनी रहे ॥ २० ।

हे महादेव ! स्वामी के मर जाने पर क्षणमात्र के लिये भी मुझे वैधव्य न होवे, और न पातिव्रत्य ही बिगड़ने पावे ॥ २१ ।

स्कन्द बोले–

त्रिपुरसूदन महादेव ने पुलोमजा का इस प्रकार से मनोरथ सुनकर क्षणमात्र मुसकुराते हुए विस्मयान्वित होकर कहा ॥ २२ ।

ईश्वर बोले–

हे जितेन्द्रिये ! पुलोमजे ! यह जो तुमने मनोरथ किया है, सो व्रतचर्या ही से मिल सकता है, अत एव तुम उसे करो ॥ २३ ।

मनोरथतृतीयायाश्चरणेन भविष्यति ।
तत्प्राप्तये व्रतं वक्ष्ये तद्विधेहि यथोदितम् ॥ २४ ।
तेन व्रतेन चीर्णेन महासौभाग्यदेन तु ।
अवश्यं भविता बाले तव चैवं मनोरथः ॥ २५ ।

पुलोमकन्योवाच –

कारुण्यवारिधे शम्भो प्रणतप्राणिसर्वद ।
किमात्मिकाऽथ का शक्तिः का पूज्या तत्र देवता ॥ २६ ।
कदा च तद्विधातव्यमितिकर्तव्यता च का ।
इत्याकर्ण्य शिवो वाक्यं तां तु प्रणिजगाद ह ॥ २७ ।

ईश्वर उवाच –

मनोरथतृतीयायां व्रतं पौलोमि तच्छुभम् ।
पूज्या विश्वभुजा गौरी भुजविंशतिशालिनी ॥ २८ ।
वरदोऽभयहस्तश्च साक्षसूत्रः समोदकः ।
देव्याः पुरस्ताद् व्रतिना पूज्य आशाविनायकः ॥ २९ ।

किमात्मिका किंस्वरूपा । पाठान्तरे किं नामा किं नाम्नीत्यर्थः[1] ॥ २६ ।
इतिकर्तव्यताऽनुष्ठानप्रकारः ॥ २७ ।

इसके लिए मनोरथ-तृतीया का व्रताचरण करना पड़ेगा, उस व्रत की विधि मैं कहता हूँ, कथनानुसार तुम को करना चाहिए ॥ २४ ।

हे बाले ! उस परम सौभाग्यप्रद व्रत के पूर्ण हो जाने पर तुम्हारा मनोरथ अवश्य सिद्ध हो जावेगा ॥ २५ ।

पुलोमजा ने कहा–हे प्रणतजन के सर्वस्वदायक ! दयासागर ! शंकर ! उस व्रत का क्या फल है ? कौन-सी शक्ति है ? उसमें किस देवता की पूजा करनी चाहिए ? ॥ २६ ।

उस व्रत को कब करना पड़ता है ? और उसका विधान क्या है ? यह बात सुनकर शिव उससे कहने लगे ॥ २७ ।

हे पुलोमजे ! वह शुभप्रद व्रत मनोरथतृतीया पर होता है, उसमें बीस भुजा वाली विश्वभुजा गौरी का पूजन करना उचित है ॥ २८ ।

व्रतकर्ता को चाहिए कि, देवी के सन्मुख एक हाथ में वर, दूसरे में अक्षसूत्र, तीसरे में अभय और चौथे हाथ में मोद को लिये हुए आशाविनायक का पूजन करे ॥ २९ ।

---

1. किं नामा चाथ केति ।

चैत्रशुक्लतृतीयायां[1] कृत्वा वै दन्तधावनम् ।
सायन्तनीं च निर्वर्त्य नातितृप्त्या भुजिक्रियाम् ॥ ३० ।
नियमं चेति गृह्णीयाज्जितक्रोधो जितेन्द्रियः ।
संत्यक्ताऽस्पृश्यसंस्पर्शः शुचिस्तद्गतमानसः ॥ ३१ ।
प्रातर्व्रतं चरिष्यामि मातर्विश्वभुजेऽनघे ।
विधेहि तत्र सान्निध्यं मन्मनोरथसिद्धये ॥ ३२ ।
नियमं चेति सङ्गृह्य स्वपेद्रात्रौ शुभं स्मरन् ।
प्रातरुत्थाय मेधावी विधायाऽऽवश्यकं विधिम् ॥ ३३ ।
शौचमाचमनं कृत्वा दन्तकाष्ठं समाददे[2] ।
अशोकवृक्षस्य शुभं सर्वशोकनिशातनम् ॥ ३४ ।
नित्यन्तनं च निष्पाद्य विधिं विधिविदांवरः ।
स्नात्वा शुद्धाऽम्बरः सायं गौरीपूजां समाचरेत् ॥ ३५ ।

तद्गतमानसः विश्वभुजागतचित्तः ॥ ३१ ।

चैत्रमास की शुक्ला तृ(द्वि)तीया को दन्तधावन और सायंकाल की सन्ध्या को समाप्त कर रात्रि में स्वल्प ही भोजन करे ॥ ३० ।

फिर क्रोधादि को त्याग जितेन्द्रिय होकर और अस्पृश्यों का स्पर्श न कर पवित्रतापूर्वक तद्गतचित्त से यह नियम धारण करे ॥ ३१ ॥

'हे अनघे ! मातः ! विश्वभुजे ! देवि ! मैं प्रातःकाल व्रत करूँगा, उसमें आप (मेरे) मनोरथ की सिद्धि के लिए पधारें' ॥ ३२ ।

इस प्रकार से नियम को धारण कर शुभ का स्मरण करता हुआ सो रहे । फिर वह बुद्धिमान् व्रतकर्ता प्रातःकाल उठकर अपने आवश्यक विधि को करके शौच और कुल्ला के उपरान्त सब शोकों के मिटानेवाले अशोक वृक्ष की दतुअन करे ॥ ३३-३४ ।

तदनन्तर वह विधिज्ञप्रवर नित्यकृत्य को समाप्त कर स्नान के पश्चात् शुद्ध वस्त्र पहन सन्ध्यासमय गौरी देवी का पूजन करे ॥ ३५ ।

---

1. अत्रोपक्रमोपसंहारानुरोधेन तृतीयातः पूर्वदिनकर्तव्यत्वप्रतीतेर्द्वितीयायामित्यपेक्षितमिति भाति ।
2. समाददेदित्यर्थः ।

आदौ विनायकं पूज्य घृतपूरान्निवेद्य च ।
ततोऽर्चयेद्विश्वभुजामशोककुसुमैः शुभैः ॥ ३६ ।
अशोकवर्तिनैवेद्यैर्धूपैश्चागुरुसम्भवैः ।
कुङ्कुमेनानुलिप्यादावेकभक्तं ततश्चरेत् ॥ ३७ ।
अशोकवर्तिसहितैर्घृतपूरैर्मनोहरैः ।
एवं चैत्रतृतीयायां व्यतीतायां पुलोमजे ॥ ३८ ।
राधादिफाल्गुनान्तासु तृतीयासु व्रतं चरेत् ।
क्रमेण दन्तकाष्ठानि कथयामि तवाऽनघे ॥ ३९ ।
अनुलेपनवस्तूनि कुसुमानि तथैव च ।
नैवेद्यानि गजास्यस्य देव्याश्चापि शुभव्रते ॥ ४० ।
अन्नानि चैकभक्तस्य शृणु तानि फलाप्तये ।
जम्ब्व्यपामार्गखदिरजातीचूतकदम्बकम् ॥ ४१ ।
प्लक्षोदुम्बरखर्जूरी बीजपूरी सदाडिमी ।
दन्तकाष्ठद्रुमा एते व्रतिनः समुदाहृताः ॥ ४२ ।

घृतपूरान् पक्वान्नविशेषान् । नैवेद्यैः घृतपूरैः ॥ ३६-३७ ।
राधो वैशाखः ॥ ३९ ।

पहले गणेश ही की पूजा करे और उनको घृतपूर (मालपूआ) का नैवेद्य लगावे । फिर कुंकुम का अनुलेपन, उत्तम अशोक के पुष्प, अगर की धूपबत्ती; और अशोकवर्तियुक्त, घृतपूरों के नैवेद्य से विश्वभुजा गौरी का पूजन करे । इसके उपरान्त अशोकवर्तिसहित मनोहर घृतपूरों के द्वारा केवल एक बार भोजन करे । हे पुलोमजे ! इस भाँति से चैत्र शुक्ल तृतीया को बीत जाने दे ॥ ३६-३८ ।

तदनन्तर वैशाख से लेकर फाल्गुन मास तक प्रत्येक शुक्ला तृतीया को व्रत करे । हे अनघे ! क्रम से अवशिष्ट ग्यारहों मासों के दतुअन, अनुलेपन के द्रव्य, पुष्प, गणेश और गौरी के नैवेद्य एवं एकाहार के अन्नों को हे शुभ्रव्रते ! मैं तुमसे कहता हूँ । इन्हीं सबों से व्रत का फल मिलता है । अत एव इनको सुन रखो । जामुन, चिचिढ़ा, खैर, जाही (चमेली), आम, कदम्ब, बड़, गुल्लर (गूलर), खजूर, विजौरा (नींबू) और अनार–व्रती के दातून के पेड़ कहे जाते हैं ॥ ३९-४२ ।

सिन्दूरागुरुकस्तूरी चन्दनं रक्तचन्दनम् ।
गोरोचना-देवदारु-पद्माक्षं च निशाद्वयम् ॥ ४३ ।
प्रीत्याऽनुलेपनं बाले यक्षकर्दमसम्भवम् ।
सर्वेषामप्यलाभे च प्रशस्तो यक्षकर्दमः ॥ ४४ ।
कस्तूरिकाया द्वौ भागौ द्वौ भागौ कुङ्कुमस्य च ।
चन्दनस्य त्रयो भागाः शशिनस्त्वेक एव हि ॥ ४५ ।
यक्षकर्दम इत्येष समस्तसुरवल्लभः ।
अनुलिप्याऽथ कुसुमैरर्चयेद् वच्मि तान्यपि ॥ ४६ ।
पाटलामल्लिकापद्मकेतकीकरवीरकैः ।
उत्पलै राजचम्पैश्च नन्द्यावर्तैश्च जातिभिः ॥ ४७ ।
कुमारीभिः कर्णिकारैरलाभे तच्छदैः सह ।
सुगन्धिभिः प्रसूनौघैः सर्वालाभेऽपि पूजयेत् ॥ ४८ ।

गोरोचना गोशृङ्गयोर्मध्ये समुत्पन्नद्रव्यविशेषः । **निशाद्वयं** हरिद्राद्वयम् ॥ ४३ ।
यक्षकर्दमं स्वयमेव व्याचष्टे–**कस्तूरिकाया इति** ; **शशिनः** कर्पूरस्य । तानि कुसुमानि ॥ ४५-४६ ।
नन्द्यावर्तैतगरैः ॥ ४७ ।
तच्छदैस्तेषां वृक्षाणां पत्रैः ॥ ४८ ।

सिन्दूर, अगर, कस्तूरी, चन्दन, लालचन्दन, गोरोचन, देवदारु, पदमकाठ और दोनों हरदी (अर्थात्–हरदी और दारुहरदी) इन अनुलेपनों को और यक्षकर्दम के लेपन को प्रीति से समर्पण करे और इन सब अनुलेपनों के न मिलने पर यक्षकर्दम ही प्रशस्त है ॥ ४३-४४ ।

दो भाग कस्तूरी, दो भाग केशर, तीन भाग चन्दन और एक भाग कपूर, इसी का यक्षकर्दम होता है, जो समस्त देवताओं को बड़ा प्यारा है । इसका अनुलेपन करके जिन पुष्पों से पूजना चाहिए, अब उनको कहता हूँ ॥ ४५-४६ ।

गुलाब, बेला, कमल, केवड़ा, कनइल (कनेर), कोईं, राजचम्पा, तगर, जाही, घिकुंआर और करना के फूल, यदि फूल न मिले तो उक्त वृक्षों के पत्र लेने चाहिए । दैवात् कुछ भी न मिले तो सुगन्धयुक्त अन्यान्य पुष्पसमूहों से पूजा करे ॥ ४७-४८ ।

करम्भो दधिभक्तं च सचूतरसमण्डकाः ।
फेणिका वटकाश्चैव पायसं च सशर्करम् ॥ ४९ ।
समुद्गं सघृतं भक्तं कार्तिके विनिवेदयेत् ।
इण्डेरिकाश्च लड्डूका माघे लम्पसिका शुभा ॥ ५० ।
मुष्टिकाः शर्करागर्भाः सर्पिषा परिसाधिताः ।
निवेद्याः फाल्गुने देव्यै सार्धं विघ्नजिता मुदा ॥ ५१ ।
निवेदयेद्यदन्नं हि एकभक्तेऽपि तत्स्मृतम् ।
अन्यन्निवेद्य सम्मूढो भुञ्जानोऽन्यत्पतेदधः ॥ ५२ ।
प्रतिमासं तृतीयायामेवमाराध्य वत्सरम् ।
व्रतसम्पूर्तये कुर्यात्स्थण्डिलेऽग्निसमर्चनम् ॥ ५३ ।
जातवेदसमन्त्रेण तिलाज्यद्रविणेन च ।
शतमष्टाधिकं होमं कारयेद्विधिना व्रती ॥ ५४ ।
सदैव नक्ते पूजोक्ता सदा नक्ते तु भोजनम् ।
नक्त एव हि होमोऽयं नक्त एव क्षमापनम् ॥ ५५ ।

चैत्रमासनैवेद्यस्य पूर्वमुक्तत्वादवशिष्टानां मासानां नैवेद्यानाह—**करम्भ इति** । **करम्भो दधिमिश्रः सक्तुः** ॥ ४९ ।

मुष्टिकाः पूरिकाः ॥ ५१ ।

करंभ (दधिमिश्रित सत्तु), दही-भात, आम के रस के साथ माँड़, फेनी, बड़ा, शक्कर सहित जाउर (खोआ), मूँग की दाल और घृत के साथ भात, कार्तिक का नैवेद्य है, (अगहन में) इंडेरिका, (पूस में) लड्डुआ, माघ में लपसी एवं फागुन मास में शक्कर भरी हुई और घी में छनी पेड़किया (वा-पूरी) गौरी और गणेश को हर्षपूर्वक नैवेद्य लगावे ॥ ४९-५१ ।

जिस वस्तु का नैवेद्य चढ़ावे, उसी को एकाहार में खावे, एक वस्तु नैवेद्य लगावे और दूसरा खावे, तो वह मूढ़ अधःपतित होता है ॥ ५२ ।

एक वर्ष भर इसी रीति से प्रतिमास की शुक्ल तृतीया को आराधना करके व्रत की समाप्ति के लिए स्थंडिल में अग्नि की पूजा करें ॥ ५३ ।

व्रतकर्ता, "जातवेदस" मंत्र के द्वारा यथाविधि तिल, घृत इत्यादि द्रव्यों से अष्टोत्तर शत आहुतियों का होम करावें ॥ ५४ ।

सदैव यह पूजा रात्रि में ही कही गई है और रात्रि में ही भोजन भी करना चाहिए, यह होम भी रात्रि में ही करें एवं रात्रि में क्षमापन भी उचित है ॥ ५५ ।

गृहाण पूजां मे भक्त्या मातर्विघ्नजिता सह ।
नमोऽस्तु ते विश्वभुजे पूरयाऽऽशु मनोरथम् ॥ ५६ ।
नमो विघ्नकृते तुभ्यं नम आशाविनायक ।
त्वं विश्वभुजया सार्धं मम देहि मनोरथम् ॥ ५७ ।
एतौ मन्त्रौ समुच्चार्य पूज्यौ गौरी-विनायकौ ।
व्रतक्षमापने देयः पर्यङ्कस्तूलिकान्वितः ॥ ५८ ।
उपधान्या समायुक्तो दीपीदर्पणसंयुतः ।
आचार्यं च सपत्नीकं पर्यङ्कं उपवेश्य च ॥ ५९ ।
व्रती समर्चयेद्वस्त्रैः करकर्णविभूषणैः ।
सुगन्धचन्दनैर्माल्यैर्दक्षिणाभिर्मुदान्वितः ॥ ६० ।
दद्यात्पयस्विनीं गां च व्रतस्य परिपूर्तये ।
तथोपभोगवस्तूनि च्छत्रोपानत्कमण्डलुम् ॥ ६१ ।
मनोरथतृतीयाया व्रतमेतन्मया कृतम् ।
न्यूनातिरिक्तं सम्पूर्णमेतदस्तु भवद्गिरा ॥ ६२ ।

दीपी दीपधारिका पुत्तलिका ॥ ५९ ।

"हे मातः! गणेश के सहित आप भक्तिपूर्वक मेरी की हुई पूजा को ग्रहण करें, हे विश्वभुजे ! मैं आप को नमस्कार करता हूँ, आप शीघ्र ही मेरे मनोरथ को पूर्ण कर देवें ॥ ५६ ।

हे आशाविनायक ! आप विघ्नविदारक हैं, अत एव आप को बारंबार नमस्कार है । आप विश्वभुजा देवी के सहित मेरे मनोरथ को (सिद्ध) कर देवें" ॥ ५७ ।

इन दोनों मंत्रों को कहकर गौरी और गणेश की पूजा करें, व्रत के उद्यापन में तोसक, तकिया, डीवट, दर्पण आदि से युक्त पलंग देवें (शय्यादान करें) और उस पलंग पर सपत्नीक आचार्य को बैठावें ॥ ५८-५९ ।

तब व्रतकर्ता वस्त्र, हाथ और कान के भूषण, सुगन्ध, चन्दन, माला और दक्षिणा इत्यादि से हर्षपूर्वक पूजन करें ॥ ६० ।

एवं व्रतपूर्ति के लिए दुधार गौ तथा छत्र, उपानह और लोटा इत्यादि उपभोग की सब सामग्री दान करें ॥ ६१ ।

"यह जो मैंने मनोरथतृतीया का व्रत किया है, इसमें जो कुछ न्यून अथवा अतिरिक्त होवे, वह सब आपके वचन से परिपूर्ण हो जावे" ॥ ६२ ।

इत्याचार्यं समापृच्छ्य तथेत्युक्तश्च तेन वै ।
आसीमान्तमनुव्रज्य दत्वाऽन्येभ्योऽपि शक्तितः ॥ ६३ ।
नक्तं समाचरेत्पोष्यैः सार्धं सुप्रीतमानसः ।
प्रातश्चतुर्थ्यां सम्भोज्य चतुरश्च कुमारकान् ॥ ६४ ।
अभ्यर्च्य गन्धमाल्याद्यैर्द्वादशाऽपि कुमारिकाः ।
एवं सम्पूर्णतां याति व्रतमेतत्सुनिर्मलम् ॥ ६५ ।
कार्यं मनोरथाऽवाप्त्यै सर्वैरेतद्व्रतं शुभम् ।
पत्नीं मनोरमां कुल्यां मनोवृत्त्यनुसारिणीम् ॥ ६६ ।
तारिणीं दुःखसंसारसागरस्य पतिव्रताम् ।
कुर्वन्नेतद्व्रतं वर्षं कुमारः प्राप्नुयात् स्फुटम् ॥ ६७ ।
कुमारी पतिमाप्नोति स्वाढ्यं सर्वगुणाधिकम् ।
सुवासिनी लभेत्पुत्रान् पत्युः सौख्यमखण्डितम् ॥ ६८ ।
दुर्भगा सुभगा स्याच्च धनाढ्या स्याद्दरिद्रिणी ।
विधवाऽपि न वैधव्यं पुनराप्नोति कुत्रचित् ॥ ६९ ।

नक्तं नक्तभोजनम् ॥ ६४ ।

इस प्रकार आचार्य से प्रार्थना करने पर जब वे "तथास्तु" कह देवें, तब सीमापर्यन्त उनको पहुँचा देवें, फिर और लोगों को भी दक्षिणा इत्यादि यथाशक्ति दें ॥ ६३ ।

तत्पश्चात् प्रसन्नचित्त से रात्रि में अपने पोष्यवर्ग के साथ भोजन करें, उसके अनन्तर प्रातःकाल चतुर्थी के दिन चार कुमार एवं बारह कुमारियों को गंध-मालादिक से पूजकर भोजन करावें । इस भाँति से यह निर्मल व्रत सम्पूर्ण होता है ॥ ६४–६५ ।

इस शुभव्रत को अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए सभी किसी को करना चाहिए । अविवाहित पुरुष एक वर्ष भर इस व्रत के करने से मनोरमा, सत्कुलोत्पन्ना, मनोवृत्ति के अनुसार चलनेवाली, दुःखमय संसारसागर से पार उतारनेवाली, पतिव्रता पत्नी को अवश्य ही पाता है ॥ ६६-६७ ।

एवं कुमारी भी धनाढ्य, समस्त गुणों में अधिक पति को प्राप्त करती है । सुहागिन बहुत से पुत्र और स्वामी का अखंडित सुखलाभ करती है ॥ ६८ ।

दुर्भगा भी सुभगा और दरिद्रिणी भी धनवती हो जाती है और विधवा को फिर कभी वैधव्य का दुःख नहीं झेलना पड़ता ॥ ६९ ।

गुर्विणी च शुभं पुत्रं लभते सुचिरायुषम् ।
ब्राह्मणो लभते विद्यां सर्वसौभाग्यदायिनीम् ॥ ७० ।
राज्यभ्रष्टो लभेद्राज्यं वैश्यो लाभं च विन्दति ।
चिन्तितं लभते शूद्रो व्रतस्यास्य निषेवणात् ॥ ७१ ।
धर्मार्थी धर्ममाप्नोति धनार्थी धनमाप्नुयात् ।
कामी कामानवाप्नोति मोक्षार्थी मोक्षमाप्नुयात् ॥ ७२ ।
यो यो मनोरथो यस्य स तं तं विन्दते ध्रुवम् ।
मनोरथतृतीयाया व्रतस्य चरणाद् व्रती ॥ ७३ ।

स्कन्द उवाच –

इत्थं निशम्य शिवतः शिवा सन्तुष्टमानसा ।
पुनः पप्रच्छ विश्वेशं प्रबुद्धकरसम्पुटा ॥ ७४ ।
अन्यत्र ये व्रतं चैतत्करिष्यन्ति सदाशिव ।
ते कथं पूजयिष्यन्ति मां च आशाविनायकम् ॥ ७५ ।

गर्भवती चिरायु और शुभ (लक्षण) पुत्र को पाती है और ब्राह्मण को सर्वसौभाग्यदायिनी विद्या ही मिलती है ॥ ७० ।

राज्य से च्युत हुआ राजा राज्य पा जाता है । वैश्य को (व्यापार में) लाभ होता है एवं शूद्र भी अपने चिन्तित फल को प्राप्त करता है । इस व्रत के सेवन करने से धर्मार्थी जन धर्म को पाता है, धनार्थी को धन मिलता है, कामी की सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और मोक्षार्थी भी मोक्ष-लाभ करता है ॥ ७१-७२ ।

मनोरथ-तृतीया के व्रतानुष्ठान से व्रती जो जो मनोरथ करता है, सो सो सब ध्रुव करके (निश्चय ही) परिपूर्ण हो जाते हैं ॥ ७३ ।

स्कन्द ने कहा–

महादेव से यह सुनकर भगवती सन्तुष्ट चित्त हो फिर हाथ जोड़कर विश्वेश्वर से पूछने लगीं ॥ ७४ ।

'हे सदाशिव ! जो लोग काशी से अन्य स्थान में इस व्रत को करेंगे, वे सब मेरी और आशाविनायक की किस प्रकार से पूजा कर सकेंगे' ? ॥ ७५ ।

शिव उवाच –

साधु पृष्टं त्वया देवि सर्वसन्देहभेदिनि ।
वाराणस्यां समर्च्या त्वं विश्वे प्रत्यक्षरूपिणी ॥ ७६ ।
आशाविघ्नजिता सार्धं सर्वाशापूर्तिकारिणा ।
हारिणाऽनन्तविघ्नानां मम क्षेत्रशुभार्थिना ॥ ७७ ।
क्षिप्रमागमयित्वा[1] च नत्वा दूरं गतानपि ।
कृतकृत्यान् विधायाऽथ चिन्तितैः सुमनोरथैः ॥ ७८ ।
अन्यत्र व्रतिभिर्विश्वे काञ्चनी प्रतिमा तव ।
पञ्चकृष्णलकादूर्ध्वं कार्या विघ्नहतोऽपि च ॥ ७९ ।
आचार्याय व्रती दद्याद् व्रतान्ते प्रतिमाद्वयम् ।
सकृत्कृते व्रते चाऽस्मिन् कृतकृत्यो व्रती भवेत् ॥ ८० ।

क्षिप्रमिति । नत्वा नमस्कारमात्रं कृत्वा दूरं गतानपि जनान् । चिन्तितैः स्वाभिलाषैः । कृतकृत्यान् कृतार्थान् विधाय कृत्वा आगमयित्वा तेषामागमनं कारयित्वेत्यर्थः ॥ ७८ ।

अन्यत्रेति । विश्वे हे विश्वभुजे ! कार्येति[2] पाठेऽन्वयभेदादपौनरुक्त्यम् ॥ ७९ ।

महादेव ने कहा–

हे सर्वसन्देहनिवारिणि ! देवि, तुमने बहुत ही ठीक पूछा, हे विश्वे ! वाराणसी पुरी में तो लोग प्रणाम करने से दूरदेश में चले गए लोगों को भी वापस लाकर (उनको) चिन्तित उत्तम मनोरथों के द्वारा कृतार्थ कर, सब किसी की आशाओं के पूरक और अनन्त विघ्नों के विनाशक एवं मेरे क्षेत्र के शुभार्थी आशाविनायक के सहित प्रत्यक्षरूप से तुमको पूजें ॥ ७६–७८ ।

पर हे विश्वे ! दूसरे स्थानों पर पाँच घुँघुची (रत्ती) से ऊपर की (तौल में अधिक) तुम्हारी और गणेश की भी प्रतिमा (मूर्ति) बनानी चाहिए ॥ ७९ ।

व्रतकर्ता व्रत के अन्त में उन दोनों ही प्रतिमाओं को ले जाकर आचार्य को निवेदन कर देवें । इस प्रकार से एक बार भी इस व्रत के कर लेने से व्रती कृतार्थ हो जाता है ॥ ८० ।

---

1. इत्यादीनां सर्वाशापूर्तिकारिणाऽनन्तविघ्नानां हारिणेत्यनेनाऽन्वयः ।
2. विश्वे इत्यस्य स्थाने ।

ततः पुलोमजा देवि श्रुत्वैतद् व्रतमुत्तमम् ।
कृत्वा मनोरथं प्राप यथाऽभिवाञ्छितं हृदि ॥ ८१ ।
अरुन्धत्या वसिष्ठोऽपि लब्धोऽत्रिरनसूयया ।
सुनीत्योत्तानपादाच्च ध्रुवः प्राप्तोऽङ्गजोत्तमः ॥ ८२ ।
सुनीतेर्दुर्भगत्वं च पुनरस्माद् व्रताद् गतम् ।
चतुर्भुजः पतिः प्राप्तः क्षीरनीरधिजन्मना ॥ ८३ ।
किं बहूक्तेन सुश्रोणि कृतं येन व्रतं त्विदम् ।
व्रतानि तेन सर्वाणि कृतानि व्रतिना ध्रुवम् ॥ ८४ ।
श्रुत्वा धीमान् कथां पुण्यां पुनस्तद्गतमानसः ।
शुभबुद्धिमवाप्नोति पापैरपि विमुच्यते ॥ ८५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे धर्मेश्वराख्याने विश्वभुजाशाविनायकप्रशंसने मनोरथतृतीयाव्रताख्यानं नामाऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ।

अङ्गजोत्तमः पुत्रश्रेष्ठः ॥ ८२ ।
क्षीरनीरधेर्दुग्धाऽर्णवाज्जन्म यस्यास्तया लक्ष्म्या ॥ ८३ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ।

हे देवि ! तदनन्तर यह सुनकर पुलोमजा (इन्द्राणी) ने इस उत्तम व्रत के अनुष्ठान से अपनी मनोवांछित अभिलाषा को प्राप्त किया ॥ ८१ ।

इसी व्रत के करने से अरुन्धती ने वशिष्ठ को, अनुसूया ने अत्रि को पतिरूप से पाया है और सुनीति ने राजा उत्तानपाद से उत्तम पुत्र ध्रुव को प्राप्त किया था ॥ ८२ ।

एवं इसी व्रत के आचरण से सुनीति का दुर्भगत्व भी दूर भागा था और क्षीरसागर की कन्या लक्ष्मी ने भी विष्णु को पति पाया था ॥ ८३ ।

हे सुश्रोणि ! कहाँ तक कहूँ, जिस व्रती ने इस व्रत को कर लिया, वह सब व्रतों को कर चुका । यह ध्रुव (सत्य) है ॥ ८४ ।

बुद्धिमान् जन तद्गतचित्त होकर इस पवित्र कथा के सुनने से शुभ-बुद्धि को प्राप्त करता है और पापों से भी छूट जाता है ॥ ८५ ।

दोहा— आशागणपति हैं जहाँ, विश्वभुजा जहँ मात ।
सब आशा पूजैं तहाँ, यहि में भ्रम न लखात ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्धे भाषायामशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ।

●

॥ अथैकाशीतितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

धर्मतीर्थस्य माहात्म्यं कीदृग् देवेन शम्भुना ।
स्कन्द देव्यै समाख्यातं तदाख्याहि कृपां कुरु ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

विन्ध्योन्नतिहृदाख्यामि धर्मतीर्थसमुद्भवम् ।
आकर्णय महाप्राज्ञ यथा देवेन भाषितम् ॥ २ ।
वृत्रं निहत्य वृत्रारिर्ब्रह्महत्यामवाप्तवान् ।
अनुतप्तोऽथ पप्रच्छ प्रायश्चित्तं पुरोहितम् ॥ ३ ।

बृहस्पतिरुवाच–

यदि त्वं देवराजेमां ब्रह्महत्यां सुदुस्त्यजाम् ।
अपानुनुत्सुस्तद्याहि काशीं विश्वेशपालिताम् ॥ ४ ।

एकाशीतितमेऽध्याये नानाश्चर्यैकमन्दिरे ।
दुर्दमाख्यानसंसर्गिधर्मेशाख्यानमुच्यते ॥ १ ।

अनुतप्तः प्रतिक्षणं सन्तप्तः । तया तप्त इति क्वचित् ॥ ३ ।

अपानुनुत्सुरपाकर्तुमिच्छुः ॥ ४ ।

(धर्मेश्वर का माहात्म्य और राजा दुर्दम की कथा)

अगस्त्य बोले–

हे स्कन्द ! भगवान् शंभु ने देवी से धर्मतीर्थ का माहात्म्य किस प्रकार से कहा था, कृपा करके आप उसे भी कहें ॥ १ ।

स्कन्द ने कहा–

हे विन्ध्योन्नतिहारिन् ! महाप्राज्ञ ! भगवान् ने जैसे धर्मतीर्थजनित माहात्म्य को कहा था, उसे मैं कहता हूँ, तुम श्रवण करो ॥ २ ।

इन्द्र वृत्रासुर को मारकर ब्रह्महत्या में जा पड़े, तब बड़ा पश्चात्ताप करके अपने पुरोहित बृहस्पति से प्रायश्चित्त पूछने लगे ॥ ३ ।

बृहस्पति ने कहा–

'हे देवराज ! यदि तुम इस दुस्त्यज ब्रह्महत्या को दूर किया चाहते हो, तो विश्वेश्वरपालित काशीपुरी की यात्रा करो ॥ ४ ।

नाऽन्यत् किञ्चित्क्वचिद्दृष्टं ब्रह्महत्यामहौषधम् ।
राजधानीं परित्यज्य शक्र विश्वेशितुः पराम् ॥ ५ ।
भैरवस्याऽपि हस्ताग्रादपतद्वैधसं शिरः ।
यत्राऽऽनन्दवने तत्र वृत्रशत्रो व्रज द्रुतम् ॥ ६ ।
सीमानमपि सम्प्राप्य शक्राऽऽनन्दवनस्य हि ।
ब्रह्महत्या पलायेत वेपमाना निराश्रया ॥ ७ ।
अन्येषामपि पापानां महापापजुषामपि ।
नाशयित्री पराकाशी विश्वेशसमधिष्ठिता ॥ ८ ।
महापातकतो मुक्तिः काश्यामेव शतक्रतो ।
महासंसारतो मुक्तिः काश्यामेव न चाऽन्यतः ॥ ९ ।
निर्वाणनगरी काशी काशी सर्वाऽघसंघहृत् ।
विश्वेशितुः प्रिया काशी द्यौः काशीसदृशी न हि ॥ १० ।

परां श्रेष्ठाम् । [1]पाठान्तरे केवलमित्यर्थः ॥ ५ ।
वैधसं ब्राह्मम् ॥ ६ ।
महापापजुषामपीत्यपिशब्दादुपपापजुषामपि ॥ ८ ।

हे शक्र ! भगवान् विश्वेश्वर की बड़ी राजधानी को छोड़कर और कहीं भी ब्रह्महत्या का महौषध दूसरा कोई भी नहीं दीखता है ॥ ५ ।

हे वृत्रशत्रो ! जिस आनन्दवन में भैरव के भी हस्ताग्र से ब्रह्मा का कपाल गिर पड़ा था, शीघ्र ही तुम भी वहीं पर चले जाओ ॥ ६ ।

हे शक्र ! आनन्दवन की सीमा पर पहुँचते ही ब्रह्महत्या निरालम्ब होकर काँपती (थर्राती) हुई भाग जाती है ॥ ७ ।

विश्वेश्वर की अधिष्ठिता काशी और भी बड़े-बड़े पापियों के पापों का पूर्णरूप से नाश कर डालती है ॥ ८ ।

हे शतक्रतो ! महापातकों से जैसे काशी में मुक्ति (छुट्टी) मिलती है, वैसे ही महासंसार से भी काशी ही में मुक्ति होती है । अन्यत्र तो हो ही नहीं सकती ॥ ९ ।

काशी ही मुक्तिपुरी है और काशी ही सब पापों को हर लेती है एवं विश्वेश्वर की बड़ी प्यारी भी काशी ही है । सुतरां काशी के समान (तुम्हारा) स्वर्ग भी नहीं है ॥ १० ।

---

1. परमिति ।

ब्रह्महत्याभयं यस्य यस्य संसारतो भयम् ।
जातु चित्तेन न त्याज्या काशिका मुक्तिकाशिका ॥ ११ ।
जन्तूनां कर्मबीजानां यत्र देहविसर्जने ।
न जातुचित् प्ररोहोऽस्ति हरदृष्ट्याप्तशुष्मणाम् ॥ १२ ।
तां काशीं प्राप्य वृत्रारे वृत्रहत्याऽपनुत्तये ।
समाराधय विश्वेशं विश्वमुक्तिप्रदायकम् ॥ १३ ।
बृहस्पतेरिति वचो निशम्य स सहस्रदृक् ।
आयाद्द्रुततरं काशीं महापातकघातुकाम् ॥ १४ ।
स्नात्वोत्तरवहायां च धर्मेशं परितः स्थितः ।
आराधयन्महादेवं ब्रह्महत्याऽपनुत्तये ॥ १५ ।
महारुद्रजपासक्तः सुत्रामाथ त्रिलोचनम् ।
ददर्श लिङ्गमध्यस्थं स्वभासा दीपिताम्बरम् ॥ १६ ।
पुनस्तुष्टाव वेदोक्तै रुद्रसूक्तैरनेकधा ।
विनिष्क्रम्य ततो लिङ्गादाविर्भूय भवोऽवदत् ॥ १७ ।

कर्माण्येव बीजानि येषाम् । व्यधिकरणे वा षष्ठ्यौ । हरदृष्ट्याप्तशुष्मणां हरदर्शनप्राप्तदाहानाम् ॥ १२ ।

घातुकां नाशिनीम् ॥ १४ ।

सुत्रामा इन्द्रः ॥ १६ ।

जिसे ब्रह्महत्या का भय हो अथवा जिसे संसार का भय हो, उसे मुक्ति-प्रकाशिनी काशी को कभी नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ११ ।

जहाँ पर देहत्याग करने से समस्त प्राणियों के कर्मबीज शिव के दृष्टिपात से सूखकर फिर कभी अंकुर नहीं फेंकते ॥ १२ ।

हे वृत्रारे ! उसी काशी में जाकर वृत्रासुर की हत्या छुड़ाने के लिये विश्व मात्र के मोक्षदाता भगवान् विश्वेश्वर की आराधना करो ॥ १३ ।

बृहस्पति का यह वचन सुनकर सहस्राक्ष, महापातकनाशिनी काशी में बहुत शीघ्र ही आ पहुँचे ॥ १४ ।

उत्तरवाहिनी गंगा में नहाय (नहाकर) **धर्मेश्वर** के समीप में ही टिककर ब्रह्महत्या छुड़ाने के लिये महादेव की आराधना करने लगे ॥ १५ ।

अनन्तर (एक बार) महारुद्रमंत्र का जप करते हुए इन्द्र ने लिंग के बीच में अपने प्रकाश से आकाश को दीप्त। किये हुए साक्षात् त्रिलोचन का दर्शन पाया ॥ १६ ।

तब तो वे फिर अनेक भाँति के वेदोक्त रुद्रसूक्तों से उनकी स्तुति करने लगे । तदनन्तर महादेव उस लिंग से प्रकट होकर (उनसे) कहने लगे ॥ १७ ।

शचीपते प्रसन्नोऽस्मि वरं वरय सुव्रत ।
किं देयं द्रुतमाख्याहि धर्मपीठकृतास्पद ॥ १८ ।
श्रुत्वेति देवदेवस्य सप्रेमवचनं हरिः ।
सर्वज्ञ किं तेऽविदितं तमुवाचेति वृत्रहा ॥ १९ ।
ततस्तत्कृपया नुन्नो धर्मपीठनिषेवणात् ।
निष्पाद्य तीर्थं तत्रेशोऽत्र स्नाहीन्द्रेति चाऽब्रवीत् ॥ २० ।
तत्रेन्द्रः स्नानमात्रेण दिव्यगन्धोऽभवत्क्षणात् ।
अवाप च रुचिं चारु प्राक्तनीं शातयाज्ञिकीम् ॥ २१ ।
तदाश्चर्यमथो दृष्ट्वा मुनयो नारदादयः ।
परिसस्नुर्मुदा युक्ता धर्मतीर्थेऽघहारिणि ॥ २२ ।
अतर्पयन् पितॄन् दिव्यान् व्यधुः श्राद्धानि श्रद्धया ।
धर्मेशं स्नापयामासुस्तत्तीर्थाम्बुभृतैर्घटैः ॥ २३ ।
तदाप्रभृति तत्तीर्थं धर्मान्धुरिति विश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यादिपापानामक्लेशं क्षालनं परम् ॥ २४ ।

अथोऽनन्तरम् । अद इति क्वचित् ॥ २२ ।

धर्मान्धुः धर्मकूपः । अक्लेशं यथा स्यात्तथा । न विद्यन्ते क्लेशा यस्मादिति वा ॥ २४ ।

'हे धर्मपीठसेविन् ! शचीपते ! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो । हे सुव्रत ! मुझसे तुम क्या चाहते हो ? उसे शीघ्र कहो' ॥ १८ ।

वृत्रान्तक इन्द्र ने भगवान् का यह प्रेमपूर्ण वचन सुनकर उनसे कहा 'हे सर्वज्ञ! भला आप से भी कुछ छिपा है' ? ॥ १९ ।

तदनन्तर धर्मपीठ के सेवन से उन पर कृपालु होकर शिव ने वहीं पर तीर्थ बनाकर इन्द्र से कहा कि, तुम यहाँ पर स्नान करो ॥ २० ।

इन्द्र वहाँ पर नहाने के साथ ही क्षणमात्र में दिव्यगन्ध से परिपूर्ण होकर अपनी पुरानी शतयज्ञोपार्जिता कान्ति को प्राप्त हो गये ॥ २१ ।

उसके पश्चात् नारदादिक मुनिगण यह आश्चर्य देखकर पापनाशक उस **धर्मतीर्थ** में बड़े हर्ष के साथ स्नान करने लगे ॥ २२ ।

एवं दिव्य पितरों का तर्पण और श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करके उसी तीर्थ के जल से घड़ों को भरकर **धर्मेश्वर** को स्नान भी कराने लगे ॥ २३ ।

तब से वह तीर्थ अनायास ही ब्रह्महत्यादि पापों का छोड़ाने वाला (छुड़ाने वाला) **धर्मकूप** नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥ २४ ।

यत्फलं तीर्थराजस्य स्नानेन परिकीर्त्यते ।
सहस्रगुणितं तत्स्याद्धर्मान्धुस्नानमात्रतः ॥ २५ ।
गङ्गाद्वारे कुरुक्षेत्रे गङ्गासागरसङ्गमे ।
यत्फलं लभते मर्त्यो धर्मनीर्थे तदाप्नुयात् ॥ २६ ।
नर्मदायां सरस्वत्यां गौतम्यां सिंहगे गुरौ ।
स्नात्वा यत्फलमाप्येत धर्मकूपे तदाप्नुयात् ॥ २७ ।
मानसे पुष्करे चैव द्वारिके सागरे तथा ।
तीर्थे स्नात्वा फलं यत्स्यात्तत्स्याद्धर्मजलाशये ॥ २८ ।
कार्तिक्यां सूकरक्षेत्रे चैत्र्यां गोरीमहाह्रदे ।
शंखोद्धारे हरिदिने यत्फलं तत्फलं त्विह ॥ २९ ।
तीर्थद्वये प्रतीक्षन्ते सिस्नासून् पितरो नरान् ।
गङ्गायां धर्मकूपे च पिण्डनिर्वपणाशया ॥ ३० ।

तीर्थराजस्य समुद्रस्य प्रयागस्य वा ॥ २५ ।

धर्मतीर्थे धर्मेशाधिष्ठिते तीर्थे ॥ २६ ।

द्वारिके सागरे द्वारकासम्बन्धिनि सागरे । देवक इति पाठे देवकपत्तने प्रभासक्षेत्रे इति यावत् ॥ २८ ।

सौकरं शौरभ इति प्रसिद्धम् । गङ्गातीरे । **गौरीमहाह्रदे केदारे** ॥ २९ ।

तीर्थराज प्रयाग के स्नान से जो फल होता है, **धर्मकूप** के स्नानमात्र से उसका सहस्रगुण अधिक फल मिलता है ॥ २५ ।

मनुष्य हरिद्वार, कुरुक्षेत्र और गंगासागर-संगम में जो फल पाता है, **धर्मतीर्थ** में भी वही (फल) लाभ करता है ॥ २६ ।

बृहस्पति के सिंहराशि में जाने पर गौतमी, सरस्वती और नर्मदा में स्नान करने से जो फल होता है, धर्मकूप में नहा लेने से भी वही फल प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ।

मानसरोवर, पुष्कर तीर्थ और द्वारका के समुद्रतीर्थ में स्नान से जो फल है, धर्मकूप में भी वही पुण्य होता है ॥ २८ ।

कार्तिकी पूर्णिमा को सूकर क्षेत्र, चैत्र की पूर्णिमा को गौरीकुंड एवं हरिवासर को शंखोद्धार तीर्थ में नहाने का जो फल है, इस तीर्थ में भी वही पुण्य होता है ॥ २९ ।

गंगा और धर्मकूप इन दो तीर्थों में नहानेवाले लोगों से पितर लोग पिण्ड पाने की आशा लगाये रहते हैं ॥ ३० ।

पितामहसमीपे वा धर्मेशस्याऽग्रतोऽथवा ।
फल्गौ च धर्मकूपे च माद्यन्ति प्रपितामहाः ॥ ३१ ।
धर्मकूपे नरः स्नात्वा परितर्प्य पितामहान् ।
गयां गत्वा किमधिकं कर्ता पितृमुदावहम् ॥ ३२ ।
यथा गयायां तृप्ताः स्युः पिण्डदाने पितामहाः ।
धर्मतीर्थे तथैव स्युर्न न्यूनं नैव चाऽधिकम् ॥ ३३ ।
ते धन्याः पितृभक्तास्ते प्रीणितास्तैः पितामहाः ।
पैत्राद्दृणाद्धर्मतीर्थे निष्कृतिर्यैः कृता सुतैः ॥ ३४ ।
तत्तीर्थस्य प्रभावेण निष्पापोऽभूत्क्षणेन च ।
प्रणम्य देवदेवेशमिन्द्रोऽगादमरावतीम् ॥ ३५ ।
अपारो महिमा तस्य धर्मतीर्थस्य कुम्भज ।
तत्कूपे स्वं निरीक्ष्याऽपि श्राद्धदानफलं लभेत् ॥ ३६ ।
तत्रापि काकिणीमात्रं यच्छेत् पितृमुदे नरः ।
अक्षयं फलमाप्नोति धर्मपीठप्रभावतः ॥ ३७ ।

निष्कृतिरानृण्यं पिण्डदानमिति यावत् ॥ ३४ ।
स्वं प्रतिबिम्बम् ॥ ३६ ।
काकिणी विंशतिवराटिका ॥ ३७ ।

(गया में) पितामहेश्वर के समीप फल्गुनदी पर और (काशी में) धर्मेश्वर के पास धर्मकूप पर पितरलोग सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ ३१ ।

मनुष्य धर्मकूप में नहाकर पितरों का तर्पण कर लेवे, तो गया में जाकर पितरों का उससे अधिक हर्षप्रद कौन-सा कृत्य कर सकता है ? ॥ ३२ ।

पितरलोग गया में पिंडदान करने से जैसे तृप्त होते हैं, **धर्मतीर्थ** पर पिंडा पारने से भी वैसे ही तृप्त हो जाते हैं, इसमें कुछ न्यूनाधिक्य नहीं होता ॥ ३३ ।

जो सन्तान धर्मतीर्थ पर (पितृकर्म करके) पितरों के ऋण से उद्धार कर लेते हैं, वे ही धन्य हैं । वे ही पितृभक्त हैं और वे ही पितरों के प्रीति-सम्पादक हैं ॥ ३४ ।

उस तीर्थ के प्रभाव से इन्द्र क्षणमात्र में निष्पाप हो गये, फिर देवदेव को प्रणाम कर (अपनी) अमरावती पुरी को चले गये ॥ ३५ ।

हे कुंभज मुने ! उस **धर्मतीर्थ** की अपार महिमा है । उस कूप में अपनी परछाँही देखने से भी श्राद्धदान करने का फल प्राप्त होता है ॥ ३६ ।

वहाँ पर यदि कोई मनुष्य पितरों की प्रीति के लिये एक टुकड़ा भी देवे, तो **धर्मतीर्थ** के प्रभाव से उसका अक्षय फल प्राप्त करता है ॥ ३७ ।

तत्र यो भोजयेद्विप्रान् यतिनोऽथ तपस्विनः ।
सिक्थे सिक्थे लभेत् सोऽथ वाजपेयफलं स्फुटम् ॥ ३८ ।
प्राप्याऽमरावतीं शक्रस्ततो दिविषदां पुरः ।
धर्मपीठस्य माहात्म्यं महत्काश्यामवर्णयत् ॥ ३९ ।
आगत्य पुनरप्यत्र शम्भोरानन्दकानने ।
मुनिवृन्दारकैः सार्धं लिङ्गमस्थापयद्धरिः ॥ ४० ।
तारकेशात्पश्चिमत इन्द्रेश्वरमितीरितम् ।
तस्य सन्दर्शनात्पुंसामैन्द्रलोको न दूरतः ॥ ४१ ।
तद्दक्षिणे शचीशश्च स्वयं शच्या प्रतिष्ठितः ।
शचीशाऽर्चनतः स्त्रीणां सौभाग्यमतुलं भवेत् ॥ ४२ ।
तत्समीपेऽस्ति रम्भेशो बहुसौख्यसमृद्धिदः ।
इन्द्रेश्वरस्य परितो लोकपालेश्वरो परः ॥ ४३ ।
तदर्चनात्प्रसीदन्ति लोकपालाः समृद्धिदाः ।
धर्मेशात्पश्चिमाशायां धरणीशः प्रकीर्तितः ॥
तद्दर्शनेन धैर्यं स्याद्राज्ये राजकुलादिषु ॥ ४४ ।

सिक्थे सिक्थे कणायां कणायाम् ॥ ३८ ।
दिविषदां देवानाम् ॥ ३९ ।

यदि कोई वहाँ पर ब्राह्मण, संन्यासी अथवा तपस्वियों को भोजन करावे, तो उस अन्न की प्रत्येक कणिका में समस्त वाजपेय-यज्ञ का फल मिल जाता है ॥ ३८ ।

(उधर) इन्द्र वहाँ से अमरावती में जाकर देवतालोगों के आगे काशी के **धर्मपीठ** की बड़ी ही बड़ाई गाने लगे ॥ ३९ ।

अनन्तर वहाँ से फिर महादेव के आनन्दवन में देवता और मुनियों के साथ (लौट) आकर इन्द्र ने लिंग की स्थापना की ॥ ४० ।

तारकेश्वर से पश्चिम ओर **इन्द्रेश्वर** नामक लिंग प्रसिद्ध है, उसके दर्शन से लोगों को इन्द्रलोक कुछ दूर नहीं रह जाता ॥ ४१ ।

उसके दक्षिण भाग में स्वयं इन्द्राणी का स्थापित **शचीश्वर** नामक लिंग है, उस शचीश्वरलिंग के पूजन करने से स्त्रियों का अतुलनीय सौभाग्य हो जाता है ॥ ४२ ।

उसी लिंग के समीप में **रंभेश्वर** हैं, जो बड़ी सुख-समृद्धियों के दाता हैं और **इन्द्रेश्वर** के पास ही में **लोकपालेश्वर** नामक एक और लिंग है ॥ ४३ ।

उसके पूजन करने से लोकपालगण प्रसन्न होकर समृद्धियों को देते हैं एवं **धर्मेश्वर** से पश्चिम दिशा में जो लिंग है, वह **धरणीश्वर** कहा जाता है, उसके दर्शन से राज्य और राजकुल में धैर्य बना रहता है ॥ ४४ ।

धर्मेशाद्दक्षिणे पूज्यं तत्त्वेशाख्यं परं नरैः ।
तत्त्वज्ञानं प्रवर्तेत तल्लिङ्गस्य समर्चनात् ॥ ४५ ।
धर्मेशात्पूर्वदिग्भागे वैराग्येशं समर्चयेत् ।
निवृत्तिश्चेतसस्तस्य लिङ्गस्य स्पर्शनादपि ॥ ४६ ।
ज्ञानेश्वरं तथैशान्यां ज्ञानदं सर्वदेहिनाम् ।
ऐश्वर्येशमुदीच्यां च लिङ्गाद्धर्मेश्वराच्छुभात् ॥ ४७ ।
तद्दर्शनाद् भवेन्नृणामैश्वर्यं मनसेप्सितम् ।
पञ्चवक्त्रस्य रूपाणि लिङ्गान्येतानि कुम्भज ॥ ४८ ।
एतान्यवश्यं संसेव्य नरः प्राप्नोति शाश्वतम् ।
अन्यत्तत्रैव यद्वृत्तं तदाख्यामि मुने शृणु ॥ ४९ ।
यच्छ्रुत्वाऽपि नरो घोरे संसाराब्धौ न मज्जति ।
कदम्बशिखरो नाम विन्ध्यपादो महानिह ॥ ५० ।
दमस्य पुत्रस्तत्राऽऽसीद्दुर्दमो नाम पार्थिवः ।
पितर्युपरते राज्यं सम्प्राप्याऽविजितेन्द्रियः ॥ ५१ ।

शाश्वतं कैवल्यम् । दुर्दमाख्यानं वक्तुं प्रस्तावयति–**अन्यदिति** ॥ ४९ ।
पादः कच्छः ॥ ५० ।

धर्मेश्वर के दक्षिण भाग में **तत्त्वेश्वर** नामक प्रधान लिंग है । लोगों को उसकी पूजा करनी चाहिए; क्योंकि उस लिंग के पूजन से तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ ४५ ।

धर्मेश्वर के पूर्व ओर **वैराग्येश्वर** लिंग का समर्चन करना उचित है । उस लिंग के स्पर्श करने ही से चित-वृत्तियों की निवृत्ति होने लगती है ॥ ४६ ।

धर्मेश्वर से ईशान कोण पर समस्त देहधारियों को शुभलिंग ज्ञान देनेवाला **ज्ञानेश्वर** लिंग है और उत्तरदिशा में **ऐश्वर्य** नामक लिंग है ॥ ४७ ।

उस लिंग के दर्शन करने से मनोऽभिलषित ऐश्वर्य लोगों को मिलता है । हे कुंभयोने ! ये सब लिंग साक्षात् पंचवक्त्र के स्वरूप हैं ॥ ४८ ।

इन सबों का सेवन करने से मनुष्य अवश्य ही शाश्वतपद को प्राप्त होता है । हे मुने ! वहाँ पर एक और घटना हुई थी, उसे भी कहता हूँ, श्रवण करो ॥ ४९ ।

उसके केवल सुन लेने से भी मनुष्य संसार-सागर में डुबकी नहीं खाता । यहीं पर कदम्बशिखर नाम की विंध्य-पर्वत की एक पहाड़ी है ॥ ५० ।

वहाँ पर राजा दम का पुत्र दुर्दम नामक एक राजा रहता था । पिता के शान्त हो जाने पर राज्य पाकर वह (बड़ा ही) चंचलेन्द्रिय हो गया था ॥ ५१ ।

हरेत्पुरन्ध्रीः प्रसभं पौराणां काममोहितः ।
असाधवः प्रियास्तस्य साधवोऽप्रियतां ययुः ॥ ५२ ।
अदण्ड्यान् दण्डयाञ्चक्रे दण्ड्येष्वासीत्पराङ्मुखः ।
सदैव मृगयाशीलः सोऽभून्मृगयुसङ्गतः ॥ ५३ ।
विवासिताः स्वविषयात्तेन सन्मतिदायिनः ।
धर्माधिकारिणः शूद्रा ब्राह्मणाः करदीकृताः ॥ ५४ ।
परदारेषु सन्तुष्टः स्वदारेषु पराङ्मुखः ।
आनर्च जातुचिन्नैव देवौ दुःखान्तकारिणौ ॥ ५५ ।
हारिणौ सर्वपापानां सर्ववाञ्छितदायिनौ ।
सर्वेषां जगतीसारौ श्रीकण्ठं श्रीपती पती ॥ ५६ ।
स्वप्रजास्वेक उदितो धूमकेतुरिवाऽपरः ।
दुर्दमो नाम भूपालः क्षयायाऽकाण्ड एव हि ॥ ५७ ।

प्रसभं बलात् । पाठान्तरे[1] प्रथमं यथा स्यात् । पुरन्ध्रीर्युवतीः स्त्रीरित्यर्थः ॥ ५२ । **मृगयुर्लुब्धकः** ॥ ५३ ।

वह काम से मोहित होकर पुरवासियों की युवती-स्त्रियों को बलपूर्वक हर लेता था । दुष्ट लोग ही उसके प्यारे थे और सज्जनों से तो वह घृणा करता था ॥ ५२ ।

वह निरपराध लोगों को तो दंड देता, पर अपराधियों को अदंड्य बनाये रहता था । वह व्याध और बनरखों के साथ रहकर सदैव मृगया (अहेर) में लगा रहता था ॥ ५३ ।

अच्छी बुद्धि देनेवालों को उसने अपने राज्य भर से बाहर निकाल दिया । शूद्रलोगों को धर्माधिकारी बनाया और ब्राह्मणों से कर लेने लगा ॥ ५४ ।

वह पराई स्त्रियों से सन्तुष्ट और अपनी स्त्रियों से पराङ्मुख रहता था । उसने कभी भी दुःखान्तकारी, सर्वपापापहारी, सब किसी के वांछितदाता, संसार के सार, सब किसी के स्वामी, देवदेव हरि और हर की पूजा नहीं की ॥ ५५-५६ ।

वह दुर्दम नामक भूपाल अपनी प्रजाओं का असमय में ही क्षय कर डालने के लिए मानो दूसरा धूमकेतु ही उदित हुआ था ॥ ५७ ।

---

1. प्रसभमित्यत्र प्रथममिति ।

स कदाचिन्मृगयुभिः पापर्धिव्यसनातुरः ।
सार्धं विवेशाऽरण्यानि गृष्टिपृष्ठानुगो हयी ॥ ५८ ।
एकाकी दैवयोगेन दुर्दमः सोऽवनीपतिः ।
धन्वी तुरङ्गमारूढोऽविशदानन्दकाननम् ॥ ५९ ।
स विलोक्याऽथ सर्वत्र पादपानवकेशिनः ।
सुच्छायांश्च सुविस्तारान् गतश्रम इवाऽभवत् ॥ ६० ।
सुगन्धेन सुशीतेन सुमन्देन सुवायुना ।
क्षणं संवीजितो राजा पल्लवव्यजनैः कुजैः ॥ ६१ ।
केवलं मृगयाजातस्तत्खेदो न व्यपाव्रजत् ।
आजन्मजनितः खेदो निरगात्तद्वने क्षणात् ॥ ६२ ।
मध्येवनं स चाऽपश्यत्प्रासादं चुम्बिताऽम्बरम् ।
महारत्नशलाकानां रम्यमेकमिवाकरम् ॥ ६३ ।

धूमकेतुः मृत्युः । अकाण्डेऽनवसरे । गृष्टिरत्र मृगः ॥ ५७-५८ ।
अवकेशिनो वन्ध्यफलान् । सुविकासितानिति क्वचित् ॥ ६० ।
कुजैः वृक्षैः ॥ ६१ ।
मध्येवनं वनमध्ये । चुम्बिताम्बरमत्युच्चम् ॥ ६३ ।

एक बार वह पाप की सम्पत्ति से पूर्ण व्यसनातुर राजा व्याधों के साथ घोड़े पर चढ़कर एक नीलगाय के पीछे दौड़ता हुआ बड़े गझिन (घने) जंगल में जा घुसा ॥ ५८ ।

धनुष को लिये, घोड़ा पर चढ़ा हुआ वह राजा दुर्दम दैवयोग से अकेला ही आनन्दवन में जा पड़ा ॥ ५९ ।

वहाँ पर सर्वत्र ही सुन्दर छाया से भरे, बड़े विस्तारयुक्त (छतनार) और फलहीन (विकसित) वृक्षों को देखकर मानो वह श्रमहीन हो गया ॥ ६० ।

वे सब पेड़ (मानो) राजा को अपने पल्लवरूप पंखों के शीतल मन्द सुगन्ध युक्त उत्तम वायु से पंखा झलने लगे ॥ ६१ ।

उस वन को देखने से उस राजा का केवल मृगयाजनित ही खेद नहीं दूर हुआ, वरन् आजन्मसंचित समस्त खेद दूर हो गये ॥ ६२ ।

उसने उस वन के बीच में आकाश को चूमनेवाला (बड़ा ऊँचा) बड़े से बड़े रत्नों की शलाकाओं के आकार-सा परमरमणीय एक मन्दिर देखा ॥ ६३ ।

अथाऽवरुह्य तुरगात् स भूपालोऽतिविस्मितः ।
धर्मेशमण्डपं प्राप्य स्वात्मानं प्रशशंस ह ॥ ६४ ।
धन्योऽस्म्यहं प्रसन्नोऽस्मि धन्ये मेऽद्य विलोचने ।
धन्यमद्यतनं चाहर्यदद्राक्षमिमां भुवम् ॥ ६५ ।
पुनर्निनिन्द चात्मानं धर्मपीठप्रभावतः ।
धिङ् मां दुर्जनसंसर्गं त्यक्तसज्जनसङ्गमम् ॥ ६६ ।
जन्तूद्वेगकरं मूढं प्रजापीडनपण्डितम् ।
परदारपरद्रव्यापहृत्या सुखमानिनम् ॥ ६७ ।
अद्ययावन्मम गतं वृथा जन्माल्पमेधसः ।
धर्मस्थानानीदृशानि यद्दृष्टानि न कुत्रचित् ॥ ६८ ।
एवं बहु विनिन्द्य स्वं नत्वा धर्मेश्वरं विभुम् ।
आरुह्याऽश्वं ययौ राजा दुर्दमो विषयं स्वकम् ॥ ६९ ।
ततोऽमात्यान् समाहूय क्रमायातांश्चिरन्तनान् ।
नवीनान् परिनिर्वास्य पौरांश्चापि समाह्वयत् ॥ ७० ।

अपहृत्या अपहारेण ॥ ६७ ।

फिर तो वह राजा बड़े आश्चर्य के साथ घोड़े से उतरकर **धर्मेश्वर** के मंडप में जा पहुँचा और अपनी (अपने भाग्य की) बड़ी प्रशंसा करने लगा ॥ ६४ ।

आज मैं धन्य हुआ, प्रसन्न हुआ और मेरे दोनों नेत्र भी धन्य हो गये एवं आज का दिन भी धन्य है, जो मैंने इस भूमि को देख लिया ॥ ६५ ।

फिर **धर्मपीठ** के प्रभाव से (ज्ञान हो जाने पर) अपनी ही निन्दा करने लगा कि, दुर्जनों के साथी और सज्जनलोगों के संग त्यागने वाले मुझको धिक्कार है !! ॥ ६६ ।

मैं प्राणियों का जो उद्वेगजनक, मूढ़, प्रजापीड़न में पंडित और धन का अपहरण करके अपने को सुखी मानता हूँ । वह आज तक का मेरा दिन मेरी अल्पबुद्धि के कारण ही वृथा गया, हा !! मैंने ऐसे-ऐसे उत्तम धर्म के स्थानों को कभी नहीं देखा ॥ ६७-६८ ।

इस प्रकार से वह राजा दुर्दम अपनी बड़ी निन्दा करने के उपरान्त भगवान् धर्मेश्वर को प्रणाम कर घोड़े पर चढ़ अपने राज्य को चला गया ॥ ६९ ।

फिर तो उस राजा ने अपनी परम्परा से चले आये हुए पुराने मंत्रियों को बुलाकर और नये मंत्रियों को निकालकर पुरवासियों को भी बुला भेजा ॥ ७० ।

ब्राह्मणांश्च नमस्कृत्य तेभ्यो वृत्तीः प्रदाय च ।
पुत्रे राज्यं समारोप्य प्रजा धर्मे निवेश्य च ॥ ७१ ।
परिदण्ड्य च दण्डार्हान् साधूंश्च परितोष्य च ।
दारानपि परित्यज्य विषयेषु पराङ्मुखः ॥ ७२ ।
समागच्छदथैकाकी काशीं श्रेयोविकासिनीम् ।
धर्मेश्वरं समाराध्य कालान्निर्वाणमाप्तवान् ॥ ७३ ।
धर्मेशदर्शनान्नित्यं तथाभूतः स दुर्दमः ।
बभूव दमिनांश्रेष्ठः प्रान्ते मोक्षं च लब्धवान् ॥ ७४ ।
इत्थं धर्मेशमाहात्म्यं मया स्वल्पं निरूपितम् ।
धर्मपीठस्य माहात्म्यं सम्यक् को वेद कुम्भज ॥ ७५ ।
इदं धर्मेश्वराख्यानं यः श्रोष्यति नरोत्तमः ।
आजन्मसञ्चितात्पापात्स मुक्तो भवति क्षणात् ॥ ७६ ।
श्राद्धकाले विशेषेण धर्मेशाख्यानमुत्तमम् ।
श्रावयेद्व ब्राह्मणान् धीमान् पितॄणां तृप्तिकारणम् ॥ ७७ ।

दमिनामिन्द्रियनिग्रहवताम् ॥ ७४ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ।

तदनन्तर ब्राह्मणों को प्रणाम कर उन लोगों को वृत्ति देकर, राज्य का भार पुत्र को सौंप अपनी प्रजा को धर्म-पथ पर स्थापित कर स्त्रियों को भी त्याग, विषय-वासना से विमुख हो गया ॥ ७१-७२ ।

फिर श्रेयोविकासिनी काशी में अकेला ही पहुँच **धर्मेश्वर** की आराधना करके कालानुसार निर्वाण-पद को प्राप्त हुआ ॥ ७३ ।

वह राजा दुर्दम वैसा होने पर भी नित्य **धर्मेश्वर** के दर्शन करने से जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ हो गया और अन्त में मोक्ष भी पा गया ॥ ७४ ।

हे कुंभज ! यह तो धर्मेश्वर का माहात्म्य मैंने थोड़े में निरूपण किया; पर सम्पूर्ण रीति से उस धर्मपीठ की महिमा को भला कौन जान सकता है ? ॥ ७५ ।

जो उत्तम नर, इस धर्मेश्वर के उपाख्यान को सुनेगा, वह उसी घड़ी जन्मभर के संचित पाप से छूट जायेगा ॥ ७६ ।

बुद्धिमान् जन विशेष करके श्राद्धकाल में पितरों के तृप्तिकारक इस उत्तम **धर्मेश्वर** के आख्यान को ब्राह्मणलोगों के (समीप) सुनावें ॥ ७७ ।

धर्माख्यानमिदं शृण्वन्नपि दूरस्थितः सुधीः ।
सर्वपापैर्विनिर्मुक्तो गन्ताऽन्ते शिवमन्दिरम् ॥ ७८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे धर्मेश्वराख्यानं नामैकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ।

दूर स्थित होने पर भी बुद्धिमान् जन **धर्मेश्वर** के इस उपाख्यान को सुनने से समस्त पापों से छूटकर अन्त में शिवधाम को गमन करते हैं ॥ ७८ ।

दोहा—धर्मेश्वर के पास में, धर्मकूप विख्यात ।
रहै मास छह नृत्यु में, तब तहँ मुख न दिखात ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे
भाषायामेकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ।

॥ अथ द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥

पार्वत्युवाच–

वीरेशस्य महेशान श्रूयते महिमा महान् ।
परां सिद्धिं परापेतुस्तत्र सिद्धाः परःशताः ॥ १ ।
कथमाविर्भवस्तस्य काश्यां लिङ्गवरस्य तु ।
आशु सिद्धिप्रदस्येह तन्मे ब्रूहि जगत्पते ॥ २ ।

महेश्वर उवाच –

निशामय महादेवि वीरेशाविर्भवं परम् ।
यं श्रुत्वाऽपि नरः पुण्यं प्राप्नोति विपुलं शिवे ॥ ३ ।
आसीदमित्रजिन्नाम राजा परपुरञ्जयः ।
धार्मिकः सत्त्वसम्पन्नः प्रजारञ्जनतपरः ॥ ४ ।

अथाशीतितमेऽध्याये द्व्यधिकेऽत्यन्तसुन्दरे ।
वीरेश्वरस्य लिङ्गस्य प्रादुर्भावः प्रतन्यते ॥ १ ।

वीरेश्वरस्याऽऽविर्भावं प्रष्टुमाह–**वीरेशस्येति** ॥ १ ।

तत्राख्यायिकामवतारयति–**आसीदिति** । राजानं विशिनष्टि । षडक्षराधिक-सार्धषड्भिः ॥ ४ ।

(वीरेश्वर के आविर्भाव की कथा)

(राजा अमित्रजित् और मलयगन्धिनी का विवाह और कंकालकेतु दानव का वध)

पार्वती ने पूछा –

हे महेश्वर! वीरेश्वर की भी तो बड़ी महिमा सुनाई पड़ती है । वहाँ पर सैकड़ों लोगों ने परमसिद्धि को पाया है ॥ १ ।

उस उत्तम लिंग का काशी में कैसे आविर्भाव हुआ, जो बहुत शीघ्र ही सिद्धियों का दाता हो गया । हे जगत्पते! यह सब मुझसे कहिये ॥ २ ।

महेश्वर नें उत्तर दिया–

हे महादेवि! वीरेश्वर के परम आविर्भाव की कथा को श्रवण करो । अयि शिवे! इसके सुनने से मनुष्य विपुल पुण्य को प्राप्त करता है ॥ ३ ।

अमित्रजित् नामक एक राजा बड़ा धार्मिक, परपुरंजय, परमसत्त्व सम्पन्न, प्रजारंजन में तत्पर ॥ ४ ।

यशोधनो वदान्यश्च सुधीर्ब्राह्मणदैवतः ।
सदैवाऽवभृथस्नानपरिक्लिन्नशिरोरुहः ॥ ५ ।
विनीतो नीतिसम्पन्नः कुशलः सर्वकर्मसु ।
विद्याब्धिपारदृश्वा च गुणवान् गुणिवत्सलः ॥ ६ ।
कृतज्ञो मधुरालापः पापकर्मपराङ्मुखः ।
सत्यावाक् शौचनिलयः स्वल्पवाग् विजितेन्द्रियः ॥ ७ ।
रणाङ्गणे कृतान्ताभः संख्यावांश्च सदोजिरे ।
कामिनीकामकेलिज्ञो युवाऽपि स्थविरप्रियः ॥ ८ ।
धर्मार्थैर्धितकोशश्च समृद्धबलवाहनः ।
सुभगश्च सुरूपश्च सुमेधाः सुप्रजाश्रयः ॥ ९ ।
स्थैर्यधैर्यसमापन्नो देशकालविचक्षणः ।
मान्यमानप्रदो नित्यं सर्वदूषणवर्जितः ॥ १० ।
वासुदेवाऽङ्घ्रियुगले चेतोवृत्तिं निधाय सः ।
चकार राज्यं निर्द्वन्द्वं विष्वगीतिविवर्जितम् ॥ ११ ।

वदान्यो दाता ॥ ५ ।
शौचनिलयः शौचाश्रयः । शौचनियम इति क्वचित् ॥ ६ ।
संख्यावान् विद्वान् । सदोजिरे सभाङ्गणे । ज्ञानवांश्च परमात्मनीति क्वचित् ॥ ८।
विष्वक् सर्वतः । ईतयोऽतिवृष्ट्यादयः । तदुक्तम् –

अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषकाः खगाः ।
प्रत्यर्थिनश्च राजानः सप्तैता[1] ईतयः स्मृताः॥ इति ।

ताभिः रहितम् ॥ ११ ।

यशस्वी, वदान्य, बुद्धिमान्, ब्राह्मणसेवी, बहुत विनीत, नीतिसम्पन्न, समस्त कर्मों में निपुण, विद्यासागर का पारदृश्वा, गुणवान्, गुणग्राहक, कृतज्ञ, मधुरालापी, पापकर्म से विमुख, सत्यवचन, शौचागार, मितभाषी, विजितेन्द्रिय, रणांगण में यमराज के तुल्य, सभा में दिग्गज विद्वान्, स्थिरता, धीरता आदि से सम्पन्न, देश-काल में विचक्षण, माननीय लोगों का मान करनेवाला, समस्त दोषों से रहित था, उसके माथे के बाल सदैव यज्ञस्थान से गीले 'आर्द्र' ही रहते थे ॥ ५-१० ।

वह अपने चित्त की वृत्ति को भगवान् वासुदेव के चरण-कमल में लगाकर सब प्रकार के उपद्रवों से रहित निष्कंटक राज्य करता था ॥ ११ ।

---

1. चशब्देन स्वचक्रम् एवं सप्तेत्यर्थः । पुस्तकान्तरे तु षडेता ईतय इत्येव पाठः ।

अलङ्घ्यशासनः श्रीमान् विष्णुभक्तिपरायणः ।
अभुनक् प्रचुरान् भोगान् समन्ताद्विष्णुसात्कृतान् ॥ १२ ।
हरेरायतनान्युच्चैः प्रतिसौधं पदे पदे ।
तस्य राज्ये समभवन् महाभाग्यनिधेः शिवे ॥ १३ ।
गोविन्द गोप गोपाल गोपीजनमनोहर ।
गदापाणे गुणातीत गुणाढ्य गरुडध्वज ॥ १४ ।
केशिहृत् कैटभाराते कंसारे कमलापते ।
कृष्ण केशव कञ्जाक्ष कीनाश भयनाशन ॥ १५ ।
पुरुषोत्तम पापारे पुण्डरीकविलोचन ।
पीतकौशेयवसन पद्मनाभ परात्पर ॥ १६ ।

समन्तात् कायवाङ्मन आदिभिर्विष्णुसात्कृतान् विष्णवे समर्पितान् । तदुक्तं भागवते –

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ इति ॥ १२ ।

हरेरिति । हरेरायतनानि प्रति पदे पदे स्थाने स्थाने उच्चैरुन्नतं सौधं देवालयम् । महाभाग्यनिधेस्तस्य राज्ये समभवदित्यन्वयः । विसर्गाभावपाठे[1] देव्याः सम्बोधनम् । गोविन्देत्यादिश्लोकानां मधुद्विषो गोविन्दादिनामानि यस्य राज्ये यत्र कुत्रापि श्रूयन्त इति नवमेनाऽन्वयः ॥ १४ ।

कीनाशो मृत्युः ॥ १५ ।

अलंघ्यशासन श्रीमान् अमित्रजित् विष्णु का परम भक्त होकर समस्त भोगों को विष्णु के चरणों में समर्पण करके ही आप भोगता था ॥ १२ ।

उस महाभाग्यशाली राजा के राज्य में पद-पद पर विष्णु के बड़े ऊँचे मन्दिर प्रत्येक गृहों में विराजमान थे ॥ १३ ।

उसके राज्य में सर्वत्र ही हे गोविन्द! गोप! गोपाल! गोपीजनचित्तचोर! गदाधर! गुणातीत! गुणपूर्ण! गरुडध्वज! ॥ १४ ।

केशिसूदन! कैटभाराते! कंसारे! कमलापते! कृष्ण! केशव! कमलनेत्र! मृत्युभयनाशन! पुरुषोत्तम! पापारे! पुण्डरीकाक्ष! पीतकौशेयवसन! पद्मनाभ! परात्पर! ॥ १५-१६ ।

---

1. भाग्यनिधे इति ।

जनार्दन जगन्नाथ जाह्नवीजलजन्मभूः ।
जन्मिनां जन्महरण जज्ञपूकाऽघनाशन ॥ १७ ।
श्रीवत्सवक्षः श्रीकान्त श्रीकर श्रेयसांनिधे ।
श्रीरङ्ग शार्ङ्गकोदण्ड शौरे शीतांशुलोचन ॥ १८ ।
दैत्यारे दानवाराते दामोदर दुरन्तक ।
देवकीहृदयानन्द दन्दशूकेश्वरेशय ॥ १९ ।
विष्णो वैकुण्ठनिलय बाणारे विष्टरश्रवः ।
विष्वक्सेन विराधारे वनमालिन् वनप्रिय ॥ २० ।
त्रिविक्रम त्रिलोकीश चक्रपाणे चतुर्भुज ।
इत्यादीनि पवित्राणि नामानि प्रतिमन्दिरम् ॥ २१ ।
स्त्रीवृद्धबालगोपालवदनोदीरितानि तु ।
श्रूयन्ते यत्र कुत्रापि रम्याणि मधुविद्विषः ॥ २२ ।

जञ्जपूका जपशीलास्तेषामघनाशन । भक्तानामिति क्वचित् ॥ १७ ।

दुरन्तक दुर्निवार्यमृत्यो । पुरान्तकेति क्वचित् । दन्दशूकेश्वरेशय अनन्तशायिन् ॥ १९ ।

विष्टरश्रवः याज्ञवल्क्यादिषु श्रूयमाण । विराधनामराक्षसारे । विधे वीरेति क्वचित् ॥ २० ।

जनार्दन! जगन्नाथ! जाह्नवीजलजन्मभूमे! जन्मिजन्मनिवारक! यज्ञकर्तृजन के पापापहारक! श्रीवत्सवक्ष! श्रीकान्त! श्रीकर! श्रेयोनिधे! श्रीरंग! शार्ङ्गकोदण्ड! शौरे! शीतांशुलोचन! ॥ १७-१८ ।

दैत्यारे! दानवाराते! दामोदर! दुरन्त! देवकीहृदयानन्द! शेषशायिन्! ॥ १९ ।

विष्णोः वैकुण्ठनिलय! बाणारे! विष्टरश्रवः! विष्वक्सेन! विराधारे! वनमालिन्! वनप्रिय! त्रिविक्रम! त्रिलोकीनाथ! चक्रपाणे! चतुर्भुज! इत्यादि मधुसूदन के मधुर और पवित्र नाम घर-घर में बाल-गोपाल, वृद्ध और स्त्रियों के मुख से उच्चारित होने पर जहाँ-तहाँ (सर्वत्र ही) सुनाई पड़ते थे ॥ २०-२२ ।

सुरसाकाननान्येव विलोक्यन्ते गृहे गृहे ।
चरित्राणि विचित्राणि पवित्राण्यब्धिजापतेः ॥ २३ ।
सौधभित्तिषु दृश्यन्ते चित्रकृन्निर्मितानि तु ।
ऋते हरिकथायास्तु नाऽन्या वार्ता निशम्यते ॥ २४ ।
हरिणा नैव विध्यन्ते हरिनामांशधारिणः ।
तस्य राज्ञो भयाद् व्याधैररण्यसुखचारिणः ॥ २५ ।
न मत्स्या नैव कमठा न वराहाश्च केनचित् ।
हन्यन्ते क्वापि तद्भीत्या मत्स्यमांसाशिनाऽपि वै ॥ २६ ।
अप्युत्तानशयास्तस्य राष्ट्रे मित्रजितः क्वचित् ।
स्तनपानं न कुर्वन्ति सम्प्राप्य हरिवासरम् ॥ २७ ।

सुरसाकाननानि तुलसीवनानि शोभनो रसो रागो भगवतो यस्यामिति व्युत्पत्तेः । यदाह धन्वन्तरिः –"**तुलसी सुरसा गौरी भूतघ्नी बहुमञ्जरीति**" । चरित्राणि पूतनावध-शकटभञ्जनादीनि ॥ २३।

न केवलं गृहे गृहे विलोक्यन्ते सौधभित्तिषु च दृश्यन्त इति सम्बन्धः ॥ २४ ।

हरिनामलक्षणो योंऽशो भागस्तद्धारिणः ॥ २५ ।

प्रत्येक गृहों में तुलसी के जंगल ही दीख पड़ते थे एवं बड़ी-बड़ी अटारियों की भीतों पर (चतुर) चितेरों की लिखी हुई भगवान् कमलापति की परम पवित्र और विचित्र चित्रकारियाँ दृष्टिगोचर होती थीं । (वहाँ पर) हरिकथा से भिन्न दूसरी बात ही नहीं सुनाई देती थी ॥ २३-२४ ।

भगबान् हरि के नामांश के लेखधारी होने से ही हरिनों को भी व्याध लोग उस राजा के भय से नहीं मारते थे । इस कारण से वे सब (हरिन) सुख से वन में विचरण करते थे ॥ २५ ।

कोई भी मांस, मछली खानेवाला उसके भय से मछली, कछुआ किं वा वराह को नहीं मारने पाता था ॥ २६ ।

उस राजा अमित्रजित् के राज्यभर में कहीं पर कोई दुधमुहाँ बच्चा भी एकादशी आने पर दूध नहीं पीता था ॥ २७ ।

पशवोऽपि तृणाहारं परित्यज्य हरेर्दिने ।
उपोषणपरा जाता अन्येषां का कथा नृणाम् ॥ २८ ।
महामहोत्सवः सर्वैः पुरौकोभिर्वितन्यते ।
तस्मिन् प्रशासति भुवं सम्प्राप्ते हरिवासरे ॥ २९ ।
स एव दण्ड्योऽभूत्तस्य राज्ञो मित्रजितः क्षितौ ।
यो विष्णुभक्तिरहितः प्राणैरपि धनैरपि ॥ ३० ।
अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शंखचक्राङ्कधारिणः ।
सम्प्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संबभुः ॥ ३१ ।
शुभानि यानि कर्माणि क्रियन्तेऽनुदिनं जनैः ।
वासुदेवे समर्प्यन्ते तानि तैरफलेप्सुभिः ॥ ३२ ।
विना मुकुन्दं गोविन्दं परमानन्दमच्युतम् ।
नाऽन्यो जप्येत मन्येत न भज्येत जनैः क्वचित् ॥ ३३ ।

दीक्षिता इव यज्ञादिदीक्षायां दीक्षिता इव । न्यवसन् भुवीति क्वचित् ॥ ३१ ।
न भज्येत न सेव्यते ॥ ३३ ।

मनुष्यों की कौन बात है, एकादशी के दिन तो पशु भी तृणाहार छोड़कर उपवास ही करते थे ॥ २८ ।

उस राजा के राज्यशासन समय में एकादशी पहुँचने पर सभी पुरवासी लोग बहुत बड़ा महोत्सव मनाते थे ॥ २९ ।

राजा अमित्रजित् का एकमात्र भूतल पर प्राणदण्ड अथवा अर्थदण्ड वही पाता, जो भगवान् विष्णु की भक्ति से रहित होता ॥ ३० ।

उसके राज्य में अन्त्यज जाति के लोग भी विष्णुमंत्र से दीक्षित हो, शंख, चक्र का छाप धारण करके ब्राह्मणों ही की तरह शोभा पाते थे ॥ ३१ ।

लोग प्रतिदिन जितने ही अच्छे कर्म करते, उन सब कर्मों को वे निष्कामभाव से वासुदेव को समर्पण कर देते ॥ ३२ ।

कहीं पर कोई भी परमानन्द (अच्युत) मुकुन्द, गोविन्द को छोड़कर दूसरे किसी देवता को न तो जपता, न भजता, न मानता ही था ॥ ३३ ।

कृष्ण एव परो देवः कृष्ण एव परा गतिः ।
कृष्ण एव परो बन्धुः तस्याऽऽसीदवनीपतेः ॥ ३४ ।
एवं तस्मिन् महीपाले राज्यं सम्यक् प्रशासति ।
एकदा नारदः श्रीमांस्तं दिदृक्षुः समाययौ ॥ ३५ ।
राज्ञा समर्चितः सोऽथ मधुपर्कविधानतः ।
नारदो वर्णयामास तममित्रजितं नृपम् ॥ ३६ ।

नारद उवाच –

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि मान्योऽप्यसि दिवौकसाम् ।
सर्वभूतेषु गोविन्दं परिपश्यन् विशाम्पते ॥ ३७ ।
यो वेदपुरुषो विष्णुर्यो यज्ञपुरुषो हरिः ।
योऽन्तरात्माऽस्य जगतः कर्ता हर्ताऽविता विभुः ॥ ३८ ।
तन्मयं पश्यतो विश्वं तव भूपाल सत्तम ।
दर्शनं प्राप्य शुभदं शुचित्वमगमं परम् ॥ ३९ ।

दध्नामिश्रितं जलं मधुपर्कः ॥ ३६ ।
अहमगमं प्राप्तः ॥ ३९ ।

उस भूपति के भगवान् कृष्ण ही परमदेवता, कृष्ण ही परमगति और कृष्ण ही परमबन्धु थे ॥ ३४ ।

इस प्रकार से राजा अमित्रजित् के सम्यग् रूप से राज्यशासन करने के समय एक बार श्रीमान् देवर्षि नारद उसको देखने के लिये (वहाँ) आये ॥ ३५ ।

अनन्तर राजा ने (बड़े आदर के साथ) मधुपर्क की विधि के अनुसार उनका पूजन किया । तदुपरान्त नारद राजा अमित्रजित् से कहने लगे ॥ ३६ ।

नारद बोले–

'हे नरपाल! तुम्हीं धन्य, तुम्हीं कृतार्थ और तुम्हीं देवतालोगों के भी मान्य हो, क्योंकि तुम समस्त भूतों में भगवान् गोविन्द ही को देखते हो ॥ ३७ ।

हे राजसत्तम! जो वेद के प्रतिपाद्य पुरुष विष्णु हैं और जो यज्ञपुरुष हरि हैं, एवं जो इस जगत् के अन्तरात्मा, हर्ता, कर्ता और पालयिता हैं, उन्हीं विष्णु से व्याप्य अर्थात् विष्णुमय जगत् को तुम देखते हो, अतएव तुम्हारे शुभप्रद दर्शन को पाकर (आज) मैं बड़ा ही पवित्र हो गया ॥ ३८-३९ ।

एक एव हि सारोऽत्र संसारे क्षणभङ्गुरे ।
कमलाकान्तपादाब्जभक्तिभावोऽखिलप्रदः ॥ ४० ।
परित्यज्य हि यः सर्वं विष्णुमेकं सदा भजेत् ।
सुमेधसं भजन्ते तं पदार्थाः सर्व एव हि ॥ ४१ ।
हृषीकेशे हृषीकाणि यस्य स्थैर्यं गतान्यहो ।
स एव स्थैर्यमाप्नोति ब्रह्माण्डेऽतीव चञ्चले ॥ ४२ ।
यौवनं धनमायुष्यं पद्मिनीजलबिन्दुवत् ।
अतीवचपलं ज्ञात्वाऽच्युतमेकं समाश्रयेत् ॥ ४३ ।
वाचि चेतसि सर्वत्र यस्य देवो जनार्दनः ।
स एव सर्वदा वन्द्यो नररूपी जनार्दनः ॥ ४४ ।
निर्व्याजप्रणिधानेन शीलयित्वा श्रियः पतिम् ।
पुरुषोत्तमतां को न प्राप्तवानिह भूतले ॥ ४५ ।

सर्वत्र देहादौ । कर्तव्य इति क्वचित् ॥ ४४ ।
प्रणिधानेन पूजनेन ध्यानेन वा शीलयित्वा पूजयित्वा ध्यात्वा वा ॥ ४५ ।

इस क्षणभंगुर संसार में सब कल्याणों का देनेवाला, एकमात्र कमलाकान्त के चरणारविन्द का भक्तिभाव ही सारपदार्थ है ॥ ४० ।

जो बुद्धिमान् जन और सब कुछ त्यागकर केवल विष्णु को ही भजता है, सब पदार्थ उसे आप से आप सेवते हैं ॥ ४१ ।

ऋषीकेश के ऊपर जिसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो रहती हैं, वही मनुष्य इस परम चंचल ब्रह्माण्ड में स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ४२ ।

धन, यौवन, आयुष्य आदि को कमलपत्र के जलबिन्दु-सा अत्यन्त अस्थिर समझ कर अकेले भगवान् अच्युत ही के आश्रय में रहना चाहिए ॥ ४३ ।

जिसके वचन और हृदय में सर्वत्र ही भगवान् जनार्दन विराजमान रहते हैं, वह नररूपधारी जनार्दन सर्वदैव वन्दनीय है ॥ ४४ ।

इस भूतल पर निश्छल ध्यानयोग के द्वारा श्रीपति विष्णु की आराधना करके कौन नहीं पुरुषोत्तमता को प्राप्त हुआ है ॥ ४५ ।

अनया विष्णुभक्त्या ते सन्तुष्टेन्द्रियमानसः ।
उपकर्तुमना ब्रूयां तन्निशामय भूपते ॥ ४६ ।
बाला विद्याधरसुता नाम्ना मलयगन्धिनी ।
क्रीडन्ती पितुराक्रीडे हृता कङ्कालकेतुना ॥ ४७ ।
कपालकेतुपुत्रेण दानवेन बलीयसा ।
आगामिन्यां तृतीयायां तस्याः पाणिग्रहः किल ॥ ४८ ।
पाताले चम्पकावत्यां नगर्यां साऽस्ति साम्प्रतम् ।
हाटकेशात् समागच्छंस्तयाऽहं साश्रुनेत्रया ॥ ४९ ।
दृष्टः प्रणम्य विज्ञप्तो यथा तच्च निशामय ।
ब्रह्मचारिन् मुनिश्रेष्ठ गन्धमादनशैलतः ॥ ५० ।
बालक्रीडनकासक्तां मोहयित्वा निनाय सः ।
कङ्कालकेतुर्दुर्वृत्तो दुर्जयोऽन्यास्त्रघाततः ॥ ५१ ।
स्वस्य त्रिशूलघातेन म्रियते नाऽन्यथा रणे ।
जगत्पर्याकुलीकृत्य निद्रात्यत्र विनिर्भयः ॥ ५२ ।

मलयशब्देनाऽत्र मलयजो लक्ष्यते। तद्वद्गन्धो वर्तते यस्याः सा मलयगन्धिनी ॥ ४७।
पाणिग्रहः देव्योद्दिष्ट इति शेषः ॥ ४८ ।
हाटकेशात् पातालस्थानात् ॥ ४९ ।
मोहयित्वा मायया मोहं सम्पाद्य । मां ज्ञात्वाऽत्रेति[1] क्वचित् ॥ ५१ ।
स स्वेति पाठे अन्वयभेदादपौनरुक्त्यम् ॥ ५२ ।

हे भूपते! तुम्हारी ऐसी विष्णु की भक्ति को देख परमसन्तुष्टचित्त होकर मैं जो कुछ तुम्हारा उपकार किया चाहता हूँ, तुम श्रवण करो ॥ ४६ ।

मलयगंधिनी नाम की एक बालिका जो कि विद्याधर की कन्या है, अपने पिता की वाटिका में खेलती थी । उसी वेला कपालकेतु का बेटा कंकालकेतु नामक एक बड़े बलवान् दानव ने उसे हरण कर लिया और आगामिनी तृतीया तिथि को उसका विवाह होना स्थिर हुआ है ॥ ४७-४८ ।

इस घड़ी वह पाताल की चम्पावती नगरी में निवास करती है । हाटकेश्वर से होकर आते हुए मुझसे उसने आँखों में आँसू भरकर देखते ही प्रणाम करके जो कुछ कहा, उसे सुनो, "हे ब्रह्मचारिन्! मुनिश्रेष्ठ! गन्धमादन पर्वत पर मैं खेलने में लगी थी, वहीं से यह दुराचारी कंकालकेतु नामक दानव मुझे हर लाया, वह युद्ध में दूसरे शस्त्रों से अजेय है, केवल अपने ही त्रिशूल के आघात से वह मर सकता है । अन्यथा नहीं मारा जा सकता। वह दानव संसारभर को व्याकुल करके यहीं पर निर्भय होकर सोया करता है ॥ ४९-५२।

---

1. हत्वाऽत्रेति पुस्तकान्तरे ।

यदि कोऽपि कृतज्ञो मां हत्वेमं दुष्टदानवम् ।
मद्दत्तेन त्रिशूलेन नयेद् भद्रं भवेन्नरः ॥ ५३ ।
यदत्रोपचिकीर्षुस्त्वं रक्ष मां दुष्टदानवात् ।
ममाऽपि हि वरो दत्तो भगवत्या महामुने ॥ ५४ ।
विष्णुभक्तो युवा धीमान् पुत्रि त्वां परिणेष्यति ।
आ तृतीयातिथि यथा तद्वाक्यं तथ्यतां व्रजेत् ॥ ५५ ।
तथा निमित्तमात्रं त्वं भव यत्नं समाचर ।
इति तद्वचनाद्राजन् विष्णुभक्तिपरायणम् ॥ ५६ ।
तद् गच्छ कार्यसिद्ध्यै त्वं हत्वा तं दुष्टदानवम् ।
आनयाऽऽशु महाबाहो शुभां मलयगन्धिनीम् ॥ ५७ ।

यदीति । कोऽपि नर इत्यन्वयः ॥ ५३ ।

यद्यदि अत्रास्मिन्नर्थे **उपचिकीर्षुः** उपकर्तुमिच्छुः ॥ ५४ ।

आ तृतीयातिथीति वचनात्तृतीयायां विवाहो भविष्यतीति देव्योक्तमिति ज्ञातव्यम् ॥ ५५ ।

मामेव प्रार्थयेति शङ्कां शातयति–**तथेति** ॥ ५६ ।

यदि कोई कृतज्ञ मनुष्य इस दुष्ट दानव को मेरे दिये हुए त्रिशूल से मारकर मुझको निकाल ले चलता, तो बहुत अच्छा होता ॥ ५३ ।

हे महामुने! यदि आप उपकार किया चाहते हैं, तो इस दुष्ट दानव से मुझे बचा लीजिये । मुझे तो भगवती ने वर भी दिया है ॥ ५४ ।

उनका वरदान है–"हे पुत्रि! एक बड़ा विष्णुभक्त बुद्धिमान् युवा तृतीया तिथि तक तुझे व्याहेगा" । ऐसा करें कि जिसमें भगवती का वचन पूरा हो जावे ॥ ५५ ।

इसलिये आप निमित्तमात्र होकर इस विषय में कुछ यत्न कीजिये" । हे राजन्! उसके कहने ही से मैं विष्णुभक्ति में तत्पर, जवान और बुद्धिमान् (देखकर) आप के पास आया हूँ ॥ ५६ ।

अतएव हे महाबाहो! आप इस कार्य की सिद्धि के लिये शीघ्र ही यात्रा करें और उस दुष्ट दानव को मारकर शुभलक्षणा **मलयगन्धिनी** को लिवा लावें ॥ ५७।

सा तु विद्याधरी जीवेद् विलोक्य त्वां नरेश्वर ।
पार्वतीवचनाद्दुष्टं घातयिष्यत्ययत्नतः ॥ ५८ ।
इति नारदवाक्यं स निशम्यामित्रजिन्नृपः ।
अनल्पोत्कलिको जातो विद्याधरसुतां प्रति ॥ ५९ ।
उपायं चापि पप्रच्छ गन्तुं तां चम्पकावतीम् ।
नारदेन पुनः प्रोक्तः स राजा गिरिराजजे ॥ ६० ।
तूर्णमर्णवमासाद्य पूर्णिमादिवसे नृप ।
भवान् द्रक्ष्यति पोतस्थः कल्पवृक्षं रथस्थितम् ॥ ६१ ।
तत्र दिव्याङ्गना काचिद्दिव्यपर्यङ्कसंस्थिता ।
वीणामादाय गायन्ती गाथां गास्यति सुस्वरम् ॥ ६२ ।
यत्कर्म विहितं येन शुभं वाऽथ शुभेतरम् ।
स एव भुङ्क्ते तत्तथ्यं विधिसूत्रनियन्त्रितः ॥ ६३ ।

जीवेज्जीविष्यति । त्वद्द्वारा घातयिष्यति च । जीवेदित्यत्र बालेति वा पाठः ॥ ५८।

अनल्पा बहुला उत्कलिका [illegible]ञ्चो यस्य सः ॥ ५९ ।

पूर्णिमादिवस इति । चतुर्दश्यां नारदागमनं पूर्णिमायां समुद्रप्राप्तिर्देवीदर्शनं च प्रतिपदि जलप्रवेशादिकं चेति विवेकः ॥ ६१ ।

तत्र दिव्याङ्गनेत्यादेरयं भावः । यया देव्या तस्यै वरो दत्तः, सैव त्वां तत्र नेतुं त्वया तस्याः परिणयनमवश्यं भावीति सूचयन्ती गाथां गास्यतीति ॥ ६२ ।

गाथामेवाह—**यदिति** । तच्छुभाऽशुभं कर्म तथ्यमेतदवश्यमित्यर्थः । विधिर्नोदना, स एव सूत्रं रज्जुस्तेन नियन्त्रितो बद्धः ।वेदकिङ्करः सन्नित्यर्थः । वेदगर्भाज्ञालक्षण-सूत्रनियन्त्रित इति वा ॥ ६३ ।

हे नरनाथ! वह बिचारी विद्याधरी आपका दर्शन पा जाने ही से जी सकेगी और आप भगवती पार्वती देवी के वचनानुसार प्रयास उठाये बिना ही उस दुष्ट को मार सकेंगे ॥ ५८ ।

इस भाँति नारद के वचन को सुनकर वह राजा अमित्रजित् विद्याधर की कन्या को पाने की इच्छा से बड़ा ही उत्सुक हो उठा ॥ ५९ ।

और **चम्पकावती** नगरी में जाने का उपाय भी पूछने लगा, हे गिरीन्द्रनन्दिनि! तब तो फिर नारद ने कहा ॥ ६० ।

हे राजन्! पूर्णिमा के दिन पोत (जहाज) पर चढ़कर शीघ्र ही समुद्र में चले जाने पर आप एक रथ के ऊपर कल्पवृक्ष को लगा हुआ देखेंगे ॥ ६१ ।

उसके ऊपर दिव्यपर्यंक पर विराजमान हो एक दिव्यांगना वीणा लेकर गाती हुई मधुरस्वर में इस गाथा को गावेगी ॥ ६२ ।

जिसने शुभ अथवा अशुभ (भला वा बुरा) चाहे कैसा ही कर्म किया है, उसे दैव की डोरी में बँधकर उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है ॥ ६३ ।

गाथामिमां सा संगीय सरथा समहीरुहा ।
सपर्यङ्का क्षणादेव मध्येसिन्धु प्रवेक्ष्यति ॥ ६४ ।
भवानप्यविशङ्कं च ततः पोतान् महार्णवे ।
तामनुव्रजतु क्षिप्रं यज्ञवाराहमास्तुवन् ॥ ६५ ।
ततो द्रक्ष्यसि पाताले नगरीं चम्पकावतीम् ।
महामनोहरां राजन् सहितां बालयाऽनया ॥ ६६ ।
इत्युक्त्वाऽन्तर्हितो देवि स चतुर्मुखनन्दनः ।
राजाऽप्यर्णवमासाद्य यथोक्तं परिलक्ष्य च ॥ ६७ ।
विवेशाऽन्तःसमुद्रं च नगरीमाससाद ताम् ।
साऽथ विद्याधरी बाला नेत्रप्राघुणिकीकृता ॥ ६८ ।

आस्तुवन् आ समन्तात् कायवाङ्मनोभिः । यज्ञवराहस्य जलक्रीडाभिरुचितस्य[1] । तदुक्तं वनपर्वणि –**"जलक्रीडाभिरुचिरं वाराहं रूपमस्मरदिति"** । पृथिव्युद्धरणाय जले प्रविष्टत्वात्तत्स्तवनेन तेन धराया इव जलप्रवेशाऽबाधेन त्वया मलयगन्धिन्या उद्वाहो भविष्यतीति भावः ॥ ६५ ।

अनया मलयगन्धिन्या ॥ ६६ ।

नेत्रप्राघुणिकी चक्षुरतिथिः ॥ ६८ ।

(बस) इस गाथा (कहावत) को गाकर वह दिव्यकन्या, वृक्ष, रथ और पर्यंक के सहित क्षणमात्र में समुद्र के भीतर घुस जावेगी ॥ ६४ ।

हे राजन्! उस घड़ी आप भी यज्ञवाराह को स्मरण करते हुए, निःशंकचित्त होकर उस पोत (जहाज) से महासमुद्र में तुरत (कूदकर) उसका अनुसरण कीजियेगा ॥ ६५ ।

तदनन्तर पाताल में (पहुँचकर) उस कन्या के सहित परममनोहर चंपकावती नगरी को देखियेगा ॥ ६६ ।

इन बातों को बताकर ब्रह्मा के पुत्र अन्तर्धान हो गये । राजा ने भी समुद्र पर पहुँचकर, कथनानुसार सब कुछ देखा-भाला ॥ ६७ ।

तत्पश्चात् समुद्र के भीतर पैठ उस नगरी में जा पहुँचा । इसके पीछे (पश्चात्) उस विद्याधरी कन्या को अपनी आँखों से देख सका ॥ ६८ ।

---

1. पृथिव्युद्धरणायेत्यग्रिमेणान्वयः ।

तेन राज्ञा त्रिजगतीसौन्दर्यश्रीरिवैकिका ।
पातालदेवतेयं वा मम नेत्रोत्सवाय किमु ॥ ६९ ।
निरणायि मधुद्वेष्ट्रा स्रष्टुः सृष्टिविलक्षणा ।
कुहूराहुभयादेषा कान्तिश्चान्द्रमसी किमु ॥ ७० ।
योषिद्रूपं समाश्रित्य तिष्ठतात्राऽकुतोऽभया ।
इत्थं क्षणं तां निर्वर्ण्य स राजाऽगात्तदन्तिकम् ॥ ७१ ।
सा विलोक्याऽथ तं बाला नितरां मधुराकृतिम् ।
विशालोरस्थतलं प्रलम्बतुलसीस्रजम् ॥ ७२ ।
शङ्खचक्राङ्कसुभगभुजद्वयविराजितम् ।
हरिनामाक्षरसुधासुधौतरदनावलिम् ॥ ७३ ।
भवानीभक्तिबीजोत्थं भूरुहं पुरुषाकृतिम् ।
मनोरथफलैः पूर्णमासीद्धृष्टतनूरुहा ॥ ७४ ।

त्रिजगतीत्यादेरित्थं तां निर्वर्ण्य वितर्क्येति तृतीयेनाऽन्वयः । एकिका मुख्या एकाकिनीति वा ॥ ६९ ।

कुहूरमावास्या च राहुश्च तयोर्भयात् ॥ ७० ।

सेति । सा तं राजानं विलोक्य हृष्टतनूरुहाऽऽसीदिति तृतीयेनाऽन्वयः ॥ ७१ ।

उसे देखते ही राजा अपने मन में तर्क करने लगा कि "क्या यही एकमात्र त्रैलोक्य भर की सौन्दर्य-लक्ष्मी है ? किं वा मेरे नेत्रों का उत्सव करनेवाली पातालदेवता है ? ॥ ६९ ।

नहीं तो भगवान् विष्णु ने ब्रह्मा की सृष्टि से विलक्षण इसे बनाया होगा! अथवा अमावास्या और राहु के भय से यह चन्द्रमा की कान्ति तो स्त्री बनकर यहाँ पर निर्भय होकर नहीं छिपी है"? इस प्रकार से क्षण भर सोच-विचार कर वह उसके पास गया ॥ ७०-७१ ।

इसके अनन्तर वह कन्या भी परम मधुराकृति तुलसी की माला से बड़े विशाल वक्षःस्थल को शोभित करते, शंख और चक्र के चिह्न को दोनों भुजों पर धारण किये हुए हरिनामाक्षररूप सुधा से सुधौत दन्तपंक्तियों से युक्त एवं भवानी के भक्तिबीज से उत्पन्न पुरुषस्वरूप वृक्ष को मनोरथरूप फलों से परिपूर्ण (देखकर) रोमांचित शरीर हो गई ॥ ७२-७४ ।

दोलापर्यङ्कमुत्सृज्य ह्रीभरा नम्रकन्धरा ।
वेपथुं च परिष्टभ्य बाला प्रोवाच भूपतिम् ॥ ७५ ।
कस्त्वमत्र कृतान्तस्य भवनं मधुराकृते ।
प्राप्तो मे मन्दभाग्यायाश्चेतोवृत्तिं निरुन्धयन् ॥ ७६ ।
यावन्नायाति सुभग स कठोरतराकृतिः ।
अतिपर्याकुलीकृत्य त्रिलोकीं दानवो मुहुः ॥ ७७ ।
कङ्कालकेतुर्दुर्वृत्तस्त्ववध्यः परहेतिभिः ।
तावद्गुप्तं समातिष्ठ शस्त्रागारेऽतिगह्वरे ॥ ७८ ।
न मे कन्याव्रतं भङ्क्तुं स समर्थ उमावरात् ।
आगामिन्यां तृतीयायां परश्वः पाणिपीडनम् ॥ ७९ ।
सञ्चिकीर्षति दुष्टात्मा गतायुर्मम शापतः ।
मा तद्भीतिं कुरु युवस्तत्कार्यं भविताऽचिरम् ॥ ८० ।
विद्याधर्येति चोक्तः स शस्त्रागारे निगूढवत् ।
स्थितो वीरो महाबाहुर्दानवागमनेक्षणः ॥ ८१ ।

दोलापर्यङ्कम् आन्दोलनखट्वाम् ॥ ७५ ।

फिर तो हिंडोला की पलंग छोड़ मारे लज्जा के नम्रकन्धर हो और देह की कँपकँपी को रोककर वह कन्या राजा से कहने लगी ॥ ७५ ।

हे मधुराकृते! मुझ अभागिनी की चित्तवृत्ति को छेकते हुए (अवरुद्ध करते हुए) आप कौन हैं ? जो यहाँ पर यमराज के घर में चले आये हैं ॥ ७६ ।

हे सुभग! जब तक वह महाकठोर स्वरूप और दूसरे के शस्त्रों से अवध्य, परमदुराचारी **कंकालकेतु** नामक दानव त्रैलोक्यमात्र को व्याकुल करके फिर नहीं लौटता, तब तक आप इस बड़े गह्वर शस्त्रागार में छिपे रहिये ॥ ७७-७८ ।

पार्वती के वरदान से वह मेरे कन्याव्रत को कभी नहीं तोड़ सकता । इसी से परसों तीज के दिन वह मेरा व्याह कर लेना चाहता है । अतः यह दुरात्मा तो मेरे ही शाप से गतजीवन हो चुका है । हे युवक ! आप उसका तनिक भी भय मत करें, वह काम बहुत ही शीघ्र हो जायगा ॥ ७९-८० ।

विद्याधरी के ऐसा कहने पर वह वीर और महाबाहु राजा दानव के आगमन की प्रतीक्षा करता शस्त्रागार में छिपा हुआ ठहरा रहा ॥ ८१ ।

अथ सायं समायातो दानवो भीषणाकृतिः ।
त्रिशूलं कलयन् पाणौ मृत्योरपि भयावहम् ॥ ८२ ।
आगत्य दानवो रौद्रः प्रलयाम्बुदनिःस्वनः ।
विद्याधरीं जगादेति मदाघूर्णितलोचनः ॥ ८३ ।
गृहाणेमानि रत्नानि दिव्यानि वरवर्णिनि ।
कन्यात्वं च परश्वस्ते पाणिग्राहादपैष्यति ॥ ८४ ।
दासीनामयुतं प्रातर्दास्यामि तव सुन्दरि ।
आसुरीणां सुरीणां च दानवीनां मनोहरम् ॥ ८५ ।
गन्धर्वीणां नरीणां च किन्नरीणां शतं शतम् ।
विद्याधरीणां नागीनां यक्षिणीनां शतानि षट् ॥ ८६ ।
राक्षसीनां शतान्यष्टौ शतमप्सरसांवरम् ।
एतास्ते परिचारिण्यो भविष्यन्त्यमलाशये ॥ ८७ ।
यावत्सम्पत्तिसम्भारो दिक्पालानां गृहेषु वै ।
मत्परिग्रहतां प्राप्य तावतस्त्वमिहेश्वरी ॥ ८८ ।

कलयन् चालयन् ॥ ८२ ।

इसके अनन्तर सन्ध्या के समय वह परमभयंकर रूप दानव़ हाथ में मृत्यु को भी भय उपजानेवाले त्रिशूल को फेरता हुआ वहाँ पर आ गया ॥ ८२ ।

आते ही वह रौद्र दानव प्रलय मेघ के समान गंभीर स्वर से मद के मारे आँखों को घुमाता हुआ विद्याधरी से यह कहने लगा ॥ ८३ ।

"अयि सुन्दरि! इन दिव्यरत्नों को ग्रहण करो, पाणिग्रहण हो जाने से परसों तुम्हारा कन्यापन छूट जावेगा ॥ ८४ ।

अयि वरवर्णिनि! प्रातःकाल होते ही दस सहस्र दासियाँ तुम्हारे पास लगा दूँगा, शत-शत सुन्दरी आसुरी, दैवी, दानवी, गन्धर्वी, किन्नरी और मानुषी एवं छः सौ विद्याधरी, यक्षिणी और नागकन्याएँ, यहीं पर आठ सौ राक्षसी और एक सौ अप्सरायें सब तुम्हारी लौड़ियाँ होंगी ॥ ८५-८७ ।

मेरे साथ व्याह कर लेने से इन्द्रादिक दिक्पालों के घर में जितनी सम्पत्ति है, उस सब की तुम्हीं स्वामिनी हो जाओगी ॥ ८८ ।

दिव्यान् भोगान् मया सार्धं भोक्ष्यसे मत्परिग्रहात् ।
कदा परश्वो भविता यस्मिन् वैवाहिको विधिः ॥ ८९ ।
त्वदङ्गसङ्गसंस्पर्शसुखसन्दोहमेदुरः ।
परां निर्वृतिमाप्स्यामि परश्वो निकटं यदि ॥ ९० ।
मनोरथाश्चिरं यावद्ये मे हृदि समेधिताः ।
तान् कृतार्थीकरिष्यामि परश्वस्तव सङ्गमात् ॥ ९१ ।
जित्वा देवान् रणे सर्वानिन्द्रादीन् मृगलोचने ।
त्रैलोक्यैश्वर्यसम्पत्तेस्त्वां करिष्यामि चेश्वरीम् ॥ ९२ ।
आधायाऽङ्के त्रिशूलं स्वे सुष्वापेति प्रलप्य सः ।
नरमांसवसास्वादप्रमत्तो वीतसाध्वसः ॥ ९३ ।
वरं स्मरन्ती सा गौर्या विद्याधरकुमारिका ।
विज्ञाय तं प्रमत्तं च सुषुप्तं चाऽतिनिर्भयम् ॥ ९४ ।
आहूय तं नरवरं वरं सर्वाङ्गसुन्दरम् ।
विष्णुभक्तिकृतत्राणं प्राणनाथेति जल्प्य च ॥ ९५ ।

सुखसन्दोहो वृत्तिरूपस्तेन मेदुरः पूर्णः । परां निर्वृतिं परमानन्दम् । तदुक्तम्–

आनन्दः पर एवात्मा भेदसंसर्गवर्जितः ।
स एव सुखरूपेण व्यज्यते पुण्यकर्मभिः ॥ इति । ९० ।

वसा हृन्मेदः । वीतसाध्वसो गतभयः । [1]पाठान्तरे वरविशेषणम् ॥ ९३ ।

मेरे साथ व्याह हो जाने पर तुम दिव्य भोगों को भोगोगी । अहा! वह परसों कब होगा! जिस दिन विवाह की विधि हो जाने पर मैं तुम्हारे अंगस्पर्शरूप सुख की धारा में डूबकर परम आनन्द का भोग कर सकूँगा, यदि परसों समीप आ जाता तो अपने हृदय में जिन मनोरथों को बहुत दिनों से पाल रखा है, परसों ही तुम्हारे संगम हो जाने से चरितार्थ कर डालता ॥ ८९-९१ ।

हे मृगनयने! इन्द्रादिक देवताओं को युद्ध में जीतकर त्रैलोक्य भर की समस्त ऐश्वर्य-सम्पत्ति की तुम्हीं को स्वामिनी बनाऊँगा ॥ ९२ ।

इस चाल (प्रकार) का प्रलाप कर नरमांस के भोजन से हृष्टचित्त वह दानव अपने त्रिशूल को गोद में रख, निर्भय होकर, सो रहा ॥ ९३ ।

तब वह विद्याधरकुमारी पार्वती के वरदान को स्मरण करती हुई, उस दानव को प्रमत्त और निःशंक हो, बहुत ही निद्रित देखकर सर्वांगसुन्दर और अपने भावी वर एवं विष्णुभक्ति के द्वारा कृतत्राणा उस नरवर को "हे प्राणनाथ!" ऐसा सम्बोधन देती हुई पुकारी ॥ ९४-९५ ।

---

1. वीतसाध्वसमिति ।

शूलं तदङ्कादादाय गृहाणेमं जहि द्रुतम् ।
इति त्रिशूलं बालातो बालार्कसदृशद्युतिः ॥ ९६ ।
समादाय महाबाहुः स तदाऽमित्रजिन्नृपः ।
जहर्ष च जगादोच्चैर्बालायाश्चाऽभयं दिशन् ॥ ९७ ।
वामपादप्रहारेण तमाताड्य स निर्भयः ।
संस्मरंश्चक्रिणं चित्ते जगद्रक्षामणिं हरिम् ॥ ९८ ।
जगादोत्तिष्ठ रे दुष्ट कन्याघर्षणलालस ।
युध्यस्वाऽत्र मया सार्धं न सुप्तं हन्म्यहं रिपुम् ॥ ९९ ।
इति संश्रुत्य सम्भ्रान्त उत्थाय स दनोः सुतः ।
त्रिशूलं देहि मे कान्ते प्रोवाचेति मुहुर्मुहुः ॥ १०० ।
कोऽयं मृत्युगृहं प्राप्तः कस्य रुष्टोऽद्य चाऽन्तकः ।
क आयुषाऽद्य सन्त्यक्तो यः प्राप्तो मम गोचरम् ॥ १०१ ।
मम प्रचण्डदोर्दण्डकण्डूं कण्डूयनक्षमः ।
नाऽल्पो नरोऽयं भविता किं त्रिशूलेन सुन्दरि ॥ १०२ ।

कण्डूयनक्षमः कण्डूयनक्रियायोग्यः ॥ १०२।

तदनन्तर वह बोली– इस दानव के गोद से त्रिशूल लेकर (कहने लगी कि) इसे झटपट लेकर इसको "मार डालो" । तब तो बालसूर्य के समान परम-कान्तिमान् महाबाहु राजा अमित्रजित्, उस कन्या के हाथ से त्रिशूल को ले उसे अभयदान देता हुआ बड़ा ही हर्षित होकर गरजने लगा ॥ ९६-९७ ।

फिर तो उस राजा ने निर्भय हो, उस दानव को बायें लात से मारकर अपने हृदय में जगत् के रक्षामणि भगवान् चक्रधर हरि को स्मरण किया ॥ ९८ ।

पुनः कहा, अरे दुष्ट! कन्याघर्षणेच्छु दानव! उठ, यहीं पर मेरे साथ युद्ध कर, मैं सोये हुए शत्रु को नहीं मारता ॥ ९९ ।

इतना सुनते ही वह दानव चकमकाता हुआ "प्यारी मेरा त्रिशूल तो दो" यही बार-बार कहने लगा ॥ १०० ।

(हाय!) यह कौन मृत्यु के घर में चला आया है ? आज यमराज किस पर रुष्ट हुआ है ? आज किसकी आयु खोटी हुई, जो यह मेरे पास आया है ॥ १०१ ।

मेरे प्रचण्ड भुजदंडों की खजुरी (खुजली) खुजलाने के योग्य भी यह नहीं है । यह तो महातुच्छ मनुष्य है । हे सुन्दरि! त्रिशूल का कौन प्रयोजन है? ॥ १०२ ।

मा भैर्मे कौतुकं पश्य भक्ष्योऽयं मम साम्प्रतम् ।
कालेन मत्तो भीतेन स्वयमेवोपढौकितः ॥ १०३ ।
इत्युक्त्वा मुष्टिघातेन तेनोच्चैर्दनुसूनुना ।
हृदये निहतो राजा शिलाऽतिकठिने द्रुतम् ॥ १०४ ।
स चक्रिणा कृतत्राणः पीडामल्पीयसीमपि ।
नो वेद कठिनोरस्कस्तत्करं[1] प्रत्युताऽनुदत् ॥ १०५ ।
अथ कोपवता राज्ञा हतो वक्त्रे चपेटया ।
आघूर्णितशिरा भूमौ पतित्वा पुनरुत्थितः ॥ १०६ ।
उवाच च वचो धैर्यमवष्टभ्य महाबली ।

दानव उवाच –

ज्ञातं न त्वं मनुष्योऽसि नृरूपेण चतुर्भुजः ॥ १०७ ।

उपढौकितः उपढौकत्वेन उपहारत्वेन प्रस्थापितः ॥ १०३ ।
अनुदत् अस्विद्यत् ॥ १०५ ।
चपेटया प्रसृताऽङ्गुलिकरेण ॥ १०६ ।

तुम तनिक भी मत डरो, इस घड़ी मेरा कौतुक देखो, मैं अभी इसे खा डालता हूँ । मुझसे डरकर काल ने स्वयं इसे मेरे लिये भेंट भेज दिया है ॥ १०३ ।

इन सब बातों को कहकर उस दानव ने पाषाण के समान कठोर राजा की छाती पर बड़े वेग से एक मुक्का मारा ॥ १०४ ।

परन्तु भगवान् चक्रपाणि के त्राण कर रखने से उस राजा को तनिक भी पीड़ा नहीं होने पाई, वरन् उसकी कठोर छाती से टक्कर खाकर उसी का हाथ दुखने लगा ॥ १०५ ।

तब तो राजा ने भी क्रोधित होकर उसके मुख पर एक ऐसा थप्पड़ (तमाचा) लगाया कि वह महाबली दानव चक्कर खाकर पृथिवी पर गिर पड़ा । फिर उठकर धीरतापूर्वक यह कहने लगा ।

दानव ने कहा–

समझा, तुम मनुष्य नहीं हो, तुम तो नररूपधारी चतुर्भुज हो ॥ १०६-१०७ ।

---

1. नपुंसकत्वमार्षम् ।

आयातश्छिद्रमासाद्य हन्तुं मां दानवाऽन्तकः ॥ १०८ ।
एकं विधेहि मधुभिद् यदि त्वं बलवानसि ।
विहायैतन्महच्छूलं युध्यस्व स्वाऽऽयुधैर्मया ॥ १०९ ।
त्वया कपटरूपेण बलिनः कैटभादयः ।
न बलेन हताः संख्ये हता एव च्छलेन हि ॥ ११० ।
बलिं पातालमनयस्त्वं नृवामनतां दधत् ।
नृमृगत्वेन भवता हिरण्यकशिपुर्हतः ॥ १११ ।
त्वया जटिलरूपेण लङ्केशो विनिपातितः ।
गोपालवेषमासाद्य[1] कंसाद्या घातितास्त्वया ॥ ११२ ।
स्त्रीरूपेणाऽहरस्त्वं तु विप्रलाप्याऽसुरान् सुधाम् ।
यादोरूपेण भवता शङ्खाद्या निहता बहु ॥ ११३ ।
मायावीनामग्रगण्य सर्वमर्मज्ञसाधक[2] ।
न त्वत्तोऽहं बिभेम्यद्य यदि शूलं विहास्यसि ॥ ११४ ।
अथवा दैन्यवचनैः किमेभिः कातरोचितैः ।
न त्यक्ष्यसि त्रिशूलं त्वं न त्वां जेष्याम्यहं रणे ॥ ११५ ।

कपटरूपेण हता इत्यन्वयः ॥ ११० ।
कापट्यमेव क्वचिद्दर्शयति—**बलिमित्यादिना** ॥ १११ ।

और दानवों के अन्तक हो, तुम छिद्र (मौका) पाकर मुझे मारने आये हो ॥ १०८ ।

हे मधुरिपो! यदि तुम अपने को बलवान् लगाते हो, तो मेरे इस बड़े त्रिशूल को रख दो और अपना आयुध लेकर मुझसे लड़ाई करो ॥ १०९ ।

तुमने कपटरूप से ही महाबली कैटभ इत्यादि दैत्यों को संग्राम में छलकर मारा । कुछ बलपूर्वक नहीं मार लिया था ॥ ११० ।

तुम्हीं ने कपटपूर्वक नरवामन बनकर बलि को पाताल में डाल दिया और नरसिंह होकर हिरण्यकशिपु को भी मार डाला था ॥ १११ ।

तुम्हीं ने जटिल तपस्वी होकर रावण का नाश किया और गोपाल का वेष धरकर कंस इत्यादि को मारा ॥ ११२ ।

तुम्हीं तो मोहिनी मूर्ति धर, असुरों को ठगकर अमृत उड़ा ले गये थे । फिर जल-चर जन्तु बनकर शंख आदिक बहुतेरे असुरों को भी तुम्हीं ने मारा है ॥ ११३ ।

हे सर्वमर्मज्ञसाधक! तुम समस्त मायावियों के अग्रगण्य हो । (पर क्या हुआ) यदि तुम मेरा त्रिशूल रख दो, तो मैं तुमसे तनिक भी नहीं डर सकता ॥ ११४ ।

परन्तु इन कातरोचित वचनों का कोई प्रयोजन नहीं है । तुम त्रिशूल को न छोड़ोगे और न मैं संग्राम में तुमको जीत सकूँगा ॥ ११५ ।

---

1. आलम्ब्येति क्वचित्पाठः ।
2. माधवेति क्वचित्पाठः ।

अवश्यमेव मर्तव्यमद्य प्रातः शरीरिणा ।
त्वत्करेण वरं मृत्युर्बलेनाऽपि च्छलेन वा ॥ ११६ ।
इयं विद्याधरी कन्या न मया दूषिता सती ।
साक्षाच्छ्रीरेव मन्तव्या तवाऽर्थं रक्षिता मया ॥ ११७ ।
इत्युक्त्वा वामदोर्दण्डप्रहारेणाऽतिनिष्ठुरम् ।
निजघान दनोः सूनुस्तं शिलोच्चयकम्पिना ॥ ११८ ।
नृपो वक्षःप्रहारं तं विषह्य रणमूर्धनि ।
लक्षीचकार तद्वक्षस्त्रिशूलं तोलयन् करे ॥ ११९ ।
निजधान महाबाहुः स च प्राणान् जहौ क्षणात् ।
इत्थं कङ्कालकेतुं स निहत्य सुरकम्पनम् ॥ १२० ।

त्वत्करेण त्वद्धस्तेन । पाठान्तरे[1] शये हस्ते ॥ ११६ ।
परयोषिच्छङ्कया इमां न गृह्णीयादिति मत्वाऽऽह–**इयमिति** ॥ ११७ ।
वक्षःप्रहारम् उरसि ताडनम् । पाठान्तरे[2] वाहं प्राप्तम् ॥ ११९ ।

आज चाहे कल शरीरधारी को तो अवश्य ही मरना पड़ेगा, फिर बल से हो, किं वा छल से हो, तुम्हारे हाथ से मरना हो तो बहुत ही अच्छा है ॥ ११६ ।

यह विद्याधर की कन्या शुद्ध सती है । मैंने इसे दूषित नहीं किया है । इसे तुम साक्षात् लक्ष्मी ही समझना; क्योंकि मैंने इसे तुम्हारे लिए ही सुरक्षित कर रखा है ॥ ११७ ।

इतना कहकर उस दानव ने पर्वत कँपा देने वाले अपने वामभुजदण्ड से बड़ी ही निष्ठुरतापूर्वक राजा की छाती पर प्रहार किया ॥ ११८ ।

महाबाहु राजा ने भी रणक्षेत्र में उस विषम आघात को सह हाथ में त्रिशूल को लेकर, उसके वक्षःस्थल को लक्ष्य करके ऐसा मारा कि वह दानव क्षणमात्र में ही प्राणरहित हो गया । इस प्रकार से राजा अमित्रजित् ने देवताओं के हृदय हिला देने वाले **कंकालकेतु** को मार डाला ॥ ११९-१२० ।

---

1. वरं तव शये मृत्युरिति ।
2. नृपो वाहं प्रहारं तमिति ।

विद्याधरीं प्रपश्यन्तीं प्राह हृष्टतनूरुहाम् ।
नारदस्य मुनेर्वाक्यात्तव सुश्रोणि वाञ्छितम् ॥ १२१ ।
कृतं मया कृतज्ञे किं करवाण्यधुना वद ।
श्रुत्वेति तस्य सा वाक्यं प्राह गम्भीरचेतसः ॥ १२२ ।

मलयगन्धिन्युवाच –

[1]अथोदारमते वीर निजप्राणैः पणीकृताम् ।
किं मां पृच्छसि जीवातो कुलकन्यामदूषिताम् ॥ १२३ ।
इति ब्रुवत्यां कन्यायां पुनः स्वैरचरो मुनिः ।
अतर्कितागमः प्राप्तो नारदो देवलोकतः ॥ १२४ ।
ततस्तुतुषतुस्तौ तु दृष्ट्वा तं मुनिसत्तमम् ।
कृतप्रणामौ मुनिना परिविश्राणिताशिषौ ॥ १२५ ।
पाणिग्रहेण विधिनाऽभिषिक्तौ नारदेन तु ।
जग्मतुर्नारदाऽऽदिष्टवर्त्मना कृतमङ्गलौ ॥ १२६ ।
तया मलयगन्धिन्या युतः सोऽमित्रजिन्नृपः ।
पुरीं वाराणसीं प्राप्य पौरैर्विहितमङ्गलाम् ॥ १२७ ।

पणीकृतां विक्रीताम् । जीवातो हे जीवनौषध ॥ १२३ ।
पुरीं वाराणसीमित्यनेन काश्यां स राजाऽऽसीदिति ज्ञेयम् ॥ १२७ ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ।

तदनन्तर रोमांचित शरीर और ताकती हुई उस विद्याधरी से कहा – हे सुश्रोणि! महर्षि नारद के कथनानुसार मैंने तुम्हारा वांछित कार्य कर दिया । हे कृतज्ञे! अब मुझे क्या करना चाहिए ? उसे भी कहो । इस रीति से उस गंभीर-हृदय राजा की बात सुनकर वह कहने लगी ॥ १२१-१२२ ।

मलयगंधिनी ने कहा –

हे जीवनदातः! उदारमते! वीर! अपने प्राणों के पण से इस अदूषित कुलकन्या की रक्षा की है, तब फिर आप मुझसे क्या पूछते हैं ॥ १२३ ।

जब कि वह कन्या यह बात कह रही थी, उसी घड़ी स्वेच्छाचारी नारद मुनि अनायास ही देवलोक से वहाँ पर जा पहुँचे ॥ १२४ ।

वे दोनों ही उन मुनिराज को देखते ही अत्यन्त सन्तुष्ट होकर प्रणाम करने लगे । तब महर्षि नारद ने आशीर्वाद देकर पाणिग्रहण की विधि से उन दोनों को अभिषिक्त किया, फिर नारद के ही बताये हुए मार्ग से उन दोनों ने मंगलविधान के अनन्तर प्रस्थान किया ॥ १२५-१२६ ।

इसके उपरान्त मलयगंधिनी के सहित राजा अमित्रजित् के वाराणसी पुरी में पहुँच जाने पर पुरवासी लोगों ने मंगलाचार किया ॥ १२७ ।

---

1. अप्युदारेति क्वचित्पाठः ।

यद्वीक्षणादपि नरो नारकीं नैव जातुचित् ।
गतिमाप्नोति मेधावी तां पुरीमविशन्नृपः ॥ १२८ ।
यस्यां पुर्यां प्रवेशं न लभन्ते वासवादयः ।
कैवल्यजनयित्र्यां हि तां पुरीमविशन्नृपः ॥ १२९ ।
अपि स्मृत्वा पुरीं यां वै काशीं त्रैलोक्यकाङ्क्षिताम् ।
न नरो लिप्यते पापैस्तां विवेश स भूपतिः ॥ १३० ।
यस्यां पुर्यां प्रविष्टो ना महद्भिरपि पातकैः ।
नाऽभिभूयेत तां काशीं प्रविशत् स विशाम्पतिः ॥ १३१ ।
साऽपि विद्याधरी काशीसमृद्धिं वीक्ष्य दूरतः ।
निनिन्द स्वर्गलोकं च पातालनगरीमपि ॥ १३२ ।
प्राप्याऽमित्रजितं कान्तं तथा हृष्टा न सा वधूः ।
यथा दृष्ट्वाऽप्यहो काशीं परमानन्दकेतनम् ॥ १३३ ।
सा कृतार्थमिवात्मानं मन्यमाना मनस्विनी ।
तेन पत्या च काश्या च परां निर्वृतिमाययौ ॥ १३४ ।
सोऽप्यमित्रजिदासाद्य पत्नीं मलयगन्धिनीम् ।
धर्मप्रधानं संसेव्य कामं प्रापोत्तमं सुखम् ॥ १३५ ।

जिस नगरी के दर्शन करने ही से मनुष्य कदापि नरक में नहीं पड़ता, नर उत्तमगति को प्राप्त हो जाता है, राजा ने उसी में प्रवेश किया ॥ १२८ ।

जिस कैवल्यजननी पुरी में इन्द्रादिक देवताओं को भी सहज ही में प्रवेश नहीं मिलता, अमित्रजित् ने उसी नगरी में प्रवेश किया ॥ १२९ ।

जिस त्रैलोक्यकांक्षिता काशीपुरी के स्मरण करने से भी मनुष्य पापपंक में लिप्त नहीं होता, (आज) वह भूपति उसी में जा पहुँचा ॥ १३० ।

जिस नगरी में प्रवेश करनेवाला मनुष्य महापातकों से भी तनिक नहीं दबता, राजा अमित्रजित् उसी काशी में प्रविष्ट हुआ ॥ १३१ ।

वह विद्याधरी भी दूर से ही काशी की समृद्धि को देखकर स्वर्लोक और पातालपुरी को भी धिक्कारने लगी ॥ १३२ ।

वह विद्याधरी वधू राजा अमित्रजित् को पति पाकर भी वैसी हर्षित नहीं हुई, जैसी कि परमानन्द मंदिर काशीपुरी के दर्शन से प्रसन्न हुई थी ॥ १३३ ।

उस पति और काशी धाम के प्राप्त होने से वह मनस्विनी अपने को कृतार्थ मानकर परमानन्द के सुख में निमग्न हो गई ॥ १३४ ।

राजा **अमित्रजित्** भी **मलयगंधिनी** को पत्नी पाकर, धर्मप्रधान काम के सेवन से सर्वोत्तम सुख को प्राप्त करने लगा ॥ १३५ ।

सैकदा तं पतिं राज्ञी विष्णुभक्तिपरायणम् ।
रहो विज्ञापयाञ्चक्रे पतिभक्ता सुतार्थिनी ॥ १३६ ।

राज्ञ्युवाच –

भूपाऽभीष्टतृतीयायाश्चरिष्यामि महाव्रतम् ।
यद्यनुज्ञा भवेद् भर्तुः पुत्रकामार्थितप्रदम् ॥ १३७ ।

राजोवाच –

देव्यभीष्टतृतीयायां व्रतं कीदृग् भवेद् वद ।
का देवता तत्र पूज्या विधानं चाऽपि किं फलम् ॥ १३८ ।
नारी पत्यननुज्ञाता या व्रतादि समाचरेत् ।
जीवन्ती दुःखिनी सा स्यान्मृता निरयमृच्छति ॥ १३९ ।
इति राज्ञोदिता राज्ञी प्रवक्तुमुपचक्रमे ।
इतिकर्तव्यतां तस्य व्रतस्य सरहस्यकाम् ॥ १४० ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे वीरेश्वराविर्भावेऽमित्रजित्पराक्रमो नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ।

एक बार परम पतिभक्ता उस रानी ने सुतार्थिनी होकर एकान्त में असाधारण विष्णु के भक्त अपने पति से कहा ॥ १३६ ।

रानी बोली –

'हे भूपते! यदि आप की आज्ञा हो, तो मैं पुत्रफलप्रदा अभींष्ट तृतीया के महाव्रत का अनुष्ठान करूँ' ॥ १३७ ।

राजानें कहा–

'हे देवि! अभीष्ट तृतीया का व्रत कैसा होता है? और उसमें किस देवता का पूजन करना चाहिए? एवं उसका कौन-सा विधान है? और क्या फल है? ॥ १३८ ।

जो स्त्री पति की आज्ञा के बिना ही व्रत इत्यादि को करती है, वह जीते जी दुःखिनी होती है और शरीरान्त होने पर नरक में पड़ती है' ॥ १३९ ।

राजा के इस कहने पर वह पतिव्रता रानी उस व्रत में जो-जो करना पड़ता है, उसे रहस्य के साथ कहने लगी ॥ १४० ।

दोहा – **रम्य संकटा घाट पै, वीरेश्वर महराज ।**
साधत निज जन हित सदा, सिद्धि करैं सब काज ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ।

॥ अथ त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥

राज्ञ्युवाच–

अवधेहि धरानाथ कथयामि यथातथम् ।
व्रतस्याऽस्य विधानं च फलं चाऽभीष्टदेवताम् ॥ १ ।
पुरा पुरः श्रीदपत्न्याः श्रीमुख्या ब्रह्मसूनुना ।
नारदेन सुतार्थिन्या व्रतमेतदुदीरितम् ॥ २ ।
चीर्णं चाऽथ तया देव्या पुत्रोऽभून्नलकूबरः ।
अन्याभिरपि बह्वीभिः पुत्राः प्राप्ता व्रतादितः ॥ ३ ।
विधिनाऽप्यत्र सम्पूज्या गौरी सर्वविधानवित् ।
स्तनन्धयेन सहिता धयता स्तनमुन्मुखम् ॥ ४ ।

अथाशीतितमेऽध्याये त्र्यधिके सर्वसुन्दरे ।
वीरेशाविष्कृतिः पुण्या सम्यक् तावन्निरूप्यते ॥ १ ।

अभीष्टतृतीयाव्रतं कथयति – **अवधेहीति** ॥ १ ।

पुरोऽग्रतः । श्रीदपत्न्याः कुबेरकान्ताया ऋद्धेः । श्रीरेव मुखं मुख्या श्रेष्ठा सेव्या, श्रियो मुखमिव वा मुखं यस्याः सा तथा ॥ २ ।

विधिनाऽपि विधिनैव । अस्तीति[1] पाठे पूज्या भवतीत्यर्थः । अत्र व्रते । स्तनन्धयेन बालापत्येन उन्मुखं यथा स्यात्तथा पिबता । उन्मुखं क्षरद्दुग्धमिति स्तनविशेषणं वा । धयता च स्तनं तथेति क्वचित् ॥ ४ ।

(श्रीवीरेश्वर का माहात्म्य)

रानी ने कहा–

हे महाराज ! सावधान होइये, मैं इस व्रत का विधान, फल और इष्टदेवता को यथार्थरूप से बताती हूँ ॥ १ ।

पूर्वकाल में ब्रह्मा के पुत्र नारद मुनि ने पुत्रार्थिनी कुबेर की पत्नी **श्रीमुखी देवी** से इस व्रत का वर्णन किया था ॥ २ ।

इसके अनन्तर उस देवी के व्रत करने पर उसे **नलकूबर** नामक पुत्र हुआ । और भी बहुतेरी स्त्रियों ने इसी व्रत के प्रभाव से पुत्रलाभ किया है ॥ ३ ।

हे सर्वविधानज्ञ ! इस व्रत में दुग्धस्रावी स्तन के पीते हुए बालक के सहित गौरी देवी की विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिए ॥ ४ ।

---

1. समुच्चरदिमं मन्त्रमिति पाठोऽपेक्षित इति भाति ।

मार्गशीर्षतृतीयां शुक्लायां कलशोपरि ।
ताम्रपात्रं निधायैकं तण्डुलैः परिपूरितम् ॥ ५ ।
अविच्छिन्नं नवीनं च रजनीरागरञ्जितम् ।
वासः पात्रोपरि न्यस्य सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं परम् ॥ ६ ।
तस्योपरि शुभं पद्मं रविरश्मिविकासितम् ।
तत्कर्णिकाया उपरि चतुःस्वर्णविनिर्मितम् ॥ ७ ।
विधिं सम्पूजयेद् भक्त्या रत्नपट्टाम्बरादिभिः ।
पुष्पैर्नानाविधै रम्यैः फलैर्नारङ्गमुख्यकैः ॥ ८ ।
सुगन्धैश्चन्दनाद्यैश्च कर्पूरमृगनाभिभिः ।
परमान्नादिनैवेद्यैः पक्वान्नैर्बहुभङ्गिभिः ॥ ९ ।
धूपैरगुरुमुख्यैश्च रम्ये कुसुममण्डपे ।
रात्रौ जागरणं कार्यं विनिद्रैः परमोत्सवैः ॥ १० ।

रजनी हरिद्रा ॥ ६ ।
स्वर्णपरिमाणं चाऽशीतिरक्तिकम् ॥ ७ ।
विधिं ब्रह्माणीम्[1] [2]नारङ्गमुख्यकैर्नारङ्गाद्यैरित्यर्थः ॥ ८ ।
मृगनाभिभिः कस्तूरीभिः । बहुभङ्गिभिः नानाभेदवद्भिः ॥ ९ ।
विगता निद्रा येभ्यस्तैः । कुसुममण्डपे कुसुमव्याप्तमण्डपे ॥ १० ।

अगहन मास की शुक्ला तृतीया को कलश के ऊपर चावल से भरा हुआ एक ताँबे का पात्र रख ॥ ५ ।

उसके ऊपर बिना फाड़ा (दसीदार) और हरदी के रंग से रंगा हुआ बहुत ही सूक्ष्म (महीन) उत्तम नवीन वस्त्र को धरे ॥ ६ ।

फिर उसके ऊपर सूर्य की किरणों से खिले हुए उत्तम कमल को रखे । उस पद्म की कर्णिका पर चार रूपये भर सोने की बनी हुई ब्रह्मा की मूर्ति की स्थापना कर, रत्न, पट्ट वस्त्र, नाना भाँति के रमणीय पुष्प, नारंगी इत्यादि फल, कपूर, कस्तूरी (केशर) आदि से सुगन्धित चन्दन, विविध-विध के उत्तमोत्तम पक्वान्नों के नैवेद्य एवं अगर आदि के धूपों से भक्तिपूर्वक सुन्दर पुष्पमण्डप में ब्रह्मा का पूजन करे और रात्रि के समय निद्रा को त्याग कर बड़े उत्सव के साथ जागरण करे ॥ ७-१० ।

---

1. अपीत्यत्रेत्यर्थः ।
2. विदधाता विधिस्तां सृष्टिकर्त्रीमिति व्युत्पत्तेः ।

हस्तमात्रमिते कुण्डे जातवेदस इत्यृचा ।
घृतेन मधुनाप्लुत्य जुहुयान्मन्त्रविद्द्विजः ॥ ११ ।
सहस्रं कमलानां च स्मेराणां स्वयमेव हि ।
नवप्रसूतां कपिलां सुशीलां च पयस्विनीम् ॥ १२ ।
दद्यादाचार्यवर्याय सालङ्कारां सलक्षणाम् ।
उपोष्य दम्पती भक्त्या नवाम्बरविभूषितौ ॥ १३ ।
प्रातः स्नात्वा चतुर्थ्यां च सम्पूज्याऽऽचार्यमादृतः ।
वस्त्रैराभरणैर्माल्यैर्दक्षिणाभिर्मुदान्वितौ ॥ १४ ।
सोपस्करां च तां मूर्तिमाचार्याय निवेदयेत् ।
समुच्चरान्निमं[1] मन्त्रं व्रतकृन्मिथुनं मुदा ॥ १५ ।
नमो विश्वविधानज्ञे विधे विविधकारिणि ।
सुतं वंशकरं देहि तुष्टाऽमुष्माद् व्रताच्छुभात् ॥ १६ ।

जातवेदस इति ऋचा मन्त्रेण । आप्लुत्य आलोड्य । द्विज इत्यनेन द्विजातीनामेवाऽस्मिन् व्रतेऽधिकार इति सूचितम् ॥ ११ ।

दम्पती स्त्रीपुंसौ ॥ १३ ।

आचार्यं च आदृतः आदरयतः । दम्पत्योर्विशेषणं मुदान्विताविति । यद्वा दम्पती व्रतकर्तारौ आदृतः[2] आदरतो मुदान्वितौ भवेतामिति शेषः । अन्यत् समानम् ॥ १४ ।

विदधातीति विधिस्तत्सम्बोधनं हे सृष्टिकर्त्रीत्यर्थः ॥ १६ ।

फिर मंत्रज्ञ द्विज को उचित है कि, एक हाथ भर के कुंड में घृत और मधु में डुबाये हुए आप से आप खिले एक सहस्र कमल के पुष्पों का "जातवेदस" इत्यादि ऋचाओं से हवन करे और आचार्य महाराज को नवप्रसूता, कपिला, सीधी और अलंकृत दुधार गौ का दान करे । स्वयं सपत्नीक उपवास करके दूसरे दिन चतुर्थी के प्रातःकाल स्नानोपरान्त नवीन वस्त्र से विभूषित होकर, बड़े आदर और हर्ष के साथ आचार्य का वस्त्र, भूषण, माल्य और दक्षिणा इत्यादि से पूजन कर, सब सामग्री के सहित उस मूर्ति को इस मंत्र का उच्चारण करता हुआ वह व्रती दम्पती हर्षपूर्वक आचार्य को निवेदन कर देवे ॥ ११-१५ ।

'हे विश्वविधानज्ञे ! विविधकारिणि ! विधिस्वरूपे ! देवि ! आप को नमस्कार है, आप इस शुभव्रत के अनुष्ठान से सन्तुष्ट होकर (मुझे) वंश चलाने वाला पुत्र दीजिये' ॥ १६ ।

---

1. समुच्चरदिमं मन्त्रमिति पाठोऽपेक्षित इति भाति ।
2. अत्रोत्तरत्रार्थान्तरेऽपीदमार्षम् ।

सहस्रं भोजयित्वाऽथ द्विजानां भक्तिपूर्वकम् ।
भुक्तशेषेण चाऽन्नेन कुर्याद् वै पारणं ततः ॥ १७ ।
इत्थमेतद् व्रतं राजंश्चिकीर्षामि त्वया सह ।
कुरु चैतत्प्रियं मह्यमभीष्टफललब्धये ॥ १८ ।
इति भूपालवर्येण श्रुत्वा संहृष्टचेतसा ।
मुने व्रतं समाचीर्णं साऽन्तर्वत्नी बभूव ह ॥ १९ ।
तयाऽथ प्रार्थिता गौरी गर्भिण्या भक्तितोषिता ।
पुत्रं देहि महामाये साक्षाद् विष्ण्वंशसम्भवम् ॥ २० ।
जातमात्रो व्रजेत्स्वर्गं पुनरायाति चाऽत्र वै ।
भक्तः सदाशिवेऽत्यर्थं प्रसिद्धः सर्वभूतले ॥ २१ ।
विनैव स्तन्यपानेन षोडशाब्दाकृतिः क्षणात् ।
एवंभूतः सुतो गौरि यथा मे स्यात्तथा कुरु ॥ २२ ।

भुक्तशेषेणाऽवशिष्टेनाऽन्नेन ॥ १७ ।
मुने व्रतं समाचीर्णं पत्न्या सहेति शेषः ॥ १९ ।

इसके पश्चात् एक सहस्र ब्राह्मणों को भक्तिपूर्वक भोजन कराये, तब उसी भुक्तशेष अन्न से स्वयं पारण करें ॥ १७ ।

हे राजन् ! इसी प्रकार से इस व्रत को मैं आप के साथ किया चाहती हूँ । अभीष्ट फल पाने के लिये आप मेरे इस परमप्रिय कार्य को कर देवें ॥ १८ ।

हे मुने ! उस भूपालवर्य ने इस कथा को प्रसन्न चित्त से सुनकर उस व्रत का अनुष्ठान किया, जिससे वह रानी गर्भवती हो गई ॥ १९ ।

तब गौरी रानी की भक्ति से बड़ी ही सन्तुष्ट हुईं, फिर उस गर्भवती रानी ने उनसे प्रार्थना की – 'हे महामाये ! साक्षात् विष्णु के अंश से उत्पन्न पुत्र मुझको प्रदान कीजिए' ॥ २० ।

ऐसा पुत्रजो जन्म लेते ही स्वर्ग को जा सके और फिर कर यहाँ लौट आवे । शिव का सदैव भारी भक्त बना रहे एवं समस्त भूमण्डल में वह प्रसिद्ध होवे ॥ २१ ।

ऐसा पुत्रजो दुग्ध पान करने के बिना ही क्षणभर में सोलह वर्ष की अवस्था का जान पड़े । हे गौरि ! ऐसा पुत्र जिससे मुझको मिले, वह (कृपा) कीजिये ॥ २२ ।

मृडान्याऽपि तथेत्युक्ता राज्ञी भक्त्याऽतितुष्टया ।
अथ कालेन तनयं मूलर्क्षे साऽप्यजीजनत् ॥ २३ ।
हितैरमात्यैरथ सा विज्ञप्तारिष्टसंस्थिता ।
देवि राजार्थिनी चेत्त्वं त्यज दुष्टर्क्षजं सुतम् ॥ २४ ।
सा मन्त्रिवाक्यमाकर्ण्य केवलं पतिदेवता ।
अत्याक्षीत्तं तथा प्राप्तं तनयं नयकोविदा ॥ २५ ।
धात्रेयिकां समाकार्य प्राहेदं सा नृपाङ्गना ।
पञ्चमुद्रे महापीठे विकटा नाम मातृका ॥ २६ ।
तदग्रे स्थापयित्वाऽमुं बालं धात्रेयिके वद ।
गौर्या दत्तः शिशुरसौ तवाऽग्रे विनिवेदितः ॥ २७ ।
राज्ञा पत्युः प्रियैषिण्या मन्त्रिविज्ञप्तिनुन्नया ।
साऽपि राज्ञ्युदितं श्रुत्वा शिशुं लास्यशशिप्रभम् ॥ २८ ।

मूलर्क्षे पुत्रोत्पत्त्या राज्ञोऽरिष्टे नाशे संस्थिता । विज्ञापनमेवाह –**देवीति** ॥ २४ ।

समाकार्य आकारयित्वा ॥ २६ ।
मन्त्रिविज्ञप्तिनुन्नया मन्त्रिवाक्यप्रेरितया । पाठान्तरे[1] मन्त्रिभिर्विज्ञप्तः पितुरनिष्टकृत् पुत्रो यस्यास्तया । लास्यशशिप्रभं कामनीयचन्द्रप्रभम् ॥ २८ ।

रानी की भक्ति से सन्तुष्ट होकर भवानी देवी ने 'तथास्तु' कह दिया । तदनन्तर कालक्रम से मूल नक्षत्र में उसे पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २३ ।

तब तो हितैषी मंत्री लोगों ने आकर सूतिका गृह ही में रानी से कहा–'हे देवि ! यदि आप राजा को चाहती हैं, तो इस दुष्ट नक्षत्र में उत्पन्न पुत्र को त्याग दीजिये' ॥ २४ ।

एकमात्र पतिदेवता, नीति-निपुण, उस राजमहिषी ने मंत्रियों की बात सुनकर उस कष्टप्राप्त पुत्र को त्याग दिया ॥ २५ ।

रानी ने धाय को बुलाकर यह कहा कि – हे धात्रेयिके! पंचमुद्र नामक महापीठ स्थल में **विकटा नाम की मातृका** है ॥ २६ ।

उनके आगे इस बालक को रखकर यह कहना कि, "गौरी देवी के दिये हुए इस बालक को राजा का प्रिय चाहनेवाली रानी ने मंत्रियों के द्वारा पुत्रत्याग के लिये उपदिष्ट होकर आपके सन्मुख निवेदित कर दिया है" । पश्चात् वह धाय भी रानी की कही हुई बातें सुन उस सुन्दर चन्द्रसम बालक को **विकटा देवी** के आगे रखकर घर पर लौट आई । उस विकटा देवी ने योगिनियों को बुलाकर कहा

---

1. मन्त्रिविज्ञप्तपुत्रयेति ।

विकटायाः पुरः स्थाप्य गृहं धात्रेयिका गता ।
अथ सा विकटा देवी समाहूय च योगिनीः ॥ २९ ।
उवाच नयत क्षिप्रं शिशुं मातृगणाऽग्रतः ।
तासामाज्ञां च कुरुत रक्षताऽमुं प्रयत्नतः ॥ ३० ।
योगिन्यो विकटावाक्यात् खेचर्यस्ताः क्षणेन तम् ।
निन्युर्गगनमार्गेण ब्राह्म्याद्या यत्र मातरः ॥ ३१ ।
प्रणम्य योगिनीवृन्दं तं शिशुं सूर्यवर्चसम् ।
पुरो निधाय मातॄणां प्रोवाच विकटोदितम् ॥ ३२ ।
ब्रह्माणी वैष्णवी रौद्री वाराही नारसिंहिका ।
कौमारी चाऽपि माहेन्द्री चामुण्डा चैव चण्डिका ॥ ३३ ।
दृष्ट्वा तं बालकं रम्यं विकटाप्रेषितं ततः ।
पप्रच्छुर्युगपड्डिम्भं कस्ते तातः प्रसूश्च का ॥ ३४ ।
मातृभिश्चेति पृष्टः स यदा किञ्चिन्न वक्ति च ।
तदा तद्योगिनीचक्रं प्राह मातृगणस्त्विति ॥ ३५ ।

स्थाप्य निधाय । न्यस्य[1] पुरो भागे इति च क्वचित् । न्यस्य संन्यस्येत्यर्थः । योगिनीः चतुःषष्टियोगिनीः ॥ २९ ।

उवाच नयत क्षिप्रमित्यादि जातमात्रो व्रजेत्स्वर्गमित्यादि देवीवराऽभिप्रायेण । मातृगणो वक्ष्यमाणा ब्रह्माण्याद्याः शक्तयः । स्तनपानं चेति क्वचित् । कुरुत कारयतेत्यर्थः ॥ ३० ।

डिम्भं शिशुम् ॥ ३४ ।

कि, इस बच्चे को मातृगण के पास अभी ले जाओ और उन लोगों की आज्ञा का पालन एवं इस बच्चे का रक्षण बड़े यत्न से करो ॥ २७-३० ।

सब खेचरी योगिनियाँ भी **विकटा देवी** के कथन से उस लड़के को जहाँ पर ब्राह्मी इत्यादि मातृकायें विराजमान थीं, क्षणमात्र में आकाशमार्ग से ले गईं ॥ ३१ ।

योगिनियों ने उन सब मातृकाओं को प्रणाम कर उस सूर्यसम तेजस्वी बालक को उनके आगे रख विकटा देवी की बातें कह सुनाईं ॥ ३२ ।

तब तो ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री, वाराही, नारसिंही, कौमारी, ऐन्द्री, चामुण्डा और चण्डिका प्रभृति मातृकाओं ने विकटा देवी के भेजे हुए उस सुन्दर बच्चे को देखकर उससे एक साथ ही यह पूछा, "तुम्हारे माता-पिता कौन हैं" ? ॥ ३३-३४ ।

मातृकाओं के पूछने पर भी जब वह लड़का कुछ नहीं बोला, तब मातृगण ने उस योगिनी-मंडल से यह कहा ॥ ३५ ।

---

1. पूर्वश्लोके लास्येऽत्र न्यस्येति अत्र च पुरः स्थाप्येत्यस्य स्थाने पुरोभागे इति चेत्यर्थः ।

राजयोग्यो भवत्येष महालक्षणलक्षितः ।
पुनस्तत्रैव योगिन्यो नेतव्यस्त्वविलम्बितम् ॥ ३६ ।
पञ्चमुद्रा महादेवी तिष्ठते यत्र काम्यदा ।
यस्याः संसेवनान्नृणां निर्वाणश्रीरदूरतः ॥ ३७ ।
सर्वत्र शुभजन्मिन्यां काश्यां मुक्तिः पदे पदे ।
तथापि सविशेषं हि तत्पीठं सर्वसिद्धिकृत् ॥ ३८ ।
तत्पीठसेवनादस्य षोडशाब्दाकृतेः शिशोः ।
सिद्धिर्भवित्री परमा विश्वेशाऽनुग्रहात्परात् ॥ ३९ ।
एवं मातृगणाशीर्भिर्योगिनीभिः क्षणेन हि ।
प्रापितो मातृवाक्येन पञ्चमुद्राङ्कितं पुनः ॥ ४० ।
सम्प्राप्य तन्महापीठं स्वर्गलोकादिहागतः ।
आनन्दकानने दिव्यं ततापं विपुलं तपः ॥ ४१ ।

पदे-पदे स्थाने स्थाने ॥ ३८ ।

मातृगणाशीर्भिर्विशिष्टः । मातृगणाधीनेति क्वचित् । पञ्चमुद्राङ्कितं पञ्चमुद्रानाम्ना चिह्नितमित्यर्थः ॥ ४० ।

उत्तमोत्तम लक्षणों से परिपूर्ण यह बालक तो राजा होने के योग्य है, अतः हे योगिनियों! इसे झट-पट वहीं पहुँचा देना चाहिए, जहाँ पर इच्छित फल देनेवाली **पंचमुद्रा महादेवी** विराज रही हैं, जिनकी सेवा करने से मनुष्यों के लिये मोक्षलक्ष्मी भी दूर नहीं रह जाती ॥ ३६-३७ ।

यद्यपि शुभकारिणी काशीपुरी में मुक्ति तो पद-पद पर सर्वत्र ही होती है, तथापि वह पीठ विशेषरूप से समस्त सिद्धियों को देनेवाला है ॥ ३८ ।

इस षोडशवार्षिक रूपवान् बालक की परमसिद्धि विश्वेश्वर की परमानुकम्पा से उसी पीठ के सेवन करने से होने वाली है ॥ ३९ ।

योगिनियों ने इस भाँति मातृकाओं से आशीर्वादित उस बालक को मातृगण के वचनानुसार फिर पंचमुद्रा नामक पीठ पर पहुँचा दिया ॥ ४० ।

स्वर्गलोक से इस लोक को लौटा हुआ वह लड़का आनन्दवन के उस महापीठ में पहुँचकर बड़ी कठोर दिव्य तपस्या करने लगा ॥ ४१ ।

तपसाऽतीवतीव्रेण[1] निश्चलेन्द्रियचेतसः ।
तस्य राजकुमारस्य प्रसन्नोऽभूदुमाधवः ॥ ४२ ।
आविर्बभूव पुरतो लिङ्गरूपेण शङ्करः ।
प्रोवाच च प्रसन्नोऽस्मि वरं ब्रूहि नृपाङ्गज ॥ ४३ ।

स्कन्द उवाच–

सर्वज्योतिर्मयं लिङ्गं पुरतो वीक्ष्य वाङ्मयम् ।
सप्तपातालमुद्भिद्य स्थितं बृहदनुग्रहात् ॥ ४४ ।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ परितुष्टाव धूर्जटिम् ।
सूक्तैर्जन्मान्तराभ्यस्तैः सुदृष्टो रुद्रदैवतैः ॥ ४५ ।
ततः प्रसन्नो भगवान् देवदेवो महेश्वरः ।
सन्तुष्टस्तपसा तस्य प्रोवाच वृषभध्वजः ॥ ४६ ।

देवदेव उवाच–

वरं वरय सन्तप्ततपसा क्लेशितं वपुः ।
त्वयेदं बालवपुषा [2]वशीकृतं मनो मम ॥ ४७ ।

वाङ्मयं वेदयोनिम् । बृहत् परिपूर्णम् । बृहदनुग्रहादित्येकं वा पदम् ॥ ४४ ।

निश्चलेन्द्रिय दृढ़चित्त उस राजकुमार के अत्यन्त तीव्र तप से भगवान् उमापति (बड़े) प्रसन्न हुए ॥ ४२ ।

तो शंकर भगवान् उसके सन्मुख ही लिंगरूप से प्रकट होकर कहने लगे–'हे राजकुमार, मैं प्रसन्न हूँ, तुम वर माँगो' ॥ ४३ ।

स्कन्द बोले–

परम अनुग्रह से सातों पातालों के तल को भेदकर उठे हुए अशेष ज्योतियों से परिपूर्ण वाङ्मय उस लिंग को अपने आगे ही देखकर (वह राजपुत्र) बड़े हर्ष से भूमि पर दण्डवत् प्रणाम कर जन्मान्तर के अभ्यस्त रुद्रसूक्त मन्त्रों से महादेव का स्तुतिगान करने लगा ॥ ४४-४५ ।

तब तो देवाधिदेव वृषभध्वज भगवान् शंकर बड़ी प्रसन्नता के साथ उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर कहने लगे ॥ ४६ ।

महादेव ने कहा–

'तुम वरदान की प्रार्थना करो, तुमने तो अपने इस बालक-शरीर से कठोर तपस्या का अनुष्ठान कर अपनी देह को बड़ा ही क्लेशित कर दिया और इसी से मेरे मन को वशीभूत कर लिया है' ॥ ४७ ।

---

1. तीव्रतीव्रेणेति क्वचित्पाठः ।
2. वशितं च मनो ममेति क्वचित्पाठः ।

शिवोक्तं च समाकर्ण्य वरदानं पुनः पुनः ।
वरं च प्रार्थयाञ्चक्रे परिहृष्टतनूरुहः ॥ ४८ ।

कुमार उवाच–

देवदेव महादेव यदि देयो वरो मम ।
तदत्र भवता स्थेयं भवतापहृता सदा ॥ ४९ ।
अस्मिँल्लिङ्गे स्थितः शम्भो कुरु भक्तसमीहितम् ।
विना मुद्रादिकरणं मन्त्रेणाऽपि विना प्रभो ॥ ५० ।
दिश सिद्धिं परामत्र दर्शनात् स्पर्शनान्नतेः ।
अस्य लिङ्गस्य ये भक्ता मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ ५१ ।
सदैवाऽनुग्रहस्तेषु कर्तव्यो वर एष मे ।
इति तद्वरमाकर्ण्य लिङ्गरूपोऽवदत्प्रभुः ॥ ५२ ।
एवमस्तु यदुक्तं ते वीर वैष्णवसूनुना ।
जनेतु विष्णुभक्ताच्च राज्ञोऽमित्रजितो भवान् ॥ ५३ ।

सूक्तै रुद्रसूक्तैः । अत एव रुद्रदैवतैरिति विशेषणम् ॥ ४५ ।
वीर हे वीर ! अनेन नामाऽपि विश्वेशेन कृतमिति ज्ञेयम् ॥ ५३ ।

इस प्रकार से वरदान के विषय में बारंबार शिव का कथन सुनकर रोमांचित शरीर होकर वह राजपुत्र वरदान की प्रार्थना करने लगा ॥ ४८ ।

कुमार ने कहा–

हे देवाधिदेव ! महादेव ! यदि मुझ को वर देना ही है, तो यही मिले कि, आप संसार के तापों के नाशक होकर यहाँ पर सदैव रहा करें ॥ ४९ ।

हे शंभो ! आप इस लिंग में विराजमान रहकर भक्त लोगों का मुद्रा आदि करने के बिना और मंत्र जप के बिना ही अभीष्ट फल दिया (कीजिये) ॥ ५० ।

हे विभो! यहाँ पर केवल दर्शन, स्पर्शन और प्रणाम करने ही से आप उत्तम सिद्धि को देवें और जो लोग मनसा, वचसा, कर्मणा और शरीर से इस लिंग के भक्त होवें आप उन पर सदैव अनुग्रह करें । (बस) मैं यही वर माँगता हूँ । इस भाँति से उसका वरदान सुनकर लिंगस्वरूप भगवान् ने यह कहा ॥ ५१-५२ ।

हे वीर! तुम वैष्णव के पुत्र हो, सो जो कुछ तुमने कहा है, वह वैसा ही होगा । हे भक्ततनूज! विष्णुभक्त राजा अमित्रजित् से तुम साक्षात् विष्णु के

विष्ण्वंश एवमुत्पन्नो मम भक्तिपराङ्गज ।
वीरवीरेश्वरं नाम लिङ्गमेतत्त्वदाख्यया ॥ ५४ ।
काश्यां दास्यत्यभीष्टानि भक्तानां चिन्तितान्यहो ।
अस्मिँल्लिङ्गे सदा वीर स्थास्याम्यद्यदिनावधि ॥ ५५ ।
दास्यामि च परां सिद्धिमाश्रितेभ्यो न संशयः ।
परं न महिमानं मे कलौ कश्चिच्च वेत्स्यति ॥ ५६ ।
यस्तु वेत्स्यति भाग्येन स परां सिद्धिमाप्स्यति ।
अत्र जप्तं हुतं दत्तं स्तुतमर्चितमेव वा ॥ ५७ ।
जीर्णोद्धारादिकरणमक्षय्यफलहेतुकम् ।
त्वं तु राज्यं परं प्राप्य सर्वभूपालदुर्लभम् ॥ ५८ ।
भुक्त्वा भोगांश्च विपुलानन्ते सिद्धिमवाप्स्यसि ।
पुरी वाराणसी रम्या सर्वस्मिन् जगतीतले ॥ ५९ ।
पुण्यस्तत्रापि सम्भेदः सरितोरसिगङ्गयोः ।
ततोऽपि च हयग्रीवं तीर्थं चैवाऽतिपुण्यदम् ॥ ६० ।

भक्त्या[1] चेति क्वचित् । हे मम भक्तिपर अङ्गज पुत्र ॥ ५४ ।

अंश ही उत्पन्न हुए हो । अतएव हे वीर ! तुम्हारे ही नाम से यह लिंग **वीरेश्वर** संज्ञक होवेगा ॥ ५३-५४ ।

और काशी में यह लिंग भक्त लोगों के चिन्तित अभीष्टों को देता रहेगा । हे वीर ! आज के दिन से मैं सर्वदैव इस लिंग में बना रहूँगा ॥ ५५ ।

और आश्रितजनों को परमसिद्धि का दान करूँगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । परन्तु कलियुग में कोई भी मेरी महिमा को नहीं समझ सकेगा ॥ ५६ ।

और जिस किसी को भाग्यवश कुछ समझाई पड़ जावेगी, उसे परमसिद्धिलाभ होगा, यहाँ पर जप, हवन, दान, स्तुति और पूजन तथा जीर्णोद्धार इत्यादि का करना अक्षय्य फल का कारण होगा और तुम (तो) समस्त राजाओं से दुर्लभ बड़ा भारी राज्य प्राप्त करोगे ॥ ५७-५८ ।

साथ ही विपुल भोगों के भोग लेने पर अन्त में सिद्धि को पावोगे । समस्त संसार-भर में यह वाराणसी पुरी बड़ी ही रमणीय है ॥ ५९ ।

फिर उसमें भी गंगा और असि नदी का संगम पुण्यप्रद है, उससे भी **हयग्रीव-तीर्थ** बड़ा ही पुण्यदायक है ॥ ६० ।

---

1. विष्णुभक्ताच्चेत्यत्र ।

यत्र विष्णुर्हयग्रीवो भक्तचिन्तितमर्पयेत् ।
हयग्रीवाच्च वै तीर्थाद् गजतीर्थं विशिष्यते ॥ ६१ ।
यत्र वै स्नानमात्रेण गजदानफलं लभेत् ।
कोकावराहतीर्थं च पुण्यदं गजतीर्थतः ॥ ६२ ।
कोकावराहमभ्यर्च्य तत्र नो जन्मभाग् जनः ।
अपि कोकावराहाच्च दिलीपेश्वरसन्निधौ ॥ ६३ ।
दिलीपतीर्थं सुश्रेष्ठं सद्यः पापहरं परम् ।
ततः सगरतीर्थं च सगरेशसमीपतः ॥ ६४ ।
यत्र मज्जन्नरो मज्जेन्न भूयो दुःखसागरे ।
सप्तसागरतीर्थं च शुभं सगरतीर्थतः ॥ ६५ ।
सप्ताब्धिस्नानजं पुण्यं यत्र स्नात्वा नरो लभेत् ।
महोदधीति विख्यातं तीर्थं सप्ताब्धितीर्थतः ॥ ६६ ।
सकृद्यत्राऽऽप्लुतो धीमान् दहेदघमहोदधिम् ।
चौरतीर्थं ततः पुण्यं कपिलेश्वरसन्निधौ ॥ ६७ ।

जहाँ पर भगवान् विष्णु हयग्रीव रूप होकर भक्तों के मनोरथों को देते हैं। **हयग्रीवतीर्थ** से भी विशेष **गजतीर्थ** है ॥ ६१ ।

वहाँ पर केवल स्नान करने ही से गजदान का फल मिलता है । **गजतीर्थ** से भी अधिक पुण्यप्रद **कोकावराहतीर्थ** है ॥ ६२ ।

वहाँ पर कोकावराह का पूजन करने से मनुष्य फिर जन्मभागी नहीं होता । **कोकावराह** से भी **दिलीपेश्वर** के समीप ही में दिलीपतीर्थ बहुत श्रेष्ठ है, जो तुरन्त ही परमपापनाशक है । तदनन्तर **सगरतीर्थ** है, जो सगरेश्वर के पास में है ॥ ६३-६४ ।

वहाँ स्नान करने से मनुष्य कभी दुःख-सागर में नहीं डूबता, **सगरतीर्थ** की अपेक्षा **सप्तसागरतीर्थ** और भी शुभप्रद है ॥ ६५ ।

मनुष्य मात्र वहाँ पर स्नान करने से सातों समुद्रों में स्नान करने का पुण्य पाता है । उस **सप्तसागर** से भी **महोदधितीर्थ** विख्यात है ॥ ६६ ।

वहाँ पर एक बार के स्नान करने से भी बुद्धिमान् जन अपने अघमहोदधि को भस्म कर डालता है । उससे भी (बड़ा) पुनीत **कपिलेश्वर** के निकट में **चौर-तीर्थ** है ॥ ६७ ।

पापं सुवर्णचौर्यादि यत्र स्नात्वा क्षयं व्रजेत् ।
हंसतीर्थं ततोऽपीड्यं केदारेश्वरसन्निधौ ॥ ६८ ।
हंसस्वरूपी यत्राऽहं नयामि ब्रह्मदेहिनः ॥ ६९ ।
ततस्त्रिभुवनाख्यस्य केशवस्याऽतिपुण्यदम् ।
तीर्थं यत्राऽऽप्लुता मर्त्या मर्त्यलोकं विशन्ति न ॥ ७० ।
गोव्याघ्रेश्वरतीर्थं च ततोऽप्यधिकमेव हि ।
स्वभाववैरमुत्सृज्य यत्रोभौ सिद्धिमापतुः ॥ ७१ ।
ततोऽपि हि वरं वीर तीर्थं मान्धातृसंज्ञितम् ।
चक्रवर्तिपदं यत्र प्राप्तं तेन महीभुजा ॥ ७२ ।
ततोऽपि मुचुकुन्दाख्यं तीर्थं चाऽतीवपुण्यदम् ।
यत्र स्नातो नरो जातु रिपुभिर्नाऽभिभूयते ॥ ७३ ।
पृथुतीर्थं ततोऽप्युच्चैः श्रेयसां साधनं परम् ।
पृथ्वीश्वरं यत्र दृष्ट्वा नरः पृथ्वीपतिर्भवेत् ॥ ७४ ।

वहाँ के नहाने से सुवर्ण-चौर्यादिक पापों का क्षय हो जाता है । उससे भी **हंसतीर्थ** केदारेश्वर के समीप में बड़ा पूजनीय है ॥ ६८ ।

जहाँ पर मैं स्वयं हंसस्वरूप होकर देहधारियों को ब्रह्मपद पर पहुँचा देता हूँ ॥ ६९ ।

तदनन्तर **त्रिभुवन-केशव** का तीर्थ है, जो अन्यन्त पुण्यप्रद है, जहाँ स्नान करने वाले लोग फिर मर्त्यलोक में कभी नहीं प्रवेश करते ॥ ७० ।

उससे भी **गोव्याघ्रेश्वर-तीर्थ** अधिक है । क्योंकि वहां पर गौ और व्याघ्र दोनों ही ने अपने स्वाभाविक वैर को त्याग कर सिद्धि को प्राप्त किया था ॥ ७१ ।

हे वीर ! **मांधातृ** नामक तीर्थ उससे भी श्रेष्ठ है । राजा मांधाता ने वहीं पर चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया था ॥ ७२ ।

फिर **मुचुकुन्द** तीर्थ तदपेक्षया और भी पुण्यदायक है । वहाँ पर स्नान करने से मनुष्य कभी शत्रुओं से पराजित नहीं होता ॥ ७३ ।

उससे भी बढ़कर परमकल्याणसाधन **पृथुतीर्थ** है, वहाँ पर **पृथ्वीश्वर लिंग** के दर्शन करने से मनुष्य पृथ्वीपति होता है ॥ ७४ ।

ततः परशुरामस्य तीर्थं चाऽतीवसिद्धिदम् ।
यत्र क्षत्रवधात् पापाज्जामदग्न्यो विमुक्तवान् ॥ ७५ ।
अद्याऽपि क्षत्रवधजं पापं तत्र प्रणश्यति ।
एकेन स्नानमात्रेण ज्ञानाऽज्ञानकृतेन च ॥ ७६ ।
ततोऽपि श्रेयसां कर्तृ तीर्थं कृष्णाऽग्रजस्य हि ।
यत्र सूतवधात्पापाद् बलदेवो विमुक्तवान् ॥ ७७ ।
दिवोदासस्य वै तीर्थं तत्र राज्ञोऽतिमेधसः ।
तत्र स्नातो नरो जातु न ज्ञानाच्च्यवतेऽन्ततः ॥ ७८ ।
ततोऽपि हि महातीर्थं सर्वपापप्रणाशनम् ।
यत्र भागीरथी साक्षान्मूर्तिरूपेण तिष्ठति ॥ ७९ ।
स्नात्वा भागीरथीतीर्थे कृत्वा श्राद्धं विधानवित् ।
दत्वा दानं च पात्रेभ्यो न भूयो गर्भभाग्भवेत् ॥ ८० ।
हरपापं च भो वीर तीर्थं भागीरथीतटे ।
तत्र स्नात्वा क्षत्रं यान्ति महापापकुलान्यपि ॥ ८१ ।

सूतवधाल्लोमहर्षणवधात् ॥ ७७ ।
अन्ततोऽन्तकाले ॥ ७८ ।
हरपापं केदारकुण्डम् । तत्र स्नात्वा स्थितस्येत्यर्थः । तीर्थान्तरं वा ॥ ८१ ।

तदनन्तर अतीव सिद्धिप्रद **परशुरामतीर्थ** है, वहीं पर जमदग्निनन्दन ने क्षत्रियों की हत्या से छुटकारा पाया था ॥ ७५ ।

आज तक ज्ञान से हो अथवा अज्ञान से हो, वहाँ पर एक बार के स्नान करने ही से क्षत्रियवध का पाप छूट जाता है ॥ ७६ ।

कृष्णाग्रज बलराम का तीर्थ (**बलरामतीर्थ**) उससे भी श्रेयस्कर है । बलदेव ने वहीं पर सूत के वधजनित पाप से मुक्ति-लाभ किया था ॥ ७७ ।

वहीं पर परम बुद्धिमान् राजा **दिवोदास** का तीर्थ है, मनुष्य वहाँ पर स्नान करने से अन्तकाल में ज्ञान से हीन नहीं होने पाता ॥ ७८ ।

सर्वपातकनाशक भागीरथीतीर्थ उससे भी बड़ा है । वहाँ पर भगवती भागीरथी साक्षात् मूर्तिमती होकर बैठी रहती हैं ॥ ७९ ।

विधानवेत्ता जन भागीरथीतीर्थ में स्नान, श्राद्ध और सत्पात्रों को दान करके फिर जन्मभागी नहीं होता ॥ ८० ।

हे वीर! भागीरथी के तीर पर ही **हरपाप** (नामक केदारकुंड) **तीर्थ** है । वहाँ के स्नान करने से महापातकपुंज का नाश हो जाता है ॥ ८१ ।

यो निष्पापेश्वरं लिङ्गं तत्र पश्यति मानवः ।
निष्पापो जायते वीर स तल्लिङ्गे क्षणात्क्षणात् ॥ ८२ ।
दशाश्वमेधतीर्थं च ततोऽपि प्रवरं मतम् ।
दशानामश्वमेधानां यत्र स्नात्वा फलं लभेत् ॥ ८३ ।
ततोऽपि शुभदं वीर बन्दीतीर्थं प्रचक्षते ।
यत्र स्नातो नरो मुच्येदपि संसारबन्धनात् ॥ ८४ ।
हिरण्याक्षेण दैत्येन बहुशो देवताः पुरा ।
बन्दीकृता निगडितास्तुष्टुवुर्जगदम्बिकाम् ॥ ८५ ।
ततो विशृङ्खलीभूतैर्वन्दिता यज्जगज्जनिः ।
तदाप्रभृति बन्दीति गीयतेऽद्यापि मानवैः ॥ ८६ ।
बन्दीतीर्थं तु तत्रैव महानिगडखण्डनम् ।
यत्र स्नातो विमुच्येत सर्वस्मात्कर्मपाशतः ॥ ८७ ।
बन्दीतीर्थं महाश्रेष्ठं काशीपुर्यां विशाम्पते ।
तत्र स्नातो नरो यायाद् विमुक्तिं देव्यनुग्रहात् ॥ ८८ ।

बन्दी देवी ॥ ८४ ।
बन्दीनाम निर्वक्ति – **हिरण्येति** द्वाभ्याम् । निगडिता लोहशृङ्खलैर्बद्धाश्च ॥ ८५ ।
यद्यदा ॥ ८६ ।

जो कोई वहाँ पर **निष्पापेश्वर** लिंग का दर्शन करता है, हे वीर ! उस लिंगदर्शन के प्रभाव से वह क्षणमात्र में निष्पाप हो जाता है ॥ ८२ ।

दशाश्वमेधतीर्थ तो उससे भी बढ़ा-चढ़ा है । वहाँ पर स्नान करने से दश अश्वमेध यज्ञों का फल मिलता है ॥ ८३ ।

हे वीर ! **बन्दीतीर्थ** उससे भी अधिक शुभप्रद कहा जाता है, क्योंकि वहाँ स्नान करनेवाला मनुष्य संसार-बन्धन से छूट जाता है ॥ ८४ ।

पूर्वकाल में देवता लोग हिरण्याक्ष दैत्य के द्वारा बहुत बार बेड़ियाँ डालकर बँधुएँ बनाये गये थे, तब उन सबों ने जगदम्बा की स्तुति की थी ॥ ८५ ।

तदनन्तर सिकड़ी के बन्धन से छूटकर जब से उन लोगों ने जगज्जननी की स्तुति की थी, तब से आज तक लोग उनको बन्दीदेवी कहते आते हैं ॥ ८६ ।

वहीं पर **महानिगडखंडन** बन्दीतीर्थ है, वहाँ के नहाने से सब प्रकार के कर्मपाशों से छुट्टी मिल जाती है ॥ ८७ ।

हे राजन्! काशीपुरी में बन्दीतीर्थ बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि वहाँ स्नान करने से मनुष्य देवी के अनुग्रह से मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ८८ ।

ततोऽपि हि श्रेष्ठतरं प्रयागमिति विश्रुतम् ।
प्रयागमाधवो यत्र सर्वयागफलप्रदः ॥ ८९ ।
क्षोणीवराहतीर्थं च ततोऽपि शुभदं परम् ।
तत्र स्नातो नरो जातु तिर्यग्योनिं न गच्छति ॥ ९० ।
ततः कालेश्वरं तीर्थं वीर श्रेष्ठतरं परम् ।
कलिकालौ न बाधेते यत्र स्नातं नरोत्तमम् ॥ ९१ ।
अशोकतीर्थं तत्रैव ततोऽप्यतितरां शुभम् ।
यत्र स्नातो नरो जातु न पतेच्छोकसागरे ॥ ९२ ।
ततोऽतिनिर्मलतरं शुक्रतीर्थं नृपाऽङ्गज ।
शुक्रद्वारा न जायेत यत्र स्नातो नरोत्तमः ॥ ९३ ।
ततोऽपि पुण्यदं राजन् भवानीतीर्थमुत्तमम् ।
यत्र स्नात्वा भवानीशौ दृष्ट्वा नैव पुनर्भवेत् ॥ ९४ ।
प्रभासतीर्थं विख्यातं ततोऽपि शुभदं नृणाम् ।
सोमेश्वरस्य पुरतस्तत्र स्नातो न गर्भभाक् ॥ ९५ ।

जहाँ पर समस्त यज्ञों के फलदाता **प्रयागमाधव** विराजमान हैं, वह प्रयाग नाम से विख्यात तीर्थ और भी श्रेष्ठतर है ॥ ८९ ।

तदनन्तर परमशुभदायक **क्षोणीवराहतीर्थ** है, मनुष्य वहाँ पर स्नान करने से कभी तिर्यग्योनि में नहीं पड़ता ॥ ९० ।

हे वीर ! उसके आगे परमश्रेष्ठतर **कालेश्वरतीर्थ** है, वहाँ के नहानेवाले उत्तम नर को कलि और काल कभी नहीं बाधा कर सकते ॥ ९१ ।

वहीं पर **अशोकतीर्थ** और भी शुभप्रद है । वहाँ स्नान करने से मनुष्य कभी शोक-सागर में नहीं पड़ता ॥ ९२ ।

हे नृपनन्दन ! **शुक्रतीर्थ** तो एतदपेक्षया और भी बड़ा ही निर्मल है, वहाँ नहाने से उत्तमजन फिर कभी शुक्र (वीर्य) के द्वारा जन्म नहीं लेता ॥ ९३ ।

हे राजन् ! उत्तम **भवानीतीर्थ** उससे भी अधिक पुण्यप्रद है, वहाँ पर भी स्नान कर भवानी और शिव के दर्शन करने से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ९४ ।

प्रभास-तीर्थ लोगों में उससे भी विशेष शुभप्रद विख्यात है । **सोमेश्वर** के सन्मुख उस तीर्थ में स्नान कर लेने से गर्भभागी नहीं होना पड़ता ॥ ९५ ।

ततो गरुडतीर्थं च संसारविषनाशनम् ।
गरुडेशं समभ्यर्च्य तत्र स्नात्वा न शोचति ॥ ९६ ।
ब्रह्मतीर्थं ततः पुण्यं वीर ब्रह्मेश्वरात्पुरः ।
ब्रह्मविद्यामवाप्नोति तत्र स्नानेन मानवः ॥ ९७ ।
ततो वृद्धार्कतीर्थं च विधितीर्थं ततः परम् ।
तत्राऽऽप्लुतो नरो याति रविलोकं सुनिर्मलम् ॥ ९८ ।
ततो नृसिंहतीर्थं च महाभयनिवारणम् ।
कालादपि कुतस्तत्र स्नात्वा परिबिभेति च ॥ ९९ ।
ततोऽपि पुण्यदं नृणां तीर्थं चित्ररथेश्वरम् ।
यत्र स्नात्वा च दत्वा च चित्रगुप्तं न पश्यति ॥ १०० ।
धर्मतीर्थं ततः पुण्यं धर्मेशपुरतः स्थितम् ।
तत्र श्राद्धादिकं कृत्वा पितृणामनृणो भवेत् ॥ १०१ ।

ब्रह्मतीर्थमिति । पूर्वस्मात्पूर्वस्मात् तीर्थादुत्तरोत्तरस्याधिक्यमात्रमत्र विवक्षितं न तु क्रमोऽपि । अत एव वक्ष्यति – ज्ञेयान्येतानि तीर्थानि पुण्यदान्युत्तरोत्तर-मिति ॥ ९७ ।

वृद्धार्कतीर्थमिति । ब्रह्मार्केति पाठे ब्रह्मा ब्रह्मणो वृद्धहारीत एव तन्नामार्को ब्रह्मार्कस्तत्तीर्थमित्यर्थः ॥ ९८ ।

चित्रगुप्तं न पश्यति ततो न बिभेतीत्यर्थः ॥ १०० ।

तदनन्तर संसाररूप विष का नाशक **गरुडतीर्थ** है, वहाँ पर नहाकर **गरुडेश्वर** की पूजा करने से फिर कुछ नहीं शोच करना पड़ता ॥ ९६ ।

हे वीर! **ब्रह्मेश्वर** के आगे उससे भी पवित्र **ब्रह्मतीर्थ** है, वहाँ के नहाने से मनुष्य ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो जाता है ॥ ९७ ।

उससे भी **वृद्धार्कतीर्थ** एवं तदपेक्षया **विधितीर्थ** श्रेष्ठ है । वहाँ के स्नान करने से मनुष्य निर्मल सूर्यलोक में चला जाता है ॥ ९८ ।

महाभयनिवारक **नृसिंहतीर्थ** उससे भी उत्तम है; क्योंकि वहाँ स्नान करने से काल का भी कुछ भय नहीं रह जाता ॥ ९९ ।

मनुष्यों के लिये उससे भी अधिक पुण्यप्रद **चित्ररथेश्वरतीर्थ** है । वहाँ पर स्नान और दान करने से चित्रगुप्त को नहीं देखना पड़ता ॥ १०० ।

धर्मेश्वर के सन्मुख जो **धर्मतीर्थ** है, वह तो और भी पवित्र है । वहाँ पर श्राद्ध इत्यादि करने से पितरों के ऋण से उद्धार पाया जाता है ॥ १०१ ।

विशालतीर्थं विमलं विशालफलदं ततः ।
तत्र स्नात्वा विशालाक्षीं दृष्ट्वा गर्भे न जायते ॥ १०२ ।
जरासन्धेशतीर्थं च जरासन्धेशसन्निधौ ।
संसारज्वरपीडाभिस्तत्र स्नातो न मुह्यति ॥ १०३ ।
ततोऽपि ललितातीर्थं महासौभाग्यवर्धनम् ।
स्नात्वाऽर्चयित्वा ललितां न दरिद्रो न दुःखभाक् ॥ १०४ ।
ततो गौतमतीर्थं च सर्वपापविशोधनम् ।
स्नात्वा पिण्डान् विनिर्वाप्य यत्र शोचति न क्वचित् ॥ १०५ ।
गङ्गाकेशवतीर्थं च तीर्थं चाऽगस्त्यसंज्ञकम् ।
ततस्तु योगिनीतीर्थं त्रिसन्ध्याख्यं ततः परम् ॥ १०६ ।
ततस्तु नार्मदं तीर्थं तत आरुन्धतेयकम् ।
वासिष्ठं च ततस्तीर्थं मार्कण्डेयमनुत्तमम् ॥ १०७ ।
ज्ञेयान्येतानि तीर्थानि पुण्यदान्युत्तरोत्तरम् ।
खुरकर्तरिसंज्ञं च ततस्तीर्थमनुत्तमम् ॥ १०८ ।

उससे भी विशाल फलों का देने वाला विमल **विशालतीर्थ** है, वहाँ पर स्नान और **विशालाक्षी** के दर्शन करने से फिर कभी गर्भ में वास नहीं करना पड़ता ॥ १०२ ।

जरासन्धेश्वर के समीप ही में **जरासन्धेशतीर्थ** है, वहाँ के स्नान करने से मनुष्य संसारज्वर की पीड़ाओं से मोहित नहीं होने पाता ॥ १०३ ।

ललितातीर्थ उससे भी बड़ा भारी सौभाग्यवर्द्धन है । वहाँ पर स्नान तथा ललिता के दर्शन करने से कोई भी दरिद्र और दुःखभागी नहीं होता ॥ १०४ ।

समस्त पापों का विशोधक **गौतमतीर्थ** उससे भी श्रेष्ठ है । वहाँ पर स्नान करके पिंडदान करने से कदापि कहीं भी पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता है ॥ १०५ ।

उसके आगे **गंगा-केशवतीर्थ** है, फिर **अगस्त्यतीर्थ**, पश्चात् **योगिनीतीर्थ**, तदनन्तर **त्रिसन्ध्य** नामक तीर्थ है ॥ १०६ ।

उसके उपरान्त **नर्मदातीर्थ** एवं **अरुन्धतीतीर्थ**, तब **वशिष्ठतीर्थ**, फिर सबसे (बढ़कर) **मार्कण्डेयतीर्थ** है ॥ १०७ ।

इन सब तीर्थों को उत्तरोत्तर अधिक पुण्यप्रद समझना चाहिए और **खुरकर्तरितीर्थ** तदपेक्षया और भी उत्तम है ॥ १०८ ।

तत्र श्राद्धादिकरणान्नरो मुच्येत किल्बिषैः ।
ततो भागीरथीतीर्थं राजर्षेरतिपुण्यदम् ॥ १०९ ।
तत्राऽल्पमपि यच्छेद्यत् कल्पान्तेऽप्यक्षयं हि तत् ।
एतेभ्योऽपि हि तीर्थेभ्यो लिङ्गकोटित्रयादपि ॥ ११० ।
वीर वीरेश्वरं लिङ्गं महाश्रेष्ठं भविष्यति ।
वीरतीर्थे नरः स्नात्वा वीरेशं परिपूज्य च ॥ १११ ।
तीर्थेष्वेतेषु सर्वेषु स्नातो भवति नान्यथा ।
यस्तु वीरेश्वरं लिङ्गं नक्तमभ्यर्चयिष्यति ॥
तेन त्रिकोटिसंख्यानि लिङ्गानीहाऽर्चितानि वै ॥ ११२ ।
यस्तु कामयते लक्ष्मीं मुक्तिदां भुक्तिदामपि ।
तेन वीरेश्वरं लिङ्गं संसेव्यमतियत्नतः ॥ ११३ ।
विधायैकं जागरणं नरो वीरेशमर्चयन् ।
भूतायां नैव गृह्णाति शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ ११४ ।
इदं लिङ्गं सदाऽभ्यर्च्यं सिद्धैः संसिद्धिकामुकैः ।
ऐहिकाऽऽमुष्मिकान्यस्मात् सर्वान् कामान् समर्थयेत्[1] ॥ ११५ ।

भूतायां चतुर्दश्याम् ॥ ११४ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ।

वहाँ पर श्राद्ध इत्यादि करने से मनुष्य पापों से छूट जाता है । तदनन्तर राजर्षि भगीरथ का परमपुण्यदायक तीर्थ है ॥ १०९ ।

वहाँ पर अल्पमात्र भी जो कुछ दिया जावे, वह कल्पान्त में भी क्षय को नहीं प्राप्त होता । हे वीर! इन सब तीर्थों से तथा तीन कोटि लिंगों से भी यह वीरेश्वर लिंग बहुत ही श्रेष्ठ होगा । वीरतीर्थ में स्नान कर वीरेश्वर का पूजन करने से मनुष्य इन समस्त तीर्थों में स्नान करने का फलभागी होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । जो कोई रात्रि समय में वीरेश्वर की पूजा करेगा, उसे तीन कोटि लिंगो के पूजन करने का फल यहीं पर मिल जावेगा ॥ ११०-११२ ।

जो कोई भुक्ति और मुक्ति देनेवाली लक्ष्मी की कामना करे, उसे बड़े प्रयत्न के साथ **वीरेश्वर** लिंग की सेवा करनी चाहिए ॥ ११३ ।

जो चतुर्दशी तिथि को जागरण करके **वीरेश्वर** का पूजन करता है, वह फिर कभी पांचभौतिक शरीर को नहीं धारण करता ॥ ११४ ।

जो लोग सिद्धि के साधने की इच्छा रखते हों, उनको तो सदैव इस लिंग की सेवा करनी चाहिए; क्योंकि इसके सेवन से ऐहिक और पारलौकिक सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥ ११५ ।

---

1. समर्पयेदित्यपि क्वचित्पाठः ।

पञ्चामृतेन स्नपनं यः करिष्यति मानवः ।
पले पले फलं तस्य वीरेशे घटकोटिजम् ॥ ११६ ।
यदन्यत्र फलं लिङ्गे कोटिपुष्पप्रदानतः ।
तदेकेनैव पुष्पेण वीरेशे नाऽत्र संशयः ॥ ११७ ।
एकामप्याहुतिं दत्वा वीरेश्वरसमीपतः ।
कोटिहोमफलं सम्यङ् नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ ११८ ।
सिक्थे सिक्थे च नैवेद्ये कोटिसिक्थफलं भवेत् ।
अत्यल्पमपि वीरेशे कृतमक्षयतां व्रजेत् ॥ ११९ ।
अप्येकं यो महारुद्रं जपेद्वीरेशसन्निधौ ।
जापयेद् वा भवेत्तस्य कोटिरुद्रफलं ध्रुवम् ॥ १२० ।
व्रतोत्सर्गादि वीरेशे यत्कृतं व्रतिभिर्नृभिः ।
तत्कोटिगुणसंख्याकं भवत्येव न संशयः ॥ १२१ ।
कृता अष्टौ नमस्कारा येन वीरेश्वराऽग्रतः ।
अष्टकोटिनमस्कारफलं तस्य न संशयः ॥ १२२ ।

जो मनुष्य इस वीरेश्वर लिंग को पंचामृत से नहवायेगा, उसे पल-पल में करोड़ों घड़ों के जल से नहलाने का फल प्राप्त होगा ॥ ११६ ।

दूसरे लिंगों पर करोड़ पुष्प चढ़ाने से जो फल होता है, इस वीरेश्वर लिंग पर वही पुण्य केवल एक ही पुष्प से प्राप्त होता है । इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ११७ ।

वीरेश्वर के समीप में एंक भी आहुति के देने से कोटि होम का पूर्ण फल निःसन्देह मिल जाता है ॥ ११८ ।

एक-एक कण नैवेद्य भी यदि वीरेश्वर पर चढ़ा दिया जावे, तो अत्यन्त थोड़ा होने पर भी कोटि-कोटि फल अक्षय हो जाता है ॥ ११९ ।

यदि कोई वीरेश्वर के समीप में एक ही महारुद्र मंत्र का जप करे, अथवा जपवावे, तो उसे ध्रुव करके कोटि रुद्र जप का फल मिलता है ॥ १२० ।

व्रतानुष्ठायी जो लोग वीरेश्वर पर व्रतोत्सर्ग इत्यादि करते हैं, वह सब निःसन्देह कोटिगुण हो जाता है ॥ १२१ ।

जिस किसी ने वीरेश्वर के आगे आठ भी नमस्कार कर लिये, उसे आठ करोड़ दण्डवत् प्रणाम करने का फल होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ १२२ ।

सर्वासां सम्पदां स्थानमिदं लिङ्गं भविष्यति ।
वीरेश्वरं न सन्देहो वीर मे वरदानतः ॥ १२३ ।
ज्ञानमुत्पत्स्यते पुंसां तारकाख्यं ममाज्ञया ।
जीवतामेव तत्सेव्यमेतल्लिङ्गं शुभार्थिभिः ॥ १२४ ।
एतच्छ्रुत्वा पुनः प्राह वीरोऽमित्रजितः सुतः ।
प्रणम्य देवदेवेशं परिपूर्णमनोरथः ॥ १२५ ।
तीर्थान्येतानि देवेश यान्युक्तानि ममाऽग्रतः ।
कृपया पुनरप्येव तदन्यानि वद प्रभो ॥ १२६ ।
आदिकेशवमारभ्य तत्तीर्थाच्च भगीरथात् ।
येषां श्रवणमात्रेण निष्पापो जायते नरः ॥ १२७ ।
इति श्रुत्वा महेशानो महीपतनयोदितम् ।
पुनस्तीर्थानि गङ्गायां वक्तुं समुपचक्रमे ॥ १२८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे वीरेश्वराविर्भावो नाम त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ।

हे वीर ! मेरे वरदान के प्रभाव से यह वीरेश्वर लिंग समस्त सम्पत्तियों का (आकर) स्थान होगा, इस विषय में सन्देह नहीं है ॥ १२३ ।

इस लिंग के सेवन से जीते जी लोगों को **तारकज्ञान** मेरी आज्ञा से उत्पन्न हो जावेगा । अतएव शुभार्थी लोगों को उसकी सेवा करनी चाहिए ॥ १२४ ।

(स्कन्द ने) कहा, 'अमित्रजित् का पुत्र वह 'वीर' नामक बालक पूर्ण मनोरथ होकर इन बातों को सुनने पर देवदेव को प्रणाम करके फिर कहने लगा' ॥ १२५ ।

'हे देवेश! मेरे आगे जिन-जिन तीर्थों का वर्णन किया है, इनसे भिन्न आदि-केशव से लेकर भागीरथतीर्थपर्यन्त जो-जो प्रधान तीर्थ हैं, जिनका नाम सुनने से भी मनुष्य निष्पाप हो जाता है, हे प्रभो ! कृपा करके उन सबों का भी वर्णन कीजिये' ॥ १२६-१२७ ।

इस प्रकार से उस राजकुमार का कथन सुनकर भगवान् महादेव फिर गंगा के (तटस्थ) तीर्थों का कीर्तन करने लगे ॥ १२८ ।

दोहा– **करी बीर ने बीरता, बीरेशहिं प्रकटाय ।**
वही धन्य है जीव जेहिं, पर उपकार सोहाय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ।

॥ अथ चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

आकर्णय क्षोणिसुर[1] यथा स्थाणुरचीकरत् ।
गङ्गावरणयोः पुण्यात्सम्भेदात्तीर्थभूमिकाम् ॥ १ ।
सङ्गमे तत्र निष्णातः सङ्गमेशं समर्च्य च ।
नरो न जातु जननीगर्भसङ्गमवाप्नुयात् ॥ २ ।
तत्र पादोदकं तीर्थं यत्र देवेन शार्ङ्गिणा ।
आदौ पादौ क्षालितौ तु मन्दराच्चागतेन यत् ॥ ३ ।
विष्णुपादोदके तीर्थे वारिकार्यं करोति यः ।
व्यतीता तेन नियतं भूयः सांसारिकी गतिः ॥ ४ ।

अथाशीतितमेऽध्याये चतुर्भिरधिके शुभे ।
वीरेश्वरप्रसङ्गेन तीर्थाख्यानमुदीर्यते ॥ १ ।

आदिकेशवमारभ्य भगीरथतीर्थपर्यन्तानि तीर्थानि कथयति – **आकर्णयेति** । सम्भेदात् सङ्गमात् । तीर्थभूमिकां तीर्थस्थानम् । जातावेकवचनम् ॥ १ ।

निष्णातः नितरां स्नातः ॥ २ ।

पादोदकाख्याने कारणमाह – **यत्रेति** । यद्यतः ॥ ३ ।

(वीरेश्वर के प्रसंग से तीर्थों (घाटों) का वर्णन)

स्कन्द ने कहा–

हे विप्रवर! गंगा और वरुणा के पवित्र संगमस्थल से महादेव ने जिन तीर्थों को बनाया है, उनका श्रवण करो ॥ १ ।

उस संगम में स्नान कर **संगमेश्वर** की पूजा करने से मनुष्य कभी माता के गर्भ का संगी नहीं होने पाता ॥ २ ।

वहीं पर **पादोदकतीर्थ** है, जहाँ पर भगवान् विष्णु ने मन्दराचल से आकर प्रथम बार अपने पैरों को धोया था ॥ ३ ।

उस **विष्णुपादोदकतीर्थ** में जो कोई व्यतीपात योग पर स्नान, तर्पण इत्यादि जलकृत्यों को करता है, उसे फिर संसार की दुर्गति में नहीं पड़ना होता ॥ ४ ।

---

1. समर्पयेदित्यपि क्वचित्पाठः ।

कृतपादोदकस्नानः कृतकेशवपूजनः ।
वीतसंसारवसतिः काश्यामासीन्नरोत्तमः ॥ ५ ।
काश्यां सा भूमिरुद्दिष्टा श्वेतद्वीप इति द्विजैः ।
तत्र पुण्यार्जनं कृत्वा श्वेतद्वीपाधिपो भवेत् ॥ ६ ।
ततः पादोदकात्तीर्थात्तीर्थं क्षीराब्धिसंज्ञकम् ।
तत्राऽर्जितमहापुण्यो वसेत्क्षीराब्धिरोधसि ॥ ७ ।
क्षीरोदाद्दक्षिणे भागे तीर्थं शंखाख्यमुत्तमम् ।
तत्र स्नातो भवेन्नूनं नाशंखादिनिधेः पतिः ॥ ८ ।
अर्वाक् च शंखतीर्थाद्वै चक्रतीर्थमनुत्तमम् ।
संसारचक्रे न पतेत्तत्तीर्थजलमज्जनात् ॥ ९ ।
गदातीर्थं तदग्रे तु संसारगदनाशनम् ।
तत्र श्राद्धादिकरणात्पश्येद्देवं गदाधरम् ॥ १० ।

काशी में जो उत्तम जन **पादोदकतीर्थ** में स्नान एवं **आदिकेशव** का पूजन कर लेता है, उसे संसारवास का दुःख नहीं भोगना पड़ता ॥ ५ ।

काशी में ब्राह्मण लोग उस भूमि को **श्वेतद्वीप** कहते हैं । अतएव जो कोई वहाँ पर पुण्योपार्जन करता है, वह श्वेतद्वीप का स्वामी होता है ॥ ६ ।

उस **पादोदकतीर्थ** से आगे **क्षीराब्धि** नामक तीर्थ है । वहाँ पर पुण्यकर्म करने वाला क्षीरसमुद्र के तीर पर वास करता है ॥ ७ ।

क्षीरोदतीर्थ से दक्षिण भाग में उत्तम **शंखतीर्थ** है, वहाँ के नहाने से मनुष्य शंख इत्यादि निधियों का अधिपति होता है ॥ ८ ।

शंखतीर्थ के पीछे सर्वोत्तम **चक्रतीर्थ** है, उस तीर्थ के जल में नहा लेने से मनुष्य कभी संसारचक्र में नहीं गिरने पाता ॥ ९ ।

उसके आगे (बढ़कर) संसाररूप गद (रोग) का नाशक **गदातीर्थ** है । वहाँ पर श्राद्ध इत्यादि के करने से गदाधर भगवान् का दर्शन मिल जाता है ॥ १० ।

पद्माकृत्पद्मतीर्थं च तदग्रे पितृतृप्तिकृत् ।
तत्र स्नानादिकरणात्प्राप्नुयादघसंक्षयम् ॥ ११ ।
ततस्तीर्थं महालक्ष्म्या महापुण्यफलप्रदम् ।
तत्राऽभ्यर्च्य महालक्ष्मीं निर्वाणकमलां लभेत् ॥ १२ ।
ततो गारुत्मतं तीर्थं संसारगरनाशनम् ।
कृतोदकक्रियस्तत्र वैकुण्ठे वसतिं लभेत् ॥ १३ ।
ततो नारदतीर्थं च ब्रह्मविद्यैककारणम् ।
तत्र स्नानेन मुक्तः स्याद्दृष्ट्वा नारदकेशवम् ॥ १४ ।
प्रह्लादतीर्थं तद्याम्ये महाभक्तिफलप्रदम् ।
तत्र वै स्नानमात्रेण विष्णोः प्रियतरो भवेत् ॥ १५ ।
अम्बरीषं ततस्तीर्थं महापातकनाशनम् ।
तत्र वै शुभकर्माणो जना नो गर्भभाजनम् ॥ १६ ।

गारुत्मतं गारुडम् ॥ १३ ।

उसके आगे पितरों की तृप्ति का करनेवाला और सर्वसम्पत्तिजनक (स्वयं पद्मादेवी का बनाया हुआ) **पद्मतीर्थ** है । वहाँ पर स्नान इत्यादि के करने से पापों का क्षय हो जाता है ॥ ११ ।

उसके अनन्तर महापुण्यप्रद **महालक्ष्मीतीर्थ है** । वहाँ पर **महालक्ष्मी** की आराधना करने से निर्वाणलक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ १२ ।

तदनन्तर **गारुत्मततीर्थ** है । वह संसाररूप गरल का नाशक है । वहाँ पर उदकक्रियाओं का करनेवाला वैकुंठ में वास पाता है ॥ १३ ।

फिर ब्रह्मविद्या का एकमात्र कारण **नारदतीर्थ** है । वहाँ पर स्नान करके **नारदकेशव** के दर्शन करने से मुक्तिलाभ होता है ॥ १४ ।

उसके दक्षिण ओर बड़ा भक्तिरूप फल का दाता **प्रह्लादतीर्थ** है । वहाँ केवल स्नान ही से विष्णु का बड़ा प्यारा हो जाता है ॥ १५ ।

तब फिर महापातकनाशक **अम्बरीषतीर्थ** है । वहाँ पर शुभकर्म करनेवाले लोग कभी गर्भभागी नहीं होते ॥ १६ ।

आदित्यकेशवं नाम तदग्रे तीर्थमुत्तमम् ।
कृताभिषेकस्तत्रापि लभेत्स्वर्गाभिषेचनम् ॥ १७ ।
दत्तात्रेयस्य तत्राऽस्ति तीर्थं त्रैलोक्यपावनम् ।
योगसिद्धिं लभेत्तत्र स्नानमात्रेण भावतः ॥ १८ ।
तदग्रे भार्गवं तीर्थं महाज्ञानसमर्पकम् ।
तत्र स्नानविधानेन भवेद् भार्गवलोकभाक् ॥ १९ ।
ततो वामनतीर्थं च विष्णुसान्निध्यहेतुकम् ।
तत्र श्राद्धविधानेन मुच्यते पितृजादृणात् ॥ २० ।
नरनारायणाख्यं हि ततस्तीर्थं शुभप्रदम् ।
तत्तीर्थमज्जनात्पुंसां गर्भवासः सुदुर्लभः ॥ २१ ।
यज्ञवाराहतीर्थं च ततो दक्षिणतः शुभम् ।
यत्र स्नातस्य वै पुंसां[1] राजसूयफलं ध्रुवम् ॥ २२ ।
विदारनारसिंहाख्यं तीर्थं तत्राऽस्ति पावनम् ।
यत्रैक स्नानतोनश्येदघं जन्मशतार्जितम् ॥ २३ ।

भावतो भक्त्या ॥ १८।
स्नातस्य स्नातानाम् ॥ २२ ।

उसके आगे **आदित्यकेशव** नामक उत्तम तीर्थ है । वहाँ के नहाने से मनुष्य स्वर्गराज्य में अभिषिक्त होता है ॥ १७ ।

उसी के निकट में त्रैलोक्यपावन **दत्तात्रेयतीर्थ** है । वहाँ पर भक्तिभाव से केवल स्नान कर लेने ही से (मनुष्य) योगसिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ।

उसके आगे बढ़ते ही परम ज्ञानसमर्पक **भार्गवतीर्थ** है । वहाँ पर स्नानविधान से भार्गवलोक का भागी होता है ॥ १९ ।

तदनन्तर जो **वामनतीर्थ** है । वहाँ पर स्नान करने से मनुष्य पितरों के ऋण से छूटता और विष्णु के समीप पहुँचता है ॥ २० ।

फिर **नर-नारायणतीर्थ** है । वह बड़ा ही शुभप्रद है । वहाँ के नहाने से लोगों को गर्भवास नहीं करना पड़ता ॥ २१ ।

उससे दक्षिण ओर शुभमय **यज्ञवाराहतीर्थ** है, वहाँ के नहानेवाले पुरुषों को राजसूययज्ञ का फल ध्रुव करके प्राप्त होता है ॥ २२ ।

वहीं पर बड़ा पवित्र **विदारनारसिंह** नामक तीर्थ है । वहाँ केवल एक ही बार नहा लेने से सैकड़ों जन्म के पातक नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ।

---

1. पुंस इति पाठोऽन्यत्र पुस्तके ।

गोपीगोविन्दतीर्थं च ततो वैष्णवलोकदम् ।
यस्मिन् स्नातो नरो विद्वान्न विन्द्याद् गर्भवेदनम् ॥ २४ ।
लक्ष्मीनृसिंहतीर्थं च गोपीगोविन्ददक्षिणे ।
निर्वाणलक्ष्म्या यत्रत्यो व्रियते तु नरोत्तमः ॥ २५ ।
तद्दक्षिणायां काष्ठायां शेषतीर्थमनुत्तमम् ।
महापापौघशेषोऽपि न तिष्ठेद्यन्निमज्जनात् ॥ २६ ।
शंखमाधवतीर्थं च तद्याम्यां दिशि चोत्तमम् ।
तत्तीर्थसेवनान्नॄणां कुतः पापभयं महत् ॥ २७ ।
ततोऽपि पावनतरं तीर्थं तत्क्षणसिद्धिदम् ।
नीलग्रीवाख्यमतुलं तत्स्नायी सर्वदा शुचिः ॥ २८ ।
तत्रोद्दालकतीर्थं च सर्वाऽघौघविनाशनम्[1] ।
ददाति महतीमृद्धिं स्नानमात्रेण तन्नृणाम् ॥ २९ ।
ततः सांख्याख्यतीर्थं च सांख्येश्वरसमीपतः ।
तत्तीर्थसेवनात्पुंसां सांख्ययोगः प्रसीदति ॥ ३० ।

सांख्ययोगो ज्ञानयोगः । प्रसीदति सम्यग् भवतीत्यर्थः ॥ ३० ।

तदनन्तर विष्णुलोक का दाता **गोपीगोविन्दतीर्थ** है, जिसमें स्नान करके विद्वान् जन गर्भवेदना को फिर नहीं जान सकता ॥ २४ ।

गोपीगोविन्दतीर्थ के दक्षिण भाग में **लक्ष्मीनृसिंहतीर्थ** है, जहाँ के नरोत्तम को निर्वाण-लक्ष्मी भी वर लेती है ॥ २५ ।

उससे दक्षिण दिशा में एक बड़ा ही उत्तम **शेषतीर्थ** है, जिसके स्नान ही से घोर पापसमूह का शेष नहीं बँचने पाता ॥ २६ ।

उसके भी दक्षिण उत्तम **शंखमाधवतीर्थ** है । उस तीर्थ का सेवन करने से फिर लोगों को संसार का बड़ा भय कहाँ रह जाता है ? ॥ २७ ।

उससे भी परमपवित्र एवं तत्क्षण ही सिद्धिदायक, अतुलनीय **नीलग्रीव** नामक तीर्थ है, वहाँ का नहानेवाला सर्वदैव पवित्र रहता है ॥ २८ ।

वहीं पर सर्वपापनाशक **उद्दालकतीर्थ** है, जो केवल स्नान ही करने से लोगों को बड़ी भारी समृद्धि दे देता है ॥ २९ ।

सांख्येश्वर के समीप ही में **सांख्यतीर्थ** है, उस तीर्थ के सेवन करने से लोगों का सांख्ययोग सिद्ध हो जाता है ॥ ३० ।

---

1. विनाशकृदित्यपि क्वचित्पाठः ।

स्वर्लोकाद्यत्र संलीनः स्वयं देव उमापतिः ।
अतः स्वर्लीनतीर्थं च स्वर्लीनेश्वरसन्निधौ ॥ ३१ ।
तत्र स्नानेन दानेन श्रद्धया द्विजभोजनैः ।
जपहोमार्चनैः पुंसामक्षयं सर्वमेव हि ॥ ३२ ।
महिषासुरतीर्थं च तत्समीपेऽतिपावनम् ।
यत्र तप्त्वा स दैत्येन्द्रो विजिग्ये सकलान्सुरान् ॥ ३३ ।
तत्तीर्थसेवकोऽद्यापि नारिभिः[1] परिभूयते ।
न पातकैर्महद्भिश्च प्रार्थितं च फलं लभेत् ॥ ३४ ।
बाणतीर्थं च तस्याऽऽरात्तत्सहस्रभुजप्रदम् ।
तत्र स्नातो नरो भक्तिं प्राप्नुयाच्छाम्भवीं स्थिराम् ॥ ३५ ।
गोप्रतारेश्वरं नाम तदग्रे तीर्थमुत्तमम् ।
अपुत्रोऽपि तरेद्यत्र स्नातो वैतरणीं सुखम् ॥ ३६ ।
तीर्थं हिरण्यगर्भाख्यं तद्याम्ये सर्वपापहृत् ।
तत्र स्नातो हिरण्येन मुच्यते न कदाचन ॥ ३७ ।

वैतरणीं यमद्वारस्थां नदीम् ॥ ३६ ।

उसके निकट ही में **स्वर्लीनेश्वर** के पास **स्वर्लीनतीर्थ** है । वह स्वर्गलोक से आकर वहाँ पर स्वयं भगवान् उमापति के लीन हो रहने से स्वर्लीननामक प्रसिद्ध है ॥ ३१ ।

वहाँ पर श्रद्धापूर्वक स्नान, दान, ब्राह्मणभोजन, जप, होम और पूजन इत्यादि करने से सब कुछ अक्षय हो जाता है ॥ ३२ ।

उसके समीप ही में परमपावन **महिषासुरतीर्थ** है, जहाँ पर उस दैत्यराज ने तपस्या करके समस्त देवताओं को जीता था ॥ ३३ ।

उस तीर्थ का सेवक आज तक न तो कभी शत्रुओं से हारता, न बड़े से बड़े पातकों से दबता है; बल्कि वह इच्छित फल को प्राप्त करता है ॥ ३४ ।

उसके समीप ही (बाणासुर को) सहस्र भुजाओं का देनेवाला **बाणतीर्थ** है । वहाँ के नहाने से मनुष्य शिव की दृढ़भक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ ३५ ।

उसके आगे चलकर उत्तम **गोप्रतारतीर्थ** है । वहाँ स्नान करने से अपुत्र पुरुष भी सुखपूर्वक वैतरणी के पार हो जाता है ॥ ३६ ।

उसके दक्षिणभाग में **हिरण्यगर्भ** नामक तीर्थ है । वहाँ के नहाने से मनुष्य कभी सुवर्ण से हीन नहीं होता ॥ ३७ ।

---

1. नारित इत्यपि क्वचित्पाठः ।

ततः प्रणवतीर्थं च सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम् ।
जीवन्मुक्तो भवेत्तत्र स्नानमात्रेण मानवः ॥ ३८ ।
ततः पिशङ्गिलातीर्थं दर्शनादपि पापहृत् ।
मुने ममाऽधिष्ठानं वै तदगस्तेऽतिसिद्धिदम् ॥ ३९ ।
स्नात्वा पिशङ्गिलातीर्थे दत्त्वा दानं च किञ्चन ।
किं शोचति कृतात्पापादन्यत्राऽपि मृतो यदि ॥ ४० ।
यो वै पिशङ्गिलातीर्थे स्नात्वा मामर्चयिष्यति ।
भविष्यति स मे मित्रं मित्रतेजःसमप्रभम् ॥ ४१ ।
ततः त्रैविष्टपीदृष्टिर्निर्मलीकृतपुष्कलम् ।
तीर्थं पिलिपिलाख्यं वै मनोमलविनाशनम् ॥ ४२ ।
तत्र श्राद्धादिकरणाद्दीनानाथप्रतर्पणात् ।
महतीं श्रियमाप्नोति मानवोऽतीवनिश्चलाम् ॥ ४३ ।

मित्रतेजः समप्रभं सूर्यसदृशतेजस्करम् ॥ ४१ ।
त्रैविष्टपीदृष्टिनिर्मलीकृतपुष्कलं[1] त्रिलोचनदर्शनशुद्ध[2]जातसर्वम् ॥ ४२ ।

तदनन्तर समस्त तीर्थों से परमोत्तम **प्रणवतीर्थ** है । वहाँ पर केवल स्नान करने ही से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ३८ ।

फिर तो **पिशंगिलातीर्थ** है, जो दर्शन करने से भी पापों को हर लेता है । (हे अगस्त्य मुने!) वह मेरे निज रहने का परम सिद्धिप्रद स्थान है ॥ ३९ ।

पिशंगिलातीर्थ में स्नान और कुछ थोड़ा-बहुत दान करने से यदि वह अन्यत्र कहीं पर मृत्यु को प्राप्त हो, तो पापों से कोई शोच नहीं करना पड़ता ॥ ४० ।

जो कोई **पिशंगिलातीर्थ** में नहाकर मेरी पूजा करेगा, वह सूर्य के समान तेजस्वी होकर मेरा मित्र बन जावेगा ॥ ४१ ।

उसके पास ही में **पिलिपिलातीर्थ** है जो **त्रिविष्टपलिंग** की दृष्टि पड़ने से वहाँ के समस्त भूभाग को निर्मल करता हुआ मन के मल को भी शुद्ध कर देता है ॥ ४२ ।

वहाँ पर श्राद्धादिक के करने और दीन तथा अनाथ लोगों के सन्तुष्ट करने से मनुष्य बड़ी स्थिर बहुत भारी सम्पत्ति को पाता है ॥ ४३ ।

---

1. अत्र पुंवद्भावाभाव आर्षः ।
2. शुद्धोदकमित्यप्यर्थान्तरं भाति, पुष्कलं जलं रलयोः सावर्ण्यात् ।

ततो नागेश्वरं तीर्थं महाऽघपरिशोधनम् ।
तत्तीर्थमज्जनादेव भवेत्सर्वाऽघसंक्षयः ॥ ४४ ।
तद्दक्षिणे महापुण्यं कर्णादित्याख्यमुत्तमम् ।
तीर्थं यत्राऽऽप्लुतो मर्त्यो भास्करीं श्रियमावहेत् ॥ ४५ ।
ततो भैरवतीर्थं च महाऽघौघक्षयप्रदम् ।
चतुरर्थोदयकरं सर्वविघ्ननिवारणम् ॥ ४६ ।
भौमाष्टम्यां तत्र नरः स्नात्वा सन्तर्पयेत्पितॄन् ।
दृष्ट्वा च भैरवं कालं कलिं कालं च सञ्जयेत् ॥ ४७ ।
तीर्थं खर्वनृसिंहाख्यं तीर्थाद्भैरवतः पुरः ।
तत्र स्नातस्य वै पुंसः कुतोऽघजनितं भयम् ॥ ४८ ।
मृकण्डस्य मुनेस्तीर्थं तद्याम्यामतिनिर्मलम् ।
तत्र स्नानेन मर्त्यानां नाऽपायमरणं क्वचित् ॥ ४९ ।
ततः पञ्चनदाख्यं वै सर्वतीर्थनिषेवितम् ।
तीर्थं यत्र नरः स्नात्वा न संसारी पुनर्भवेत् ॥ ५० ।

तदनन्तर **नागेश्वरतीर्थ** है, जो बड़े से बड़े पापों का शोधक है । उस तीर्थ में मज्जन करने ही से समस्त पापों का क्षय हो जाता है ॥ ४४ ।

उसके दक्षिणभाग में परमपवित्र और सर्वोत्तम **कर्णादित्य** नामक तीर्थ है । वहाँ के नहाने से मनुष्य सूर्य की तरह तेजस्वी हो जाता है ॥ ४५ ।

फिर महापातकों का क्षय कर देनेवाला **भैरवतीर्थ** है, जो कि चारों पुरुषार्थों का दाता और सब विघ्नों का निवारक है ॥ ४६ ।

जो मनुष्य वहाँ पर भौमवार की अष्टमी को स्नान के अनन्तर पितरों का तर्पण और **कालभैरव** का दर्शन करता है, वह काल और कलि दोनों को ही जीत लेता है ॥ ४७ ।

भैरवतीर्थ के आगे **खर्वनृसिंहतीर्थ** है । वहाँ के नहानेवाले पुरुष को पाप का भय कहाँ रह जाता है ? ॥ ४८ ।

उसके दक्षिणभाग में अतिनिर्मल **मार्कण्डेयतीर्थ है** । वहाँ के नहाने से अकालमृत्यु का भय कहीं नहीं रह/जाता ॥ ४९ ।

तत्पश्चात् **पंचनदतीर्थ** है, जिसका समस्त तीर्थ सेवन करते हैं । वहाँ के स्नान करने से मनुष्य फिर कभी संसारी नहीं होता ॥ ५० ।

ब्रह्माण्डोदरवर्तीनि यानि तीर्थानि सर्वतः ।
ऊर्जे यत्र समायान्ति स्वाऽघौघपरिनुत्तये ॥ ५१ ।
सर्वदा यत्र सर्वाणि दशम्यादिदिनत्रयम् ।
तिष्ठन्ति तीर्थवर्याणि निजनैर्मल्यहेतवे ॥ ५२ ।
भूरिशः सर्वतीर्थानि मध्येकाशि पदे पदे ।
परं पाञ्चनदः कैश्चिन्महिमा नाऽपि कुत्रचित् ॥ ५३ ।
अप्येकं कार्तिकस्याऽहस्तत्र वै सफलीकृतम् ।
जपहोमार्चनादानैः कृतकृत्यास्त एव हि ॥ ५४ ।
सर्वाण्यपि च तीर्थानि युगपत्तुलितान्यपि ।
नाऽधिजग्मुः पञ्चनद्याः कलाया अपि तुल्यताम् ॥ ५५ ।
स्नात्वा पाञ्चनदे तीर्थे दृष्ट्वा वै बिन्दुमाधवम् ।
न जातु जायते धीमान् जननीजठराजिरे ॥ ५६ ।

ऊर्जे कार्तिके । नुत्तये नाशाय ॥ ५१ ।
मध्येकाशि काश्या मध्ये । कैश्चित्तीर्थैर्नापि न प्राप्तः ॥ ५३ ।

ब्रह्माण्डोदरवर्ती जितने तीर्थ हैं, वे सब कार्तिक मास में चारों ओर से अपने पापपुंज को छुड़ाने के लिये वहाँ आते हैं ॥ ५१ ।

जहाँ पर समस्त तीर्थश्रेष्ठ अपनी निर्मलता के लिये प्रत्येक दशमी से तीन दिन तक निवास करते हैं ॥ ५२ ।

यद्यपि काशी में तो पद-पद पर बहुतेरे तीर्थ पड़े हैं, परन्तु **पंचनदतीर्थ** की महिमा कहीं भी किसी तीर्थ को नहीं प्राप्त हो सकती ॥ ५३ ।

वहाँ पर जिन लोगों ने कार्तिक मास का एक दिन भी जप, होम, पूजन और दान से सफल किया, वे सर्वथा कृतकृत्य हो जाते हैं ॥ ५४ ।

यदि एक ओर संसारभर के समस्त तीर्थ और दूसरी ओर यह **पंचनदतीर्थ** रखकर तोला जावे, तो भी वे सब इसकी कलामात्र की तुल्यता नहीं कर सकते ॥ ५५ ।

बुद्धिमान् जन यदि **पंचनदतीर्थ** में स्नान करके भगवान् **बिन्दुमाधव** का दर्शन कर लेवे तो फिर कभी माता की कोख में नहीं जाने पाता ॥ ५६ ।

ततो ज्ञानह्रदं तीर्थं जडानामपि जाड्यहृत् ।
तत्र स्नातो नरो जातु ज्ञानभ्रंशं न चाऽऽप्नुयात् ॥ ५७ ।
तत्र ज्ञानह्रदे स्नात्वा दृष्ट्वा ज्ञानेश्वरं नरः ।
ज्ञानं तदधिगच्छेद् वै येन नो बाध्यते पुनः ॥ ५८ ।
ततोऽस्ति मङ्गलं तीर्थं सर्वाऽमङ्गलनाशनम् ।
तत्राऽवगाहनं कृत्वा भवेन्मङ्गलभाजनम् ॥ ५९ ।
अमङ्गलानि नश्येयुर्भवेयुर्मङ्गलानि च ।
स्नातुर्वै मङ्गले तीर्थे नमस्कर्तुश्च मङ्गलम् ॥ ६० ।
मयूखमालिनस्तीर्थं तदग्रे मलनाशनम् ।
तत्राऽऽप्लुतो गभस्तीशं विलोक्य विमलो भवेत् ॥ ६१ ।
मखतीर्थं तु तत्रैव मखेश्वरसमीपतः ।
मखजं पुण्यमाप्नोति तत्र स्नातो नरोत्तमः ॥ ६२ ।
तत्पार्श्वे बिन्दुतीर्थं च परमज्ञानकारणम् ।
तत्र श्राद्धादिकं कृत्वा लभेत्सुकृतमुत्तमम् ॥ ६३ ।

जडानामज्ञानाम् ॥ ५७ ।

तदनन्तर जड़जीवों की जड़ता का हरण करनेवाला **ज्ञानह्रदतीर्थ** है । वहाँ के स्नान करने से कभी ज्ञानभ्रंश नहीं होता ॥ ५७ ।

उस **ज्ञानह्रद** में नहाकर **ज्ञानेश्वर** का दर्शन करने से मनुष्य को वह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिससे वह फिर कभी (सांसारिक) बाधा को नहीं पाता ॥ ५८ ।

उसके आगे समस्त अमंगलों का नाशक **मंगलतीर्थ** है । वहाँ के स्नान करने से मनुष्य मंगल का भाजन होता है ॥ ५९ ।

उस मंगलतीर्थ में नहाने वाले के अमंगलों का तो नाश हो जाता है और बहुतेरे मंगल भी होने लगते हैं एवं नमस्कार करनेवाले का भी मंगल ही होता है ॥ ६० ।

उसके आगे बढ़ते ही मलनाशक **गभस्तिमाली** का तीर्थ है । वहाँ पर नहाकर **गभस्तीश्वर** का दर्शन करने से मनुष्य विमल हो जाता है ॥ ६१ ।

वहीं पर **मखेश्वर** के पास में **मखतीर्थ** है । वहाँ के नहाने से उत्तम जन यज्ञों के करने का फलभागी हो जाता है ॥ ६२ ।

उसके समीप ही में परमज्ञान का कारण एक **बिन्दुतीर्थ** है । वहाँ पर श्राद्ध इत्यादि के करने से बड़ा भारी पुण्य होता है ॥ ६३ ।

पिप्पलादस्य च मुनेस्तीर्थं तद्याम्यदिक् स्थितम् ।
स्नात्वा शनेर्दिने तत्र दृष्ट्वा वै पिप्पलेश्वरम् ॥ ६४ ।
पिप्पलं तत्र सेवित्वा अश्वत्थ इति मन्त्रतः ।
शनिपीडां न लभते दुःस्वप्नं चापि नाशयेत् ॥ ६५ ।
ततस्ताम्रवराहाख्यं तीर्थं चैवाऽतिपावनम् ।
यत्र स्नानेन दानेन न मज्जेदघसागरे ॥ ६६ ।
तदग्रे कालगङ्गा च कलिकल्मषनाशिनी ।
तस्यां स्नात्वा नरो धीमांस्तत्क्षणान्निरघो भवेत् ॥ ६७ ।
इन्द्रद्युम्नं महातीर्थमिन्द्रद्युम्नेश्वराऽग्रतः ।
तोयकृत्यं तत्र कृत्वा लोकमैन्द्रमवाप्नुयात् ॥ ६८ ।
ततस्तु रामतीर्थं च वीर रामेश्वराऽग्रतः ।
तत्तीर्थस्नानमात्रेण वैष्णवं लोकमाप्नुयात् ॥ ६९ ।
तत ऐक्ष्वाकवं तीर्थं सर्वाऽघौघविनाशनम् ।
तत्र स्नानेन पूतात्मा जायते मनुजोत्तमः ॥ ७० ।

अश्वत्थ इति मन्त्रत इति । अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिः कृता । गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषमित्यादिमन्त्रेणेत्यर्थः ॥ ६५ ।

ऐक्ष्वाकवम् इक्ष्वाकोरिदम् ॥ ७० ।

उससे दक्षिण दिशा में पिप्पलादमुनि का तीर्थ है, वहाँ पर शनैश्चर के दिन स्नानकर **पिप्पलेश्वर** का दर्शन कर ॥ ६४ ।

तदनन्तर "अश्वत्थ" इत्यादि मंत्र के द्वारा पीपलवृक्ष के सेवन करने से शनिग्रह की पीड़ा नहीं होती और दुःस्वप्नों का भी नाश हो जाता है ॥ ६५ ।

तदनन्तर परमपावन **ताम्रवराह** नामक तीर्थ है, जहाँ के स्नान और दान करने से पापसागर में नहीं डूबना पड़ता ॥ ६६ ।

उसके आगे कलिकल्मषनाशिनी **कालगंगा** है । बुद्धिमान् नर उसमें नहाते ही उसी क्षण में निष्पाप हो जाता है ॥ ६७ ।

इन्द्रद्युम्नेश्वर के सम्मुख ही **इन्द्रद्युम्न** महातीर्थ है, वहाँ की जलक्रिया के करने से इन्द्रलोक प्राप्त होता है ॥ ६८ ।

हे वीर! तदनन्तर **रामेश्वर** के आगे **रामतीर्थ** है, उसमें केवल स्नान करने ही से विष्णुलोक की प्राप्ति होती है ॥ ६९ ।

फिर समस्त अघसमूहों का नाशक **इक्ष्वाकुतीर्थ** है । वहाँ के नहाने से मनुष्य पवित्रात्मा हो जाता है ॥ ७० ।

मरुत्ततीर्थं तत्प्रान्ते मरुत्तेश्वरसन्निधौ ।
तत्र स्नात्वा तमर्च्येशं महदैश्वर्यमाप्नुयात् ॥ ७१ ।
मैत्रावरुणतीर्थं च ततः पातकनाशनम् ।
तत्र पिण्डप्रदानेन पितॄणां भवति प्रियः ॥ ७२ ।
ततोऽग्नितीर्थं विमलमग्नीशपुरतो महत् ।
अग्निलोकमवाप्नोति तत्तीर्थपरिमज्जनात् ॥ ७३ ।
अङ्गारतीर्थं तत्रैव अङ्गारेश्वरसन्निधौ ।
तत्राऽङ्गारचतुर्थ्यां तु स्नात्वा निष्पापतामियात् ॥ ७४ ।
ततो वैकलतीर्थं च कलशेश्वरसन्निधौ ।
स्नात्वा तल्लिङ्गमभ्यर्च्य कलिकालान्न बिभ्यति ॥ ७५ ।
चन्द्रतीर्थं च तत्रैव चन्द्रेश्वरसमीपतः ।
तत्र स्नात्वाऽर्च्य चन्द्रेशं चन्द्रलोकमवाप्नुयात् ॥ ७६ ।
तदग्रे वीरतीर्थं च वीरेश्वरसमीपतः ।
यदुक्तं प्राक् तव पुरस्तीर्थानामुत्तमं परम् ॥ ७७ ।

अर्च्य अर्चयित्वा ॥ ७१ ।

उसी प्रान्त में **मरुत्तेश्वर** के पास **मरुत्ततीर्थ** है । वहाँ पर भी नहाकर उस लिंग की पूजा करने से बड़ा ऐश्वर्य मिलता है ॥ ७१ ।

तब फिर, महापातकनाशन **मैत्रावरुणतीर्थ** है । वहाँ पर पिण्डदान करने से पितरों का बड़ा प्यारा होता है ॥ ७२ ।

अनन्तर **अग्नीश्वर** के आगे बड़ा विमल **अग्नितीर्थ** है, उस तीर्थ में स्नान करने से अग्निलोक में चला जाता है ॥ ७३ ।

वहीं पर **अंगारेश्वर** के समीप में **अंगारतीर्थ** है, वहाँ पर चतुर्थी के दिन स्नान करने से निष्पापता मिल जाती है ॥ ७४ ।

फिर आगे बढ़कर **कलशेश्वर** के पास में **वैकलतीर्थ** है, वहाँ नहाकर उस लिंग के पूजन करने से कलिकाल का कुछ डर नहीं रह जाता ॥ ७५ ।

वहीं पर **चन्द्रेश्वर** के निकट में **चन्द्रतीर्थ** है, जहाँ पर स्नान कर **चन्द्रेश्वर** के पूजन करने से चन्द्रलोक प्राप्त होता है ॥ ७६ ।

उसके आगे **वीरेश्वर** के समीप में **वीरतीर्थ** है, जिसको पहले ही तुमसे समस्त तीर्थों से परम उत्तम कह चूका हूँ ॥ ७७ ।

विघ्नेशतीर्थं च ततः सर्वविघ्नविघातकृत् ।
जातुचित्तत्र संस्नातो न विघ्नैरभिभूयते ॥ ७८ ।
हरिश्चन्द्रस्य राजर्षेस्ततस्तीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र स्नातो नरो जातु न सत्याच्च्यवते क्वचित् ॥ ७९ ।
हरिश्चन्द्रस्य तीर्थे तु यच्छ्रेयः समुपार्जितम् ।
तदक्षयफलं वीर इहलोके परत्र च ॥ ८० ।
ततः पर्वततीर्थं च पर्वतेशसमीपतः ।
सर्वपर्वफलं तस्य स्नात्वा पर्वण्यपर्वणि ॥ ८१ ।
कम्बलाश्वतरं तीर्थं तत्र सर्वविषाऽपहम् ।
तत्र स्नातो भवेन्मर्त्यो गीतविद्याविशारदः ॥ ८२ ।
ततः सारस्वतं तीर्थं सर्वविद्योपपादकम् ।
तिष्ठेयुः पितरस्तत्र सह देवर्षिमानवैः ॥ ८३ ।
उमातीर्थं तु तत्रैव सर्वशक्तिसमन्वितम् ।
औमेयलोकप्राप्त्यै स्यात्स्नानमात्रेण निश्चितम् ॥ ८४ ।
ततस्त्रिलोकीविख्यातं त्रिलोक्युद्धरणक्षमम् ।
तीर्थं श्रेष्ठतरं वीर यदाख्या मणिकर्णिका ॥ ८५ ।

अपर्वणि च ॥ ८१ ।

यदाख्या यस्याख्या मणिकर्णिका, तदित्यर्थः ॥ ८५ ।

तदनन्तर सर्वविघ्नविघातक **विघ्नेश्वरतीर्थ** है । वहाँ के स्नान करने से कभी कोई विघ्नों से पराभूत नहीं होता ॥ ७८ ।

उसके आगे राजर्षि **हरिश्चन्द्र** का उत्तम **तीर्थ** है, जहाँ के स्नान करने से मनुष्य कहीं भी सत्य से च्युत नहीं होने पाता ॥ ७९ ।

हे वीर! **हरिश्चन्द्र** के तीर्थ में जो कुछ सत्कर्म किया जाता है, वह इस लोक और परलोक में भी अक्षय फल देता है ॥ ८० ।

तदनन्तर **पर्वतेश्वर** के पास में **पर्वततीर्थ** है । वहाँ चाहे पर्व पर नहाय, चाहे विना पर्व के स्नान करे, उसे समस्त पर्वों में स्नान करने का फल मिल जाता है ॥ ८१ ।

वहीं पर सब प्रकार के विषों का हरने वाला **कम्बलाश्वतरतीर्थ** है । वहाँ के नहाने से मनुष्य गीतविद्या में विशारद हो जाता है ॥ ८२ ।

तदनन्तर समस्त विद्याओं का सम्पादक **सारस्वततीर्थ** है । वहाँ पर देवता और ऋषियों के साथ पितर लोग वास करते हैं ॥ ८३ ।

वहीं पर समस्त शक्तियों से समन्वित **उमातीर्थ** है । उसमें स्नानमात्र कर लेने से उमालोक अवश्यमेव प्राप्त हो जाता है ॥ ८४ ।

हे वीर! उसके पास में ही त्रैलोक्य भर में सर्वत्र विख्यात और त्रैलोक्यमात्र के उद्धार कर देने में समर्थ, परमश्रेष्ठ **मणिकर्णिका** नामक तीर्थ है ॥ ८५ ।

चक्रपुष्करिणीतीर्थं तदादौ विष्णुना कृतम् ।
तदाख्याऽऽकर्णनादेव सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ॥ ८६ ।
स्वर्गौकसस्त्रिसन्ध्यं वै जपन्ति मणिकर्णिकाम् ।
यन्नामग्रहणं पुंसां श्रेयसे परमाय हि ॥ ८७ ।
यैः श्रुता यैः स्मृता वीर यैर्दृष्टा मणिकर्णिका ।
त एव कृतिनो लोके कृतकृत्यास्त एव हि ॥ ८८ ।
त्रिलोके ये जपन्तीह मानवा मणिकर्णिकाम् ।
जपामि तानहं वीर त्रिकालं पुण्यकर्मणः ॥ ८९ ।
इष्टं तेन महायज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ।
पञ्चाक्षरी महाविद्या येनोक्ता मणिकर्णिका ॥ ९० ।
महादानानि दत्तानि तेन वै पुण्यकर्मणा ।
येनाऽहमर्चितो वीर सम्प्राप्य मणिकर्णिकाम् ॥ ९१ ।
मणिकर्ण्यम्बुभिर्येन तर्पिताः प्रपितामहाः ।
तेन श्राद्धानि दत्तानि गयायां मधुपायसैः ॥ ९२ ।

पहले तो उसे भगवान् विष्णु ने **चक्रपुष्करिणीतीर्थ** बनाया, उसके केवल नाम सुन लेने से समग्र पाप छूट जाते हैं ॥ ८६ ।

स्वर्गवासी देवतागण त्रिकाल **मणिकर्णिका** को जपते रहते हैं, इसी से उसका नाम लेने से मनुष्यमात्र का कल्याण होता है ॥ ८७ ।

हे वीर! जिसने **मणिकर्णिका** को सुना, स्मरण किया अथवा देख लिया, इस मर्त्यलोक में वे ही लोग सुकृती और कृतार्थ हैं ॥ ८८ ।

हे राजन्! इस त्रैलोक्य भर में जो लोग **मणिकर्णिका** को जपते हैं, उन पुण्यकर्मा लोगों को मैं भी त्रिकाल में जपता रहता हूँ ॥ ८९ ।

जो कोई **"मणिकर्णिका"** इस पंचाक्षरी महाविद्या को मुख से उच्चारण करता है, उसे शतसहस्र दक्षिणाओं से परिपूर्ण असंख्य महायज्ञों के करने का फल प्राप्त हो जाता है ॥ ९० ।

हे वीर ! **मणिकर्णिका** पर पहुँचकर जिस पुण्यकर्मा ने मेरा पूजन करा दिया, वह बड़े से बड़े दानों को कर चुका , यह निश्चित है ॥ ९१ ।

गयातीर्थ में मधु और पायस आदि से पितरों के श्राद्ध करने का जो फल है, मणिकर्णिका के जल से तर्पण करने में भी वही फल प्राप्त होता है ॥ ९२ ।

मणिकर्णीजलं येन संपीतं शुद्धबुद्धिना ।
किं तस्य सोमपानैस्तैः पुनरावृत्तिलक्षणैः ॥ ९३ ।
ते स्नाताः सर्वतीर्थेषु महापर्वसु भूरिशः ।
तथा च सर्वावभृथैर्यैः स्नाता मणिकर्णिका ॥ ९४ ।
तैः सुराः पूजिताः सर्वे ब्रह्मविष्णुमुखा मखैः ।
यैः स्वर्णकुसुमै रत्नैरर्चिता मणिकर्णिका ॥ ९५ ।
अहं तेनोमया सार्धं दीक्षां सम्प्राप्य शाम्भवीम् ।
अर्चितः प्रत्यहं येन पूजिता मणिकर्णिका ॥ ९६ ।
तपांसि तेन तप्तानि शीर्णपर्णादिना चिरम् ।
सेविता श्रद्धया येन श्रीमती मणिकर्णिका ॥ ९७ ।
दत्वा दानानि भूरीणि मखानिष्ट्वा तु भूरिशः ।
चिरं तप्त्वाऽप्यरण्येषु स्वर्गैश्वर्यान्महीं पुनः ॥ ९८ ।
विपुलेऽत्र महीपृष्ठे पञ्चक्रोश्यां मनोहरा ।
संश्रिता मणिकर्णी यैस्ते याताश्चानिवर्तकाः ॥ ९९ ।

महीं पुनरायातीति शेषः ॥ ९८ ।

जिसने शुद्ध-बुद्धि होकर मणिकर्णिका का जलपान किया, उसे पुनरावृत्ति के कारण सोमपान करने का कौन प्रयोजन है? ॥ ९३ ।

बड़े-बड़े पर्वों पर महातीर्थों में अनेक बार स्नान करने से जो फल मिलता है, अथवा बहुतेरे यज्ञों के अवभृथस्नान करने का जो पुण्य है, एक बार **मणिकर्णिका** के स्नान करने से भी वही फल प्राप्त होता है ॥ ९४ ।

जिन लोगों ने सुवर्ण, पुष्प और रत्नों के द्वारा **मणिकर्णिका** का पूजन किया, उनका क्या कहना है, वे लोग तो यज्ञों के द्वारा ब्रह्मा और विष्णु इत्यादि सब देवताओं की पूजा का फल प्राप्त ही कर लेते हैं ॥ ९५ ।

जिस किसी ने प्रतिदिन **मणिकर्णिका** की पूजा की, वह तो **शैवी दीक्षा** पाकर पार्वती के सहित मेरी अर्चना कर चुका ॥ ९६ ।

जो कोई श्रद्धापूर्वक श्रीमती **मणिकर्णिका** की सेवा करता है, उसे बहुत दिनों तक सूखे पत्तों के भोजन की तपस्या का फल प्राप्त होता है ॥ ९७ ।

जो कोई बड़े-बड़े दानों को कर, बहुतेरे यज्ञों को समाप्त कर एवं बड़े घोर जंगलों में बहुत दिन तक कठोर तपस्या के फल से स्वर्ग का ऐश्वर्य भोगकर जब फिर पृथिवी पर आते हैं, तब इस विपुल भूपृष्ठ पर पंचक्रोशी के भीतर परममनोहारिणी **मणिकर्णिका** का आश्रय कर पाते हैं और वे ही लोग मरने पर पुनरावृत्ति के दुःख से छूट जाते हैं ॥ ९८-९९ ।

दानानां च व्रतानां च क्रतूनां तपसामपि ।
इदमेव फलं मन्ये यदाप्या मणिकर्णिका ॥ १०० ।
मोक्षलक्ष्मीरियं साक्षाच्छ्रीमती मणिकर्णिका ।
प्रायोऽस्या महिमानं वै न वेद्म्यहमपि स्फुटम् ॥ १०१ ।
अवाच्यां मणिकर्ण्याश्च तीर्थं पाशुपतं परम् ।
तीर्थं तु रुद्रवासाख्यं विश्वतीर्थमतः परम् ॥ १०२ ।
मुक्तितीर्थं ततो रम्यमविमुक्तमथोत्तमम् ।
तीर्थं च तारकं स्कान्दं ढुण्ढेस्तीर्थं ततोऽपि च ॥ १०३ ।
भवानेयमथैशानं ज्ञानतीर्थमथोत्तमम् ।
नन्दितीर्थं विष्णुतीर्थं तीर्थं पैतामहं ततः ॥ १०४ ।
नाभितीर्थमिदं चैव ब्रह्मनालमतः परम् ।
ततो भागीरथं तीर्थं यत्तवाऽग्रे पुराऽकथि ॥ १०५ ।
तीर्थान्युत्तरवाहिन्यां स्वर्धुन्यां काशिसन्निधौ ।
सन्त्यनेकानि पुण्यानि मयोक्तान्यल्पशः पुनः ॥ १०६ ।

आप्या आप्यते यदिदमेव फलमिति ॥ १०० ।

मेरी समझ में दान, व्रत, यज्ञ और तपस्याओं का एकमात्र यही फल है, जो (अन्त में) **मणिकर्णिका** प्राप्त हो जावे ॥ १०० ।

यह श्रीमती **मणिकर्णिका** साक्षात् मोक्षलक्ष्मी है, इसकी समग्र महिमा को प्रायः मैं भी नहीं जान सका हूँ ॥ १०१ ।

मणिकर्णिका के दक्षिण परमप्रधान **पाशुपततीर्थ, रुद्रवासतीर्थ और विश्वतीर्थ** विराजमान हैं ॥। १०२ ।

तदनन्तर रमणीय और उत्तम **अविमुक्ततीर्थ, मुक्तितीर्थ, तारकतीर्थ, स्कन्दतीर्थ** एवं **ढुंढितीर्थ** अवस्थित है ॥ १०३ ।

तदनन्तर **भवानीतीर्थ, ईशानतीर्थ, ज्ञानतीर्थ, नन्दितीर्थ, विष्णुतीर्थ** और **पितामहतीर्थ** सुशोभित हैं ॥ १०४ ।

उसके पश्चात् **नाभितीर्थ, ब्रह्मनाल** है । उसके आगे वही **भगीरथतीर्थ** जिसका वर्णन मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ ॥ १०५ ।

काशी के भीतर उत्तरवाहिनी गंगा में बहुतेरे पवित्र तीर्थ पड़े हैं, पर मैंने तो थोड़े ही से तुमसे कह दिये हैं ॥ १०६ ।

तत्रापि नितरां श्रेष्ठा पञ्चतीर्थी नृपाङ्गज ।
यस्यां स्नात्वा नरो भूयो गर्भवासं न संस्मरेत् ॥ १०७ ।
प्रथमं चाऽसिसम्भेदं तीर्थानां प्रवरं परम् ।
ततो दशाश्वमेधाख्यं सर्वतीर्थनिषेवितम् ॥ १०८ ।
ततः पादोदकं तीर्थमादिकेशवसन्निधौ ।
ततः पञ्चनदं पुण्यं स्नानमात्रादघौघहृत् ॥ १०९ ।
एतेषामपि तीर्थानां चतुर्णामपि सत्तम ।
पञ्चमं मणिकर्ण्याख्यं मनोऽवयवशुद्धिदम् ॥ ११० ।
अहं स्नाम्यत्र सततमुमया सह पर्वसु ।
ब्रह्मणा विष्णुना सार्धं सहेन्द्रादिसुरर्षिभिः ॥ १११ ।
अत एवाऽत्र गीयेत गाथेयं श्रुतिसम्मता ।
नागलोककृतावासैः स्वर्गौकोभिश्च सन्ततम् ॥ ११२ ।

हे नृपनन्दन! इन सबों में **पंचतीर्थ** ही सबों से श्रेष्ठ है, जिसमें स्नान करने से मनुष्य फिर कभी गर्भवास के दुःख को नहीं स्मरण करता है ॥ १०७ ।

पहले तो सब तीर्थों में प्रधान (१) **असिसंगम** है, तब फिर सब तीर्थों से सेवित (२) **दशाश्वमेध** अवस्थित है ॥ १०८ ।

तदनन्तर आदिकेशव के समीप में (३) **पापोदकतीर्थ** है । फिर समस्त पापौघनाशक पवित्र (४) **पंचनद** (पंचगंगा) तीर्थ है ॥ १०९ ।

हे सत्तम! इन चारों तीर्थों का पंच (प्रधान) **मणिकर्णिकातीर्थ** है, जो मन और इन्द्रियों को भी शुद्ध कर देता है ॥ ११० ।

पर्वों पर नित्य ही मैं भी, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र इत्यादि देवता और ऋषियों के साथ यहीं पर स्नान करता हूँ ॥ १११ ।

इसी कारण से स्वर्गवासी और पातालवासी लोग सदैव वेदसम्मत एक गाथा (कहावत) को कहा करते हैं ॥ ११२ ।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यपूर्वमिदं वचः ।
मणिकर्णीसमं तीर्थं नास्ति ब्रह्माण्डगोलके ॥ ११३ ।
पञ्चतीर्थ्यां नरः स्नात्वा न देहं पाञ्चभौतिकम् ।
गृह्णाति जातुचित् काश्यां पञ्चास्यो वाऽथ जायते ॥ ११४ ।
इति दत्वा वरान् देवो वीरस्याऽन्तर्दधे हरः ।
स च वीरोऽपि वीरेशं प्रार्च्य प्राप्तः समीहितम् ॥ ११५ ।

स्कन्द उवाच—

तीर्थाध्यायमिमं पुण्यमगस्ते यो निशामयेत् ।
तस्याऽघं संक्षयं यायादपि जन्मशतार्जितम् ॥ ११६ ।
इति वीरेश्वराख्यानं तीर्थाख्यानप्रसङ्गतः ।
कथितं ते पुराऽगस्ते कामेशं कथयाम्यतः ॥ ११७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे वीरेश्वराख्यानं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ।

सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानपञ्चमुखत्वात् **पञ्चास्यो विश्वेश्वरः** ॥ ११४ ।
कामेशं कामेशाख्यानम् ॥ ११७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ।

"यह बात सर्वथा सत्य है कि, ब्रह्माण्डगोलक में मणिकर्णिका के समान कोई भी तीर्थ नहीं है, यही सत्य सत्य है" ॥ ११३ ।

काशी के पंचतीर्थों में स्नान करने से मनुष्य को पांचभौतिक शरीर नहीं धारण करना पड़ता और जो कदाचित् शरीरधारी हुआ भी, तो साक्षात् पंचवदन शिव ही हो जाता है ॥ ११४ ।

इस प्रकार से (तीर्थों का माहात्म्य कह और) राजा वीर को बहुत से वरदानों को देकर भगवान् हर अन्तर्धान हो गये और उस राजा वीर ने भी वीरेश्वर का पूजन करके अपने इष्ट मनोरथ को प्राप्त कर लिया ॥ ११५ ।

स्कन्द ने कहा—

हे अगस्त्य! जो कई इस पवित्र तीर्थाध्याय को सुनेगा, उसके सैकड़ों जन्म के बटोरे हुए अघों का क्षय हो जावेगा ॥ ११६ ।

हे मुने ! मैंने **तीर्थाख्यान** के प्रसंग से **वीरेश्वर** का माहात्म्य तुमसे कहा, अब कामेश्वर की कथा को कहता हूँ ॥ ११७ ।

दोहा — तीर्थाध्याय पुनीत यह, पढ़ै सुनै जो कोय ।
काशी के सब घाट से, परिज्ञात सो होय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ।

॥ अथ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

जगज्जनन्याः पार्वत्याः पुरोऽगस्ते पुरारिणा ।
यथाख्यायि कथा पुण्या तथा ते कथयाम्यहम् ॥ १ ।
पुरा महीमिमां सर्वां ससमुद्राद्रिकाननाम् ।
ससरित्कां सार्णवां च सग्रामपुरपत्तनाम् ॥ २ ।
परिभ्रम्य महातेजा महामर्षो महातपाः ।
दुर्वासाः संपरिप्राप्तः शम्भोरानन्दकाननम् ॥ ३ ।
विलोक्याक्रीडमखिलं बहुप्रासादमण्डितम् ।
बहुकुण्डतडागं च शम्भोस्तोषमुपागमत् ॥ ४ ।
पदे पदे मुनीनां च जितकालमहाभियाम् ।
दृष्ट्वोटजानि रम्याणि दुर्वासा विस्मितोऽभवत् ॥ ५ ।

पञ्चाशीतितमेऽध्याये दुर्वासोवरपूर्वकम् ।
श्रीमत्कामेश्वरोत्पत्तिर्वर्ण्यतेऽतिमनोहरा ॥ १ ।
कामेश्वरोत्पत्तिं वक्तुं प्रतिजानीते–जगज्जनन्या इति ॥ १ ।
महामर्षोऽसहनशीलो महाक्रोध इति वा ॥ ३ ।
उटजानि पर्णशालाः ॥ ५ ।

(दुर्वासा को वरदान और कामेश्वर की उत्पत्ति-कथा)

स्कन्द बोले–

हे अगस्त्य मुने ! जगदम्बा पार्वती से भगवान् त्रिपुरारि ने जिस पवित्र कथा का कथन किया था, उसे मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ॥ १ ।

पुरातन समय में एक बार महाक्रोधी, अत्यन्त तेजस्वी, परम तपस्वी दुर्वासा ऋषि, समुद्र-पर्वत-जंगल-नदी-ग्राम-पुर और पत्तनों से परिपूर्ण सागरान्त इस समग्र भूमंडल में परिभ्रमण करके महादेव के आनन्दवन में जा पहुँचे ॥ २-३ ।

अनेक प्रकार के प्रासाद, कुंड और तड़ागों से मण्डित महेश्वर के उस समस्त आराम (बगीचा) को देखकर वह बड़े ही संतुष्ट हुए ॥ ४ ।

वहाँ पर काल के महाभय को भी जीत लेने वाले मुनियों के रमणीय पर्णकुटीरों को पद-पद पर देखने से दुर्वासा बड़े ही विस्मित हुए ॥ ५ ।

सर्वर्तुकुसुमान् वृक्षान् सुच्छायस्निग्धपल्लवान् ।
सफलान् सुलताश्लिष्टान् दृष्ट्वा प्रीतिमगान्मुनिः ॥ ६ ।
दुर्वासाश्चातिहृष्टोऽभूद्दृष्ट्वा पाशुपतोत्तमान् ।
भूतिभूषितसर्वाङ्गान् जटाजटितमौलिकान् ॥ ७ ।
कौपीनमात्रवसनान् स्मरारिध्यानतत्परान् ।
कक्षीकृतमहालाबून् हुडुत्कारजिताम्बुदान् ॥ ८ ।
करण्डदण्डपानीयपात्रमात्रपरिग्रहान् ।
क्वचित्त्रिदण्डिनो दृष्ट्वा निःसङ्गान्निष्परिग्रहान् ॥ ९ ।
कालादपि निरातङ्कान् विश्वेशशरणंगतान् ।
क्वचिद् वेदरहस्यज्ञान् आबाल्यब्रह्मचारिणः ॥ १० ।
नित्यं भागीरथीस्नानपरिपिङ्गलमूर्धजान् ।
विलोक्य काश्यां दुर्वासा ब्राह्मणान् मुमुदेतराम् ॥ ११ ।

जटाजटितमौलिकान् जटाव्याप्तमस्तकान् ॥ ७ ।

कक्षीति । कक्षीकृताः कक्षेधृता अलाब्वो विभूतिपात्राणि यैस्तान् । हुडुत्कार-जिताम्बुदान् हुडुत्कारशब्दैर्जितमेघस्वनानित्यर्थः । फुडुदिति क्वचित् । उडुदित्यन्यत्र ॥ ८ ।

करण्डो देवाधारपात्रम् ॥ ९ ।

वहाँ की सब ऋतुओं में पुष्पित, छतनार और कोमल पल्लव एवं फलों से लदे तथा सुन्दर लताओं से लिपटे हुए वृक्षों की (शोभा) देखकर वे मुनि बहुत प्रसन्न हुए ॥ ६ ।

तदनन्तर दुर्वासा, कौपीनमात्र वस्त्रधारी, सर्वांग में भस्म से भूषित, मस्तक पर जटाजूट से मंडित, काँख में तुम्बी को दबाये हुडुत्कारध्वनि से मेघ-गर्जन को जीतनेवाले स्मरारि के ध्यान में लीन उत्तम शैव (पाशुपत) लोगों के दर्शन से बड़े ही हृष्ट हुए ॥ ७-८ ।

वे कहीं पर निःसंग, अकृत-दार-परिग्रह, देवसंपुट, दंड और कमण्डलु-मात्रधारी त्रिदंडियों को काल से भी निःशंक होकर विश्वेश्वर के शरणागत हुए देखकर तथा किसी-किसी स्थान पर वेदों के रहस्यवेत्ता आबालब्रह्मचारी, नित्य ही गंगा-स्नान से पिंगल बालवाले ब्राह्मणों को देखने से काशी में दुर्वासा बहुत ही हर्षित हुए ॥ ९-११ ।

पशुष्वपि च या तुष्टिर्मृगेष्वपि च या द्युतिः ।
तिर्यक्ष्वपि च या हृष्टिः काश्यां नान्यत्र सा स्फुटम् ॥ १२ ।
इदं सुश्रेयसो व्युष्टिः क्वाऽमरेषु त्रिविष्टपे ।
यत्रत्येष्वपि तिर्यक्षु परमानन्दवर्धिनी ॥ १३ ।
वरमेतेऽपि पशव आनन्दवनचारिणः ।
सदानन्दाः पुनर्देवा ननन्द न वनाश्रिताः ॥ १४ ।
वरं काशीपुरीवासी म्लेच्छोऽपि हि शुभायतिः ।
नान्यत्रत्यो दीक्षितोऽपि स हि मुक्तेरभाजनम् ॥ १५ ।
वैश्वेश्वरी पुरी चैषा यथा मे चित्तहारिणी ।
सर्वाऽपि न तथा क्षोणी न स्वर्गो नैव नागभूः ॥ १६ ।

पशुषु ग्राम्येषु गोमहिषादिषु । मृगेष्वारण्येषु हरिणादिषु । तिर्यक्षु पक्षिषु । हृष्टि-र्हृष्टता ॥ १२ ।

व्युष्टिः विशिष्टं स्थानम् ॥ १३ ।

शुभा आयतिरुत्तरकालीनफलं यस्य सः ॥ १५ ।

नागभूः पातालम् ॥ १६ ।

काशी (आनंदकानन) में पशुओं पर जैसी तुष्टता, मृगगण में जैसी द्युति और पक्षियों पर भी जैसी हृष्टता है, दूसरे किसी स्थान में भी वैसी नहीं है ॥ १२ ।

यहाँ के (निवासी) पक्षी इत्यादि जातिवालों में भी जो परमानन्द की समृद्धि छायी है, भला स्वर्गवासी देवता लोगों के मध्य में वह असीम सुख-सम्पत्ति कहाँ है ? ॥ १३ ।

आनन्दवन में विचरण करनेवाले ये सब पशुगण नन्दनवनविहारी देवताओं की अपेक्षा बहुत ही अच्छे हैं; क्योंकि ये सब सदानन्दमय हो गये हैं और देवतागण तो नहीं है ॥ १४ ।

अन्तकाल में शुभपरिणाम होने से काशीपुरी में रहनेवाला म्लेच्छ जन भी उत्तम है, पर मुक्ति का पात्र न होने से अन्यत्र का दीक्षित (ब्राह्मण) भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता ।

दोहा– **काशी बसि कै मुक्ति लहि, म्लेच्छहु उत्तम होय ।**
पै अन्तहि कर दीक्षितहुं, मुक्ति मात्र नहिं सोय ॥ १५ ।

जैसी यह विश्वनाथपुरी मेरी मनोहारिणी है, वैसी तो समस्त पृथिवी क्या स्वर्ग और पाताल लोक भी नहीं है ॥ १६ ।

स्थैर्यं बबन्ध न क्वापि भ्रमतो मे मनोगतिः ।
सर्वस्मिन्नपि भूभागे यथा स्थैर्यमगादिह ॥ १७ ।
रम्या पुरी भवेदेषा ब्रह्माण्डादखिलादपि ।
परिष्टुत्येति दुर्वासाश्चेतोवृत्तिमवाप ह ॥ १८ ।
तप्यमानोऽपि हि तपः सुचिरं स महातपाः ।
यदा नाप फलं किञ्चिच्चुकोप च तदा भृशम् ॥ १९ ।
धिक् च मां तापसं दुष्टं धिङ् मे दुश्चरं तपः ।
धिक् च क्षेत्रमिदं शम्भो सर्वेषां च प्रतारकम् ॥ २० ।
यथा न मुक्तिरत्र स्यात्कस्यापि करवै तथा ।
इति शप्तुं यदोद्युक्तः संजहास तदा शिवः ॥ २१ ।
तत्र लिङ्गमभूदेकं ख्यातं प्रहसितेश्वरम् ।
तल्लिङ्गदर्शनात्पुंसामानन्दः स्यात्पदे पदे ॥ २२ ।
उवाच विस्मयाविष्टो मनस्येव महेशिता ।
ईदृशेभ्यस्तपस्विभ्यो नमोऽस्त्विति पुनः पुनः ॥ २३ ।

मैंने समस्त भूभाग में भ्रमण किया, पर मेरे मन की गति कहीं पर भी वैसी स्थिर नहीं हुई, जैसी कि यहाँ हो गई ॥ १७ ।

सारे ब्रह्माण्ड भर में यह पुरी रमणीय है– यही सब काशी की बड़ाई गाकर दुर्वासा ऋषि तपस्या करने में प्रवृत्त हुए ॥ १८ ।

वह महातपस्वी बहुत दिनों तक (कठोर) तपस्या करने पर भी जब कुछ फल नहीं पा सके, तब तो बड़े ही क्रुद्ध होकर कहने लगे ॥ १९ ।

मुझ दुष्ट तापस को धिक्कार है और मेरे इस दुश्चर तप को धिक्कार है, फिर महादेव के इस क्षेत्र को भी धिक्कार है, जो कि सब लोगों का प्रतारक (वंचक) बन बैठा है ॥ २० ।

अच्छा तो अब मैं ऐसा ही करूँ, जिसमें यहाँ पर किसी की मुक्ति नहीं हो सके । इस प्रकार से जब वह शाप देने के लिये उद्यत हो गये, तब भगवान् शिव हँसने लगे ॥ २१ ।

वहाँ पर **प्रहसितेश्वर** नामक एक प्रसिद्ध लिंग प्रकट हो गया, जिसके दर्शन करने से लोगों को पद-पद पर आनन्द मिलता है ॥ २२ ।

अनन्तर भगवान् महेश्वर विस्मयान्वित होकर मन ही मन कहने लगे कि, ऐसे तपस्वियों को तो बारंबार नमस्कार है ॥ २३ ।

यत्रैव हि तपस्यन्ति यत्रैव विहिताश्रमाः ।
लब्धप्रतिष्ठा यत्रैव तत्रैवाऽमर्षिणो द्विजाः ॥ २४ ।
मनाकू चिन्तितमात्रं तु चेल्लभन्ते न तापसाः ।
क्रुधा तदैव जीयन्ते हारिण्या तपसांश्रियः ॥ २५ ।
तथापि तापसा मान्याः स्वश्रेयोवृद्धिकाङ्क्षिभिः ।
अक्रोधनाः क्रोधना वा का चिन्ता हि तपस्विनाम् ॥ २६ ।
इति यावन्महेशानो मनस्येव विचिन्तयेत् ।
तावत्तत्क्रोधजो वह्निर्व्यानशे व्योममण्डलम् ॥ २७ ।
तत्क्रोधानलधूमौधैर्व्यापितं यन्नभोऽङ्गणम् ।
तद्दधाति नभोऽद्यापि नीलिमानं महत्तरम् ॥ २८ ।

अमर्षिणः असहिष्णवः ॥ २४ ।
क्रुधा क्रोधेन ॥ २५ ।
ननु यद्येवंभूतास्तापसा दुर्वासःप्रभृतयः कथं तर्हि तानन्ये तपस्विनो मन्यन्ते तत्राह – **तथापीति** ॥ २६ ।
व्यानशे व्याप्तवान् ॥ २७।
व्यापितं व्याप्तम् । यद्यस्मात्तत्तस्मात् ॥ २८ ।

वे द्विज लोग जहाँ तपस्या करने बैठते हैं, किं वा जहाँ पर अपना आश्रम बना लेते हैं, अथवा जहाँ पर प्रतिष्ठा भी पा लेते हैं, उसी (स्थान) से डाह करने लग जाते हैं–

दोहा– **जहाँ तपस्या करत हैं, जहँ आश्रम करि लीन ।**
लहहिं प्रतिष्ठा यत्र द्विज, तहँ अमर्षि परवीन ॥ २४ ।

ये सब तापस जब अपने अभीष्ट फल को कुछ भी नहीं पाते, तो तपःश्री के नाश करनेवाले क्रोध ही से जीतते हैं ॥ २५ ।

पर तो भी (पुनरपि) अपने कल्याण की वृद्धि चाहनेवाले ये तपस्वी लोग सर्वथा माननीय ही हैं, ये सब चाहे क्रोधी हों अथवा अक्रोधी हों, पर तपस्वियों के लिये कौन चिन्ता है ? ॥ २६ ।

भगवान् महादेव जब तक मन ही मन यह सोच रहे थे, तब तक दुर्वासा के क्रोधानल से आकाशमंडल भर गया ॥ २७ ।

उस क्रोधाग्नि से जो धूमावली उठी, वह आज तक आकाशमंडल में व्याप्त होकर उसे बहुत ही नीलवर्ण कर रही है ॥ २८ ।

ततो गणाः परिक्षुब्धाः प्रलयार्णवनीरवत् ।
आः किमेतत् किमेतद्वै भाषमाणाः परस्परम् ॥ २९ ।
गर्जन्तस्तर्जयन्तश्च प्रोद्यतायुधपाणयः ।
प्रमथाः परितस्थुस्ते परितो धामशाम्भवम् ॥ ३० ।
को यमः कोऽथवा कालः को मृत्युः कस्तथाऽन्तकः ।
को वा विधाता के लेखाः क्रुद्धेष्वस्मासु कः परः ॥ ३१ ।
अग्निं पिबामो जलवच्चूर्णीकुर्मोऽखिलान् गिरीन् ।
सप्ताऽपि चार्णवांस्तूर्णं करवाम मरुस्थलीम् ॥ ३२ ।
पातालं चाऽऽनयामोर्ध्वमधो दध्मोऽथवा दिवम् ।
एकमेव हि वा ग्रासं गगनं करवामहे ॥ ३३ ।

आ इति कोपे पीडायां वा ॥ २९ ।

परितो धामशाम्भवं शम्भोर्धाम्नः आनन्दकाननस्य चतुर्दिक्ष्वित्यर्थः ॥ ३० ।

अन्तकः कालाग्निरुद्रः प्रलयानल इति यावत् । विधाता ब्रह्मा । लेखा देवा इन्द्रादयः । परो विष्णुः ॥ ३१ ।

मरुस्थलीं निरुदकभूमिम् ॥ ३२ ।

दध्मो धारयेम ॥ ३३ ।

तदनन्तर (उस धूमावली को देखकर महादेव के) गणलोग प्रलयवेला के समुद्रजल की तरह क्षुब्ध होने लगे और परस्पर यह कहते हुए कि ओह ! यह क्या ? ॥ २९ ।,

चारों ओर से गर्जते-तर्जते हुए हाथों में शस्त्र ले-लेकर शिवपुरी के इधर-उधर दौड़ने लगे ॥ ३० ।

फिर तो महादेव के वे सब पारिषद-लोग इस प्रकार से ललकारते हुए कि क्या यम, क्या काल, क्या मृत्यु, क्या अन्तक, क्या विधाता अथवा समस्त देवगण (किं वा विष्णु ही क्यों न हों) हम लोगों के क्रुद्ध हो जाने पर कौन ठहर सका है ? ॥ ३१ ।

हम लोग (चाहें) तो अग्नि को पानी की तरह पी डालें अथवा समस्त पर्वतों को चकनाचूर कर (धूर में) उड़ा देवें, किं वा सातों समुद्रों को अभी (सुखवा कर) मरुस्थली बना देवें ॥ ३२ ।

अथवा पाताल को ऊपर उठा लावें और स्वर्ग को नीचे धर देवें । किं वा आकाश को एक ही ग्रास कर डालें ॥ ३३ ।

ब्रह्माण्डभाण्डमथवा स्फोटयामः क्षणेन हि ।
आस्फालयामो वाऽन्योन्यं कालं मृत्युं च तालवत् ॥ ३४ ।
ग्रसामो वाऽथ भुवनं मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम् ।
यत्र मुक्ता भवन्त्येव मृतमात्रेण[1] जन्तवः ॥ ३५ ।
कुतोऽयं धूमसम्भारो ज्वालावल्यः कुतस्त्वमूः ।
को वा मृत्युञ्जयं रुद्रं नो विद्यान्मदमोहितः ॥ ३६ ।
इति पारिषदाः शम्भोर्महाभयभयप्रदाः ।
जल्पन्तः कल्पयामासुः प्राकारं गगनस्पृशम् ॥ ३७ ।
शकलीकृत्य बहुशः शिलावत् प्रलयानलम् ।
नन्दी च नन्दिषेणश्च सोमनन्दी महोदरः ॥ ३८ ।
महाहनुर्महाग्रीवो महाकालो जितान्तकः ।
मृत्युप्रकम्पनो भीमो घण्टाकर्णो महाबलः ॥ ३९ ।
क्षोभणो द्रावणो जृम्भी पञ्चास्यः पञ्चलोचनः ।
द्विशिरास्त्रिशिराः सोमः पञ्चहस्तो दशाननः ॥ ४० ।

स्फोटयामः खण्डं नयामः । आस्फालयामो दूरे प्रक्षेप्स्यामः । अन्योन्यं परस्परम् । तालवद् यथा एकेन तालेन तालान्तरं दूरीक्रियते, तेनाप्यन्यत्तद्वदित्यर्थः ॥ ३४ ।

ग्रसाम इति । यद्यपि वाराणसी भुवनमध्ये न भवति, तथापि प्रतीत्यभिप्रायेणेदमुक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ३५ ।

शकलीकृत्य खण्डशः कृत्य । प्रलयानलं दुर्वाससः क्रोधवह्निम् ॥ ३८ ।

अथवा इस ब्रह्माण्डरूप भांड को क्षणमात्र में फोड़ डालें, किं वा काल और मृत्यु को (पकड़कर) ताड़ (के फल) की तरह एक-दूसरे से टकरा देवें ॥ ३४ ।

अथवा, जहाँ पर केवल मरने ही से सब जन्तुओं की मुक्ति हो जाती है, एकमात्र उस वाराणसीपुरी को छोड़कर समस्त भुवन-मण्डल को ग्रस लेवें ॥ ३५ ।

यह धूआँ का पहाड़ और इतनी बड़ी ज्वालमाला कहाँ से उठ रही है ? ऐसा कौन है जो मद से मोहित होकर भगवान् मृत्युंजय रुद्र को नहीं जानता ? ॥ ३६ ।

इस भाँति से महाभय से भी भयङ्कर होकर वे सब एक गगनस्पर्शी घेरा बनाने लगे और उस प्रलयानल को पत्थर की तरह बहुत ही टुकड़े-टुकड़े करके, नन्दी, नन्दिषेण, सोमनन्दी, महोदर, महाहनु, महाग्रीव, महाकाल, जितान्तक, मृत्युप्रकंपन, भीम, घंटाकर्ण, महाबल, क्षोभण, द्रावण, जंभी, पंचास्य, पंचलोचन,

---

1. मरणमात्रेणेत्यर्थः ।

चण्डो भृङ्गिरिटिस्तण्डी प्रचण्डस्ताण्डवप्रियः ।
पिचिण्डिलः स्थूलशिराः स्थूलकेशो गभस्तिमान् ॥ ४१ ।
क्षेमकः क्षेमधन्वा च वीरभद्रो रणप्रियः ।
चण्डपाणिः शूलपाणिः पाशपाणिः कृशोदरः ॥ ४२ ।
दीर्घग्रीवोऽथ पिङ्गाक्षः पिङ्गलः पिङ्गमूर्धजः ।
बहुनेत्रो लम्बकर्णः खर्वः पर्वतविग्रहः ॥ ४३ ।
गोकर्णो गजकर्णश्च कोकिलाख्यो गजाननः ।
अहं वै नैगमेयश्च विकटास्योऽट्टहासकः ॥ ४४ ।
सीरपाणिः शिवारावो वैणिको वेणुवादनः ।
दुराधर्षो दुःसहश्च गर्जनो रिपुतर्जनः ॥ ४५ ।
इत्यादयो गणेशानाः शतकोटिदुरासदाः ।
काश्यां निवारयामासुरपि प्राभञ्जनीं गतिम् ॥ ४६ ।
क्षुब्धेषु तेषु वीरेषु चकम्पे भुवनत्रयम् ।
दुर्वाससश्च कोपाग्निज्वालाभिर्व्याकुलीकृतम् ॥ ४७ ।

भृङ्गिरिटिरितीदन्तत्वमार्षम् ॥ ४१ ।
प्राभञ्जनीं वायुसम्बन्धिनीम् ॥ ४६ ।
दुर्वाससश्चेति चकारो भिन्नक्रमे । क्षुब्धेषु तेषु चेति सम्बध्यते ॥ ४७ ।

द्विशिरा, त्रिशिरा, सोम, पंचहस्त, दशानन, चण्ड, भृंगिरिटि, तुंडी, प्रचंड, ताण्डवप्रिय, पिचिंडिल, स्थूलशिरा, स्थूलकेश, गभस्तिमान्, क्षेमक, क्षेमधन्वा, बीरभद्र, रणप्रिय, चंडपाणि, शूलपाणि, पाशपाणि, कृशोदर, दीर्घग्रीव, पिंगाक्ष, पिंगल, पिंगमूर्धज, बहुनेत्र, लंबकर्ण, खर्व, पर्वतविग्रह, गोकर्ण, गजकर्ण, कोकिलाख्य(क्ष), गजानन, नैगमेय, विकटास्य, अट्टहासक, सीरपाणि, शिवाराव, वैणिक, वेणुवादन, दुराधर्ष, दुस्सह, गर्जन और रिपुतर्जन प्रभृति शत कोटि दुरासद गणेश्वरों ने काशी में (उस घेरे से) वायु की गति को भी रोक दिया ॥ ३७-४६ ।

दुर्वासा ऋषि के क्रोधानल से व्याकुल तीनों भुवन उस घड़ी उन वीरों के क्षुब्ध होने पर (थर-थर) काँपने लगे ॥ ४७ ।

तदा विविशतुः काश्यां सूर्याचन्द्रमसावपि ।
न गणैरकृतानुज्ञौ तत्तेजःशमितप्रभौ ॥ ४८ ॥
निवार्य प्रमथानीकमतिक्षुब्धमुमाधवः ।
मदंश एव हि मुनिरानसूयेय एष वै ॥ ४९ ॥
अथो दुर्वाससो लिङ्गादाविरासीत्कृपानिधिः ।
महातेजोमयः शम्भुर्मुनिशापात्पुरीमवन् ॥ ५० ॥
मा भूच्छापो मुनेः काश्यां निर्वाणप्रतिबन्धकः ।
इत्यनुक्रोशतो देवस्तस्य प्रत्यक्षतां गतः ॥ ५१ ॥
उवाच च प्रसन्नोऽस्मि महाक्रोधन तापस ।
वरय स्ववरः कस्ते मया देयो विशङ्कितः ॥ ५२ ॥

ननु यदि वायोरपि गतिर्नास्ति कथं चन्द्रसूर्यौ प्रविष्टावित्यत आह– **न गणैरिति** । न अकृतानुज्ञौ अपितु कृतानुज्ञौ । तत्र हेतुस्तत्तेज इति । स्वतेजसा निष्प्रभौ दृष्ट्वा करुणया कृतानुज्ञावित्यर्थः ॥ ४८ ॥

आनसूयेयः अनसूयायाः पुत्र इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

अवन् रक्षन् ॥ ५० ॥

अनुक्रोशतो दयातः ॥ ५१ ॥

अविशङ्कितो विशङ्कारहितः सन् । पाठान्तरे[1] क्रियाविशेषणम् ॥ ५२ ॥

वह समय भी ऐसा था, काशी में गणों की आज्ञा बिना पाये उन सबों के तेज से हतप्रभ होकर सूर्य और चन्द्रमा भी प्रवेश नहीं करने पाते थे ॥ ४८ ॥

(यह देखकर) भगवान् उमापति ने परमक्षुब्ध प्रमथ लोगों को निवारित करके कहा–"यह अनसूयानन्दन मुनि तो हमारा ही अंश है" ॥ ४९ ॥

उधर दुर्वासा के स्थापित लिंग से भी महातेजोमय कृपानिधि भगवान् शंभु (काशी) पुरी की रक्षा करते हुए स्वयं प्रकट हुए ॥ ५० ॥

काशी में मुनि का शाप मोक्ष का प्रतिबन्धक न होने पावे, बस इसी कारण से दया करके भगवान् उनके प्रत्यक्ष हुए ॥ ५१ ॥

और बोले कि, हे महाक्रोधन ! तापस! मैं प्रसन्न हूँ, तुम निःशंक होकर कहो, तुम को कैसा वर दिया जावे ॥ ५२ ॥

---

1. अविशङ्कितमिति ।

ततो विलज्जितोऽगस्त्य शापोद्यतकरो मुनिः ।
अपराद्धं बहु मया क्रोधान्धेनेति दुर्धिया ॥ ५३ ।
उवाच चेति बहुशो धिङ्मां क्रोधवशंगतम् ।
त्रैलोक्याभयदां काशीं शप्तुमुद्यतचेतसम् ॥ ५४ ।
दुःखार्णवनिमग्नानां यातायातेति खेदिनाम् ।
कर्मपाशितकण्ठानां काश्येका मुक्तिसाधनम् ॥ ५५ ।
सर्वेषां जन्तुजातानां जनन्येकैव काशिका ।
महामृतस्तन्यदात्री नेत्री च परमं पदम् ॥ ५६ ।
जनन्या सह नो काशी लभेदुपमितिं क्वचित् ।
धारयेज्जननी गर्भे काशी गर्भाद्विमोचयेत् ॥ ५७ ।
एवंभूतां तु यः काशीमन्योऽपि हि शपिष्यति ।
तस्यैव शापो भविता न तु काश्याः कथञ्चन ॥ ५८ ।

उवाच चेति चकारस्याऽग्रिमकर्मणा सम्बन्धः । न केवलमपराद्धमित्युवाच धिङ्मामिति चो वा चेत्यर्थः । बहुश इत्यस्योभयत्र सम्बन्धः ॥ ५४ ।

त्रैलोक्याभयदत्वमेवाह – **दुःखार्णवेत्यादिना** ॥ ५५ ।

हे अगस्त्य ! तब तो शापप्रदान के लिये उद्यत होने से दुर्वासा मुनि बड़े ही लज्जित हुए और कहने लगे , क्रोधान्ध होने से हतबुद्धि होकर मैंने बड़ा ही अपराध किया । अतएव क्रोध (शत्रु) के वशीभूत मुझ को बारंबार धिक्कार है; क्योंकि मैं त्रैलोक्यमात्र को अभय देनेवाली काशी ही को शाप देने के लिये उद्यतचित्त हो गया ॥ ५३-५४ ।

जो लोग सर्वदैव संसार-सागर में डूबे पड़े हैं और जो लोग निरन्तर आवागमन के कारण खेदित हो रहे हैं एवं जिन लोगों का कण्ठ कर्मपाश में जकड़ा है, उन जीवों की मुक्ति का साधन एकमात्र काशी धाम ही है ॥ ५५ ।

यह काशी तो समस्त जीवमात्र की माता है । यतः यही महामृतरूप स्तन्य को पिलाती और परमपद पर पहुँचा देती है ॥ ५६ ।

पर माता के साथ काशी की उपमा (कभी नहीं हो सकती); क्योंकि माता तो (थोड़े दिनों तक) गर्भ धारण करती है (गर्भ-धारण का दुःख उठाती है); पर यह काशी (सर्वदा के लिये) गर्भदुःख से छुड़ा देती है ॥ ५७ ।

ऐसी काशी को जो दूसरा कोई भी शाप देवेगा, तो उस शाप का फल उसी को मिलेगा, काशी का कुछ नहीं हो सकेगा ॥ ५८ ।

इति दुर्वाससो वाक्यं श्रुत्वा देवस्त्रिलोचनः ।
अतीवतुषितो जातः काशीस्तवनलब्धमुत् ॥ ५९ ।
यः काशीं स्तौति मेधावी यः काशीं हृदि धारयेत् ।
तेन तप्तं तपस्तीव्रं तेनेष्टं क्रतुकोटिभिः ॥ ६० ।
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य काशीत्यक्षरयुग्मकम् ।
न तस्य गर्भवासः स्यात् क्वचिदेव सुमेधसः ॥ ६१ ।
यो मन्त्रं जपति प्रातः काशीवर्णद्वयात्मकम् ।
स तु लोकद्वयं जित्वा लोकातीतं व्रजेत्पदम् ॥ ६२ ।
आनसूयेय ते ज्ञानं काशीस्तवनपुण्यतः ।
यथेदानीं समुत्पन्नं तथा न तपसः पुरा ॥ ६३ ।
मुने न मे प्रियस्तद्वद्दीक्षितो मम पूजकः ।
यादृक् प्रियतरः सत्यं काशीस्तवनलालसः ॥ ६४ ।

लब्धमुल्लब्धहर्षः ॥ ५९ ।

इस प्रकार से दुर्वासा का वचन सुनकर भगवान् त्रिलोचन काशी की बड़ाई करने से हर्षित होकर बड़े ही सन्तुष्ट हुए ॥ ५९ ।

(और कहने लगे कि) जो बुद्धिमान् काशी की बड़ाई गाता एवं उसे हृदय में धारण करता है, उसी को कठोर तपस्या अथवा करोड़ों यज्ञों के करने का फल प्राप्त होता है ॥ ६० ।

"काशी" ये दोनों अक्षर जिसकी जिह्वा के टोंके (अग्रभाग) पर वर्तमान रहते हैं, उस बुद्धिमान् को कदापि गर्भ में वास नहीं करना पड़ता ॥ ६१ ।

जो कोई प्रातःकाल (उठकर) दो अक्षरों के "काशी" इस मंत्र को जपता है, वह दोनों लोकों को जीतकर अलौकिक पद को प्राप्त करता है ॥ ६२ ।

हे अनसूयानन्दन ! इस घड़ी काशी की स्तुति करने के पुण्य से तुमको जैसा ज्ञान उत्पन्न हो गया है, वैसा पूर्व में (कठोर) तपस्या करने से भी नहीं हुआ था ॥ ६३ ।

हे मुने! दीक्षित होकर भी मेरी पूजा करनेवाला मुझको वैसा प्यारा नहीं है, जैसा कि काशी की स्तुति में लालसा रखनेवाला प्रियतर है । यह बात सर्वथा सत्य है ॥ ६४ ।

तादृक् तुष्टिर्न मे दानैस्तादृक् तुष्टिर्न मे मखैः ।
न तुष्टिस्तपसा तादृग् यादृशी काशिसंस्तवैः ॥ ६५ ।
आनन्दकाननं येन स्तुतमेतत् सुचेतसा ।
तेनाऽहं संस्तुतः सम्यक् सर्वैः सूक्तैः श्रुतीरितैः ॥ ६६ ।
तव कामाः समृद्धाः स्युरानसूयेय तापस ।
ज्ञानं ते परमं भावि महामोहविनाशनम् ॥ ६७ ।
अपरं च वरं ब्रूहि किं दातव्यं तवाऽनघ ।
त्वादृशा एव मुनयः श्लाघनीया यतः सताम् ॥ ६८ ।
यस्यास्त्येव हि सामर्थ्यं तपसः क्रुद्ध्यतीह सः ।
कुपितोऽप्यसमर्थस्तु किं कर्ता क्षीणवृत्तिवत् ॥ ६९ ।
इति श्रुत्वा परिष्टुत्य दुर्वासाः कृत्तिवाससम् ।
वरं च प्रार्थयामास परिहृष्टतनूरुहः ॥ ७० ।

लौकिकानि शोभनोक्तानि वारयति—**श्रुतीरितैरिति** ॥ ६६ ।

भावि भविष्यति ॥ ६७ ।

ननु क्रुद्धानां कुतः श्लाघनीयत्वं तत्राह—**यस्यास्तीति** । कर्ता करिष्यति क्षीण-वृत्तिवत् । यथा दरिद्रः क्रुद्धोऽपि किमपि कर्तुं न शक्नोति, तद्वदित्यर्थः ॥ ६९ ।

विविध दान, यज्ञ और तपस्या के करने से भी मुझे वैसा सन्तोष नहीं होता, जैसा कि काशी की बड़ाई करने से होता है ॥ ६५ ।

जिस सुहृदय ने इस आनन्दवन की स्तुति की, वह वेदोक्त सब सूक्तों से मेरी स्तुति (को) कर चुका ॥ ६६ ।

हे आनसूयेय ! तापस! तुम्हारी सभी कामनाएँ सम्पन्न होवेंगी और तुमको वह उत्तम ज्ञान होगा, जो महामोहों का विनाशक है ॥ ६७ ।

हे अनघ ! अब तुम और भी कुछ वरदान की प्रार्थना करो कि तुमको क्या दिया जाय, (तुम क्रोध करने के कारण लज्जित मत हो); क्योंकि सज्जन लोग तुम्हारे ही ऐसे मुनियों की बड़ाई गाते हैं ॥ ६८ ।

इस संसार में जिसे तप का सामर्थ्य है, वही क्रोध भी कर सकता है, नहीं तो असमर्थ पुरुष क्षीणवृत्ति की तरह क्या कर सकता है? ॥ ६९ ।

यह सुनते ही दुर्वासा ऋषि रोमांचित शरीर होकर महादेव की बड़ी स्तुति करने के उपरान्त वरदान की प्रार्थना करने लगे ॥ ७० ।

दुर्वासा उवाच–

देवदेव जगन्नाथ करुणाकर शङ्कर ।
महापराधविध्वंसिन्नन्धकारे स्मरान्तक ॥ ७१ ।
मृत्युञ्जयोग्रभूतेश मृडानीश त्रिलोचन ।
यदि प्रसन्नो मे नाथ यदि देयो वरो मम ॥ ७२ ।
तदिदं कामदं नाम लिङ्गमस्त्विह धूर्जटे ।
इदं च पल्वलं मेऽत्र कामकुण्डाख्यमस्तु वै ॥ ७३ ।

देवदेव उवाच–

एवमस्तु महातेजो मुने परमकोपन ।
यत्त्वया स्थापितं लिङ्गं दुर्वासेश्वरसंज्ञितम् ॥ ७४ ।
तदेव कामकृन्नॄणां कामेश्वरमिहास्त्विति ।
यः प्रदोषे त्रयोदश्यां शनिवासरसंयुजि ॥ ७५ ।
संस्नास्यति नरो धीमान् कामकुण्डे त्वदास्पदे ।
त्वत्स्थापितं च कामेशं लिङ्गं द्रक्ष्यति मानवः ॥ ७६ ।
स वै कामकृताद्दोषाद्यामीं नाप्स्यति यातनाम् ।
बहवोऽपि हि पाप्मानो बहुभिर्जन्मभिः कृताः ॥ ७७ ।
कामतीर्थाम्बुसंस्नानाद्यास्यन्ति विलयं क्षणात् ।
कामाः समृद्धिमाप्स्यन्ति कामेश्वरनिषेवणात् ॥ ७८ ।

पाप्मानः पापानि ॥ ७७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

दुर्वासा ने कहा–

हे देवदेव ! जगन्नाथ ! करुणाकर शंकर! महापराधविध्वंसक! अन्तकान्तक! स्मररिपो! ॥ ७१ ।

मृत्यंजय ! उग्र! भूतनाथ! मृडानीवल्लभ! त्रिलोचन! नाथ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं और यदि मुझे वरदान किया चाहते हैं, तो हे धूर्जटे! इसी स्थान पर यह लिंग **कामद नामक** (कामेश्वर) हों और मेरी यह गड़ही कामकुंड नाम से विख्यात होवे ॥ ७२-७३ ।

देवदेव कहने लगे–

हे परमकोपन! महातेजस्वि-मुने! "एवमस्तु" यह जो तुम्हारा स्थापित दुर्वासेश्वर नामक लिंग है, वह लोगों की कामना पूर्ण करने से यहाँ पर वही **कामेश्वर** संज्ञक हो जावे और जो कोई शनिवार की त्रयोदशी में प्रदोष की वेला में तुम्हारे बनाये हुए इस कामकुंड में स्नान करेगा और जो बुद्धिमान् नर तुम्हारे स्थापित कामेश्वर लिंग का दर्शन करेगा, वह कामजनित

इति दत्वा वराञ्छम्भुस्तल्लिङ्गे लयमाययौ ।

स्कन्द उवाच–

तल्लिङ्गाराधनात्कामाः प्राप्ता दुर्वाससा भृशम् ॥ ७९ ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन काश्यां कामेश्वरः सदा ।
पूजनीयः प्रयत्नेन महाकामाऽभिलाषुकैः ॥ ८० ।
कामकुण्डकृतस्नानैर्महापातकशान्तये ।
इदं कामेश्वराख्यानं यः पठिष्यति पुण्यवान् ॥
यः श्रोष्यति च मेधावी तौ निष्पापौ भविष्यतः ॥ ८१ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दुर्वाससो वरप्रदानं नाम
पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ।

दोषों के कारण यम यातना को कभी नहीं भोगने पावेगा, अनेक जन्म के संचित बहुतेरे पाप कामकुंड के जल से स्नान करते ही क्षणमात्र में विलाय (विलय हो) जायेंगे एवं कामेश्वर के सेवन से उसकी समस्त कामनाएँ परिपूर्ण हो जावेंगी ॥ ७४-७८ ।

भगवान् शंभु इस भाँति से दुर्वासा को वरों का दान कर उसी लिंग में लीन हो गये ।

स्कन्द बोले–

उसी लिंग की आराधना से दुर्वासा की समस्त कामनायें पूर्ण हुईं ॥ ७९ ।

अतएव काशी में कामाभिलाषी लोगों को सदैव प्रयत्नपूर्वक **कामेश्वर** का पूजन करना चाहिए और महापातको की शान्ति के लिए कामकुण्ड में स्नान करना चाहिए । जो पुण्यवान् मेधावी इस कामेश्वराख्यान को पढ़ेगा अथवा सुनेगा, वे दोनों ही निष्पाप हो जावेंगे ॥ ८०-८१ ।

दोहा– **करैं कामना सिद्धि सब, कामेश्वर भगवान् ।**
जैसे दुरवासा लहे, बहुतेरे वरदान ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां
पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ।

●

॥ अथ षडशीतितमोऽध्यायः ॥

पार्वत्युवाच–

विश्वकर्मेश्वरं लिङ्गं यत्काश्यां प्रथितं परम् ।
तस्य लिङ्गस्य कथय देवदेव समुद्भवम् ॥ १ ।

देवदेव उवाच–

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि कथां पातकनाशिनीम् ।
विश्वकर्मेशलिङ्गस्य प्रादुर्भावं मनोहरम् ॥ २ ।
विश्वकर्माऽभवत्पूर्वं ब्रह्मणस्त्वपरा तनुः ।
त्वष्टुः प्रजापतेः पुत्रो निपुणः सर्वकर्मसु ॥ ३ ।
कृतोपनयनः सोऽथ बालो गुरुकुले वसन् ।
चकार गुरुशूश्रूषां भिक्षान्नकृतभोजनः ॥ ४ ।

षडशीतितमेऽध्याये नानाश्चर्यप्रदे नृणाम् ।
विश्वकर्मेश्वरोत्पत्तिर्वर्ण्यते बहुपुण्यदा ॥ १ ।

विश्वकर्मेश्वरोत्पत्तिं पृच्छति– **विश्वकर्मेश्वरमिति** ॥ १ ।

निपुणः सर्वकर्मस्विति सिद्धवत्कृत्योक्तम् । किञ्चित्कर्तुं न जानामीति वक्ष्यमाणविरोधात् ॥ ३ ।

(विश्वकर्मेश्वर की कथा)

पार्वती ने पूछा–

"हे देवदेव ! काशीपुरी में जो **विश्वकर्मेश्वर** नामक परमप्रसिद्ध लिंग है, उसके प्रकट होने की कथा कहिए" ॥ १ ।

देवाधिदेव ने कहा–

हे देवि ! मैं विश्वकर्मेश्वर लिंग की पातकनाशिनी और मनोहर उत्पत्तिकथा को कहता हूँ, तुम श्रवण करो ॥ २ ।

पूर्वकाल में त्वष्टा नामक प्रजापति के पुत्र और ब्रह्मा के दूसरे शरीर एवं सब कर्मों में अतिनिपुण विश्वकर्मा हुए थे ॥ ३ ।

वे यज्ञोपवीत हो जाने पर बाल्यावस्था में ही केवल भिक्षा के द्वारा भोजन करके गुरुकुल में टिककर गुरु की सेवा करने लगे ॥ ४ ।

एकदा तद्गुरुः प्राह प्रावृट्काले समागते ।
कुरूटजं मदर्थं त्वं यथा प्रावृण्न बाधते ॥ ५ ।

यत्कदाचिन्न भज्येत न पुरातनतां व्रजेत् ।
गुरुपत्न्या त्वभिहितो रे त्वाष्ट्र कुरु कञ्चुकम् ॥ ६ ।

ममाऽङ्गयोग्यं नो गाढं न श्लथं च प्रयत्नतः ।
विनैव वाससा चारु वाल्कलं च सदोज्ज्वलम् ॥ ७ ।

गुरुपुत्रेण चाज्ञप्तो ममार्थं पादुके कुरु ।
यदारूढस्य मे पादौ न पङ्कः संस्पृशेत् क्वचित् ॥ ८ ।

चर्मादिबन्धनिर्मुक्ते धावतो मे सुखप्रदे ।
याभ्यां च सञ्चरे वारि स्थलभूमाविव द्रुतम् ॥ ९ ।

गुरुकन्याऽपि तं प्राह त्वाष्ट्र मे श्रवणोचिते ।
भूषणे स्वेन हस्तेन कुरु काञ्चननिर्मिते ॥ १० ।

उटजं पर्णशालाम् ॥ ५ । **कञ्चुकं** प्रसिद्धम् ॥ ६ । **वाल्कलं** वल्कलेन निर्मितम् ॥ ७ । **पादौ** कर्मभूतौ ॥ ८ ।

एक बार वर्षाकाल उपस्थित होने पर उनके गुरु ने आज्ञा दी कि (बेटा!) तुम मेरे लिये एक ऐसी पर्णकुटी बना दो, जिसमें मुझे वर्षा का क्लेश न होने पावे ॥ ५ ।

और वह कुटिया न तो कभी टूटे और न पुरानी होवे । फिर गुरुपत्नी ने भी कहा, 'हे त्वष्टृनन्दन ! मेरे शरीर के योग्य एक चोलिया बना दो । पर वह बड़ी अथवा ढीली न होने पावे और ऐसा प्रयत्न करो, जिसमें वह बिना कपड़ा के होने पर भी सुन्दर हो और वल्कल की ही बने पर सदैव उज्ज्वल रहे, ॥ ६-७ ।

फिर तो गुरुपुत्र ने भी आज्ञा सुना दी कि मेरे लिये भी ऐसी एक जोड़ी पादुका (खड़ाऊँ) बना दो, जिसके पहनने से कीचड़ (धूल) कभी मेरे पैरों पर नहीं पड़ने पावे ॥ ८ ।

पर उसमें चमड़े का बन्धन न लगे और दौड़ने में भी वह सुख देवे । उसे पहन कर मैं जल पर भी स्थल ही के समान तेजी के साथ घूम-फिर सकूँ' ॥ ९ ।

तदनन्तर गुरुकन्या भी कहने लगी 'हे त्वाष्ट्र! मेरे कानों के योग्य एक जोड़ा सोने का कर्णफूल अपने हाथ से बना दो ॥ १० ।

कुमारीक्रीडनीयानि कौतुकानि च देहि मे ।
दन्तिदन्तमयान्येव स्वहस्तरचितानि च ॥ ११ ।
गृहोपकरणं द्रव्यं मुसलोलूखलादिकम् ।
तथा घटय मेधाविन् यथा त्रुट्यति न क्वचित् ॥ १२ ।
अक्षालितान्यपि यथा नित्यं पीठानि सत्तम ।
उज्ज्वलानि भवन्त्येव स्थालिकाश्च तथा कुरु ॥ १३ ।
सूपकर्मण्यपि च मां प्रशाधि त्वष्टृनन्दन ।
यथाऽङ्गुल्यो न दह्यन्ते पाकः स्याच्च यथा शुभः ॥ १४ ।
एकस्तम्भमयं गेहमेकदारुविनिर्मितम् ।
तथा कुरु वरं त्वाष्ट्र यत्रेच्छा तत्र धारये ॥ १५ ।
ये सहाध्यायिनोऽप्यस्य वयोज्येष्ठाश्च तेऽपि हि ।
सर्वे सर्वं समीहन्ते कर्म तत्कृतमेव हि ॥ १६ ।

क्रीडनीयानि क्रीडासाधनानि । कौतुकानि कौतुकजनकानि ॥ ११ ।

घटय चेष्टय सम्पादयेत्यर्थः ॥ १२ । **स्थालिकाः** पाकपात्राणि ॥ १३ । **प्रशाधि** शिक्षय ॥ १४ । **वरं** श्रेष्ठम् ॥ १५ ।

नन्वन्येऽपि शिष्याः सन्ति तान् विहायाऽयमेव किमिति नियुज्यते, तत्राह–**य इति** । समीहन्ते वाञ्छन्ति । तत्कृतं त्वाष्ट्रकृतम् । तत्कर्म ते न जानन्तीत्यर्थः ॥ १६ ।

और हाथी दाँत के बने हुए लड़कियों के खिलौने भी अपने हाथ से रचकर मुझको दो ॥ ११ ।

हे सुबुद्धे ! गृहस्थी के उपकरण मूसल, ओखरी इत्यादि को ऐसा बना दो, जो कभी टूट नहीं सके ॥ १२ ।

और हे सत्तम ! कुछ ऐसी बटलोही बना दो, जिनके माँजने के बिना ही ऊपर का भाग सदैव उज्ज्वल (साफ) बना रहे ॥ १३ ।

हे त्वष्टृनन्दन ! मुझे ऐसी रसोंई करना सिखा दो, जिसमें मेरी अंगुलियाँ नहीं जलने पावें और रसोई भी बढ़िया बन जावे ॥ १४ ।

और एक लकड़ी का एक ही खंभे पर ऐसा उत्तम घर बना दो, जिसे मैं जहाँ चाहूँ, तहाँ ले जा सकू' ॥ १५ ।

विश्वकर्मा के वयोज्येष्ठ सब सहाध्यायी लोग भी उन्हीं के बनाये हुए कामों की अभिलाषा रखने लगे ॥ १६ ।

तथेति स प्रतिज्ञाय सर्वेषां पुरतोऽद्रिजे ।
मध्येवनं प्राविशच्च महाचिन्ताभयार्दितः ॥ १७ ।
किञ्चित्कर्तुं न जानाति प्रतिज्ञातं च तेन वै ।
सर्वेषां पुरतः सर्वं करिष्यामीति निश्चितम् ॥ १८ ।
किं करोमि क्व गच्छामि को मे साहाय्यमर्पयेत् ।
बुद्धेरपि वनस्थस्य शरणं कं व्रजामि च ॥ १९ ।
अङ्गीकृत्य गुरोर्वाक्यं गुरुपत्न्या गुरोः शिशोः ।
यो न निष्पादयेन्मूढः स भवेन्निरयी नरः ॥ २० ।
गुरुशुश्रूषणं धर्म एको हि ब्रह्मचारिणाम् ।
अनिष्पाद्य तु तद्वाक्यं कथं मे निष्कृतिर्भवेत् ॥ २१ ।
गुरूणां वाक्यकरणात्सर्व एव मनोरथाः ।
सिद्ध्यन्तीतरथा नैव तस्मात्कार्यं हि तद्वचः ॥ २२ ।

कथमेतत्करिष्यामीति चिन्ता । अकरणे शापाद् भयं नरकाच्च ताभ्यामर्दितः पीडितः ॥ १७ ।

तत्र हेतुमाह– **किञ्चिदिति** ॥ १८ ।

चिन्ताभये विवृणोति– **किं करोमीति** । मे बुद्धेः साहाय्यमित्यन्वयः ॥ १९ ।

हे गिरिकिशोरी ! उस घड़ी विश्वकर्मा कुछ भी नहीं जानते थे, पर सभी लोगों से बना देने की प्रतिज्ञा कर वे बड़ी चिन्ता और भय से उद्विग्न हो, वन में चले गये ॥ १७ ।

वे सभी लोगों से सब कुछ बना देने की प्रतिज्ञा तो कर बैठे, पर कुछ भी बनाना नहीं जानते थे (इसी से सोचने लगे) ॥ १८ ।

"क्या करूँ कहाँ जाऊँ? इस वन में मुझे कौन बुद्धि की सहायता देगा । किसकी शरणागत होऊँ? ॥ १९ ।

जो मूर्ख गुरु, गुरुपत्नियों, गुरुसन्तान की बात स्वीकार करके फिर उसे नहीं करता, वह अवश्य ही नरकभागी होता है ॥ २० ।

क्योंकि ब्रह्मचारियों का एकमात्र गुरुसेवन ही धर्म है। तब फिर उनकी बात पूरी किये बिना मेरा निस्तार कैसे हो सकता है? ॥ २१ ।

गुरु लोगों की आज्ञा-पालन करने ही से समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं, अन्यथा नहीं हो सकते, अतएव उनका वचन अवश्य ही (पूरा) करना चाहिए ॥ २२ ।

कथं तद्वचसः सिद्धिं प्राप्स्याम्यत्र वने स्थितः ।
कश्च मेऽत्र सहायी स्याद्धिषणा दुर्बलस्य वै ॥ २३ ।
आस्तां गुरुकथा दूरं योऽन्यस्याऽपि लघोरपि ।
ओमित्युक्त्वा न कुरुते कार्यं सोऽथ व्रजत्यधः ॥ २४ ।
कथमेतानि कर्माणि करिष्येऽज्ञोऽसहायवान् ।
अङ्गीकृतानि तद्भीत्या नमस्ते भवितव्यते ॥ २५ ।
यावदित्थं चिन्तयति स त्वाष्ट्रो वनमध्यगः ।
तावत्तदैव सम्प्राप्तस्तेनैकोऽदर्शि तापसः ॥ २६ ।
अथ नत्वा स तं प्राह वने दृष्टं तपस्विनम् ।
को भवान् मानसं मे यो नितरां सुखयत्यहो ॥ २७ ।
त्वद्दर्शनेन मे गात्रं चिन्तासन्तापतापितम् ।
हिमानीगाहनेनेव शीतलं भवति क्षणम् ॥ २८ ।
किं त्वं मे प्राक्तनं कर्म प्राप्तं तापसरूपधृक् ।
अथवा करुणावार्धिराविर्भूतः शिवो भवान् ॥ २९ ।

अधो नरकम् ॥ २४ । **तद्भीत्या** तेषां गुर्वादीनां शापभीत्येत्यर्थः ॥ २५ ।
हिमानी हिमसंहतिः ॥ २८ । वितर्कयति– **किं त्वमिति** ॥ २९ ।

मैं इस वन में बैठकर गुरु की कैसे आज्ञा का पालन कर सकूँगा और यहाँ पर मुझ निर्बुद्धि का कौन सहायक हो सकता है ? ॥ २३ ।

गुरु की बात तो दूर रहने दो, जो कोई एक छोटे मनुष्य से भी स्वीकार करके उस काम को नहीं करता, वह अधोगति को प्राप्त होता है ॥ २४ ।

मैं तो सर्वथा अज्ञ और असहाय हूँ, फिर इन कर्मों को कैसे कर सकूँगा ? हाँ, उन लोगों के डर से अंगीकार तो मैंने कर लिया, पर हे भवितव्यते! तुमको नमस्कार है ॥ २५ ।

जब कि विश्वकर्मा वन में यह चिन्ता कर रहे थे, उसी घड़ी उन्होंने देखा कि एक तपस्वी जन वहाँ पर चले आ रहे हैं ॥ २६ ।

इसके अनन्तर विश्वकर्मा ने वन में आते हुए उस तपस्वी को देख, प्रणाम पुरःसर कहा कि, (भगवन्!) आपके दर्शन होते ही चिन्तानल से दग्ध मेरा शरीर क्षण भर में ही पाला में उबोये हुए की तरह शीतल (ठंडी) हो गया । मेरे हृदय को बड़ा ही सुख मिल रहा है । सो आप कौन हैं ? क्या आप तपस्वी का रूप धर कर मेरे पूर्व जन्म के कर्म तो नहीं हो आये हैं? अथवा दयासागर भगवान् शिव तो नहीं प्रकट हुए हैं ? ॥ २७-२९ ।

योऽसि सोऽसि नमस्तुभ्यमुपदेशेन युङ्क्ष्व माम् ।
गुरूक्तं गुरुपत्न्युक्तं गुर्वपत्योक्तमेव च ॥ ३० ।
कथं कर्तुमहं शक्तः कर्म तत्र दिशाऽद्भुतम् ।
कुरु मे बुद्धिसाहाय्यं निर्जने बन्धुतां गतः ॥ ३१ ।
इत्युक्तस्तेन स वने तापसो ब्रह्मचारिणा ।
कारुण्यपूर्णहृदयो यथोक्तमुपदिष्टवान् ॥ ३२ ।
य आप्तत्वेन सम्पृष्टो दुर्बुद्धिं सम्प्रयच्छति ।
स याति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ३३ ।

तापस उवाच–

ब्रह्मचारिन् शृणु ब्रूयां किमद्भुततरं त्विदम् ।
विश्वेशानुग्रहाद् ब्रह्माऽप्यभवत् सृष्टिकोविदः ॥ ३४ ।
यदि त्वं त्वाष्ट्र सर्वज्ञं काश्यामाराधयिष्यसि ।
ततस्ते विश्वकर्मेति नाम सत्यं भविष्यतिं ॥ ३५ ।

सत्यं सार्थकम् ॥ ३५ ।

अच्छा, आप जो चाहें सो होवे, आपको नमस्कार है, अब आप यह उपदेश कीजिये कि मैं गुरु, गुरुपत्नी और गुरु-सन्तानों के कहे हुए काम को कैसे कर सकता हूँ ? आप इस निर्जन वन में मुझे बन्धुरूप से मिले हैं, तो इस अद्भुत कर्म के लिये मुझे बुद्धि से सहायता दीजिये ॥ ३०-३१ ।

वे करुणामयचित्त तपस्वी ब्रह्मचारी विश्वकर्मा के ऐसा कहने पर उपयुक्त उपदेश देने लगे ॥ ३२ ।

क्योंकि आप्तरूप से पूछे जाने पर जो कोई दुर्बुद्धि देता है, वह (मनुष्य) कल्पान्तपर्यन्त घोर नरक में वास करता है ॥ ३३ ।

तपस्वी ने कहा–

हे ब्रह्मचारिन् ! जो मैं कहता हूँ, उसे तुम सुनो । तुम्हारा यह काय कौन आश्चर्यकर है, विश्वेश्वर ही के अनुग्रह से ब्रह्मा भी सृष्टि रचने में समर्थ हुए हैं ॥ ३४ ।

हे त्वाष्ट्र ! यदि तुम काशी में विश्वेश्वर की आराधना कर सकोगे, तो सत्य ही तुम्हारा नाम विश्वकर्मा होगा ॥ ३५ ।

विश्वेशानुग्रहात्काश्यामभिलाषा न दुर्लभाः ।
सुलभो दुर्लभोऽप्यत्र यत्र मोक्षस्तनुत्यजाम् ॥ ३६ ।
सृष्टेः करणसामर्थ्यं सृष्टिरक्षाप्रवीणता ।
विधिना विष्णुना नाप्रापि विश्वेशानुहात्परात् ॥ ३७ ।
याहि वैश्वेश्वरं सद्म पद्मया समधिष्ठितम् ।
निर्वाणसंज्ञया बाल यदीच्छेः स्वान्मनोरथान् ॥ ३८ ।
स हि सर्वप्रदः शम्भुर्याचितश्चोपमन्युना ।
पयोमात्रं ददौ तस्मै सर्वं क्षीराब्धिमेव च ॥ ३९ ।
आनन्दकानने शम्भोः किं किं केन न लभ्यते ।
यत्र वासकृतां पुंसां धर्मराशिः पदे पदे ॥ ४० ।
स्वर्धुनीस्पर्शमात्रेण महापातकसन्ततिः ।
यत्र संक्षयति क्षिप्रं तां काशीं को न संश्रयेत् ॥ ४१ ।

अनुग्रहात् कृपातः । आराधनादिति क्वचित् । तत्र हेतुमाह । यद्यस्मान् वै निश्चितं प्रसिद्धौ वा । दुर्लभो मोक्षोऽत्र काश्यां सुलभः । दुर्लभोऽप्यत्रेति पाठे अत्र जगति दुर्लभोऽपीत्यर्थः ॥ ३६ ।

प्रापि प्राप्ता ॥ ३७ । **इच्छेः** इच्छसि ॥ ३८ । **पयोमात्रं** केवलं दुग्धम् ॥ ३९ ।

काशी में **विश्वेश्वर** की कृपा से कोई भी अभिलाष दुर्लभ नहीं है; क्योंकि वहाँ पर तो परमदुर्लभ मोक्ष भी शरीर त्यागने वालों को सुलभ हो जाता है ॥ ३६ ।

विश्वेश्वर ही की परमानुकम्पा से ब्रह्मा ने सृष्टि रचने का सामर्थ्य और विष्णु ने सृष्टिरक्षा में प्रवीणता पाई है ॥ ३७ ।

हे वत्स ! यदि तुम अपने मनोरथों को पूर्ण किया चाहते हो, तो निवार्णलक्ष्मी से अधिष्ठित काशीपुरी में चले जाओ ॥ ३८ ।

वे ही भगवान् शंकर समस्त मनोवांछा को पूर्ण कर देते हैं ।उपमन्यु के थोड़ा सा दूध माँगने पर उन्होंने समस्त क्षीरसागर उनको दे दिया ॥ ३९ ।

जहाँ पर वास करनेवालों को पद-पद पर धर्म की ढेर मिलती है, महादेव के उस आनन्दवन में किसको क्या नहीं मिल सकता है? ॥ ४० ।

जहाँ पर केवल गंगा के जल का स्पर्श होते ही महापातकावली का तुरंत क्षय हो जाता है, उस काशी का कौन नहीं आश्रय लेता ॥ ४१ ।

न तादृग् धर्मसम्भारो लभ्यते क्रतुकोटिभिः ।
यादृग् वाराणसीवीथीसञ्चारेण पदे पदे ॥ ४२ ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यद्यत्राऽस्ति मनोरथः ।
तदा वाराणसीं याहि याहि त्रैलोक्यपावनीम् ॥ ४३ ।
सर्वकामफलप्राप्तिस्तदैव स्याद्ध्रुवं नृणाम् ।
यदैव सर्वदः सर्वः काश्यां विश्वेश्वरः श्रितः ॥ ४४ ।
स तापसोक्तमाकर्ण्य त्वाष्ट्र इत्थं सुहृष्टवान् ।
काशीसम्प्राप्त्युपायं च तमेव समपृच्छत ॥ ४५ ।

त्वाष्ट्र उवाच–

तदानन्दवनं शम्भोः क्वाऽस्ति तापससत्तम ।
यत्र नो दुर्लभं किञ्चित् साधकानां त्रयीस्थितम् ॥ ४६ ।
स्वर्गे वा मर्त्यलोके वा बलिसद्मनि वा मुने ।
क्व तदानन्दगहनं यत्राऽऽनन्दपयोब्धिजा ॥ ४७ ।

वीथी मार्गः ॥ ४२ । **याहि याहीत्यादरे** वीप्सा ॥ ४३ । **श्रित** आश्रितो भवति ॥ ४४ । **त्रयीस्थितं** लोकत्रयस्थितम् ॥ ४६ ।

लोकत्रयमेवाह– **स्वर्ग इति** । वेदत्रयप्रतिपाद्यं वा ॥ ४७ ।

करोड़ों यज्ञ करने से भी वैसी धर्मराशि नहीं मिल सकती, जैसी कि काशी की गलियों में घूमने से पद-पद पर आप से आप प्राप्त हो जाती है । करोड़ों यज्ञ करने से जो धर्म होता है, वही काशी की गलियों में टहलने ही से मिलता है ॥ ४२।

यदि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पाने की इच्छा हो, तो त्रैलोक्यपावनी काशीपुरी की यात्रा करो ॥ ४३ ।

तभी लोगों की समस्त कामनाओं का फल मिल जाता है, जब कि काशी में सर्वस्वदाता भगवान् विश्वनाथ का आश्रयण कर लेवे ॥ ४४ ।

विश्वकर्मा तापस की बात सुनकर प्रसन्न होकर उन्हीं से काशी की प्राप्ति का उपाय पूछने लगे ॥ ४५ ।

विश्वकर्मा बोले–

हे तापससत्तम ! जिस काशी में साधक लोगों को त्रैलोक्यभर के सभी पदार्थ सुलभ हैं, महादेव का वह आनन्दकानन कहाँ पर है ? ॥ ४६ ।

हे मुने ! जहाँ पर स्वयं आनन्दलक्ष्मी विराजमान रहती हैं, वह आनन्दवन स्वर्गलोक, मर्त्यलोक अथवा पाताललोक में कहाँ है? ॥ ४७ ।

यत्र विश्वेश्वरो देवो विश्वेषां कर्णधारकः ।
व्याचष्टे तारकं ज्ञानं येन तन्मयतां ययुः ॥ ४८ ।

सुलभा यत्र नियतमानन्दवनचारिणः ।
अपि नैःश्रेयसी लक्ष्मीः किमन्येऽल्पमनोरथाः ॥ ४९ ।

कस्तां मां प्रापयेच्छम्भोः कथं यामि तथा वद ।
स तपस्वीति तद्वाक्यमाकर्ण्य श्रद्धयान्वितम् ॥ ५० ।

प्राहाऽऽगच्छ नयामि त्वां यियासुरहमप्यहो ।
दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं यदि काशी न सेविता ॥ ५१ ।

पुनः क्व नृत्वं श्रेयोभूः क्व काशी कर्मबन्धहृत् ।
वृथा गते हि मानुष्ये काशीप्राप्तिविवर्जनात् ॥ ५२ ।

आयुष्यं च भविष्यं च सर्वमेव वृथा गतम् ।
अतोऽहं सफलीकर्तुं मानुष्यं चातिचञ्चलम् ॥ ५३ ।

वनचारिण इति षष्ठ्येकवचनम् । **नैःश्रेयसी** कैवल्यरूपा ॥ ४९ ।
श्रेयः कल्याणम् ॥ ५२ ।
आयुष्यं च आयुषे हितं कारणं सुलक्षणरूपकरचरणरेखादि । भविष्यं च भविष्यत्सूचकं खयोगग्रहतारादि ॥ ५३ ।

जहाँ पर संसार के पार करने वाले भगवान् विश्वेश्वर जीवों को उस तारकज्ञान का उपदेश दे देते हैं, जिससे वे सब तन्मय होते हैं ॥ ४८ ।

फिर जिस आनन्दवन में विचरण करनेवाले को मोक्षलक्ष्मी ही सुलभ है, वहाँ पर दूसरे छोटे-छोटे मनोरथों की कौन-सी बात है ? ॥ ४९ ।

(अच्छा तो अब) आप यह बता देवें कि मुझे उस काशी में कौन पहुँचावेगा अथवा मैं कैसे जा सकता हूँ ? वह तपस्वी विश्वकर्मा की इस भक्तिभरी बात को सुनकर बोला कि, चलो मैं ही तुमको वहाँ ले चलूँगा; क्योंकि मेरी इच्छा भी वहीं जाने की है, कारण यदि दुर्लभ मनुष्य तन पाकर भी काशी का सेवन न हो सका तो फिर कहाँ यह मनुष्यदेह मिलेगा और कहाँ कर्मबन्धननाशिनी श्रेयोभूमि काशी मिलेगी ? काशी की प्राप्ति नहीं होने से यह मनुष्य-जन्म वृथा हो जाएगा ॥ ५०-५२ ।

यास्यामि काशीमायाहि मायां हित्वा त्वमप्यहो ।
इति तेन सह त्वाष्ट्रो मुनिनाऽतिकृपालुना ॥ ५४ ।
पुरीं वैश्वेश्वरीं प्राप्तो मनःस्वास्थ्यमवाप च ।
ततः प्रापय्य तां काशीं तापसः क्वाप्यतर्कितम् ॥ ५५ ।
जगाम कुम्भसम्भूत स त्वाष्ट्रोऽपीत्यमन्यत ।
अवश्यं स हि विश्वेशः सर्वेषां चिन्तितप्रदः ॥ ५६ ।
सत्पथस्थिरवृत्तीनां दूरस्थोऽपि समीपगः ।
यस्मिन् प्रसन्नदृक् त्र्यक्षस्तं दविष्ठमपि ध्रुवम् ॥
सुनेदिष्ठं करोत्येव स्वयं वर्त्मोपदेशयन् ॥ ५७ ।
क्वाऽहं तत्र वने बालश्चिन्ताकुलितमानसः ।
क्व तापसः स यो मां वै सूपदिश्येह चानयत् ॥ ५८ ।

अतर्कितं यथा स्यात् ॥ ५५ ।
दविष्ठं दूरस्थम् । सुनेदिष्ठम् अतिनिकटम् ॥ ५७ ।

यदि काशी-प्राप्ति न हो तो समस्त आयुष्य और भविष्य (जन्म) सब कुछ वृथा ही हुआ, अतएव मैं अत्यन्त चंचल इस मनुष्य-जन्म को सफल करने के लिए काशी को जाऊँगा । तुम भी माया को छोड़कर मेरे साथ चले चलो । इस भाँति से विश्वकर्मा उस दयालु तपस्वी के साथ विश्वनाथ की नगरी में जा पहुँचे और (वहाँ के जाने से) उनके मन की बड़ी ही शान्ति हुई । तदनन्तर विश्वकर्मा को काशी में पहुँचाकर वह तपस्वी न जाने कहाँ चला गया ॥ ५३-५५ ।

उसके चले जाने पर हे कुंभयोने ! तब तो विश्वकर्मा ने भी यही समझ लिया कि, सब लोगों के अभीष्टदाता भगवान् विश्वनाथ ही निःसन्देह वे तपस्वी थे ॥ ५६ ।

जिन लोगों की चित्तवृत्ति सत्पथ पर दृढ़ रहती है, वे दूरस्थ होने पर भी उन्हीं के निकट में वर्तमान रहते हैं । भगवान् त्र्यक्ष जिस पर कृपा-कटाक्ष फेर देते हैं, उसे बहुत दूर रहने पर भी स्वयं मार्ग बताकर निकटवर्ती बना लेते हैं, यह बात सर्वथा ध्रुव है ॥ ५७ ।

भगवान् त्रिलोचन की यह अद्भुत लीला है कि, उनका भक्त चाहे जहाँ रहे, पर उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है; क्योंकि कहाँ तो वन में चिन्ता से व्याकुल

खेलोऽयमस्य त्र्यक्षस्य यस्य भक्तस्य कुत्रचित् ।
न दुर्लभतरं किञ्चिदहो क्वाऽहं क्व काशिका ॥ ५९ ।
नाराधितो मया शम्भुः प्राक्तने जन्मनि क्वचित् ।
शरीरित्वानुमानेन ज्ञातमेतदसंशयम् ॥ ६० ।
अस्मिन् जन्मनि बालत्वान्न चैवाराधितः स्फुटम् ।
प्रत्यक्षमेवमेवैतत् कुतोऽनुग्रहधीर्मयि ॥ ६१ ।
आज्ञातं गुरुभक्तिर्मे हेतुः शम्भुप्रसादने ।
ययेहाऽनुगृहीतोऽस्मि विश्वेशेन कृपालुना ॥ ६२ ।
अथवा [1]कारणापेक्षस्त्र्यक्षस्त्वितरदेववत् ।
रङ्कमप्यनुगृह्णाति केवलं कारणं कृपा ॥ ६३ ।
यदि नो मय्यनुक्रोशः कथं तापससङ्गतिः ।
तद्रूपेण स्वयं शम्भुरानिनायेह मां ध्रुवम् ॥ ६४ ।

स्वस्मिन् विश्वेश्वरकृपामसम्भाव्यांसम्भावयति–**नाराधित इत्यादि** ॥ ६० ।
हेत्वन्तरमाह. –**अथवेति** ॥ ६३ ।

चित्त होकर मैं ज्ञानहीन हो रहा था और कहाँ उस तपस्वी ने सदुपदेश देकर मुझको इस काशीपुरी में पहुँचा दिया ॥ ५८-५९ ।

मैंने पूर्वजन्म में कभी भगवान् शंकर की आराधना नहीं की; क्योंकि शरीरधारी होने ही से इस बात का अनुमान निश्चय ज्ञात हो जाता है और इस जन्म में तो अब तक लड़कपन ही के कारण से कुछ भी आराधना नहीं हो सकी । यह बात प्रत्यक्ष स्पष्ट ही है, फिर शिव की यह अनुग्रह-बुद्धि मुझ पर कैसे हुई ? ॥ ६०-६१ ।

जान पड़ता है कि मेरी गुरुभक्ति ही महादेव के प्रसाद का हेतु है, उसी के कारण से भगवान् विश्वेश्वर ने कृपालु होकर मुझे यहाँ पर पहुँचा देने की दया दिखलाई है ॥ ६२ ।

अथवा अन्य देवताओं की तरह महेश्वर भी कारण को नहीं ढूँढते, केवल कृपा के ही कारण दरिद्रों पर भी अनुग्रह करते हैं ॥ ६३ ।

यदि मुझ पर उनकी कृपा नहीं होती, तो तपस्वी का संग कैसे होता ? स्वयं महादेव ही उस रूप से मुझको यहाँ पर लिवा लाये, यह बात ध्रुव है ॥ ६४ ।

---

1. काकूक्त्या कारणापेक्षो न भवति ।

न दानानि न वै यज्ञा न तपांसि व्रतानि च ।
शम्भोः प्रसादहेतूनि कारणं तत्कृपैव हि ॥ ६५ ।
दयामपि तदा कुर्यादसौ विश्वेश्वरः पराम् ।
यदा श्रुत्युक्तमध्वानं सद्भिः क्षुण्णं न संत्यजेत् ॥ ६६ ।
अनुक्रोशं समर्थ्येति स त्वाष्ट्रः शाम्भवं शुचिः ।
संस्थाप्य लिङ्गमीशस्याऽऽराधयत्स्वस्थमानसः ॥ ६७ ।
आनीय पुष्पसम्भारमार्तवं काननाद् बहु ।
स्नात्वाऽभ्यर्चयतीशानं कन्दमूलफलाशनः ॥ ६८ ।
इत्थं त्वष्टृतनूजस्य लिङ्गाराधनचेतसः ।
त्रिहायनात्प्रसन्नोऽभूत्तस्येशः करुणानिधिः ॥ ६९ ।
तस्मादेव हि लिङ्गाच्च प्रादुर्भूय भवोऽब्रवीत् ।
वरं वरय रे त्वाष्ट्र दृढभक्त्याऽनया तव ॥ ७० ।
प्रसन्नोऽस्मि भृशं बाल गुर्वर्थकृतचेतसः ।
गुरुणा गुरुपत्न्या च गुर्वपत्यद्वयेन च ॥ ७१ ।

क्षुण्णं क्षोदितं सेवितम् ॥ ६६ । **समर्थ्य** समर्थयित्वा । समर्प्येति पाठे प्राप्येत्यर्थः ॥ ६७ । **आर्तवं** ऋतुभवम् ॥ ६८ ।

केवल दान, यज्ञ, तप और व्रताचरण इत्यादि से शिव की प्रसन्नता नहीं हो सकती, तब उनकी कृपा ही उनकी प्रसन्नता का एकमात्र कारण है ॥ ६५ ।

जब कोई साधुसम्मत, वेद-विहित मार्ग को कभी नहीं छोड़ता, तभी विश्वेश्वर उस पर परम दया करते हैं ॥ ६६ ।

इस प्रकार से विश्वेश्वर की कृपा का समर्थन कर त्वष्टृपुत्र विश्वकर्मा पवित्र और स्वस्थचित्त हो, शिवलिंग की स्थापना करके (उसकी) आराधना करने लगे ॥ ६७ ।

वे कन्दमूल और फलभोजी होकर नित्य ही वन से ऋतूद्भव बहुतेरे पुष्पों के संभार को लाकर स्नान के उपरान्त पूजन करने लगे ॥ ६८ ।

इस रूप (प्रकार) से तीन वर्ष तक विश्वकर्मा के लिंगाराधन में दत्तचित्त रहने पर कृपानिधि शंकर उनके ऊपर प्रसन्न हुए ॥ ६९ ।

महादेव उसी लिंग से प्रकट होकर बोले– हे त्वष्टृनन्दन! तुम्हारी इस दृढ़ भक्ति तथा गुरु के प्रयोजनार्थ दत्तचित्तता से मैं बड़ा प्रसन्न हूँ । अतः हे बेटा! तुम वर

यथाऽर्थितं तथा कर्तुं ते सामर्थ्यं भविष्यति ॥ ७२ ।
अन्यान् वरांश्च ते दद्यां त्वाष्ट्र तुष्टस्त्वदर्चया ।
तान् शृणुष्व महाभाग लिङ्गस्यास्याद्भुतश्रियः ॥ ७३ ।
त्वं सुवर्णादिधातूनां दारूणां दृषदामपि ।
मणीनामपि रत्नानां पुष्पाणामपि वाससाम् ॥ ७४ ।
कर्पूरादिसुगन्धीनां द्रव्याणामप्यपामपि ।
कन्दमूलफलानां च द्रव्याणामपि च त्वचाम् ॥ ७५ ।
सर्वेषां वस्तुजातानां कर्तुं कर्म प्रवेत्स्यसि ।
यस्य यस्य रुचिर्यत्र सद्मदेवालयादिषु ॥ ७६ ।
तस्य तस्येह तुष्ट्यै त्वं तथाकर्तुं प्रवेत्स्यसि ।
सर्वनेपथ्यरचना सर्वाः सूपस्य संस्कृतीः ॥ ७७ ।
सर्वाणि शिल्पिकार्याणि तौर्यत्रिकमथाऽपि च ।
सर्वं ज्ञास्यसि कर्तुं त्वं द्वितीय इव पद्मभूः ॥ ७८ ।
नानाविधानि यन्त्राणि नानायुधविधानकम् ।
जलाशयानां रचनाः सुदुर्गरचनास्तथा ॥ ७९ ।
तादृक्कर्तुं पुरा वेत्ति यादृङ्नान्योऽधियास्यति ।
कलाजातं हि सर्वं त्वमवयास्यसि मे वरात् ॥ ८० ।

नेपथ्यम् अलङ्करणम् ॥ ७७ ।
तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्रम् ॥ ७८ ।
वेत्ति ज्ञास्यसि । पुरा प्रथमतः । यन्त्राणि वाद्यविशेषान् । कलाजातं शैवतन्त्रोक्त- चतुःषष्टिलक्षणम् ॥ ८० ।

माँगो । तुम्हारे गुरु, गुरुपत्नी और गुरु के दोनों लड़कों ने जो कुछ तुमसे कहा है, उसके बना देने की सामर्थ्य तुमको हो जावेगी ॥ ७०-७२ ।

हे त्वाष्ट्र! तुम्हारे इस आश्चर्यमय लिंग के विधिवत् पूजन से मैं बहुत ही सन्तुष्ट हूँ । अतएव और भी जो जो वर देता हूँ, उनको श्रवण करो ॥ ७३ ।

सुवर्ण इत्यादि धातु, काष्ठ, पत्थर, मणि, रत्न, पुष्प, वस्त्र, कर्पूर आदिक सुगन्ध द्रव्य, जल, कंद, मूल, फल, त्वचा प्रभृति पदार्थ और सब प्रकार की वस्तुओं के बनाने का काम तुम जान सकोगे । जिस-जिस की जहाँ कहीं मन्दिर अथवा देवालय इत्यादि पर जैसी रुचि होगी, उसके सन्तोषार्थ तुम वैसा ही बना दे सकोगे, विविध भाँति के भूषणों की रचना, रसोंई की क्रिया, सब प्रकार के शिल्प कर्म और तौर्यत्रिक इत्यादि को तुम दूसरे ब्रह्मा की तरह बनाने जान जाओगे । ७४-७८ ।

नानाविधि के यंत्र, अनेक आयुध-विधान, जलाशय-निर्माण और सुन्दर दुर्ग की रचनाएँ जैसी तुम बना सकोगे, वैसी और किसी की बनाई नहीं बन सकेंगी एवं मेरे वरदान के प्रभाव से तुम समस्त कलाओं को स्वयं जान जाओगे ॥ ७९-८० ।

सर्वेन्द्रजालिकीविद्या त्वदधीना भविष्यति ।
सर्वकर्मसु कौशल्यं सर्वबुद्धिवरिष्ठताम् ॥ ८१ ।
सर्वेषां च मनोवृत्तिं त्वं ज्ञास्यसि वरान्मम ।
किं बहूक्तेन यत्स्वर्गे यत्पाताले यदत्र च ॥ ८२ ।
अतिलोकोत्तरं कर्म तत्सर्वं वेत्स्यसि स्वयम् ॥ ८३ ।
विश्वेषां विश्वकर्माणि विश्वेषु भुवनेषु च ।
यतो ज्ञास्यसि तन्नाम विश्वकर्मेति तेऽनघ ॥ ८४ ।
अपरः को वरो देयस्तव तं प्रार्थयाश्वहो ।
तवाऽदेयं न मे किञ्चिल्लिङ्गार्चनरतस्य हिं ॥ ८५ ।
अन्यत्राऽपि हि यो लिङ्गं समर्चयति सन्मतिः ।
तस्याऽपि वाञ्छितं देयं किं पुनर्यो विकाशिकम् ॥ ८६ ।
येन काश्यां समभ्यर्चि येन काश्यां प्रतिष्ठितम् ।
येन काश्यां स्तुतं लिङ्गं स मे रूपाय दर्पणः ॥ ८७ ।

अतिलोकोत्तरमलौकिकं लोकत्रयातीतमिति यावत् ॥ ८३ ।
विश्वकर्मनाम निर्वक्ति– **विश्वेषामिति**. ॥ ८४ ।
विकाशिकं विशिष्टकाशीसम्बन्धि ॥ ८६ ।
स मे रूपाय दर्पणः मम रूपं तत्राऽऽविर्भवतीत्यर्थः ॥ ८७ ।

सब प्रकार की इन्द्रजाल सम्बन्धिनी विद्या तुम्हारे आधीन रहेगी । सब कामों में कौशल्य और बुद्धिमानों में प्रधानता तुम्हीं को मिलेगी ॥ ८१ ।

मेरे इसी वरदान से तुम सब लोगों की मनोवृत्ति को समझ जाओगे । बहुत कहाँ तक कहें, स्वर्ग, पाताल और इस मर्त्यलोक में जो कुछ लोकोत्तर कर्म हैं, उन सब को तुम आप से आप जान सकोगे ॥ ८२-८३ ।

हे अनघ! समस्त भुवनों में विश्वभर के सब कर्मों के जान लेने से तुम्हारा नाम विश्वकर्मा होगा ॥ ८४ ।

अहो! लिंगपूजन में लगे रहने के कारण तुम्हारे लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं हैं । अतः जो वर लेना हो, मुझसे अभी माँग लो ॥ ८५ ।

जो सन्मतिमान् जन दूसरे किसी स्थान पर भी मेरे लिंग का पूजन करता है, मैं उसे भी वांछित् फल देता ही हूँ । फिर जो काशी में हो, तो उसका क्या कहना है ॥ ८६ ।

इस काशीपुरी में जिसने लिंग की पूजा अथवा प्रतिष्ठा, किं वा स्तुति ही की, वह मेरे रूपधारण के लिये मानो दर्पण ही हो जाता है ॥ ८७ ।

तत्त्वं स्वच्छोऽसि मुकुरो मम नेत्रत्रयस्य हि ।
काश्यां लिङ्गार्चनात्त्वाष्ट्र वरं वरय सुव्रत ॥ ८८ ।
काश्यां यो राजधान्यां मे हित्वा मामन्यमर्चयेत् ।
स वराकोऽल्पधीर्मुष्टोऽल्पतुष्टिर्मुक्तिवर्जितः ॥ ८९ ।
तदानन्दवने ह्यत्र समर्च्योऽहं मुमुक्षुभिः ।
द्रुहिणोपेन्द्रचन्द्रेन्द्रैरिहाऽन्यो न समर्च्यते ॥ ९० ।
यथाऽऽनन्दवनं प्राप्य त्वं मामर्चितवानसि ।
तथाऽन्ये पुण्यकर्माणो मामभ्यर्च्यैव मामिताः ॥ ९१ ।
अनुग्राह्योऽसि नितरां ततो वरय दुर्लभम् ।
श्राणितं तदवेहि त्वं वद मा चिरयस्व भो ॥ ९२ ।

स्वच्छो निर्मलः । मुकुरो दर्पणः । मम नेत्रत्रयस्येति सामानाधिकरण्यम् ॥ ८८ ।

मां हित्वा मत्तोऽभेददर्शने सत्यपि सर्वथा मां हित्वा यः केवलमन्यं सूर्यगणेशादि पूजयेत् ॥ ८९ ।

तत्तस्मात् । तस्मादित्यनेनापेक्षितं हेतुमाह– **द्रुहिणेति** । न समर्च्यते यत इति शेषः ॥ ९० ।

श्राणितं दत्तम् ॥ ९२ ।

अतएव हे सुव्रत ! त्वाष्ट्र ! काशी में लिंग की पूजा करने से तुम मेरे तीनों नेत्रों के निर्मल मुकुर (चश्मा) हो गये हो ॥ ८८ ।

जो मन्दमति वराक जन, मेरी राजधानी काशीपुरी में मुझे छोड़कर दूसरे किसी का पूजन करता है, वह मूढ़ सदैव मुक्ति से वर्जित बना रहता है ॥ ८९ ।

ब्रह्मा, विष्णु, चन्द्र और इन्द्र इत्यादि देवगण भी यहाँ पर मुझसे भिन्न अन्य किसी को नहीं पूजते । अतएव मोक्षार्थी लोगों को उचित है कि, इस आनन्दवन में मेरी ही पूजा करें ॥ ९० ।

जैसे तुमने आनन्दवन में आकर मेरी पूजा की है, वैसे ही और भी कितने ही पुण्यकर्मा लोग मेरा पूजन करके मुझको पा चुके हैं ॥ ९१ ।

तुम मेरे परम अनुग्रह-भाजन हो, इसलिए अत्यन्त दुर्लभ भी वरदान पा सकते हो, सो जो तुम चाहते हो, उसे मिला ही हुआ समझो और अब विलम्ब मत करो, शीघ्रता से बोलो ॥ ९२ ।

विश्वकर्मोवाच—

इदं यत्स्थापितं लिङ्गं मयाऽज्ञेनाऽपि शङ्कर ।
तल्लिङ्गमन्येऽप्याराध्य सन्तु सद्बुद्धिभाजनम् ॥ ९३ ।
अन्यच्च नाथ प्रार्थ्योऽसि तच्चाविश्राणयिष्यसि ।
भवान्मया विनिर्मापयिता स्वं प्रासादं कदा भव ॥ ९४ ।

देवदेव उवाच—

एवमस्तु यदुक्तं ते तव लिङ्गसमर्चकाः ।
सद्बुद्धिभाजनं वै स्युः स्युश्च निर्वाणदीक्षिताः ॥ ९५ ।
यदा च राजा भविता दिवोदासो विधेर्वरात् ।
तदा मे वचनात्तात प्रासादं मे विधास्यति ॥ ९६ ।
नवीकृत्य पुनः काशी निर्विष्टा तेन भूभुजा ।
गणेशमायया राज्यात्परिनिर्विण्णचेतसा ॥ ९७ ।

सद्बुद्धिभाजनं ब्रह्मज्ञानपात्रम् ॥ ९३ ।

मया कृत्वा विनिर्मापयिता विशेषेण निर्माणकर्ता । अत्राऽक्षराधिक्याच्छन्दोभङ्ग[1]श्छान्दसत्वान्न दोषः । तथा च श्रुतिः —**"न वा एकेनाक्षरेणान्यच्छन्दो भवति न द्वाभ्यामिति"** ॥ ९४–९५ । विधास्यति भवानिति शेषः । अथवा भवद्द्वारा स एव विधास्यति ॥ ९६ ।

निर्विष्टा नितरां वेशिता प्राप्ता ॥ ९७ ।

विश्वकर्मा ने कहा—

हे शंकर! मैंने अज्ञ होने पर भी जो इस लिंग को स्थापित किया है, दूसरे लोग भी इस लिंग की आराधना करके उत्तम बुद्धि से सम्पन्न हुआ करें ॥ ९३ ।

हे नाथ! मेरी यह एक और भी प्रार्थना है, जिसे आप अवश्य ही देवेंगे, वह यही है कि, आप मुझसे अपना मन्दिर कब बनवायेंगे' ? ॥ ९४ ।

महादेव ने कहा,

'एवमस्तु', जैसा कि तुमने कहा, तुम्हारे स्थापित लिंग के आराधक लोग सद्बुद्धि के भाजन और मोक्षदीक्षित होवेंगे ॥ ९५ ।

हे तात! जब ब्रह्मा के वरदान से दिवोदास यहाँ का राजा होवेगा और बहुत दिनों तक राज्य भोग करके फिर गणेश की माया से बड़ा विरक्तचित्त हो विष्णु

---

1. छन्दोभङ्गो न दोष इति पुस्तकान्तरे पाठः ।

विष्णोः सदुपदेशाच्च मामेव शरणं गतः ।
निर्वाणलक्ष्मीः प्राप्तेह हित्वा राज्यश्रियं चलाम् ॥ ९८ ।
विश्वकर्मन् व्रज गुरोः शासनाय यतस्व च ।
गुरुभक्तिकृतो यस्मान्मद्भक्ता नाऽत्र संशयः ॥ ९९ ।
ये गुरुं चावमन्यन्ते तेऽवमान्या मयाऽप्यहो ।
तस्माद्गुरूपदिष्टं हि कुरु शिष्य समीहितम् ॥ १०० ।
तत आगत्य मे पार्श्वं यावन्निर्वाणमेष्यसि ।
तावत्स्थास्यसि शुद्धात्मा देवानां हितमाचरन् ॥ १०१ ।
तवाऽत्र लिङ्गे सततं स्थास्याम्यहमभीष्टदः ।
अस्य लिङ्गस्य भक्तानां निर्वाणश्रीरदूरतः ॥ १०२ ।
अङ्गारेशादुदीच्यां ये त्वल्लिङ्गस्य समर्चकाः ।
तेषां मनोरथाऽवाप्तिर्भविष्यति पदे पदे ॥ १०३ ।
इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे देवस्त्वाष्ट्रोऽपि गुरुमाप्तवान् ।
गुरोः समीहितं भूरि विधाय स गृहान् ययौ ॥ १०४ ।

प्राप्ता तेन राज्ञेति शेषः ॥ ९८ । **गुरुभक्तिकृतो** गुरुभक्तिकर्तारः ॥ ९९।

के उपदेशानुसार चंचल राजलक्ष्मी को त्यागकर मेरी आराधना से निर्वाणलक्ष्मी को यहीं पर प्राप्त हो जावेगा, तब उस घड़ी तुम मेरे लिये नया प्रासाद बना देना ॥ ९६–९८ ।

हे विश्वकर्मन् ! अब तुम चले जाओ और गुरु की आज्ञा के पूर्ण करने का प्रयत्न करो; क्योंकि जो लोग गुरु की भक्ति करते हैं, वह निःसन्देह मेरे ही भक्त हैं ॥ ९९ ।

जो लोग गुरु का अपमान करते हैं, मैं भी उन सबों का अपमान ही करता हूँ । अतः तुम (जाकर) शिष्योचित गुरु के आदेश का प्रतिपालन करो ॥ १०० ।

तदनन्तर वहाँ से लौटने पर मेरे पास आकर पवित्रचित्त से देवताओं का हिताचरण करते हुए जब तक मुक्ति नहीं होगी, तब तक रहोगे ॥ १०१ ।

तुम्हारे स्थापित इस लिंग में मैं सदा वर्तमान रहकर अभीष्ट फल देता रहूँगा और इस लिंग के भक्तों को मोक्षलक्ष्मी भी समीप में ही रहेगी ॥ १०२ ।

अंगारेश्वर से उत्तरदिशा में जो लोग इस लिंग की पूजा करेंगे, पद-पद पर उनको मनोरथों की प्राप्ति होवेगी ॥ १०३ ।

यह कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये और विश्वकर्मा भी अपने गुरु के निकट चले गये एवं वहाँ पर उन सब लोगों के अभिलषित कार्य का सम्पादन करके अपने घर चले गये ॥ १०४ ।

गृहेऽपि मातापितरौ सन्तोष्य निजकर्मणा ।
तदुक्ताज्ञां समाधाय पुनः काशीं समाययौ ॥ १०५ ।
स्वलिङ्गाराधनासक्तो नाद्यापि त्वष्टृनन्दनः ।
काशीं त्यजति मेधावी सर्वदेवप्रियं चरन् ॥ १०६ ।

ईश्वर उवाच–

पृष्टानि यानि लिङ्गानि त्वया देवि गिरीन्द्रजे ।
काशीमुक्तौ समर्थानि तान्युक्तानि मया तव ॥ १०७ ।
लिङ्गमोङ्कारसंज्ञं च तथा देवं त्रिविष्टपम् ।
महादेवः कृत्तिवासा रत्नेशश्चन्द्रसंज्ञकः ॥ १०८ ।
केदारश्चापि धर्मेशस्तथा वीरेश्वराभिधः ।
कामेशविश्वकर्मेशौ मणिकर्णीश्वरस्तथा ॥ १०९ ।
ममाऽर्च्यमविमुक्ताख्यं ततो देवि ममाख्यकम् ।
विश्वनाथेति विश्वस्मिन् प्रथितं विश्वसौख्यदम् ॥ ११० ।
अविमुक्तं समासाद्य येन विश्वेश्वरोऽर्चितः ।
न तस्यास्ति पुनर्जन्म कल्पकोटिशतेष्वपि ॥ १११ ।
अष्टौ मासान् विहारः स्याद्यतीनां संयतात्मनाम् ।
एकत्र चतुरो मासानब्दं नावास[1] इष्यते ॥ ११२ ।

अब्दं न आवासो वास इष्यते एकत्रेति शेषः । वार्षिकान्निवसेत्पुनरिति क्वचित् ॥१२ ।

वहाँ भी अपने कर्म से माता और पिता को सन्तुष्ट कर उनकी आज्ञा लेकर फिर काशी में लौट आये ॥ १०५ ।
बुद्धिमान् त्वष्टृनन्दन समस्त देवताओं को प्रिय आचरण करते हुए आज तक निज प्रतिष्ठित लिंग की आराधना में आसक्त रहकर काशी में ही विराजमान हैं ॥ १०६ ।

महादेव ने कहा–

हे गिरीन्द्रकिशोरी ! देवि ! काशी के मुक्ति देने में समर्थ जिन लिंगों को तुमने पूछा था, उनको मैंने तुमसे कह दिया ॥ १०७ ।

ओंकारेश्वर, त्रिलोचन, महादेव, कृत्तिवासेश्वर, रत्नेश्वर, चन्द्रेश्वर, केदारेश्वर, धर्मेश्वर, वीरेश्वर, कामेश्वर, विश्वकर्मेश्वर, मणिकर्णिकेश्वर और मेरे भी पूज्य अविमुक्तेश्वर एवं विश्वविदित समस्त सौख्यप्रद मन्नामक विश्वेश्वर (ये ही चौदहों प्रधान लिंग हैं) ॥ १०८–११० ।

जो कोई अविमुक्त क्षेत्र में आकर विश्वनाथ की पूजा कर लेता है, सैकड़ों करोड़ कल्प बीत जाने पर भी उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ १११ ।

संयमी संन्यासियों को एक ही स्थान पर एक वर्ष भर वास नहीं करना चाहिए । उन सबको चार मास एक स्थान पर रहकर आठ मास विचरण करना उचित है ॥ ११२ ।

---

1. नो वास इति क्वचित्पाठः ।

अविमुक्ते प्रविष्टानां विहारो नैव युज्यते ।
मोक्षोऽप्यसंशयश्चात्र तस्मात्त्याज्या न काशिका ॥ ११३ ।
आनन्दकाननं हित्वा नान्यद् गच्छेत्तपोवनम् ।
तपोयोगश्च मोक्षश्च यतोत्रैव मदाश्रयात् ॥ ११४ ।
कृपया सर्वजन्तूनां क्षेत्रमेतन्मया कृतम् ।
अवश्यमेव सिद्ध्यन्ति क्षेत्रेऽस्मिन् सिद्धिकाङ्क्षिणः ॥ ११५ ।
अतीतं वर्तमानं च ज्ञानतोऽज्ञानतः कृतम् ।
यदेनस्तल्लयं यायादानन्दवनवीक्षणात् ॥ ११६ ।
अत्युग्रैश्च तपोभिर्यन्महादानैर्महाव्रतैः ।
नियमैश्च यमैः सम्यक् स्वयोगेन महामखैः ॥ ११७ ।
वेदान्तशास्त्राभ्यसनैः सर्वोपनिषदाश्रयात् ।
एभिर्वै यदवाप्येत तत्काश्यां हेलयाऽऽप्यते ॥ ११८ ।
कर्मसूत्रेण बद्धा वै भ्राम्यन्ते तावदेव हि ।
यावद् वैश्वेश्वरे धाम्नि मम नैव तनुत्यजः ॥ ११९ ।

स्वयोगेनाध्यात्मयोगेन । सयोगेनेति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ १७ ।

परन्तु जो लोग काशी में प्रविष्ट हो चुके हैं, उनको भ्रमण करने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यहाँ पर तो मोक्ष निश्चित ही है । अतएव काशी को कभी नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ११३ ।

आनन्दवन को त्याग कर दूसरे किसी तपोवन में नहीं जाना चाहिए; क्योंकि यहाँ पर मेरे आश्रयण से तप, योग और मोक्ष सब कुछ प्राप्त हो जाता है ॥ ११४ ।

समस्त जन्तुवों पर कृपा करके ही मैंने इस क्षेत्र का निर्माण किया है । इस क्षेत्र में साधक लोग अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं ॥ ११५ ।

क्योंकि अतीत हो अथवा वर्तमान हो एवं ज्ञानकृत हो किं वा अज्ञानकृत हो, सभी प्रकार के पाप आनन्दवन के दर्शन होते ही विलाय (नष्ट) हो जाते हैं ॥ ११६ ।

अत्युग्र तपस्या, महादान, कठोरव्रत, यम-नियम, अध्यात्म-योगाभ्यास, महायज्ञ, और समस्त उपनिषदों के साथ वेदान्तशास्त्र के अभ्यास से जो फल होता है, इस क्षेत्र में वह अनायास ही मिल जाता है ॥ ११७–११८ ।

जीवों को तभी तक कर्मसूत्र में बँध कर (संसार में) भ्रमण करना पड़ता है, जब तक मेरी इस विश्वेश्वरपुरी में शरीर का त्याग नहीं बन पड़ता ॥ ११९ ।

काश्यां स्वलीलया देवि तिर्यग्योनिजुषामपि ।
ददामि चान्ते तत्स्थानं यत्र यान्ति न याज्ञिकाः ॥ १२० ।
भूतग्रामोऽखिलोऽप्यत्र मुक्तिक्षेत्रे कृतालयः ।
कालेन निधनं यातो यात्येव परमाङ्गतिम् ॥ १२१ ।
विषयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिस्त्वपि ।
कालेनोज्झितदेहोऽत्र न संसारं पुनर्विशेत् ॥ १२२ ।
प्रयागे यत्फलं देवि माघे चोषसि मज्जनात् ।
तत्फलं कोटिगुणितं वाराणस्यां क्षणे क्षणे ॥ १२३ ।
अस्य क्षेत्रस्य महिमा कोऽपि वाचामगोचरः ।
उद्देशमात्रमाख्यायि मया ते प्रीतिकाम्यया ॥ १२४ ।
चतुर्दशानां लिङ्गानां श्रुत्वाऽऽख्यानानि सत्तमः ।
चतुर्दशसु लोकेषु पूजां प्राप्स्यत्यनुत्तमाम् ॥ १२५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे विश्वकर्मेशप्रादुर्भावो नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥८६ ।

भूतग्रामो जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणभूतसमुदायः ॥ २१ ।

त्यक्ता धर्मरतिर्येन स त्यक्तधर्मरतिश्चेत्तर्हि साक्षादत्र स्थितो रुद्रपिशाचभोगानन्तरमित्यर्थः । चान्ते धर्मरतिरिति क्वचित् ॥ २२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ।

हे देवि ! इस काशी में मैं अपनी लीला ही से तिर्यक् योनिवाले जीवों को भी अन्त में जो पद दे देता हूँ, वहाँ पर बड़े-बड़े याज्ञिकों की पहुँच नहीं होने पाती ॥ १२० ।

इस मुक्तिक्षेत्र में निवास करने से चारों प्रकार के भूतग्राम को कालानुसार मरने पर परमगति प्राप्त हो जाती है ॥ १२१ ।

अत्यन्त विषयासक्तचित्त और धर्मपराङ्मुख व्यक्ति भी यहाँ पर कालक्रम से शरीर त्याग करने पर फिर कभी संसार में प्रवेश नहीं करता ॥ १२२ ।

हे देवि! माघ मास के उषःकाल में तीर्थराज प्रयाग में स्नान करने से जो फल होता है, वाराणसी में वही करोड़ गुना अधिक क्षण-क्षण पर मिला करता है ॥ १२३ ।

इस क्षेत्र की महिमा वचन के द्वारा नहीं कही जा सकती, यह तो तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैंने उद्देश्यमात्र कह दिया है ॥ १२४ ।

उत्तम जन इन चतुर्दश लिंगों के आख्यानों को सुनकर चौदहों भुवनों में सर्वोत्तम पूजा को पावेगा ॥ १२५ ।

दोहा— **कथा विश्वकर्मेश की, यह है परम पुनीत ।**
ज्ञात होत बातैं बहुत, जो गुरुजन की नीत (रीत) ॥ १।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ।

●

।। अथ सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।।

अगस्त्य उवाच–

सर्वज्ञसूनो षड्वक्त्र सर्वार्थकुशल प्रभो ।
प्रादुर्भावं निशम्यैषां लिङ्गानां मुक्तिदायिनाम् ।। १ ।
नितरां परितृप्तोऽस्मि सुधां पीत्वेव निर्जरः ।
ओङ्कारप्रमुखैर्लिङ्गैरिदमानन्दकाननम् ।। २ ।
आनन्दमेव जनयेदपि पापजुषामिह ।
पराऽऽनन्दमहं प्राप्तः श्रुत्वैतल्लिङ्गकीर्तनम् ।। ३ ।

सप्ताशीतितमेऽध्याये दक्षेशोत्पत्तिसिद्धये ।
सर्वर्द्धिविपुलस्तावद्दक्षयज्ञो निरूप्यते ।। १ ।

दक्षेशादीनि यानि लिङ्गानि तन्महिमानं च प्रष्टुमुक्तमनुवदन् प्रीतिमाविष्करोति-**सर्वज्ञेत्यादिना** ।। १ ।

(दक्ष-प्रजापति के यज्ञ की कथा)

अगस्त्य बाले–

सर्वज्ञ-पुत्र ! सर्वार्थ-कुशल ! प्रभो ! षडानन ! इन सब मुक्तिदायक लिंगों की उत्पत्ति-कथा को सुनकर अमृत पीने से देवताओं की तरह मैं अत्यन्त ही परितृप्त हो गया । (वास्तव में) यह आनन्दकानन इन सब **ओंकारेश्वर** प्रभृति लिंगों के द्वारा इस लोक में पापियों को भी आनन्द ही देता है और मुझे तो इन सब लिंगों का विवरण सुनने से बड़ा ही आनन्द हुआ ।। १-३ ।

जीवन्मुक्त इवाऽऽसं हि क्षेत्रतत्त्वश्रुतेरहम् ।
स्कन्द दक्षेश्वरादीनि लिङ्गानीह चतुर्दश ॥
यान्युक्तानि समाचक्ष्व तत्प्रभावमशेषतः ॥ ४ ।
यो दक्षो गर्हयामास मध्ये देवसभं विभुम् ।
स कथं लिङ्गमीशस्य प्रत्यस्थापयदद्भुतम् ॥ ५ ।
इति श्रुत्वा शिखिरथः कुम्भयोनेरुदीरितम् ।
सूत सङ्कथयामास दक्षेश्वरसमुद्भवम् ॥ ६ ।

स्कन्द उवाच–

आकर्णय मुने वच्मि कथां कल्मषहारिणीम् ।
पुरश्चरणकामोऽसौ दक्षः काशीं समाययौ ॥ ७ ।
छागवक्त्रो विरूपास्यो दधीचिपरिधिक्कृतः ।
प्रायश्चित्तविधानार्थं सूपदिष्टः स्वयम्भुवा ॥ ८ ।

प्रष्टव्यमर्थमाह– **स्कन्देति** । हे स्कन्द ! ओङ्कारादीनि यानि चतुर्दशलिङ्गानि तान्युक्तानीह इदानीं दक्षेश्वरादीनि यान्यष्टौ लिङ्गानि अशेषतस्तत्प्रभावं च समाचक्ष्वेत्यर्थः । यद्वा दक्षेश्वरादीनि यान्यष्टौ लिङ्गानि यानीह च पूर्वमुक्तानि अमृतेशादीनि चतुर्दश अशेषतः ओङ्कारादि-शैलेशादि-चतुर्दशद्वयमध्येऽपि यान्यनुक्तानि, तानि तत्प्रभावं च समाचक्ष्वेति ॥ ४ ।

संशयमाह–**यो दक्ष** इति ॥ ५ ।

इति श्रुत्वेति व्यासवाक्यम् ॥ ६ ।

कथाया उपोद्घातमाह–**पुरश्चरणेति** सार्धेन ॥ ७ ।

मैं तो (काशी) क्षेत्र का तत्त्व सुनकर जीवन्मुक्त-सा हो गया हूँ । हे स्कन्द ! वहाँ के **दक्षेश्वर** इत्यादि जिन चतुर्दश लिंगों को आपने कहा है, उनका भी समस्त माहात्म्य वर्णन कीजिये ॥ ४ ।

जिन दक्षप्रजापति ने देवताओं की सभा के बीच में भगवान् शिव की निन्दा की थी, उन्होंने फिर क्यों शिवलिंग की स्थापना की, यह तो बड़ी विचित्र बात है ॥ ५ ।

हे सूत ! इस प्रकार से अगस्त्य का कथन सुनकर मयूरवाहन स्कन्द दक्षेश्वर की उत्पत्तिकथा को कहने लगे ॥ ६ ।

स्कन्द ने कहा–

हे मुने ! मैं कल्मषहारिणी उस कथा को कहता हूँ, तुम श्रवण करो । दक्ष-प्रजापति, दधीचि मुनि के धिक्कारने पर छागवक्त्र होने से विरूपमुख होकर प्रायश्चित्त करने के लिए ब्रह्मा के पास गये । फिर ब्रह्मा के उपदेश से पुरश्चरण करने की इच्छा से काशीपुरी में समागत हुए ॥ ७-८ ।

एकदा देवदेवस्य सेवार्थं शशिमौलिनः ।
कैलासमगमद् विष्णुः पद्मयोनिपुरस्कृतः ॥ ९ ॥
इन्द्रादयो लोकपाला विश्वेदेवा मरुद्गणाः ।
आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विद्याधरोरगाः ॥ १० ॥
ऋषयोऽप्सरसो यक्षा गन्धर्वाः सिद्धचारणाः ।
तैर्नतो देवदेवेशः परिहृष्टतनूरुहैः ॥ ११ ॥
स्तुतश्च नानास्तुतिभिः शम्भुनाऽपि कृतादराः ।
विविशुश्चासनश्रेण्यां तन्मुखासक्तदृष्टयः ॥ १२ ॥
अथ तेषूपविष्टेषु शम्भुना विष्टरश्रवाः ।
कृतहस्तपरिस्पर्शमानः पृष्टो महादरम् ॥ १३ ॥
श्रीवत्सलाञ्छन हरे दैत्यवंशदवानल ।
कच्चित्पालयितुं शक्तिस्त्रिलोकीमत्स्यकुण्ठिता ॥ १४ ॥
दितिजान् दनुजान् दुष्टान् कच्चिच्छास्सि रणाङ्गणे ।
अपि क्रुद्धान् महीदेवान् मामिव प्रतिमन्यसे ॥ १५ ॥

कथामेवाह—एकदेति ॥ ९ ॥
इन्द्रादयोऽप्यगमन् ॥ १० ॥
कृतो हस्तपरिस्पर्शनेन मानः पूजा यस्य सः ॥ १३ ॥
कच्चित् किम् ॥ १४ ॥

(इसकी जड़ यह है कि) एक बार देवाधिदेव चन्द्रमौलि की सेवा के लिए भगवान् विष्णु ब्रह्मा के साथ और इन्द्रादिक लोकपाल, विश्वेदेवा, मरुद्गण, आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विद्याधर, नागगण, महर्षिवृन्द, अप्सरागण, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध और चारणगण के सहित कैलास में गये । उन लोगो ने रोमांचित शरीर होकर भगवान् शंकर की नाना प्रकार के स्तोत्रों से स्तुति की । शिव ने भी उन सब लोगों का बड़ा आदर किया, फिर वे लोग उन्हीं के मुख की ओर दृष्टि लगाकर आसनों पर बैठ गये ॥ ९-१२ ।

उन सब लोगों के बैठ जाने पर भगवान् शिव ने विष्णु को हाथ से स्पर्श करके बड़े आदर के साथ (उनसे) पूछा ॥ १३ ।

'हे दानववंश-दावानल ! श्रीवत्सलांछन ! हरे ! तुम्हारी त्रैलोक्यपालन की शक्ति तो अकुंठित है ॥ १४ ।

रणस्थल में दुष्ट, दैत्य और दानवों का शासन करते हो । क्रुद्ध ब्राह्मणों को तो मेरे समान रुद्ररूप मानते हो ॥ १५ ।

बाधया रहिता गावः कच्चित्सन्ति महीतले ।
स्त्रियः सन्ति हि सुश्रीकाः पतिव्रतपरायणाः ॥ १६ ।
विधियज्ञाः प्रवर्तन्ते पृथिव्यां बहुदक्षिणाः ।
निराबाधं तपः कच्चिदस्ति शश्वत्तपस्विनाम् ॥ १७ ।
निष्प्रत्यूहं पठन्त्येव साङ्गान् वेदान् द्विजोत्तमाः ।
महीपालाः प्रजाः कच्चित्पान्ति त्वमिव केशव ॥ १८ ।
स्वेषु स्वेषु च धर्मेषु कच्चिद्वर्णाश्रमास्तथा ।
निष्ठावन्तो हि तिष्ठन्ति प्रहृष्टेन्द्रियमानसाः ॥ १९ ।
धूर्जटिः परिपृच्छ्येति हृष्टं वैकुण्ठनायकम् ।
ब्रह्माणं चाऽपि पप्रच्छ ब्राह्मं तेजः समेधते ॥ २० ।
सत्यमस्खलितं कच्चिदस्ति त्रैलोक्यमण्डपे ।
तीर्थावरोधो न क्वापि केनचित्क्रियते विधे ॥ २१ ।
इन्द्रादयः सुराः कच्चित् स्वेषु स्वेषु पुरेष्वहो ।
राज्यं प्रशासति स्वस्थाः कृष्णदोर्दण्डपालिताः ॥ २२ ।

ब्राह्मं वेदाध्ययनजं ब्राह्मणसम्बन्धीति वा ॥ २० ।

प्रशासति पालयन्ति । दोषो हस्ता एव दण्डास्तैः पालिता रक्षिताः ॥ २२ ।

भूतल में गायें तो बाधारहित हैं न ? स्त्रियाँ श्री से सम्पन्न और पतिव्रत तत्पर तो रहती हैं न ? ॥ १६ ।

पृथिवी पर बड़ी दक्षिणावाले विधियज्ञ तो होते हैं न ? तपस्वियों की तपस्या में तो कोई विघ्न नहीं पड़ने पाता ॥ १७ ।

द्विजातिगण आनन्दपूर्वक साङ्गवेद को तो पढ़ सकते हैं न ? और हे केशव ! राजा लोग तो तुम्हारे समान अपनी प्रजाओं का पालन करते हैं न ? ॥ १८ ।

चारों वर्ण और आश्रम के लोग प्रसन्नेन्द्रियचित्त से अपने-अपने धर्मों पर निष्ठापूर्वक स्थिर तो हैं न' ? ॥ १९ ।

भगवान् धूर्जटि ने इस भाँति हृष्टमन वैकुंठनाथ से पूछ (ताछ) कर ब्रंह्मा से भी पूछा–'हे ब्रह्मन् ! ब्रह्मतेज की तो बढ़ती है न ? ॥ २० ।

(तुम्हारे) त्रैलोक्यमण्डप में सत्य-धर्म तो अस्खलितरूप से बना है न ? हे विधे! कहीं पर कोई भी तीर्थों में रोक-टोक तो नहीं करने पाता है न' ? ॥ २१ ।

'हे इन्द्रादिक देवतागण ! तुम लोग तो कृष्ण के भुजदण्ड (के प्रताप) से पालित होकर अपने-अपने नगरों में स्वस्थतापूर्वक राज्यशासन करते हो न' ? ॥ २२ ।

प्रत्येकं परिपृच्छ्येशः सर्वानित्थं कृतादरान् ।
पृष्ट्वाऽऽगमनकार्यं च तेषां कृत्वा मनोरथान् ॥ २३ ।
विससर्जाऽथ तान् सर्वान् देवः सौधं समाविशत् ।
गतेष्वथ च देवेषु स्वस्वधिष्ण्येषु हृष्टवत् ॥ २४ ।
मध्येमार्गं सचिन्तोऽभूद्दक्षः सत्याः पिता तदा ।
अन्यदेव समानं समानं प्राप न चाऽधिकम् ॥ २५ ।
अतीवक्षुब्धचित्तोऽभून्मन्दराघाततोऽब्धिवत् ।
उवाच च मनस्येतन्महाक्रोधरयान्धदृक् ॥ २६ ।
अतीवगर्वितो जातः सतीं मे प्राप्य कन्यकाम् ।
कस्यचिन्नाऽप्यसौ प्रायो न कोऽस्यापि क्वचित्पुनः ॥ २७ ।

सौधं सुधया धवलितं प्रासादम् ॥ २४ ।

क्रोधरयेन क्रोधवेगेनाऽन्धा दृग् ज्ञानं यस्य सः ॥ २६ ।

उक्तिमेवाह—**अतीवगर्वितो जात** इत्यारभ्य सम्प्रधार्येत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । तत्रेश्वरमधिक्षिपति । अतीवेति सार्धपञ्चदशभिः । अधिक्षेपे प्रत्युक्ताऽपि दक्षस्य भारती श्रीविश्वनाथं स्तौति । तत्र ईश्वरस्य प्रत्यगात्मनोऽद्वितीयत्वसमर्थनार्थं सम्बद्धव्य-भावं सम्बन्धिनि प्रमाणाभावेनाह—**कस्यचिदिति** । तदुक्तं स्वरूपप्रकरणे भगवत्पादैः –

अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम ॥ इति ॥ २७ ।

भगवान् भूतनाथ यों ही वहाँ पर उन सब देवताओं में से प्रत्येक से आदरपूर्वक पूछकर और उनके आगमन का कारण जान उन लोगों का मनोरथ परिपूर्ण करके विसर्जन (विदा) करने के उपरान्त स्वयं अपने सौध में चले गये, अनन्तर प्रसन्नचित्त देवताओं के अपने-अपने स्थान पर प्रस्थान करने पर सती देवी के पिता दक्ष-प्रजापति मार्ग ही में चिन्ता करने लगे कि, मुझे भी सब देवताओं के समान ही मान मिला, कुछ अधिकता नहीं हुई । (बस इसी सोच में पड़कर) वह मन्दराचल के आघात से समुद्र की तरह बड़े ही क्षुब्धचित्त हो पड़े, बड़े ही क्रोधान्ध होकर वे मन ही मन यह कहने लगे ॥ २३-२६ ।

(दक्ष-प्रजापति कहने लगे) यह शिव तो मेरी बेटी सती के पा जाने पर बड़ा अहंकारी हो गया । प्रायः न तो यही किसी का (स्वजन) है और न कोई भी कहीं इसी का (स्वजन) है ॥ २७ ।

किं वंश्यस्त्वेष किं गोत्रः किं देशीयः किमात्मकः ।
किं वृत्तिः किं समाचारोऽविषादी वृषवाहनः ॥ २८ ।
न प्रायशस्तपस्व्येष क्व तपः क्वाऽस्त्रधारणम् ।
न गृहस्थेषु गण्योऽसौ श्मशाननिलयो यतः ॥ २९ ।
असौ न ब्रह्मचारी स्यात् कृतपाणिग्रहस्थितिः ।
वानप्रस्थ्यं कुतश्चाऽस्मिन्नैश्वर्यमदमोहिते ॥ ३० ।
न ब्राह्मणो भवत्येष यतो वेदो न वेत्त्यमुम् ।
शस्त्रास्त्रधारणात्प्रायः क्षत्रियः स्यान्न सोऽप्ययम् ॥ ३१ ।
क्षतात्संत्राणनात्क्षत्रं तत्क्वाऽस्मिन् प्रलयप्रिये ।
वैश्योऽपि न भवेदेष सदा निर्धनचेष्टनः ॥ ३२ ।

किंशब्दस्य प्रयोगे सर्वत्र काक्वा नञर्थो ज्ञेयः । अविषादीति च्छेदः । विषादरहितः सच्चिदानन्दस्वरूपत्वात् । **वृषवाहनो वृषभूतो विष्णुर्वाहनं यस्य सः सर्वेश्वरत्वात्** ॥ २८ ।

तदुक्तं भागवते–"**क्व तपः निवृत्ताधिकारत्वात्**" । क्वाऽस्त्रधारणमशरीरत्वाद् अद्वितीयत्वाच्च । श्मशानवदशिवमज्ञानं तस्य निलय आश्रयः ॥ २९ ।

कृतः सत्या जगज्जनन्या अघटनघटनापटीयस्या महामायायाः पाणिग्रहः करग्रहो विवाह इति यावत् तेन स्थितिर्यस्य सः । मदयतीति मदः कामः । ऐश्वर्येण मदो मोहितो विचित्ततां नीतो येन सः, स्वतःप्राप्तसर्वकामत्वात् ॥ ३० ।

अमुं श्रीरुद्रम् । "**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति**"श्रुतेः ॥ ३१ ।

तत्क्षत्रं क्षत्रियजातिः । निर्धनानां चेष्टनं चेष्टा यस्य सः । लीलाविग्रहत्वात् । एवमग्रेऽपि यथायोग्यं हेतुर्मन्तव्यः ॥ ३२ ।

(नहीं जानते) इसका किस वंश में जन्म है, कौन-सा गोत्र है ? किस देश का वासी है ? कैसी इसकी प्रकृति है ? कौन-सा जीवनोपाय है ? और कैसा आचरण है ? यह तो विष खाता और बैल पर चढ़कर घूमता रहता है ॥ २८ ।

प्रायः करके यह तपस्वियों में भी नहीं समझा जा सकता; क्योंकि कहाँ तो तपस्या ? और कहाँ अस्त्रधारण ? फिर इसकी गिनती गृहस्थों में भी नहीं हो सकती क्योंकि सदैव श्मशान ही पर डेरा डाले पड़ा रहता है ॥ २९ ।

जब कि इसने विवाह कर लिया है, तो यह ब्रह्मचारी भी नहीं है । फिर जब यह ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हो रहा है, तो वानप्रस्थ कैसे हो सकता है ? ॥ ३० ।

वेद के नहीं जानने से यह ब्राह्मण भी नहीं है, प्रायः अस्त्र-शस्त्र लिये रहने से इसे क्षत्रिय कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि क्षत्रिय होने से क्षत (विपत्) से परित्राण करना चाहिए, फिर यह तो प्रलयकर्ता ही है, तब यदि इसे वैश्य कहें तो इसके सभी व्यवहार दरिद्रों ही से होते हैं ॥ ३१-३२ ।

शूद्रोऽपि न भवेत्प्रायो नागयज्ञोपवीतवान् ।
एवं वर्णाश्रमातीतः कोऽसौ सम्यङ् न कीर्त्यते ॥ ३३ ।
सर्वः प्रकृत्या ज्ञायेत स्थाणुः प्रकृतिवर्जितः ।
प्रायशः पुरुषो नाऽसावर्धनारीवपुर्यतः ॥ ३४ ।
योषाऽपि न भवेदेष यतोऽसौ श्मश्रुलाऽऽननः ।
नपुंसकोऽपि न भवेल्लिङ्गमस्य यतोऽर्च्यते ॥ ३५ ।
बालोऽपि न भवत्येष यतोऽयं बहुवार्षिकः ।
अनादिवृद्धो लोकेषु गीयते चोग्र एष यत् ॥ ३६ ।
अतो युवत्वं सम्भाव्यं नाऽत्र नूनं चिरन्तने ।
वृद्धोऽपि न भवत्येष जरामरणवर्जितः ॥ ३७ ।
ब्रह्मादीन् संहरेत् प्रान्ते तथापि च न पातकी ।
पुण्यलेशोऽपि नाऽस्त्यस्मिन् ब्रह्ममौलिच्छिदि क्रुधा ॥ ३८ ।

गले में नागयज्ञोपवीत के धारण करने से इसे शूद्र भी नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार से तो चारों ही वर्ण और आश्रमों से अतीत होने के कारण नहीं जान पड़ता कि इसे क्या कहा जाय ? ॥ ३३ ।

सब कोई प्रकृति से ही चीन्हा (पहचाना) जाता है । पर यह तो प्रकृति से रहित होने ही के कारण स्थाणु (उकठा काठ) है । फिर यह पुरुष भी नहीं है, क्योंकि इसके अर्धांग में स्त्री वर्तमान है ॥ ३४ ।

और इसे स्त्री भी नहीं कह सकते; क्योंकि इसके मुख पर दाढ़ी-मोछें उगीं हैं । सर्वत्र ही इसका लिंग पूजा जाता है, इससे इसे नपुंसक भी नहीं कहते बनता ॥ ३५ ।

यह लड़का भी नहीं है, क्योंकि सब लोकों में यही बहुत वर्षों का पुराना अनादिवृद्ध और उग्र कहलाता है ॥ ३६ ।

इसी से इस पुराने बुड्ढे पर युवा होने की भी संभावना नहीं की जा सकती । फिर जरा और मरण से रहित होने के कारण इसे बूढ़ा भी नहीं कहते बनता ॥ ३७ ।

प्रलयकाल में ब्रह्मा इत्यादि देवताओं के भी संहार कर डालने पर यह पातकी नहीं होता । फिर क्रुद्ध होकर ब्रह्मा का मस्तक काट लेने से इसमें तनिक भी पुण्य का लेश नहीं पाया जाता ॥ ३८ ।

अस्थिनेपथ्यवति च क्व शुचित्वं विवाससि ।
किं बहूक्तेन नो किञ्चिज्ज्ञायतेऽस्य विचेष्टितम् ॥ ३९ ।
अहो धाष्ट्यं महद्दृष्टं जटिलस्याऽद्य चाऽद्भुतम् ।
यदासनान्नोत्थितोऽसौ दृष्ट्वा मां श्वशुरं गुरुम् ॥ ४० ।
एवंभूता भवन्त्येव मातापितृविवर्जिताः ।
निर्गुणा अकुलीनाश्च कर्मभ्रष्टा निरङ्कुशाः ॥ ४१ ।
स्वच्छन्दचारिणोऽनाथाः सर्वत्र स्वाभिमानिनः ।
अकिञ्चना अपि प्रायस्तथापीश्वरमानिनः ॥ ४२ ।

तथा च श्रुतिः –"**अथात आदेशो नेति नेति तदेतद् ब्रह्म स्थूलमनणु अनामागोत्रमित्यादिः**" । भागवते च–

स वै न देवाऽसुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान्न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्निषेधशेषो जयतादशेषः ॥ इत्यादि ।

दशश्लोक्यां च "**न वर्णाश्रमाचारधर्माः**" इत्यादि । उपसंहरति– **किं बहूक्तेनेति** ॥ ३९ ।

धार्ष्ट्यं महत्त्वम् ॥ ४० ।

मातापितृविवर्जिताः तयोरभावे शिक्षाभावात् । निर्गुणा गुणाऽतीतत्वात् । अकुलीना गोत्ररहितत्वात् । कर्मभ्रष्टा निवृत्ताधिकारत्वात् । निरङ्कुशाः स्वतन्त्रा ईश्वरत्वात् ॥ ४१ ।

अत एव स्वच्छन्दचारिणः । नाथाः सर्वस्वामिनः । पक्षे अनाथाः । स्वाभिमानिनः आत्माभिमानिनः । पक्षेऽहङ्काराभिमानिनः । अकिञ्चना न विद्यते किञ्चन येभ्यस्ते । ईश्वरमानिनो ब्रह्मादिपूजाभाजः । सर्वत्राऽऽक्षेपः स्पष्ट एव ॥ ४२ ।

यह तो सदैव हड्डियों ही का गहना पहनता और कपड़ा को त्यागकर नंगा ही रहता है । तो फिर इसमें पवित्रता कहाँ है ? कहाँ तक कहें, इसकी चेष्टा अथवा चरित्र कुछ भी नहीं जाना जा सकता ॥ ३९ ।

ओह ! इस जटिल की कैसी बड़ी और अद्भुत धृष्टता देख पड़ी, जो पूजनीय श्वसुर होने पर भी मुझे देखकर यह आसन पर से (तनिक भी) नहीं उठा ॥ ४० ।

प्रायः जो लोग माता-पिता से हीन, निर्गुण और अकुलीन होते हैं, वे इसी रीति पर कर्मभ्रष्ट और निरंकुश हो जाते हैं ॥ ४१ ।

वे लोग स्वच्छन्दचारी और असहाय होने पर भी सर्वत्र ही अपना अहंकार करते हैं और परम दरिद्र होने पर भी अपने को बड़ा ही ऐश्वर्यशाली समझते हैं ॥ ४२ ।

जामातॄणां स्वभावोऽयं प्रायशो गर्वभाजनम् ।
किञ्चिदैश्वर्यमासाद्य भवत्येव न संशयः ॥ ४३ ।
द्विजराजः स गर्विष्ठो रोहिणीप्रेमनिर्भरः ।
कृत्तिकादिषु चास्नेही मया शप्तः क्षयीकृतः ॥ ४४ ।
अस्याऽहं गर्वसर्वस्वं हरिष्याम्येव शूलिनः ।
यथाऽवमानितश्चाहमनेनास्य गृहं गतः ॥ ४५ ।
तथाऽस्याऽहं करिष्यामि मानहानिं च सर्वतः ।
सम्प्रधार्येति बहुशः स तु दक्षः प्रजापतिः ॥ ४६ ।
प्राप्य स्वभवनं देवानाजुहाव स वासवान् ।
अहं यियक्षुर्यूयं मे यज्ञसाहाय्यकारिणः ॥ ४७ ।
भवन्तु यज्ञसम्भारानानयन्तु त्वरान्विताः ।
श्वेतद्वीपमयो गत्वा चक्रे चक्रिणमच्युतम् ॥ ४८ ।
महाक्रतूपद्रष्टारं यज्ञपूरुषमेव च ।
तस्यर्त्विजोऽभवन्सर्वे ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ४९ ।

विशेषतः जामाता लोगों का ऐसा स्वभाव ही होता है, जो वे सब थोड़ा-सा भी ऐश्वर्य पा जाने से निःसन्देह बड़े ही गर्वभाजन (बनकर मदमत्त) हो जाते हैं ॥ ४३ ।

द्विजराज भी बड़ा गर्विष्ठ होकर (मेरी बेटियों में) केवल रोहिणी ही को चाहने लगा और कृत्तिका इत्यादि पर कुछ भी प्रेम नहीं करता था, इसी से मैंने उसे शाप देकर क्षयरोगी बना दिया ॥ ४४ ।

आज जैसे इस त्रिशूली ने अपने घर पर जाने से मेरा अपमान किया है, वैसे ही मैं भी इसके गर्वसर्वस्व को खर्व कर दूँगा ॥ ४५ ।

और सब प्रकार से इसकी भी मानहानि करूँगा । यों ही बहुत भाँति से मन ही मन तर्क-वितर्क करके उस दक्ष-प्रजापति ने अपने घर पर पहुँचते ही इन्द्रादिक देवताओं को बुलाकर कहा कि "मैं यज्ञ करना चाहता हूँ । अतः आप लोग यज्ञ की सहायता कीजिये ॥ ४६-४७ ।

और शीघ्रतापूर्वक यज्ञ की सामग्रियों को इकट्ठा करा दीजिये" । तदनन्तर दक्ष ने श्वेत द्वीप में जाकर भगवान् अच्युत चक्रपाणि को उस महायज्ञ का निरीक्षक एवं यज्ञपुरुष बना लिया । समस्त ब्रह्मवादी (वेदाध्यायी) ऋषि लोग उस यज्ञ में उसके ऋत्विक् नियुक्त हुए ॥ ४८-४९ ।

प्रावर्तत ततस्तस्य दक्षस्य च महाध्वरः ।
दृष्ट्वा देवनिकायांश्च तस्मिन् दक्षमहाध्वरे ॥ ५० ।
अनीश्वरांस्ततो वेधा व्याजं कृत्वा गृहं ययौ ।
दधीचिरथ संवीक्ष्य सर्वांस्त्रैलोक्यवासिनः ॥ ५१ ।
दक्षयज्ञे समायातान् सतीश्वरविवर्जितान् ।
प्राप्तसम्मानसम्भारान् वासोऽलङ्कृतिपूर्वकम् ॥ ५२ ।
दक्षस्य हि शुभोदर्कमिच्छन् प्रोवाच चेति वै ।

दधीचिरुवाच–

दक्षप्रजापते दक्ष साक्षाद्धातृस्वरूपधृक् ॥ ५३ ।
न चाऽस्ति तव सामर्थ्यं क्वापि कस्याऽपि निश्चितम् ।
यादृशः क्रतुसम्भारस्तव चेह समीक्ष्यते ॥ ५४ ।
न तादृङ् नेदसि प्रायः क्वापि ज्ञातो महामते ।
क्रतुस्तु नैव कर्तव्यो नास्ति क्रतुसमो रिपुः ॥ ५५ ।

अनीश्वरान् महादेवरहितान् ॥ ५१ ।
शुभोदर्कं शुभोत्तरफलम् ॥ ५३ ।
नेदसि नेदीयसि इदानीन्तने निकट इति वा । नास्ति क्रतुसमो रिपुरिति । तदुक्तम्–
अन्नहीनो दहेद्राष्टं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजम् ।
यजमानमदक्षिण्यो नास्ति क्रतुसमो रिपुः ॥ इति ॥ ५५ ।

फिर तो दक्षप्रजापति का वह महायज्ञ प्रारंभ हुआ । तदनन्तर दक्ष के उस विशाल यज्ञस्थल में ब्रह्मा ने सब देवताओं को तो देखा, पर साक्षात् परमेश्वर ही को नहीं देखने के कारण किसी ब्याज से वे अपने लोक को चले गये । दधीचि मुनि ने भी समस्त त्रैलोक्यवासियों को दक्ष के यज्ञ में समागत और वस्त्रालंकार से सम्मानित होते देख एवं महादेव और सती को वहाँ पर नहीं देख पाने पर दक्ष के शुभ परिणाम होने की इच्छा से यह कहा ।

दधीचि कहने लगे–

"हे दक्षप्रजापते ! आप तो साक्षात् (वि)धाता की मूर्ति ही हैं ॥ ५०-५३ । निःसन्देह आपके ऐसा सामर्थ्य तो कहीं पर किसी का भी नहीं है । हे महामते! आपके यहाँ जैसी यज्ञ की सामग्रियाँ दिखाई पड़ती हैं, वैसी तो आजकल कहीं भी नहीं सुनाई देतीं । परन्तु यज्ञ सर्वथा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ के समान कोई भी शत्रु (हानिकारक) नहीं है ॥ ५४-५५ ।

कर्तव्यश्चेत्तदा कार्यः स्याच्चेत्सम्पत्तिरीदृशी ।
साक्षादग्निः स्वयं कुण्डे साक्षादिन्द्रादिदेवताः ॥ ५६ ।
साक्षाच्च सर्वे मन्त्रा वै साक्षाद्यज्ञपुमानसौ ।
आचार्यपदवीमेष देवाचार्यः स्वयं चरेत् ॥
साक्षाद् ब्रह्मा स्वयं चैष भृगुर्वै कर्मकाण्डवित् ॥ ५७ ।
अयं पूषा भगस्त्वेष इयं देवी सरस्वती ।
एते च सर्वदिक्पाला यज्ञरक्षाकृतः स्वयम् ॥ ५८ ।
त्वं च दीक्षां शुभां प्राप्तो देव्या च शतरूपया ।
जामाता त्वेष ते धर्मः पत्नीभिर्दशभिः सह ॥ ५९ ।
स्वयमेव हि कुर्वीत धर्मकार्यं प्रयत्नतः ।
ओषधीनामयं नाथस्तव जामातृषूत्तमः ॥ ६० ।
सप्तविंशतिभिः सार्धं पत्नीभिस्तव कार्यकृत् ।
ओषधीः पूरयेत्सर्वा द्विजराजो महासुधीः ॥ ६१ ।

यज्ञपुमान् विष्णुः । असावित्यङ्गुल्या निर्दिशति । एष भृगुः साक्षाद् ब्रह्मेति सम्बन्धः ॥ ५७ ।

प्रसूतेर्नामान्तरं शतरूपा कल्पभेदेन वा नामभेदः । एवमन्यत्रापि । ते तव ॥ ५९ ।

कुर्वीत करोति ॥ ६० ।

हाँ, यदि आपके ऐसी सम्पत्ति पास में हो तो अवश्य ही करना उचित है । आपके यज्ञ में स्वयं अग्निदेव कुंड में साक्षात् विराज रहे हैं, इन्द्रादिक देवतालोग भी साक्षात् वर्तमान हैं ॥ ५६ ।

समस्त मंत्रगण साक्षात् मूर्ति धरकर बैठे हैं, ये भगवान् यज्ञपुरुष स्वयं विराजमान हैं । स्वयं देवाचार्य बृहस्पति ही ने आचार्य का आसन ग्रहण किया है । यह कर्मकाण्ड के परम विज्ञ स्वयं भृगु साक्षात् ब्रह्मा हैं ॥ ५७ ।

यह पूषा, भग और सरस्वती देवी आप ही यहाँ पर सुशोभित हैं और ये सब दिक्पाल लोग आप से आप यज्ञ के रक्षणावेक्षण में लगे हैं ॥ ५८ ।

आपने स्वयमेव शतरूपा देवी के सहित इस यज्ञ की उत्तम दीक्षा को ग्रहण किया है । आपके यह जामाता स्वयं धर्म, अपनी दशों पत्नियों के साथ आप ही प्रयत्नपूर्वक सर्वधर्मकर्म को कर रहे हैं । ये आपके जामाताओं में प्रधान परम विद्वान् द्विजराज ओषधीनाथ भी अपनी सत्ताइसों भार्याओं के साथ आकर आपका सब कार्य संपादन और औषधियों का पूरण कर रहे हैं ॥ ५९-६१ ।

दीक्षितो राजसूयस्य दत्तत्रैलोक्यदक्षिणः ।
मारीचः कश्यपश्चासौ प्रजापतिषु सत्तमः ॥
त्रयोदशमिताभिश्च भार्याभिस्तव कार्यकृत् ॥ ६२ ।
हविः कामदुघा सूते कल्पवृक्षः समित्कुशान् ।
दारुपात्राणि सर्वाणि शकटं मण्डपादिकम् ॥ ६३ ।
विश्वकर्माऽप्यलङ्कारान् कुरुतेऽभ्यागतर्त्विजाम् ।
वसूनि चाऽपि वासांसि वसवोऽष्टौ ददत्यपि ॥ ६४ ।
स्वयं लक्ष्मीरलङ्कुर्याद्र या वै चाऽत्र सुवासिनीः ॥ ६५ ।
सर्वे सुखाय मे दक्ष वीक्षमाणस्य सर्वतः ।
एकं दुःखाकरोत्येव यत्त्वं विस्मृतवानसि ॥ ६६ ।

अभ्यागताश्च ऋत्विजश्च तेषाम् । वसूनि धनानि ॥ ६४ ।
सुवासिनीः कुलवधूः ॥ ६५ ।
दुःखाकरोति दुःखं दुःखिनं करोति ॥ ६६ ।

राजसूय यज्ञ से दीक्षित, त्रैलोक्य मात्र की दक्षिणा देनेवाले, प्रजापतियों में सर्वश्रेष्ठ यह मरीचि के पुत्र कश्यप स्वयं अपनी तेरहों भार्याओं के साथ आपका कार्य साधन कर रहे हैं ॥ ६२ ।

स्वयं कामधेनु हवि (घी) दे रही है । कल्पवृक्ष समिधा और कुश एवं चमसादिक समस्त दारुपात्र और शकट तथा मंडप इत्यादि को जुटा रहा है ॥ ६३ ।

विश्वकर्मा अभ्यागत और ऋत्विक् इत्यादि के लिये अलंकारों को बना रहे हैं एवं आठों वसु भी धन और वस्त्र लाकर दे रहे हैं ॥ ६४ ।

(कहाँ तक कहें) यहाँ पर स्वयं लक्ष्मी ही सौभाग्यवती कुलवधुवों का शृंगार (पटार) कर रही हैं ॥ ६५ ।

हे दक्ष ! इन सबों को चारों ओर से देखने पर मेरे सुख की सीमा नहीं रह गई; किन्तु एक ही बात का मुझे दुःख होता है, जिसे आप कदाचित् भूल गये हैं ॥ ६६ ।

जीवहीनो यथा देहो भूषितोऽपि न शोभते ।
तथेश्वरं विना यज्ञः श्मशानमिव लक्ष्यते ॥ ६७ ।
इत्थं दधीचिवचनं श्रुत्वा दक्षः प्रजापतिः ।
भृशं जज्वाल कोपेन हविषा कृष्णवर्त्मवत् ॥ ६८ ।
पूर्वं स्तुत्याऽतिसंहृष्टो दृष्टो योऽसौ दधीचिना ।
स एव चाऽपि कोपाग्निमुद्वमन् वीक्षितो मुखात् ॥ ६९ ।
प्रत्युवाचाऽथ तं विप्रं वेपमानाङ्गयष्टिकः ।
दक्षः प्रजापती रोषाज्जिघांसुरिव तं द्विजम् ॥ ७० ।

दक्ष उवाच–

ब्राह्मणोऽसि दधीचे त्वं किं करोमि तवाऽत्र वै ।
दीक्षा महामहो प्राप्तः कर्तुं नायाति किञ्चन ॥ ७१ ।
भवान् केन समाहूतो यदत्राऽगान्महाजडः ।
आगतोऽपि हि केन त्वं पृष्ट इत्थं ब्रवीषि यत् ॥ ७२ ।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यो यत्र श्रीमानयं हरिः ।
स्वयं वै यज्ञपुरुषः स मखः किं श्मशानवत् ॥ ७३ ।

यद्यस्मात् । अग्रिमेणाऽन्वयः । यद्वा यत् श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं विश्वेश्वराख्यं परं ब्रह्म, तद् विस्मृतवानसि इत्यर्थः ॥ ६७ ।

जैसे देह अनेक भूषणों से भूषित होने पर भी जीवहीन होने से नहीं शोभता, वैसे ही ईश्वर के बिना यह यज्ञ श्मशान-सा दीखता है" ॥ ६७ ।

इस प्रकार से दधीचि मुनि का वचन सुनकर दक्ष-प्रजापति घृत पड़ने से अग्नि के समान (मारे) क्रोध के बहुत ही जाज्वल्यमान हो गये ॥ ६८ ।

दधीचि ने स्तुति करने से जिसे पूर्व में बड़ा ही प्रसन्न होते देखा था, उस घड़ी उसी को मुख से क्रोधाग्नि वमन करते हुए देखा ॥ ६९ ।

फिर तो दक्षप्रजापति (मारे) क्रोध से समस्त शरीर को थरथर कँपाते हुए मानो उस ब्राह्मण को मारने के लिए उद्यत होकर यह उत्तर देने लगे ॥ ७० ।

दक्ष ने कहा–

"हे दधीचे ! तुम ब्राह्मण हो और मैं भी यज्ञ की दीक्षा ले चुका हूँ, इसी से अवश हूँ । नहीं तो तुम देखते कि आज तुम्हारा क्या हो जाता ? ॥ ७१ ।

हे महाजड़ ! तुझे किसने यहाँ बुलाया था, जो तू यहाँ चला आया और फिर आया भी तो तुझसे किसने पूछा है ?जो यह बक-बक कर रहा है ?॥ ७२ ।

जहाँ पर समस्त मंगलों के भी मंगलदाता श्रीमान् भगवान् हरि ही स्वयं यज्ञपुरुष बने हैं, वह यज्ञ क्या श्मशान के समान है ? ॥ ७३ ।

यत्र वज्रधरः शक्रः शतयज्ञैकदीक्षितः ।
त्रयस्त्रिंशतिकोटीनाममराणां पतिः स्वयम् ॥ ७४ ।
तं त्वं चोपमिमोषेऽमुं श्मशानेन महामखम् ।
धर्मराट् च स्वयं यत्र धर्माऽधर्मैककोविदः ॥ ७५ ।
श्रीदोऽस्ति यत्र श्रीदाता साक्षाद्यत्राशुशुक्षणिः ।
तं यज्ञमुपमासि त्वममङ्गलभुवा तया ॥ ७६ ।
देवाचार्यः स्वयं यत्र क्रतोराचार्यतां गतः ।
अभिमानवशात्तं त्वमाख्यासि पितृकाननम् ॥ ७७ ।
यत्रार्त्विज्यं भजन्तेऽमी वसिष्ठप्रमुखर्षयः ।
तमध्वरं समाचक्षे मङ्गलेतरभूमिवत् ॥ ७८ ।
निशम्येति मुनिः प्राह दधीचिर्ज्ञानिनां वरः ।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यो भवेद्यज्ञपुमान् हरिः ॥ ७९ ।
तथापि शाम्भवीशक्तिर्वेदे विष्णुः प्रपठ्यते ।
वामाङ्गं स्रष्टुराद्यस्य हरिस्तदितरद्विधिः ॥ ८० ।

अमङ्गलभुवा श्मशानस्थल्या । तया प्रसिद्धया ॥ ७६ ।
पितृकाननं श्मशानम् ॥ ७७ ।
मङ्गलेतरभूमिरपि तदेव ॥ ७८ ।
विष्णुरपि शाम्भवीशक्तिरिति वेदे पठ्यते । तमेव वेदमर्थतः पठति–**वामाङ्गमिति** । तदितरद् दक्षिणाङ्गम् ॥ ८० ।

जिस यज्ञ में तैंतीस करोड़ देवताओं के अधिपति और स्वयं शतक्रतु वज्रधर इन्द्र विराजमान हों, उस महायज्ञ की तुम श्मशान से उपमा देता है ? जहाँ पर स्वयं धर्मराज ही धर्माधर्म के एकमात्र विवेचक हों एवं स्वयं धनद ही जिसमें धनदाता हों, किं वा जहाँ पर अग्निदेव साक्षात् वर्तमान रहें, उस यज्ञ को तू उस अमंगल भूमि से तुलना करता है? ॥ ७४-७६ ।

जहाँ पर स्वयं देवाचार्य ही आचार्य के आसन पर आसीन हैं, उस यज्ञ को तू अभिमानवश श्मशान कहता है ? ॥ ७७ ।

जिसमें ये सब वशिष्ठ प्रभृति महर्षि लोग ऋत्विक् का कार्य कर रहे हैं, उस यज्ञ को तू प्रेत-भूमि के ऐसा कहता है" ? ॥ ७८ ।

यह सुनकर ज्ञानियों में श्रेष्ठ दधीचि मुनि ने फिर कहा कि (हे दक्ष ! यद्यपि) "यह यज्ञपुरुष हरि सब मंगलों के मंगलदाता हैं, तथापि वेद में विष्णु को शांभवी शक्ति ही कहकर निर्देश किया है । आदिदेव के वामांग विष्णु और दक्षिणांग ब्रह्मा कहे जाते हैं ॥ ७९-८० ।

दीक्षितो योऽश्वमेधानां शतस्य कुलिशायुधः ।
दुर्वाससा क्षणेनापि नीतो निःश्रीकतां हि सः ॥ ८१ ।
पुनराराध्य भूतेशं प्रापैकाममरावतीम् ।
यस्त्वया धर्मराजोऽत्र कथितः क्रतुरक्षकः ॥ ८२ ।
बलं तस्याऽखिलैर्ज्ञातं श्वेतं पाशयतः पुरा ।
धनदस्त्र्यम्बकसखस्तच्चक्षुश्चाशुशुक्षणिः ॥ ८३ ।
पार्ष्णिग्राह्यभवद्रुद्रो देवाचार्यस्य वै तदा ।
यदा तारामधार्षीत्स द्विजराजोऽतिसुन्दरीम् ॥ ८४ ।
तं विदन्ति वसिष्ठाद्यास्तवार्त्विज्यं भजन्ति ये ।
एको रुद्रो न द्वितीयः संविदाना अपीति हि ॥ ८५ ।

दुर्वाससा श्रीशङ्करांशेन । तदुक्तं वैष्णवे-"**दुर्वासाः शङ्करस्यांशश्चचार पृथिवीमिमामिति**" ॥ ८१ ।

श्वेतं श्वेतनामानं पाशयतो बध्नतः ॥ ८३ ।

पार्ष्णिग्राही पृष्ठरक्षकः सहाय इति यावत् । अधार्षीद्धर्षितवानहार्षीदिति यावत् ॥ ८४ ।

संविदाना सम्यग् जानाना अपि तथापि प्रावर्तन्त ॥ ८५ ।

फिर यह जो सौ अश्वमेधों के दीक्षित वज्रायुधधारी इन्द्र हैं, इनको (शिव के ही अंशभूत) दुर्वासा मुनि ने एक क्षणमात्र में हतश्री कर दिया था ॥ ८१ ।

फिर इन्होंने उन्हीं भूतनाथ की आराधना करके अपनी अमरावती पुरी पाई है । धर्मराज को तुम इस यज्ञ का रक्षक कहते हो ॥ ८२ ।

उस धर्मराज का बल तो राजा **श्वेतकेतु** के बाँधने की वेला में सभी लोगों ने समझ लिया है । फिर धनद (कुबेर) जो हैं, सो तो त्रिलोचन के मित्र ही हैं और यह अग्नि भी उन्हीं के नेत्रस्वरूप हैं ॥ ८३ ।

रहे **देवाचार्य बृहस्पति** । वे तो जब उनकी परमसुन्दरी पत्नी तारा का चन्द्रमा ने धर्षण किया था, तब रुद्र ही उनके भी पृष्ठपोषक हुए थे ॥ ८४ ।

तुम्हारे ऋत्विक् वशिष्ठ इत्यादि भी उनको विशिष्टरूप से जानते हैं कि, एकमात्र रुद्रदेव ही सर्वत्र विराजमान हैं, दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ८५ ।

प्रावर्तन्तर्षयोऽन्येऽपि गौरवात्तव ते क्रतौ ।
यदि मे ब्राह्मणस्यैकं शृणोषि वचनं हितम् ॥ ८६ ।
तदा क्रतुफलाधीशं विश्वेशं त्वं समाह्वय ।
विना तेन क्रतुरसौ कृतोऽप्यकृत एव हि ॥ ८७ ।
सति तस्मिन् महादेवे विश्वकर्मैकसाक्षिणि ।
तवाऽपि चैषां सर्वेषां फलिष्यन्ति मनोरथाः ॥ ८८ ।
यथा जडानि बीजानि न फलन्ति स्वयं तथा ।
जडानि सर्वकर्माणि न फलन्तीश्वरं विना ॥ ८९ ।
अर्थहीना यथा वाणी धर्महीना यथा तनुः ।
पतिहीना यथा नारी शिवहीना तथा क्रिया ॥ ९० ।
गङ्गाहीना यथा देशाः पुत्रहीना यथा गृहाः ।
दानहीना यथा सम्पच्छिवहीना तथा क्रिया ॥ ९१ ।
मन्त्रिहीनं यथा राज्यं श्रुतिहीना यथा द्विजाः ।
योषाहीनं यथा सौख्यं शिवहीना तथा क्रिया ॥ ९२ ।

किं तत्र कारणं तदाह– **तव गौरवादिति** ॥ ८६ ।
विश्वकर्मैकसाक्षिणि सर्वव्यापारमुख्यद्रष्टरि ॥ ८८ ।
भक्त्युद्रेकाद्दक्षस्य रुच्युत्पादनार्थं वा बहुधा दृष्टान्तयति– **अर्थहीनेत्यादिना** ॥ ९० ।

इस बात को ये सब दूसरे ऋषिलोग भी, जो तुम्हारे गौरव से इस यज्ञ में लगे हैं, भलीभाँति से समझते हैं । अस्तु, यदि आप अब भी इस ब्राह्मण की एक हितभरी बात सुन लेवें, तो यज्ञों के फल-स्वामी भगवान् विश्वेश्वर को (अवश्य) बुलावें, क्योंकि उनके नहीं रहने से इस यज्ञ का करना और नहीं करना दोनों ही समान है ॥ ८६–८७ ।

उस विश्वभर के एकमात्र साक्षी महादेव के वर्तमान रहने से आपका और इन सब लोगों का मनोरथ फलीभूत होगा ॥ ८८ ।

जैसे जड़स्वरूप बीज आपसे आप अंकुरित नहीं हो सकता, वैसे ही समस्त जड़कर्म ईश्वर के बिना फलीभूत नहीं होते ॥ ८९ ।

जैसे अर्थहीन वचन, धर्महीन शरीर, पतिहीना नारी की शोभा नहीं होती, वैसे ही शिव के बिना सब क्रिया भी व्यर्थ हो जाती है ॥ ९० ।

जैसे गंगा से हीन देश, पुत्रशून्य गृह और दानरहित सम्पत्ति होती है, वैसे ही शिवहीन क्रियाएँ भी हैं ॥ ९१ ।

मंत्रहीन राज्य, वेदशून्य ब्राह्मण और नारीहीन भोग की जो दशा होती है, शिव से रहित सब कर्मों की भी वही दशा समझनी चाहिए ॥ ९२ ।

दर्भहीना यथा सन्ध्या तिलहीनञ्च तर्पणम् ।
हविर्हीनो यथा होमः शिवहीना तथा क्रिया ॥ ९३ ।
इत्थं दधीचिनाख्यातं जग्राह वचनं न तत् ।
दक्षो दक्षोऽपि तत्रैव शम्भोर्मायाविमोहितः ॥ ९४ ।
प्रोवाच च भृशं क्रुद्धः का चिन्ता तव मे क्रतोः ।
क्रतुमुख्यानि सर्वाणि यानि कर्माणि सर्वतः ॥ ९५ ।
तानि सिद्ध्यन्ति नियतं यथार्थकरणादिह ।
अयथार्थविधानेन सिद्ध्येत्कर्माऽपि नेशितुः ॥ ९६ ।
स्वकर्मसिद्धये चाऽथ सर्व एव हि चेश्वरः ।
ईश्वरः कर्मणां साक्षी यत्त्वयाऽपीति भाषितम् ॥ ९७ ।

दक्षोऽपि निपुणोऽपि चतुरोऽपीति यावत् । वचनाग्रहणे हेतुमाह– **शम्भोरिति** ॥ ९४ ।

कुश के बिना संध्या, तिल के बिना तर्पण और घृत के बिना हवन जैसे वृथा होता है, महादेव के बिना समस्त कार्य भी वैसे ही निष्फल हो जाते हैं" ॥ ९३ ।

कवित्त– **अर्थहीन वाणी जैसी, पतिहीन नारी जैसी,**
दानहीन संपदा रू, भूमि गंगहीन है ।
धर्महीन देह जैसी, पुत्रहीन गेह जैसो,
मंत्रिहीन राज जैसो, विप्र वेदहीन है ।
नारिहीन भोग जैसो, दर्भहीन संध्या जैसी,
तिलहीन तर्पण रु, होम घृतछीन है ।
दक्षजू, सो देखलेहु, आज परतच्छ तुम,
शंभु महाराज बिनु, वृथा यज्ञ कीन है ॥ ९०-९३ ।

महादेव की महामाया से विमोहित होकर दक्ष होने पर भी दक्षप्रजापति ने दधीचि के कहे हुए उस वचन को किसी प्रकार से ग्रहण नहीं किया ॥ ९४ ।

वह तो और भी क्रुद्ध हो गया और कहा कि, "मेरे यज्ञ की तुझे कौन-सी चिन्ता पड़ी है ? इस संसार में यज्ञ इत्यादि जितने कर्म हैं, वे सब यथार्थ रीति से करने पर अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं और अनुचित प्रकार से किया जावे, तो ईश्वर का भी कोई काम नहीं सिद्ध हो सकता ॥ ९५-९६ ।

फिर अपनी कार्यसिद्धि के लिये तो सभी कोई ईश्वर है । रहा जो तूने यह कहा कि "ईश्वर सब कर्मों का साक्षी है" ॥ ९७ ।

तत्तथाऽस्तु परं साक्षी नार्थं दद्याच्च कुत्रचित् ॥ ९८ ।
जडानि सर्वकर्माणि न फलन्तीश्वरं विना ।
यदुक्तं भवता तत्राऽप्यहो दृष्टान्तयाम्यहम् ॥ ९९ ।
जडान्यपि च बीजानि कालं सम्प्राप्य चात्मनः ।
अङ्कुरयन्ति कालाच्च पुष्यन्ति च फलन्ति च ॥ १०० ।
विनाऽपीशं तथा कर्म स्वयं कालात्फलत्यहो ।
किमीश्वरेण तेनाऽत्र महामङ्गलमूर्तिना ॥ १०१ ।

दधीचिरुवाच–

यथार्थकरणात्सिद्धमपि कार्यं कदाचन ।
ईश्वरप्रातिकूल्याच्च सिद्धमेवाशु नश्यति ॥ १०२ ।
ईश्वरेच्छाबलात्कर्म कृतमप्यविधानतः ।
संसिद्ध्येत्तदधीनाश्च कथं सर्व इहेश्वराः ॥ १०३ ।

महामङ्गलमूर्तिना सर्वमङ्गलस्वरूपेणेति वास्तवार्थः ॥ १०१ ।
क्रतुमुख्यानीत्यत्र तदुत्तरमाह– **यथार्थेति** ॥ १०२ ।
विपक्षे बाधकमाह– **तदधीनाश्चेति** ॥ १०३ ।

सो बात ठीक है । पर साक्षी तो अपने पास से कहीं भी अर्थ नहीं देता ॥ ९८ ।

फिर जो तूने यह कहा कि "कर्म तो सब जड़रूप हैं, वे सब ईश्वर के बिना फलित नहीं हो सकते" सो उस विषय में मैं एक दृष्टान्त देता हूँ (सुन) ॥ ९९ ।

सब बीज जड़ होने पर भी अपने काल के अनुसार अँखुवाते, फूलते और फलते हैं ॥ १०० ।

तदनुसार ही ईश्वर के बिना भी कालानुसार सब कर्म आप से आप सफल हो जाते हैं । अतएव उस महामंगलमूर्ति ईश्वर का यहाँ पर कौन प्रयोजन है" ? ॥ १०१ ।

दधीचि ने कहा–

"यथार्थ रीति से करने पर यद्यपि कभी-कभी कार्य सिद्ध होता है; पर ईश्वर के प्रतिकूल होने से सिद्ध कार्य भी तुरत ही विनष्ट हो जाता है ॥ १०२ ।

फिर अयथार्थ रीति से भी सम्पादित कर्म ईश्वरेच्छा के बल से सिद्ध हो जाता है । यदि ऐसा न होता, तो ये सब देवता लोग स्वयं समर्थ होने पर भी उन्हीं के आधीन कैसे रहते ? ॥ १०३ ।

सामान्यसाक्षिवन्नेशः सर्वेषां सर्वकर्मणाम् ।
साक्षीभवेदसन्दिग्धः फलस्य प्रतिभूरपि ॥ १०४ ।
भूजलादिस्वरूपेण बीजमाविश्य सर्वकृत् ।
स्वयं कालस्वरूपेण विदध्यादङ्कुरोदयम् ॥ १०५ ।
यत्त्वयोक्तं विनापीशं काले कर्म फलेत्स्वयम् ।
स एव कालो भगवान् सर्वकर्ता महेशिता ॥ १०६ ।
अन्यच्च भवता प्रोक्तं तदेकं तथ्यमेव तत् ।
किमीश्वरेण तेनाऽत्र महामङ्गलमूर्तिना ॥ १०७ ।
ये महान्तो भवन्त्येव ये च मङ्गलमूर्तयः ।
ईश्वराख्या च येष्वस्ति किं तैरत्र तवाऽन्तिके ॥ १०८ ।
उत्तरादुत्तरं चेति प्रत्युत्तरयति द्विजे ।
दधीचौ [1]चुक्रुधेऽत्यन्तं दक्षो गर्वातिसुश्रिया ॥ १०९ ।

ईश्वर इत्यादेरुत्तरमाह– **सामान्येति** । असन्दिग्धः सन्देहरहितः । प्रतिभूः दाता ॥ १०४ ।

जडानीत्यादिना यद्दृष्टान्तितं तद्विघटयति– **भूजलादीति** ॥ १०५ ।

विनापीशमिति यदुक्तं तदनूद्य दूषयति– **यत्त्वयोक्तमिति** ॥ १०६ ।

किमीश्वरेणेति यदुक्तं तदनूद्य स्वीकरोति– **अन्यच्चेति** ॥ १०७ ।

दक्षस्य उत्तरादुत्तरमनेकमुत्तरं प्रत्युत्तरयति । निराकृतवति । चुक्रुधे क्रोधं कृतवान् ॥ १०९ ।

सामान्य साक्षियों के समान ईश्वर भी सब लोगों के सब कर्मों का साक्षी नहीं होता; क्योंकि वह सन्देहरहित साक्षी ही नहीं, वरन् फल का प्रतिभू (जमीनदार) भी रहता है ॥ १०४ ।

वह सर्वकर्ता ईश्वर भूमि और जल इत्यादि के स्वरूप से बीज के भीतर पैठ, स्वयं कालरूप बनकर अँखुओं को उगाता है ॥ १०५ ।

और जो तुमने यह कही कि "ईश्वर के बिना ही कालानुसार कर्म आप ही फलता है" वह भी सर्वकर्ता भगवान् महेश्वर ही कराता है ॥ १०६ ।

और एक बात जो तुमने यह कही कि, "उस महामंगलरूप ईश्वर का यहाँ कौन प्रयोजन है? यह बहुत ही ठीक है ॥ १०७ ।

क्योंकि जो लोग महान् हैं, किं वा मंगलमूर्ति हैं, अथवा जो लोग ईश्वर कहे जाते हैं, भला उन सबका यहाँ पर तुम्हारे पांस में कौन प्रयोजन है"? ॥ १०८ ।

इस प्रकार से दधीचिमुनि के उत्तर-प्रत्युत्तर करते रहने से विभवमद से मत्त दक्षप्रजापति बड़े ही क्रुद्ध हो गये ॥ १०९ ।

---

1. पुस्तकान्तरे मूले टीकायां च चुकुप इति पाठः ।

आदिदेश समीपस्थानालोक्य परितस्त्विति ।
ब्राह्मणापसदं चाऽमुं परिदूरयताशु वै ॥ ११० ।
अमुष्मादध्वरश्रेष्ठादवरिष्ठमनोगतम् ।
इत्थं दधीचिराकर्ण्य प्रोवाच प्रहसन्निव ॥ १११ ।
किं मां दूरयसे मूढ दूरीभूतो भवानपि ।
सर्वेभ्यो मङ्गलेभ्यश्च सर्वैरेभिः, समं ध्रुवम् ॥ ११२ ।
अकाण्डे क्रोधजो दण्डस्तव मूर्ध्नि पतिष्यति ।
महेशितुस्त्रिजगतीपरिशास्तुः प्रजापते ॥ ११३ ।
इत्युक्त्वा निर्जगामाशु यज्ञवाटात्ततो द्विजः ।
तस्मिन्निर्याति निर्यातो दुर्वासा च्यवनो भवान् ॥ ११४ ।
उत्तङ्क उपमन्युश्च ऋचीकोद्दालकावपि ।
माण्डव्यो वामदेवश्च गालवो गर्गगौतमौ ॥ ११५ ।
शिवतत्त्वविदोऽन्येऽपि दक्षयज्ञाद्विनिर्ययुः ।
गते दधीचौ सानन्दं प्रावर्तत महामखः ॥ ११६ ।
ये स्थिता ब्राह्मणास्तत्र तेभ्यो द्विगुणदक्षिणाम् ।
प्रादात् प्रजापतिर्दक्षस्त्वन्येभ्योऽप्यधिकं वसु ॥ ११७ ।

ब्राह्मणा अपसदा अधमा यस्मात्तम् ॥ ११.० ।
न वरिष्ठः श्रेष्ठो यस्मात्तस्मिन् मनोगतं यस्य तम् ॥ १११ ।
प्रजापते इति दक्षस्य सोपहासं सम्बोधनम् ॥ ११३ ।
भवान् अगस्त्यः ॥ ११४ ।

इधर-उधर देखकर पार्श्ववर्त्ती लोगों से कहने लगे—'इस नीच-बुद्धि अधम ब्राह्मण को इस उत्तम यज्ञ के बीच से अभी दूर हटाओ' । यह सुनते ही दधीचि ने हँसकर कहा ॥ ११०-१११ ।

अरे मूढ़ ! तू मुझे क्या दूर करेगा ? वरन् इन सबों के साथ तू ही समस्त मंगलों से अवश्य दूर हो रहा है ॥ ११२ ।

हे प्रजापते ! त्रैलोक्यनायक महेश्वर के क्रोध का दंड अकाल ही में तेरे माथे पर गिरा चाहता है ॥ ११३ ।

दधीचि मुनि यहं कहकर उस यज्ञस्थान से तुरत निकल गये । उनके निकलते ही दुर्वासा, च्यवन, आप (अगस्त्य), उत्तंक, उपमन्यु, ऋचीक, उद्दालक, माण्डव्य, वामदेव, गालव, गर्ग, गौतम, और भी जो लोग शिवतत्त्व के ज्ञाता थे, वे सब कोई दक्ष के यज्ञ से चले गये । दधीचि मुनि के चले जाने पर (फिर से) यज्ञकार्य आनन्दपूर्वक होने लगा ॥ ११४-११६ ।

जो ब्राह्मण लोग वहाँ पर रह गये, उन लोगों को दक्षप्रजापति ने दुगुनी दक्षिणा और दूसरे लोगों को भी बहुत अधिक धन दान किया ॥ ११७ ।

सर्वे जामातरस्तेन तोषिता भूरिशो धनैः ।
कन्याश्चाऽलङ्कृताः सर्वा महाविभवविस्तरैः ॥ ११८ ।
ऋषिपत्न्योऽपि बहुशो देवपत्न्योऽप्यनेकशः ।
तथा पुराङ्गनाः सर्वास्तेन मानभुवः कृताः ॥ ११९ ।
ब्रह्मघोषेण तारेण व्योमशब्दगुणं स्फुटम् ।
कारितं तेन दक्षेण विप्राणां हृष्टचेतसाम् ॥ १२० ।
अग्निर्मन्दाग्निरभवत्तस्मिन् जुह्वति दीक्षिते ।
हविःपरिमलेनैव परितृप्ता दिगङ्गनाः ॥ १२१ ।
स्वाहाकारैर्वषट्कारैः सुरा जाताः पिचण्डिलाः ।
रचिता गिरयस्तेन सदन्नानां पदे पदे ॥ १२२ ।
घृतकुल्याः कृतास्तेन मधुकुल्याः सहस्रशः ।
महासरांसि पयसां द्रप्सस्यापि महाह्रदाः ॥ १२३ ।
राशयश्च दुकूलानां रत्नानां शिखराणि च ।
यज्ञवाटस्य वसुधा स्वर्णरूप्यमयी कृता ॥ १२४ ।

मानभुवः पूजाधाराः ॥ ११९ ।
तारेण उच्चेन ॥ १२० ।
पिचण्डिलाः स्थूलोदराः ॥ १२२ ।
कुल्याः सरितः । द्रप्सस्येति[1] । द्रवीभूतगुडस्येत्यर्थः । दध्नश्चेति क्वचित् ॥ १२३ ।

उन्होंने अपने जामाताओं को भी असीम धन देकर सन्तुष्ट किया एवं बड़े भारी विभव-विस्तार से अपनी समस्त कन्याओं को अलंकृत किया ॥ ११८ ।

इसी प्रकार से समस्त ऋषिपत्नी, देवनारी और बहुतेरी पुरांगनाओं का भी सम्मान करने में कोई त्रुटि नहीं की ॥ ११९ ।

दक्ष ने प्रसन्नचित्त ब्राह्मणों की उच्च वेदध्वनि से आकाश के शब्दगुण को स्पष्ट कर दिखाया ॥ १२० ।

उनके दीक्षाग्रहण करके आहुति देने से अग्नि को भी मन्दाग्नि (अजीर्ण रोग) हो गया और हवि के सुगन्ध ही से समस्त दिशाएँ भर उठीं ॥ १२१ ।

स्वाहाकार और वषट्कार के मारे देवतालोग भी तोंदइल (तोंदवाले) हो गये । उन्होंने पद-पद पर सहस्रशः उत्तम अन्नों की ढेर के पर्वत, घृतकुल्या, मधुकुल्या, दूध का बड़ा भारी सरोवर, दधि का महाह्रद, वस्त्रों की राशियाँ और रत्नों के शिखर बना डाले । उस यज्ञ की समस्त भूमि सोने-चाँदी की कर डाली ॥ १२२-१२४ ।

---

1. द्रप्सं दधिघनेतरदित्यमरान्मट्ठेति प्रसिद्धस्येत्यप्यर्थः ।

न लभ्यन्ते क्रतौ तस्य मार्गिता अपि मार्गणाः ।
हृष्टाः पुष्टाः समभवन्नपि तत्परिचारकाः ॥ १२५ ।
ध्वनिर्मङ्गलगीतानां व्यानशे गगनाङ्गणम् ।
जहृषे चाप्सरोवृन्दैर्गन्धर्वैर्मुमुदेतराम् ॥ १२६ ।
विद्याधरैर्ननन्दे च वसुधा ववृधे भृशम् ।
महाविभवसम्भारे तस्मिन् दाक्षे महाक्रतौ ।
इत्थं प्रवृत्तेऽथ मुनिः कैलासं नारदो ययौ ॥ १२७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दक्षयज्ञप्रादुर्भावो नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ।

मार्गिता अन्विष्टाः । मार्गणा याचकाः ॥ १२५ ।
व्यानशे व्याप्तवान् । जहृषे सहर्षं चक्रे । मुमुदेतरामतिशयेन सहर्षं चक्रे ॥ १२६ ।
ननन्दे समृद्धे चक्रे । गगनाङ्गणमित्येव । दाक्षे दक्षसम्बन्धिनि ॥ १२७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ।

उस यज्ञ में खोजने पर भी भिक्षुक नहीं मिलते थे । उनके परिचारक लोग भी बड़े ही हृष्ट और पुष्ट हो गये थे ॥ १२५ ।

मंगलगीत की ध्वनि से समग्र आकाश भर गया था एवं अप्सरा, गन्धर्व और विद्याधरगण बड़े ही आनन्दित हुए और वसुधा भी सातिशय वर्द्धित हुई । इस प्रकार से जब वह दक्ष का महायज्ञ बड़े विभव-विस्तार से होने लगा, तब नारद मुनि कैलास पर्वत पर गये ॥ १२६-१२७ ।

दोहा— धूमधाम से यज्ञ वह, करन लगे जब दच्छ ।
जात भये नारद तबै, कैलासहिं अति स्वच्छ (करि पच्छ) ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां
सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ।

॥ अथाष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

शिवलोकं समासाद्य मुनिना ब्रह्मसूनुना ।
किं चक्रे ब्रूहि षड्वक्त्र कथां कौतुकशालिनीम् ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

शृणु कुम्भज वक्ष्यामि नारदेन महात्मना ।
यत्कृतं तत्र गत्वाऽऽशु कैलासं शङ्करालयम् ॥ २ ।
मुनिर्गगनमार्गेण प्राप्य तद्धाम शाम्भवम् ।
दृष्ट्वा शिवौ प्रणम्याऽथ शिवेन विहितादरः ॥ ३ ।

अष्टाशीतितमेऽध्याये सत्या देहविसर्जनम् ।
वर्ण्यतेऽत्यद्भुततरं वैराग्यप्रतिपादकम् ॥ १ ।
कैलासं नारदो ययावित्युक्तं तत्र पृच्छति – **शिवलोकमिति** ॥ १ ।

(सती देवी के देहत्याग की कथा)

अगस्त्य बोले–

"हे षड्वदन ! ब्रह्मपुत्र नारद ऋषि ने शिवलोक में जाकर क्या किया ? उस कौतुकभरी कथा का आप वर्णन करें" ॥ १ ।

स्कन्द ने कहा–

हे कुंभज मुने ! महात्मा नारद ऋषि ने उस घड़ी शिवलोक कैलास में जाकर जो किया, उसका मैं वर्णन करता हूँ, श्रवण करो ॥ २ ।

उस ऋषिवर ने आकाशमार्ग से शिवधाम कैलास में पहुँचकर देवी और महादेव को प्रणाम किया । तदुपरान्त शिव ने आदरपूर्वक उनको आसन प्रदान किया ॥ ३ ।

तदुद्दिष्टासनं भेजे पश्यंस्तत्क्रीडनकं परम् ।
क्रीडन्तौ तौ तु चाक्षाभ्यां यदा न च विरेमतुः ॥ ४ ।
तदौत्सुक्येन स मुनिः प्रेर्यमाण उवाच ह ।

नारद उवाच–

देवदेव तव क्रीडाऽखिलं ब्रह्माण्डगोलकम् ।
मासा द्वादश येनाथ ते सारिफलके गृहाः ॥ ५ ।
कृष्णा कृष्णेतरा या वै तिथयस्ताश्च सारिकाः ।
द्विपञ्चदशमासे यास्त्वक्षयुग्मं तथायने ॥ ६ ।
सृष्टिप्रलयसंज्ञौ द्वौ ग्लहौ जयपराजयौ ।
देवीजये भवेत्सृष्टिरसृष्टिर्धूर्जटेर्जये ॥ ७ ।
भवतोः खेलसमयो यः सा स्थितिरुदाहृता ।
इत्थं क्रीडैव सकलमेतद्ब्रह्माण्डमीशयोः ॥ ८ ।

अक्षाभ्यां पाशकाभ्याम् । द्वन्द्वाभ्यामिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ४ ।

क्रीडा लीला तदेवाह – **मासा** इति । सारिफलके सारिफलनिमित्तम् ॥ ५ ।

मासे याः शुक्लाः शुक्लेतरा कृष्णाश्च द्विपञ्च-दश-त्रिंशत्तिथयः, ताः सारिकाः फलका बलानीति प्रसिद्धा इत्यर्थः । अंक्षयुग्मं पाशकयुगलम् । **अयने दक्षिणोत्तरे** ॥ ६ ।

ग्लहौ पणौ ॥ ७ ।

खेलसमयः क्रीडाकालः । उपसंहरति – **इत्थमिति** ॥ ८ ।

नारद भी उन लोगों का परम क्रीड़न देखते हुए निर्दिष्ट आसन पर बैठ गये, पर जब वे लोग पाशा खेलते ही रह गये, तनिक भी विरत नहीं हुए, तब नारद से उत्सुकता के मारे नहीं रहा गया । अन्ततोगत्वा वे कहने लगे ॥ ४ ।

नारद बोले

हे देवदेव ! यह समग्र ब्रह्मांडमंडल ही आप का खेलवाड़ है, आप के ब्रह्माण्डरूप चौपड़ में ये बारहों मास ही तो गोटियों के धरने (रखने) के घर हैं ॥ ५ ।

फिर से सब शुक्ल और कृष्ण तिथियाँ ही जो मास भर में तीस होती हैं, ये ही गोटियाँ हैं और दोनों अयन ही पाशे हैं ॥ ६ ।

एवं सृष्टि और प्रलय नामक हार-जीत के दोनों दाँव हैं । देवी की जीत से सृष्टि और महादेव की जीत से प्रलय होता है ॥ ७ ।

आप लोगों के खेल का जो समय है, वही सृष्टि का पालन है । इस भाँति से यह समस्त ब्रह्माण्डमण्डल आप ही दोनों जन का खेलवाड़ है ॥ ८ ।

न देवी जेष्यति पतिं नेशः शक्तिं विजेष्यति ।
किञ्चिद्विज्ञप्तुकामोऽस्मि तन्मातरवधार्यताम् ॥ ९ ।
देवः सर्वज्ञनाथोऽपि न किञ्चिदवबुद्ध्यति ।
मानापमानयोर्यस्मादसौ दूरे व्यवस्थितः ॥ १० ।
लीलात्मा गुणवानेष विचारादतिनिर्गुणः ।
कुर्वन्नपि हि कर्माणि बाध्यते नैव कर्मभिः ॥ ११ ।
मध्यस्थोऽपि हि सर्वस्य माध्यस्थ्यमवलम्बते ।
सर्वत्राऽयं महेशानो मित्रामित्रसमानदृक् ॥ १२ ।
त्वं शक्तिरस्य देवस्य सर्वेषां मान्यभूः परा ।
दक्षस्याऽपि त्वया मानो दत्तोऽपत्यनिमित्तकः ॥ १३ ।

तथापि लीलाविग्रहधारिणोर्युवयोर्व्यवहारगोचरेऽक्षक्रीडायां जयपराजयौ न स्त इत्याह – **न देवीति** । किं चक्रे इति यत्पृष्टं तदाह – **किञ्चिदिति** ॥ ९ ।

अवबुध्यति अवबुध्यते ॥ १० ।

ननु गुणवान् शरीरी कथं मानापमानयोर्दूरे तिष्ठति तत्राह – **लीलात्मेति** । यद्यपि मायाख्यया त्वया शक्त्याऽयं लीलाविग्रहो गुणवांश्च तथापि विचाराद् वेदान्त तात्पर्यावधारणादतिनिर्गुणः । अत एव सृष्ट्यादिकर्माणि कुर्वन्नपि तैः कर्मभिर्न लिप्यत इति ॥ ११ ।

तथापि लीलाविग्रहावस्थायां निग्रहानुग्रहौ भवेतामेव नेत्याह । **मध्यस्थोऽपि** उदासीन एवेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह – **सर्वत्रेति** ॥ १२ ।

न तो देवी ही पति को जीतेंगी और न प्रभु ही शक्ति को जीतेंगे; पर मैं कुछ थोड़ी-सी प्रार्थना करने की इच्छा से उपस्थित हुआ हूँ । हे मातः ! आप उसे सुन लेवें ॥ ९ ।

महादेव सर्वज्ञनाथ होने पर भी कुछ नहीं समझते; क्योंकि ये तो मान-अपमान दोनों ही से बहुत दूर रहा करते हैं ॥ १० ।

यद्यपि ये लीलात्मक होने से सगुण हो जाते हैं, पर विचारने से परम निर्गुण हैं,कारण यही है, ये कर्मों के करते रहने पर भी उन कर्मों से कभी बाधित नहीं होते ॥ ११ ।

ये स्वयं उदासीन होने पर भी सब किसी की मध्यस्थता का अवलम्बन करते हैं । इसी से ये महेश्वर शत्रु और मित्र पर सर्वत्र ही समान दृष्टि रखते हैं । हे देवि ! आप इन भगवान् की शक्ति होने के कारण सभी लोगों की परम-मान्य भूमि हैं । आप ही ने सन्तान बनकर दक्ष को भी मान दिया है ॥ १३ ।

परं त्वं सर्वजगतां जनयित्र्येकिका ध्रुवम् ।
त्वत्त आविर्भवन्त्येव धातृकेशववासवाः ॥ १४ ।
त्वमात्मानं न जानासि त्र्यक्षमायाविमोहिता ।
अत एव हि मे चित्तं दुनोत्यतितरां सति ॥ १५ ।
अन्या अपि हि याः सत्यः पातिव्रत्यपरायणाः ।
ता भर्तृचरणौ हित्वा किञ्चिदन्यं न मन्वते ॥ १६ ।
अथवाऽऽस्तामियं वार्ता प्रस्तुतं प्रब्रवीम्यहम् ।
अद्य नीलगिरेस्तस्माद्धरिद्वारसमीपतः ॥ १७ ।
अपूर्वमिव संवीक्ष्य परिप्राप्तस्तवाऽन्तिकम् ।
अत्याश्चर्यविषादाभ्यां किञ्चिद्वक्तुमिहोत्सुकः ॥ १८ ।

परं केवलम् । **एकिका मुख्या** ॥ १४ ।

त्वं कथंभूता? त्र्यक्षमाया स्वयमेव विमोहिता । ऐकपद्येऽपि स एवार्थः । दुनोति व्यथते ॥ १५ ।

कैमुत्यन्यायमाह – **अन्या अपीति** । मन्वते मन्यन्ते । जानत इति क्वचित् ॥ १६ ।

नीलगिरेः पुरुषोत्तमात् सकाशात् । समीपतः समीपे । **हरिद्वारं मायपुरी** ॥ १७ ।

पर वास्तव में समस्त जगत् की एकमात्र जननी आप ही हैं । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र इत्यादि सभी लोग आप ही से उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ।

पर महादेव की माया से विमोहित होने ही से आप अपने को नहीं जान सकती हैं, इसी कारण से मेरा चित्त बहुत दुःखित रहता है ॥ १५ ।

आपके ऐसी और भी जो पतिव्रता स्त्रियाँ हैं, वे भी पतिदेवता के चरणों को छोड़कर और दूसरा कुछ भी नहीं जानतीं ॥ १६ ।

अच्छा, तो अब इस बात को रहने दीजिये, अब मैं प्रस्तुत विषय का निवेदन करता हूँ । आज हरिद्वार के समीप ही में नीलाचल पर एक अपूर्व घटना देख, बड़े आश्चर्य और विषाद के साथ उत्कंठित होकर मैं कुछ कहने ही के लिये यहाँ पर आपके पास उपस्थित हुआ हूँ ॥ १७–१८ ।

आश्चर्यहेतुरेवायं यत्पुंजातं त्रयीतले ।
तद्दृष्टं सकलत्रं च दक्षस्याऽध्वरमण्डपे ॥ १९ ।
सालङ्कारं समानं च सानन्दमुखपङ्कजम् ।
विस्मृताऽखिलकार्यं च दक्षयज्ञप्रवर्तकम् ॥ २० ।
विषादे कारणं चैतद्यतो जातमिदं जगत् ।
यस्मिन् प्रवर्तते यत्र लयमेष्यति च ध्रुवम् ॥ २१ ।
तदेव तत्र नो दृष्टं भवद्वन्द्वं भवापहम् ।
प्रायो विषादजनकं भवतोर्यददर्शनम् ॥ २२ ।
तदेव नाऽभवत्तत्र समभूदन्यदेव हि ।
तच्च वक्तुं न शक्येत तद्वक्ता दक्ष एव सः ॥ २३ ।
तानि वाक्यानि चाकर्ण्य द्रुहिणेन यये ततः ।
महर्षिणा दधीचेन धिक्कृतो नितरां हि सः ॥ २४ ।
शप्तश्च वीक्षमाणानां देवर्षीणां प्रजापतिः ।
मया च कर्णौ पिहितौ श्रुत्वा तद्गर्हणागिरः ॥ २५ ।

पुंजातं पुरुषसमुदायः । पुंमात्रं यत्तु जातमिति क्वचित् ॥ १९ ।
भवद्वन्द्वं भवश्च भवानी च तयोर्युगलम् ॥ २२ ।
तद्भवतोर्दर्शनम् । अन्यत् किं तत्राह – **तच्चेति** ॥ २३ ।
द्रुहिणेन ब्रह्मणा । यये यातं गतमिति यावत् । धिक्कृतस्तिरस्कृतः । दधीचेन अकारान्तोऽयम् ॥ २४ ।

आश्चर्य का कारण तो यही है कि, त्रैलोक्यभर में जितने पुरुष मात्र हैं, वे सब के सब अपनी-अपनी पत्नियों के सहित दक्ष के यज्ञमंडप में अलंकृत, सम्मानित, आनन्द से प्रसन्न मुखकमल एवं सब कामों को भूलकर दक्ष के उसी यज्ञ में लगे हुए दिखाई पड़े ॥ १९–२० ।

पर विषाद भी हुआ । कारण यह था कि जिससे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ, फिर जिस द्वारा पाला गया और अन्त में अवश्य ही जिसमें लीन हो जावेगा, उसी भवभयहारी आपकी युगल-मूर्ति का दर्शन वहाँ पर नहीं मिला । प्रायः आप लोगों का अदर्शन ही विषादजनक होता है ॥ २१-२२ ।

पर वहाँ तो आप लोगों का दर्शन हुआ ही नहीं, फिर जो हुआ, सो कुछ और ही हुआ, उसको मैं तो नहीं कह सकता । पर हाँ, उसके कहने वाले वही दक्ष ही हैं ॥ २३ ।

उन वचनों को सुनकर ब्रह्मा तो पहले ही वहाँ से चल दिये, पीछे से महर्षि दधीचि ने उसे बहुत ही धिक्कारा ॥ २४ ।

देवता और ऋषियों के देखते ही प्रजापति को शाप भी दिया । मैंने भी उस निन्दाभरी बात को सुनकर अपने कानों को ढाँप लिया ॥ २५ ।

दधीचिना समं केचिद्दुर्वासःप्रमुखा द्विजाः ।
भवनिन्दां समाकर्ण्य कियन्तोऽपि विनिर्ययुः ॥ २६ ।
प्रावर्तत महायागो हृष्टपुष्टमहाजनः ।
तथा द्रष्टुं न शक्नोमि तत आगतवानिह ॥ २७ ।
भगिन्योऽपि च या देवि तव तत्र सभर्तृकाः ।
तासां गौरवमालोक्य न किञ्चिद्वक्तुमुत्सहे ॥ २८ ।
इति देवी समाकर्ण्य सती दक्षकुमारिका ।
करादक्षौ समुत्सृज्य दध्यौ किञ्चित्क्षणं हृदि ॥ २९ ।
उवाच च भवत्वेवं शरणं भव एव मे ।
सम्प्रधार्येति मनसि सती दाक्षायणी ततः ॥ ३० ।
द्रुतमेव समुत्तस्थौ प्रणनाम च शङ्करम् ।
मौलावञ्जलिमाधाय देवी देवं व्यजिज्ञपत् ॥ ३१ ।

देव्युवाच–

विजयस्वान्धकध्वंसिंस्त्र्यम्बक त्रिपुरान्तक ।
चरणौ शरणं ते मे देह्यनुज्ञां सदाशिव ॥ ३२ ।

भवनिन्दामीश्वरतिरस्कारम् । भवासूर्क्षणमिति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ २६ ।
प्रावर्तत । प्रावर्तिष्ठेति क्वचित् ॥ २७ ।

दधीचि के संग से दुर्वासा इत्यादि कितने ही विप्रगण महादेव की निन्दा सुनते ही (वहाँ से उठकर) चले गये ॥ २६ ।

इसके उपरान्त हृष्ट-पुष्ट लोगों से भरा हुआ वह यज्ञ फिर से होने लगा । यह सब मुझसे नहीं देखा गया । इसी से मैं वहाँ से यहाँ पर चला आया ॥ २७ ।

हे देवि ! वहाँ पर आपकी भगिनी लोग भी अपने-अपने स्वामियों के साथ जो आदर पा रहीं हैं, उसे देखकर मुझसे कुछ नहीं कहते बनता ॥ २८ ।

इन बातों को सुनकर दक्षकुमारी सती देवी हाथ से पाशों को रखकर क्षणभर मन में सोचती रहीं ॥ २९ ।

इसके अनन्तर दाक्षायणी देवी ने कहा; कि मेरे तो महादेव ही रक्षक हैं, बस इस बात को मन में स्थिर करके वे तुरन्त उठ खड़ी हुईं और शंकर को प्रणाम कर मस्तक पर अंजलि बाँध देवी महादेव से प्रार्थना करने लगीं ॥ ३०-३१ ।

देवी ने कहा –

'हे अन्तकध्वंसक! त्रिलोचन ! त्रिपुरारे ! आप की जय हो, हे सदाशिव ! आप ही के चरणारविन्द मेरे रक्षक हैं, अत एव मुझे आप आज्ञा दीजिये ॥ ३२ ।

मा निषेधीः प्रार्थयामि यास्यामि पितुरन्तिकम् ।
उक्त्वेति मौलिमदधादन्धकारिपदाम्बुजे ॥ ३३ ।
अथोक्ता शम्भुना देवी मृडान्युत्तिष्ठ भामिनि ।
किमपूर्णं तवाऽस्त्यत्र वद सौभाग्यसुन्दरि ॥ ३४ ।
लक्ष्म्या अपि च सौभाग्यं ब्रह्माण्यैकान्तिरुत्तमा ।
शच्यै नित्यनवीनत्वं भवत्या दत्तमीश्वरि ॥ ३५ ।
त्वया च शक्तिमानस्मि महदैश्वर्यरक्षणे[1] ।
त्वां च शक्तिं समासाद्य स्वलीलारूपधारिणीम् ॥ ३६ ।
एतत् सृजामि पाम्यद्मि त्वल्लीलाप्रेरितोऽङ्गने ।
कुतो मां हातुमिच्छेस्त्वं मम वामार्धधारिणि ॥ ३७ ।
शिवा शिवोदितं चेति श्रुत्वाऽप्याह महेश्वरम् ।
जीवितेश विहाय त्वां न क्वापि परियाम्यहम् ॥ ३८ ।
मनो मे चरणद्वन्द्वे तव स्थास्यति निश्चलम् ।
क्रतुं द्रष्टुं पितुर्यामि नैक्षि यज्ञो मया क्वचित् ॥ ३९ ।

मैं प्रार्थना करती हूँ, आप मुझे निषेध मत करें । मैं पिता के पास जाना चाहती हूँ । यह कहकर महादेव के चरणकमलों पर मस्तक रख दिया ॥ ३३ ।

फिर तो **महादेव ने कहा**– हे भामिनि ! मृडानि ! उठो, हे सौभाग्यसुन्दरि ! भला यहाँ पर तुमको क्या घटा हुआ है, कमी है तो उसे कहो ॥ ३४ ।

हे ईश्वरि ! लक्ष्मी को सौभाग्य, ब्रह्माणी को उत्तम कान्ति और इन्द्राणी को नित्य यौवन तुम्हीं ने दिया है ॥ ३५ ।

हे देवि ! इस विशाल ऐश्वर्य के रक्षण में तुम्हारे ही संग से मैं शक्तिमान् हुआ हूँ । फिर अपनी लीला के अनुसार रूपधारिणी शक्ति तुम्हीं को पाकर मैं तुम्हारी लीला के अनुसार इस संसार की सृष्टि, पालन और संहार करता हूँ । हे वामार्धधारिणि ! देवि ! तुम मुझको क्यों छोड़ना चाहती हो? ॥ ३६-३७ ।

महादेव के इस वचन को सुनकर **सती देवी ने कहा**– हे जीवितेश्वर ! मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जाती हूँ ॥ ३८ ।

मेरा मन तो आप के चरणों ही में निश्चल होकर बैठा रहेगा, पर मैंने कभी यज्ञ नहीं देखा है । इसलिए पिता का यज्ञ देखने को जाना चाहती हूँ ॥ ३९ ।

---

1. आत्वाभाव आर्षः ।

शम्भुः कात्यायनीवाक्यमिति श्रुत्वा तदाऽब्रवीत् ।
क्रतुस्त्वया नेक्षितश्चेदाहरामि ततः क्रतुम् ॥ ४० ।
मच्छक्तिधारिणी त्वा वा सृजैवान्यां क्रतुक्रियाम् ।
अन्यो यज्ञपुमानस्तु सन्त्वन्ये लोकपालकाः ॥ ४१ ।
अन्यानाशु विधेहि त्वमृषीनार्त्विज्यकर्मणि ।
पुनर्जगाद देवीति श्रुत्वा शम्भोरुदीरितम् ॥ ४२ ।
पितुर्यज्ञोत्सवो नाथ द्रष्टव्योऽत्र मया ध्रुवम् ।
देह्यनुज्ञां गमिष्यामि मा मे कार्षीर्वचोऽन्यथा ॥ ४३ ।
कः प्रतीपयितुं शक्तश्चेतो वा जलमेव वा ।
निम्नायाभ्युद्यतं नाथ माऽद्य मां प्रतिषेधय ॥ ४४ ।
निशम्येति पुनः प्राह सर्वज्ञो भूतनायकः ।
मा याहि देवि मां हित्वा गता च न मिलिष्यसि ॥ ४५ ।
अद्य प्राचीं यियासुं त्वां वारयेत् पङ्गुवासरः ।
नक्षत्रं च तथा ज्येष्ठा तिथिश्च नवमी प्रिये ॥ ४६ ।

प्रतिषेधे कृतेऽप्यहं यास्यामीत्याशयेनाह – **क इति** ॥ ४४ ।
पङ्गुवासरः शनेर्दिनम् ॥ ४६ ।

दाक्षायणी देवी की इस बात पर **महादेव ने कहा**– यदि तुम को यज्ञ देखने की इच्छा है, तो यहीं पर यज्ञ का उद्योग कर देता हूँ ॥ ४० ।

नहीं तो तुम शक्तिस्वरूपा हो, अतएव दूसरी ही यज्ञक्रिया बना डालो । (जिसमें) दूसरा ही यज्ञपुरुष रहे और दूसरे ही दूसरे लोकपाल होवें ॥ ४१ ।

यों ही ऋत्विक् का काम करने के लिए दूसरे ही ऋषियों को भी अभी उत्पन्न कर दो । इस भाँति से शिव के कथन को सुनकर भगवती ने फिर कहा ॥ ४२ ।

हे नाथ ! आज तो मैं पिता का यज्ञोत्सव देखने के लिये अवश्य जाऊँगी, आप इस विषय में बाधा न देकर आज्ञा दे दीजिये ॥ ४३ ।

हे नाथ ! नीचे की ओर झुके हुए चित्त अथवा जल के वेग को कौन फेर दे सकता है ? (रोक सकता है, दूसरी और मोड़ सकता है) अतएव आज आप मुझे मत रोकिए ॥ ४४ ।

यह सुनकर **भूतनाथ सर्वज्ञ भगवान् ने फिर कहा**– हे देवि ! मुझे छोड़कर मत जाओ, नहीं तो फिर मुझसे नहीं मिल सकोगी ॥ ४५ ।

हे प्रिये ! आज का शनैश्चर वार, ज्येष्ठा नक्षत्र और नवमी तिथि तुमको पूर्वदिशा में यात्रा करने का निषेध कर रहे हैं ॥ ४६ ।

अद्य सप्तदशो योगो वियोगोऽद्यतनोऽशुभः ।
धनिष्ठार्धसमुत्पन्ने तव ताराद्य पञ्चमी ॥ ४७ ।
मा गा देवि गताऽद्य त्वं न हि द्रक्ष्यसि मां पुनः ।
पुनर्देवी बभाषे सा यदि नाम्नाऽप्यहं सती ॥ ४८ ।
तदा तन्वन्तरेणाऽपि करिष्ये तव दासताम् ।
ततो भवः पुनः प्राह को वा वारयितुं प्रभुः ॥ ४९ ।
परिक्षुब्धमनोवृत्तिं स्त्रियं वा पुरुषं तु वा ।
पुनर्न दर्शनं देवि मया सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ ५० ।
परं न देवि गन्तव्यं महामानधनेच्छुभिः ।
अनाहूततया कान्ते मातापितृगृहानपि ॥ ५१ ।
यथा सिन्धुगता सिन्धुर्न पुनः परिवर्तते ।
तथाऽद्य गन्त्र्या नो जातु तवागमनमिष्यते ॥ ५२ ।

देव्युवाच–

अवश्यं यद्यहं रक्ता तव पादाम्बुजद्वये ।
तथा त्वमेव मे नाथो भविष्यसि भवान्तरे ॥ ५३ ।

सप्तदशो योगो व्यतीपातः । धनिष्ठा वसुनक्षत्रम् ॥ ४७ ।

तिस पर भी आज व्यतीपात योग है । आज का वियोग होना अच्छा नहीं है । तुम धनिष्ठा नक्षत्र के मध्य में उत्पन्न हुई हो, इससे आज तुम्हारी पंचमी तारा हो गई है ॥ ४७ ।

सो हे देवि ! तुम मत जाओ, आज के जाने से फिर मुझे नहीं देख पाओगी । (यह सुनकर) **फिर भगवती ने कहा**–यदि मेरा नाम सती है, तो फिर दूसरे शरीर से भी आप ही की दासी बनूँगी' । तब तो **महादेव ने फिर कहा**–(यदि ऐसा ही है) तो फिर कौन स्त्री अथवा पुरुष के मनोवेग को फेर दे सकता है ? पर हे देवि ! इतना मैं सत्य ही कहे देता हूँ कि फिर मुझसे साक्षात्कार नहीं हो सकेगा ॥ ४८-५० ।

हे देवि ! (और एक बात है कि) जो लोग अपने मानमर्यादारूप धन को बनाये रखा चाहते हैं, हे कान्ते ! बिना बुलाये माता-पिता के घर पर भी उनको नहीं जाना चाहिए ॥ ५१ ।

जैसे नदी समुद्र में जाकर फिर नहीं लौटती, वैसे ही आज के जाने से फिर तुम्हारा लौटना नहीं होवेगा ॥ ५२ ।

देवी ने कहा–

(हे भगवन् !) यदि मैं आपके चरणारविन्दों की सच्ची अनुरागिणी होऊँगी, तो फिर दूसरे जन्म में भी अवश्य आप ही मेरे स्वामी होवेंगे ॥ ५३ ।

इत्युक्त्वा निर्ययौ देवी कोपान्धीकृतलोचना ।
यियासुभिश्च कार्यार्थं यत्कर्तव्यं न तत्कृतम् ॥ ५४ ।
न ननाम महादेवं न च चक्रे प्रदक्षिणम् ।
अत एव हि सा देवी न गता पुनरागता ॥ ५५ ।
अप्रणम्य महेशानमकृत्वाऽपि प्रदक्षिणम् ।
अद्याऽपि न निवर्तन्ते गताः प्राग्वासरा इव ॥ ५६ ।
तया चरणचारिण्या राज्ञा त्रिभुवनेशितुः ।
अपि तत्पावनं वर्त्म मेनेऽतिकठिनं बहु ॥ ५७ ।
देवोऽपि तां सतीं यान्तीं दृष्ट्वा चरणचारिणीम् ।
अतीव विव्यथे चित्ते गणांश्चाऽथ समाह्वयत् ॥ ५८ ।
गणा विमानं नयत मनःपवनचक्रिणम् ।
पञ्चास्यायुतसंयुक्तं रत्नसानुध्वजोच्छ्रितम् ॥ ५९ ।

कार्यार्थं यात्रानिमित्तम् ॥ ५४ ।

तदेवाह – **न ननामेति** । अत एव नमस्कारप्रदक्षिणयोरकरणादेव गता सती पुनरागता नेत्यन्वयः ॥ ५५ ।

विमानं विशिनष्टि सपादचतुर्भिः । मनःपवनौ चक्रे यस्याऽस्ति तत् । **पञ्चास्यायुतसंयुक्तं** सिंहदशसहस्रसम्बद्धम् । रत्नसानुः सुमेरुर्ध्वजदण्ड उच्छ्रितो यस्य । क्वचिद्विशेषणस्यापि पूर्वनिपातः । रत्नसानुलक्षणेन ध्वजेन उच्छ्रितमुच्चमिति वा ॥ ५९ ।

यह कहकर सती देवी क्रोध के मारे अन्धी होकर वहाँ से निकल गईं । यात्रार्थी लोगों को कार्यसिद्धि के लिए जो कुछ करना उचित है, वह भी नहीं कर सकीं ॥ ५४ ।

उन्होंने महादेव को प्रणाम अथवा प्रदक्षिणा भी नहीं की । इस कारण से वह देवी चली तो गईं, पर फिर नहीं लौट सकीं ॥ ५५ ।

आज जो लोग महादेव को प्रणाम किं वा प्रदक्षिणा किये बिना ही गमन करते हैं, वे सब व्यतीत दिन के समान फिर नहीं लौटते ॥ ५६ ।

वह त्रैलोक्यनाथ की रानी पदचारिणी होने से उस पवित्र मार्ग को भी बड़ा कठोर समझने लगीं ॥ ५७ ।

तब तो भगवान् शिव सती देवी को पैदल ही जाती हुई देखकर चित्त में बहुत व्यथित हुए और गणों को पुकार कर कहने लगे ॥ ५८ ।

'तुम लोग ऐसा विमान लाओ, जिसमें मन और पवन की दोनों पहिया हों, दश सहस्र सिंह लगे हों, रत्नसानु की ध्वजा से उच्छ्रित हो ॥ ५९ ।

महावातपताकं च महाबुद्ध्यक्षलक्षितम् ।
नर्मदालकनन्दा च यत्रेषादण्डतांगते ॥ ६० ।
छत्रीभूतौ च यत्र स्तः सूर्याचन्द्रमसावपि ।
यस्मिन् मकरतुण्डं च वाराहीशक्तिरुत्तमा ॥ ६१ ।
धूः स्वयं चाऽपि गायत्री रज्जवस्तक्षकादयः ।
सारथिः प्रणवो यत्र क्रेंकारः प्रणवध्वनिः ॥ ६२ ।
अङ्गानि रक्षका यत्र वरूथश्छन्दसांगणः ।
इत्याज्ञप्ता गणास्तूर्णं रथं निन्युर्हराज्ञया ॥ ६३ ।
देव्या सनाथं तं कृत्वा विमानं पार्षदा दिवि ।
अनुजग्मुर्महादेवीं दिव्यां तेजोविजृम्भिणीम् ॥ ६४ ।
सा क्षणं त्र्यक्षरमणी वीक्ष्य दक्षसभाङ्गणम् ।
नभोऽङ्गणाद्विमानस्था ततो वेगादवातरत् ॥ ६५ ।

महावातःप्रवहः पताका यस्य तत् । स महाबुद्धिर्महत्तत्त्वं सैवाक्षो मध्ये दीर्घाकारकाष्ठं तेन लक्षितम् । अलकनन्दा गङ्गा । ईषादण्डतांगते प्राप्ते । **मकराकारं तुण्डं मकरतुण्डम्** ॥ ६१ ।

धूः युगपृष्ठभागः । **क्रेंकारः** शब्दः ॥ ६२ ।

अङ्गानि शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतींषि । वरूथो रथगुप्तिः । **छन्दसांगणः** सप्तच्छन्दांसीत्यर्थः ॥ ६३ ।

तेजोविजृम्भिणीं सूर्यादितेजस्तिरस्कारिणीमित्यर्थः ॥ ६४ ।

अङ्गणम् अजिरम् ॥ ६५ ।

महावात ही की पताका हो, महत्तत्त्व के अक्ष से युक्त हो, नर्मदा, अलकनन्दाओं का ईषा (आरा) डंडा लगा रहे ॥ ६० ।

सूर्य और चन्द्र छत्र होवें, उत्तम वाराही शक्ति मगरमुँहा के स्थान पर हो ॥ ६१ ।

स्वयं गायत्री ही धुरा बनें, तक्षक इत्यादि सर्पगण रज्जु हों, प्रणव ही सारथि बने और प्रणवध्वनि ही की घर्घराहट रहे ॥ ६२ ।

वेदांग रक्षक (सईस=रथचालक) हों एवं वरूथ (टप्) सातों छन्द बनें' । इस प्रकार महादेव की आज्ञानुसार गणलोग तुरन्त रथ को ले आये ॥ ६३ ।

फिर शिव के पार्षदों ने उस विमान पर सती देवी को बैठाकर उन दिव्य तेजोमयी महादेवी के पीछे-पीछे गमन किया ॥ ६४ ।

क्षणमात्र में वह त्रिलोचन की महिषी देवी दक्ष के यज्ञमंडप में जा पहुँचीं और उसे देखते ही आकाशस्थ विमान पर से बड़े वेग के साथ उतर पड़ीं ॥ ६५ ।

अविशद्यज्ञवाटं च चकितं रक्षिवीक्षिता ।
कृतमङ्गलनेपथ्यां प्रसूं दृष्ट्वा किरीटिनीम् ॥ ६६ ।
सभर्तृकाश्च भगिनीर्नवाऽलङ्कृतिशालिनीः ।
साश्चर्याश्च सगर्वाश्च सानन्दाश्च ससाध्वसाः ॥ ६७ ।
अचिन्तिता त्वनाहूता विमानाद्धरवल्लभा ।
कथमेषा परिप्राप्ता क्षणमित्थं प्रपश्यतीः ॥ ६८ ।
असम्भाष्याऽपि ताः सर्वा गता दक्षान्तिकं सती ।
पित्रा पृष्टा तु मात्राऽपि भद्रं जातं त्वदागमे ॥ ६९ ।

सत्युवाच–

यदि भद्रं जनेतर्मे समागमनतो भवेत् ।
कथं नाऽहं समाहूता यथैता मे सहोदराः ॥ ७० ।

यज्ञवाटं यज्ञभूमिम् । चकितं सशङ्कं यथा स्यात्तथा रक्षिभिवीक्षता सती ताः प्रस्वादीः सर्वा असम्भाष्यैव दक्षाऽन्तिकं गतेति चतुर्थेनान्वयः ॥ ६६ ।
ससाध्वसाः ससम्भ्रमाः ॥ ६७ ।
[1]दृष्टेति पाठे त्वदागमे भद्रं जातमित्यध्याहर्तव्यम् । **तु** एव ॥ ६९ ।
हे जनेतः तात ॥ ७० ।

उस घड़ी रक्षक लोग चकित होकर उनको देखने लगे, पर वह सीधे यज्ञस्थान में चली गईं । (वहाँ पर) मांगलिक वेष बनाये किरीट पहने माता को देखकर (आगे बढ़ीं) ॥ ६६ ।

नये भूषणों से सुसज्जित अपने-अपने पतियों के सहित अपनी सब भगिनियों को भी देखा, जो आश्चर्य, गर्व, आनन्द और भय के साथ (परस्पर) यह कह रही थीं कि "यह हरवल्लभा विना बुलाये ही अकस्मात् विमान के द्वारा क्षणमात्र में यहाँ कैसे चली आईं" । यही सोचती हुई उनकी ओर ताक रही थीं ॥ ६७-६८ ।

पर सती देवी उन सबों से कुछ बोले (बतलाये) बिना सीधे दक्ष के पास चली गईं । तब तो उनके पिता और माता ने भी कहा कि, "तुम्हारे आ जाने से बहुत अच्छा हुआ" ॥ ६९ ।

तब सती ने कहा–"हे पितः ! यदि मेरा आना अच्छा हुआ, तो आपने मेरी सहोदराओं के ऐसा मुझे भी क्यों नहीं बुलाया" ? ॥ ७० ।

---

1. जातमित्यत्र ।

दक्ष उवाच–

अयि कन्ये महाधन्ये ह्यनन्ये सर्वमङ्गले ।
अयं ते न मनाग् दोषो दोष एव ममैव हि ॥ ७१ ।
तादृग् विधाय यत्पत्ये मया दत्ताऽज्ञबुद्धिना ।
यदहं तं समाज्ञास्यमीश्वरोऽसौ निरीश्वरः ॥ ७२ ।
तदा कथमदास्यं त्वां तस्मै मायास्वरूपिणे ।
अहं शिवाख्यया तुष्टो न जानेऽशिवरूपिणम् ॥ ७३ ।
पितामहेन बहुधा वर्णितोऽसौ ममाऽग्रतः ।
शङ्करोऽयमयं शम्भुरसौ पशुपतिः शिवः ॥ ७४ ।
श्रीकण्ठोऽसौ महेशोऽसौ सर्वज्ञोऽसौ वृषध्वजः ।
अस्मै कन्यां प्रयच्छ त्वं महादेवाय धन्विने ॥ ७५ ।

अयीति सानुकम्पे सम्बोधने । अनन्ये सर्वोत्कृष्टे इत्यर्थः ॥ ७१ ।

यदहमिति । निरीश्वर एवाऽसावीश्वर इत्यहं तं यद्यदि समाज्ञास्यं सम्यगवेदिषं तदा त्वां कथमहं तस्मै रुद्रायादास्यम् अददिषमित्यर्थः ॥ ७२ ।

अशिवरूपिणमिति च्छेदः । वस्तुतः शिवरूपिणम् । **पितामहेनेति** । ब्रह्मणा यद्यप्यसौ बहुधा वर्णितस्तथापि तं न जाने इत्यग्रिमेणान्वय इति वास्तवोऽर्थः ॥ ७३-७४ ।

दक्ष ने कहा–

"अयि महाधन्ये ! कन्ये ! तू तो सर्वश्रेष्ठा और सर्वमंगला है, इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है, वरन् सर्वथा मेरा ही दोष है ॥ ७१ ।

अपनी ही अज्ञता से मैंने तुमको वैसे पति को दे दिया, जिस निरीश्वर को मैंने पहले ईश्वर ही समझ रखा था ॥ ७२ ।

मैं यदि उस मायावी को जान लेता तो फिर तुमको उसके हाथ में क्यों देता ? मैं तो उसके शिव-नाम ही से सन्तुष्ट हो गया, पर उसका अशिवरूप नहीं समझ सका था ॥ ७३ ।

पितामह ब्रह्मा ने मुझसे बहुत बार उसे "शंकर" "शंभु" "पशुपति" और "शिव" कहकर वर्णन किया था ॥ ७४ ।

और उन्हीं ने यह भी कहा था कि ये श्रीकंठ, महेश, सर्वज्ञ और वृषध्वज हैं, सो तुम इन्हीं धनुर्धारी महादेव को अपनी कन्या का दान कर दो ॥ ७५ ।

वाक्याच्छतधृतेस्तस्मात्तस्मै दत्ता मयाऽनघे ।
न जाने तं विरूपाक्षमुक्षगं विषभक्षणम् ॥ ७६ ।
पितृकाननसंवासं शूलिनं च कपालिनम् ।
द्विजिह्वसङ्गसुभगं जलाधारं कपर्दिनम् ॥ ७७ ।
कलङ्किकृतमौलिं च धूलिधूसरचर्चितम् ।
क्वचित्कौपीनवसनं नग्नं वातूलवत् क्वचित् ॥ ७८ ।
क्वचिच्च चर्मवसनं क्वचिद् भिक्षाटनप्रियम् ।
विटङ्कभूतानुचरं स्थाणुमुग्रं तमोगुणम् ॥ ७९ ।
रुद्रं रौद्रपरीवारं महाकालवपुर्धरम् ।
नृकरोटीपरिकरं जातिगोत्रविवर्जितम् ॥ ८० ।

तत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि।लीलया विरूपाक्षम् उक्षगं वृषवाहनमित्यर्थः ॥ ७६ ।

जलं जलद आधारो यस्य तं मेघवाहनत्वात् । जलस्य गङ्गारूपस्य वा आधारः ॥ ७७ ।

कलङ्की चन्द्रः कृतो मौलौ येन तम् । **धूलिधूसरचर्चितं** धूलिभिर्धूसरत्वेन चर्चितं लिप्तम् ॥ ७८ ।

विटङ्का विरूपा भूता अनुचरा यस्य तम् ॥ ७९ ।

नृकरोटी मनुष्याऽस्थि परिकरः खट्वाङ्गादिकं यस्य तम् ॥ ८० ।

हे वत्से ! बस मैंने उन ब्रह्मा ही की बात में पड़कर तुमको उसे दे दिया, पर यह नहीं समझ सका कि वह विरूपाक्ष, वृषवाहन, विषभोजी, श्मशानवासी, त्रिशूली, कपालमाली, सर्पधारी और जलाधार जटावाला है ॥ ७६-७७ ।

वह तो अपने ललाट पर कलंकी (चंद्र) को बैठाये और समस्त शरीर को धूलि से धूसरित किये रहता है । कभी तो पागलों-सा नंगा रहता, कभी कौपीन पहन लेता है ॥ ७८ ।

कभी चमड़ा ओढ़ता और कभी भीख माँगने से प्रसन्न होता है । उस तमोगुणी उग्र, स्थाणु के भयंकर भूत लोग ही अनुचर हैं ॥ ७९ ।

वह स्वयं तो रुद्र है ही, पर उसके संगी-साथी भी सब रुद्र ही हैं । वह महाकालमूर्ति मनुष्य की हड्डियों को धारण करता है और उसके जाति और गोत्र का कोई ठिकाना नहीं है ॥ ८० ।

न सम्यग् वेत्ति तं कश्चिज्जानानोऽपि प्रतारितः ।
किं बहूक्तेन तनये समस्तनयशालिनि ॥ ८१ ।
क्व पांसुलपटच्छन्नो महाशंखविभूषणः ।
प्रबद्धसर्पकेयूरः प्रलम्बितजटासटः ॥ ८२ ।
डमड्डमरुकव्यग्रहस्ताग्रः खण्डचन्द्रभृत् ।
ताण्डवाडम्बररुचिः सर्वामङ्गलचेष्टितः ॥ ८३ ।
मृडानि स हरः क्वाऽयमध्वरो मङ्गलालयः ।
अत एव समाहूता नेह त्वं सर्वमङ्गले ॥ ८४ ।
दुकूलान्यनुकूलानि रत्नालङ्कृतयः शुभाः ।
प्रागेव धारितास्तेऽत्र पश्यागत्य गृहाण च ॥ ८५ ।

जानानोऽपि हिरण्यगर्भवचनाद्विद्वानपि प्रतारितस्तन्मायया वञ्चित इति वास्तवोऽर्थः ॥ ८१ ।

पांसुलो धूलिर्भस्म वास एव पटस्तेन च्छन्नः । **महाशंखो मनुष्याऽस्थि** ॥ ८२ ।

अज्ञानं तत्कार्यं च हरतीति हरः सर्वेषां मुक्तिदः क्व । मङ्गलालयः संसाराश्रयोऽयमध्वरः क्वेति वास्तवोऽर्थः ॥ ८४ ।

उसको पूर्ण रीति से कोई भी नहीं जान सकता और मैं तो (जानबूझ कर) धोखा खा गया । हे नयशालिनि तनये ! उसके विषय में कहाँ तक कहूँ ॥ ८१ ।

भस्म और मनुष्य की खोपड़ियाँ तो उसके अलंकार हैं और सर्पगण उसके भुजबन्ध हैं । उसकी लम्बी जटा बिखरी रहती है ॥ ८२ ।

एक टुकड़ा चन्द्रमा को माथे में मढ़कर सदैव डमरू बजाने में वह व्यग्र बना और नाचने के लिये अफनाता हुआ समस्त अमंगल चेष्टाओं से सुसज्जित रहता है ॥ ८३ ।

हे मृडानि ! भला वह हर इस मंगलमय यज्ञ में बुलाने के योग्य है ? हे सर्व-मंगले ! इसी कारण से मैंने तुमको यहाँ नहीं बुलाया ॥ ८४ ।

तुम्हारे लिये उत्तम वस्त्र और रत्नों के सुन्दर भूषण इत्यादि मैंने पहले ही से धर रखे (रख लिये) हैं । अतः तुम आओ, उनको देखकर ग्रहण करो ॥ ८५ ।

इह मङ्गलवेशेषु देवेन्द्रेषु स शूलधृक् ।
कथमर्हो भवेच्चेति मङ्गले विषमेक्षणः ॥ ८६ ।
इत्याकर्ण्य सती साध्वी जनेतुरुदितं तदा ।
अत्यन्तदूनहृदया वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ८७ ।

सत्युवाच–

नाऽऽकर्णितं मया किञ्चित्त्वयि प्रब्रुवति प्रभो ।
पदद्वयीं[1] समाकर्ण्य तां च ते कथयाम्यहम् ॥ ८८ ।
न सम्यग् वेत्ति तं कश्चिज्जानानोऽपि प्रतारितः ।
एतत् सम्यक् त्वयाऽऽख्यायि कस्तं वेत्ति सदाशिवम् ॥ ८९ ।
त्वं तु प्रतारितः पूर्वमधुनाऽपि प्रतारितः ।
कृत्वा तेन च सम्बन्धमसम्बद्धप्रलापभाक् ॥ ९० ।

इह मङ्गले मङ्गलाभासे कर्मणि स परमेश्वरः शूलधृक् सर्वसंहारकर्ता विषमेक्षणः चन्द्रसूर्याग्निनेत्रः कथमर्हो योग्यः स्यादिति वास्तवोऽर्थः ॥ ८६ ।

यथाश्रुतमादाय दूनहृदयत्वं प्रत्युत्तरं च ॥ ८७ ।

इस मंगलकर्म में जब कि इन्द्रादि समस्त देवतागण मांगलिक वेष से सुशोभित हैं, तो इनके बीच में उस शूलधारी विरूपाक्ष का बुलाना भला क्यों कर योग्य होता ?" ॥ ८६ ।

इस प्रकार से वह परमसाध्वी सती देवी पिता का वचन सुनकर बहुत ही दुःखित चित्त से कहने लगीं ॥ ८७ ।

सती बोली–

"हे प्रभो ! आप जो यह सब कह गये, इसको मैंने कुछ भी नहीं सुना, पर प्रथम ही जो दो बातें कान में पड़ गई हैं, उन्हीं के विषय में मैं आप से कहती हूँ ॥ ८८ ।

आप ने जो यह कहा कि "उसको कोई भलीभाँति से नहीं जानता और मैं तो जानते-बूझते रहने पर भी ठगा गया" सो बात बहुत ठीक है; क्योंकि उन सदाशिव को कौन जान सकता है ? ॥ ८९ ।

और आप तो जैसे पहले ठगे गये, इस घड़ी भी धोखा ही खा रहे हैं, जो कि उनसे सम्बन्ध करके फिर ऐसा असंबद्ध प्रलाप कर रहे हैं ॥ ९० ।

---

1. पदद्वयी समाकर्णीति क्वचित्पाठः ।

यादृशं वक्षितं शम्भुं तादृशं यद्यमन्यथाः ।
कुतो मामददास्तस्मै यं च कश्चन वेद न ॥ ९१ ।
अथवा तेन सम्बन्धे न हेतुर्भवतो मतिः ।
तत्र हेतुरभूत्तात मम पुण्यैकगौरवम् ॥ ९२ ।
अथोक्त्वैवं बहुतरं त्वं जनेताऽस्य वर्ष्मणः ।
श्रुताऽनेन च देहेन पत्युः परिविगर्हणा ॥ ९३ ।
पुरश्चरणमेवैतद्यदस्यैव विसर्जनम् ।
सुश्लाघ्यजन्मया तावत्प्राणितव्यं सुयोषिता ॥
यावज्जीवितनाथस्याश्रवणीया विगर्हणा ॥ ९४ ।
इत्युक्त्वा क्रोधदीप्ताग्नौ महादेवस्वरूपिणी ।
जुहाव देहसमिधं प्राणरोधविधानतः ॥ ९५ ।

वर्ष्मणः शरीरस्य ॥ ९३ ।

प्राणितव्यं जीवितव्यम् । विगर्हणायां श्रुतायां शरीरं त्यक्तव्यमिति भावः ॥ ९४ ।

महादेवस्वरूपिणी ईश्वरस्याष्टमूर्तित्वात् । प्राणरोधविधानतः प्राणरोध-प्रकारेण ॥ ९५ ।

आप ने जैसा कहा है, यदि शंकर को वैसा ही समझते थे कि उनको कोई नहीं जानता, तो फिर मुझे उनको क्यों दान कर दिया ? ॥ ९१ ।

अथवा उनके सम्बन्ध के विषय में आप की बुद्धि कोई कारण नहीं है । हे तात ! उसका कारण एकमात्र मेरे (पूर्वजन्म के) पुण्य का गौरव ही है" ॥ ९२ ।

इस प्रकार से बहुत कुछ कहने के उपरान्त वह बोली कि, मेरे इस शरीर के उत्पादक आप ही हैं और मैंने भी इसी शरीर से पति की निन्दा सुनी है ॥ ९३ ।

अतः इसका प्रायश्चित्त यही है कि, यह शरीर ही त्याग दिया जावे; क्योंकि श्लाघनीय जन्मवाली उत्तम स्त्री को तभी तक प्राण रखना चाहिए, जब तक प्राणनाथ की कोई निन्दा नहीं सुन लेवे ॥ ९४ ।

ऐसा कहकर सती देवी ने महादेवस्वरूप और क्रोध से प्रज्वलित अग्नि में प्राणरोध की विधि से अपने शरीररूप समिधा का हवन कर दिया ॥ ९५ ।

चौपाई– **अस कहि जोग अगिनि तनु जारा ।**
भयेउ सकल मख हाहाकारा" ॥ (तु. रामायण)

ततो विवर्णतां प्राप्ताः सर्वे देवाः सवासवाः ।
नाऽग्निर्जज्वाल च तथा यथाज्याहुतिभिः पुरा ॥ ९६ ।
मन्त्राः कुण्ठितसामर्थ्यास्तत्क्षणादेव चाऽभवन् ।
अहो महानिष्टतरं किमेतत्समुपस्थितम् ॥ ९७ ।
केचिदूचुर्द्विजवरा मिथः परिययियासवः ।
महाझंझानिलः प्राप्तः पर्वतान्दोलनक्षमः ॥ ९८ ।
मखमण्डपभूस्तेन क्षणतः स्थपुटीकृता ।
अकाण्डं तडिदापातो जातोऽभूद्भू भूप्रकम्पनः ॥ ९९ ।
दिवश्चोल्काः प्रपतिताः पिशाचा नृत्यमादधुः ।
आतापि गृध्रैरुपरि गगने मण्डलायितम् ॥ १०० ।
रवेरधस्तादशिवं शिवास्तत्राप्यरारिषुः ।
मेघा रुधिरविप्रुड्भिस्तत्र वृष्टिं व्यधुः पराम् ॥ १०१ ।
निर्घातनिःस्वनो भूमेरुत्थितो हृत्प्रकम्पनः ।
दिव्यायुधानि च मिथो युध्यन्ति स्माऽतिभीषणम् ॥ १०२ ।

झंझा कठोरः ॥ ९८ ।
स्थपुटीकृता तृणादिनाच्छादिता ॥ ९९ ।
अरारिषुः शब्दं चक्रुः । रुधिरविप्रुड्भिः रक्तबिन्दुभिः ॥ १०१ ।

तब तो इन्द्रादिक समग्र देवता लोग हतश्री हो गये । अग्नि पहले-सा आहुति पाने पर प्रज्वलित नहीं होता था ॥ ९६ ।

मंत्रगण उसी घड़ी कुंठित सामर्थ्यवाले हो गये "अहो, यह परम अनिष्टतर कहाँ से आ पहुँचा" ॥ ९७ ।

परस्पर यह कहते हुए कोई-कोई ब्राह्मण लोग चल देने की इच्छा करने लगे । इसी में पर्वतों को हिला देनेवाली बड़ी भारी आँधी बहने लगी ॥ ९८ ।

उसने क्षणभर में उस यज्ञभूमि को छा लिया । अकस्मात् बिजली के गिरने से (विद्युत्पात से) भूडोल होने लगा ॥ ९९ ।

आकाश से लुक्क गिरने लगे, पिशाचों ने नाचना आरंभ किया, ऊपर गगन में गिद्धों के झुंड सूर्य के नीचे भयंकर मंडल बाँधकर चारों ओर से तोपने लगे (सूर्य को ढँकने लगे) । वहाँ पर सियारिनें फेंकरने लगीं । मेघ लोग रुधिर की बूँदों से घोर वृष्टि करने लगे ॥ १००-१०१ ।

हृदय को हिला देनेवाला भूमि को टकराने का शब्द होने लगा । दिव्य आयुधगण आप से आप लड़ने लगे ॥ १०२ ।

हवनीयं महाद्रव्यं दूषितं क्रोष्टुभिः श्वभिः ।
चकोराः करटास्तत्र विचेरुर्यज्ञमण्डपे ॥ १०३ ।
श्मशानवाटवज्जातो यज्ञवाटः स वै क्षणात् ।
यद्यत्रावस्थितं सर्वं तत्तत्रैव परिष्ठितम् ॥ १०४ ।
चित्रन्यस्तमिवासीच्च वस्तुजातमशोभि च ।
स्थगिता इव संवृत्तास्तत्र चक्रधरादयः ॥ १०५ ।
दक्षोऽपि वदनम्लानिमवाप्य सपरिच्छदः ।
पुनर्यथाकथञ्चिच्च यज्ञं प्रावर्तयन् द्विजाः ॥ १०६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे सतीदेहविसर्जनं नामाऽष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ।

क्रोष्टुभिः सृगालैः श्वभिश्च । चकोराश्चन्द्ररश्मिभोक्तारः पक्षिविशेषाः । करटाः काकाः ॥ १०३ ।

अशोभि शोभारहितम् । स्थगिताः शङ्किताः जृम्भिता इति वा ॥ १०५ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ।

हवन की सामग्री को सियार और कुक्कुरों ने दूषित कर दिया एवं उस यज्ञमण्डप में चकोर और कौवा इत्यादि पक्षिगण घूमने लगे ॥ १०३ ।

वह यज्ञभूमि क्षणमात्र में श्मशानभूमि के समान हो गई, जो जहाँ पड़ा था, वह सब वहीं पर (पड़ा) रह गया ॥ १०४ ।

मानो वह सब चित्रलिखित हो गया और सभी वस्तुएँ शोभाहीन हो गईं एवं विष्णु इत्यादि देवगण भी वहाँ पर सन्नाटे में आ गये ॥ १०५ ।

अपने सब लोगों के साथ दक्ष का भी मुख कुम्हिला गया । (यह सब देखकर) ब्राह्मण लोग फिर से यज्ञ आरंभ करने का उद्योग करने लगे ॥ १०६ ।

दोहा— होत अनीश्वर कर्म नहिं, यह जानत सब कोय ।
पै माया के फाँस परि, होनी होय सो होय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायाम्
अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ।

●

॥ अथैकोननवतितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच –

पुनः स नारदोऽगस्त्य देव्याः प्राक् समुपागतः ।
तद्वृत्तान्तमशेषं च हरायाऽऽवेदितुं ययौ ॥ १ ।
दृष्ट्वा स नारदः शम्भुं नन्दिना सह सङ्कथाम् ।
काञ्चित्तर्जनिविन्यासपूर्वं कुर्वन्तमानमत् ॥ २ ।
उपाविशच्च शैलादिविसृष्टासनमुत्तमम् ।
वैलक्ष्यं नाटयन् किञ्चित्क्षणं जोषं समास्थितः ॥ ३ ।
आकारेणैव सर्वज्ञस्तद्वृत्तान्तं विवेद ह ।
अवादीच्च मुनिं शम्भुः कुतो मौनाऽवलम्बनम् ॥ ४ ।
शरीरिणां स्थितिरियमुत्पत्तिप्रलयात्मिका ।
दिव्यान्यपि शरीराणि कालाद्यान्त्येवमेव हि ॥ ५ ।

नवाशीतितमेऽध्याये यज्ञध्वंसादिपूर्वकम् ।
दक्षेश्वरसमुत्पत्तिर्वर्ण्यतेऽतिमनोहरा ॥ १ ।

वैलक्ष्यमिति । किञ्चिद् वैलक्ष्यं नाटयन् पूर्वागमनादीषदन्यथात्वं घटयन् । यद्वा लक्ष्यत इति लक्ष्यं शरीरं विगतं लक्ष्यं वैलक्ष्यम् । स्वार्थे तद्धितः । किञ्चिद्यथा स्यात्तथा वैलक्ष्यं सत्या देहत्यागमाकारेण प्रकटयन् क्षणं जोषं तूष्णीं समास्थित इत्यर्थः ॥ ३ ।

(दक्ष के यज्ञ का विध्वंस और दक्षेश्वर की उत्पत्ति)

स्कन्द बोले –

हे अगस्त्य! नारद मुनि देवी के पहले ही वहाँ पहुँच गये और वहाँ के सब वृत्तान्त को महादेव से कहने के लिये फिर चल दिये ॥ १ ।

नारद ने महेश्वर को नन्दी के साथ तर्जनी हिलाकर कुछ बातचीच करते हुए देखकर प्रणाम किया ॥ २ ।

फिर नन्दी के दिये हुए आसन पर उदासीन भाव से बैठ गये और क्षणमात्र कुछ नहीं बोले ॥ ३ ।

सर्वज्ञ शिव ने आकार ही से उनका वृत्तान्त समझ लिया, फिर मुनि से कहा कि "यह मौनावलम्बन क्यों हुआ है?" ॥ ४ ।

उत्पन्न होना और मर जाना यह तो शरीरधारियों की स्थिति ही है और इसी प्रकार से दिव्य शरीर भी कालानुसार गत हो जाती हैं ॥ ५ ।

दृश्यं विनश्वरं सर्वं विशेषाद्यदनीश्वरम् ।
ततोऽत्र चित्रं किं ब्रह्मन् कङ्कालः कालयेन्न वै ॥ ६ ।
अभाविनो हि भावस्य भावः क्वापि न सम्भवेत् ।
भाविनोऽपि हि नाभावस्ततो मुह्यन्ति नो बुधाः ॥ ७ ।
शम्भूदीरितमाकर्ण्य स इत्थं मुनिपुङ्गवः ।
प्रोक्तवान् सत्यमेवैतद्यद्देवेन प्रभाषितम् ॥ ८ ।
अवश्यमेव यद्भाव्यं तद्भूतं नाऽत्र संशयः ।
परं मां बाधतेऽत्यन्तं चिन्तैका चित्तमाथिनी ॥ ९ ।

अनीश्वरमस्वतन्त्रम् । कालयेच्चालयेन्नाशयेदिति यावत् ॥ ६ ।
अभाविनोऽसतः पदार्थस्य । भाविनः सतः पदार्थस्य । तदुक्तमीश्वरेण –
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः इति ॥ ७ ।

जो कुछ दीख पड़ता है, वह सब विनश्वर है और जो वस्तु अस्वतंत्र है, वह तो विशेषरूप से नश्वर होती ही है । अतएव हे ब्रह्मन्! इस विषय में आश्चर्य क्या है ? भला काल किसे नहीं नाश करता (काल काहि नहिं खाय–तु. रा.) ॥ ६ ।

जो भावी नहीं है, उसका होना भी कदापि संभव नहीं है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी होता भी नहीं, इसलिए पंडित लोग इस विषय में मोहित नहीं होते ।

दोहा– **जो होनी सो होत है, अनहोनी नहिं होय ।**
पंडित मोहित होत नहिं, अस बिचारि मन सोय ॥ ७ ।

शंभु भगवान् का यह कथन सुनकर उस मुनिपुंगव ने कहा– प्रभु जो कहते हैं, वह तो ठीक ही है ॥ ८ ।

जो कुछ होनहार था, वह तो हो चुका, इसमें कुछ सन्देह नहीं । पर चित्त को मथ डालनेवाली एक चिन्ता मुझे बहुत ही क्लेश दे रही है ॥ ९ ।

नाऽपचीयेत ते किञ्चिन्नोपचीयेत तत्त्वतः ।
अव्ययत्वाच्च पूर्णत्वाद्धानिवृद्धी कुतस्त्वयि ॥ १० ।
अहो वराकः संसारः क्व भविष्यत्यनीश्वरः ।
आरभ्याऽद्य दिनं न त्वामर्चयिष्यन्ति केऽपि यत् ॥ ११ ।
यतः प्रजापतिर्दक्षो न त्वामाहूतवान् क्रतौ ।
तेनाद्य रीढितं दृष्ट्वा देवर्षिमनुजा अपि ॥ १२ ।
तव रीढां करिष्यन्ति किमैश्वर्येण रीढिनाम् ।
प्राप्तावहेडना लोके जितकालभया अपि ॥
अथैश्वर्येण सम्पन्नाः प्रतिष्ठाभाजनं किमु ॥ १३ ।
महीयसायुषा तेषां वसुभिर्भूरिभिश्च किम् ।
येऽभिमानधना नेह लब्धरीढाः पदे पदे ॥ १४ ।

नापचीयेत न हीयेत । नोपचीयेत न वर्धेत । एतदेव हेतुपूर्वकं स्पष्टयति— **अव्ययत्वादिति** । अव्ययत्वाद्धानिर्नास्ति पूर्णत्वाद्वृद्धिर्नास्तीत्यर्थः ॥ १० ।

यद्यस्मात् ॥ ११ ।

रीढितम् अवज्ञातम् । वीटितमिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ १२ ।

हेडनेति डलयोरेकत्वात् । प्रतिष्ठाभाजनं किं काक्वा नेत्यर्थः । इति वितर्के सम्बोधने वा ॥ १३ ।

अभिमानधना येन ते लब्धरीढाः प्राप्तावहेलनाः ॥ १४ ।

वस्तुतः आप का न तो कुछ घटता ही है; न बढ़ता ही, क्योंकि अव्यय और पूर्ण होने के कारण आपके विषय में हानि और वृद्धि कहाँ से हो सकती है ॥ १० ।

अहो! यह तुच्छ (बिचारा) संसार अनीश्वर होकर कहाँ जायगा? क्योंकि आज से अब कोई भी आपका पूजन नहीं करेगा ॥ ११ ।

कारण यही कि, प्रजापति दक्ष ने यज्ञ में आपको नहीं बुलाया, तब आज उसी द्वारा आपको अपमानित देखकर देवता, ऋषि और मनुष्य लोग भी आप का अपमान करने लगेंगे । तब जो अपमानित ही हुआ, उसे ऐश्वर्य का कौन काम है? संसार में जो लोग अपमानित हो जाते हैं, वे चाहे कालभय को जीत लेवें, अथवा ऐश्वर्य से सम्पन्न रहें, पर क्या वे प्रतिष्ठा के पात्र हो सकते हैं? ॥ १२-१३ ।

जगत् में जो लोग पद-पद पर अपमानित होकर अपने मानरूप धन की रक्षा नहीं कर सकते, वे बहुत बड़ी आयुष्य अथवा धनसम्पत्ति को लेकर क्या करेंगे? ॥ १४ ।

अचेतनाश्च सावज्ञा जीवन्तोऽपि न कीर्तये ।
अभिमानधना धन्या वरं योषित्सु सा सती ॥ १५ ।
या त्वद्विनिन्दाश्रवणात्तृणीचक्रेक्रे स्वजीवितम् ।
इत्याकर्ण्य महाकालः सम्यग् ज्ञात्वा सतीव्ययम् ॥ १६ ।
सत्यं मुने सती देवी तृणीचक्रे स्वजीवितम् ।
जोषं स्थिते मुनौ तत्र तन्महाकालसाध्वसात् ॥ १७ ।
रुद्रश्चातीवरुद्रोऽभूद् बहुकोपाग्निदीपितः ।
ततस्तत्कोपजाद् वह्नेराविरासीन्महाद्युतिः ॥ १८ ।
प्रत्यक्षः प्रतिमाकारः कालमृत्युप्रकम्पनः ।
उवाच च प्रणम्येशं भुशुण्डीं महतीं दधत् ॥ १९ ।
आज्ञां देहि पितः किं ते करवै दास्यमुत्तमम् ।
ब्रह्माण्डमेककवलं करवाणि त्वदाज्ञया ॥ २० ।

वरं श्रेष्ठं यथा स्यात्केवलमिति वा ॥ १५ ।

महाकालः सर्वसंहारक इत्यर्थः । स कालकाल ईश्वरः कालमूषिकभक्षक इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः ॥ १६ ।

सत्यमित्याद्याहेति शेषः । **जोषं** तूष्णीमिति गुह्योक्तिः ॥ १७ ।

प्रतिमाकारः पर्वतान्निःसृतपुत्तलिकाकारः । अभूतोपमेयम् ॥ १९ ।

करवै करोमि ॥ २० ।

अचेतन अथवा अपमानित लोग जीते रहने पर भी कीर्तन करने के योग्य नहीं होते, वरन् स्त्रियों में अभिमान-धनवती वह सती देवी ही धन्य हैं ॥ १५ ।

उन्होंने आपकी निन्दा सुनते ही अपने जीवन को तृण के समान त्याग दिया । यह सुनते ही भगवान् महाकाल सम्पूर्ण रीति से सती देवी का शरीर-त्याग समझकर ॥ १६ ।

(बोले कि) 'हे मुने! क्या सचमुच सती देवी ने अपने जीवन को तृणवत् परित्याग कर दिया ?' अनन्तर महाकाल के भय से नारदमुनि के मौन रह जाने पर रुद्रदेव प्रचंड कोपाग्नि से प्रज्चलित होकर घोर रुद्रमूर्ति हो गये । तदनन्तर उनके कोपानल से बड़ा द्युतिशाली, प्रत्यक्ष पर्वताकार, कालमृत्यु-प्रकम्पन, विशाल भुशुंडधररी एक पुरुष प्रकट हो महादेव को प्रणाम करके कहने लगा ॥ १७-१९ ।

'हे पितः! आज्ञा दीजिए कि आपके उत्तम दासोचित किस कार्य को मैं करूँ ? यदि आज्ञा हो तो इस ब्रह्मांड को एक ही कवर (ग्रास) में खा डालूँ? ॥ २० ।

पिबामि चाऽर्णवान् सप्ताऽप्येकेन चुलुकेन वै ।
रसातलं वा पातालं पातालं वा रसातलम् ॥ २१ ।
त्वदाज्ञया नयामीश विनिमय्य स्वहेलया ।
सलोकपालमिन्द्रं वा धृत्वा केशैरिहानये ॥ २२ ।
अपि वैकुण्ठनाथश्चेत्तत्साहाय्यं करिष्यति ।
तदा तं कुण्ठितास्त्रं च करिष्यामि त्वदाज्ञया ॥ २३ ।
दनुजा दितिजाः के वै वराका रणदुर्बलाः ।
तेषु चोत्कटतां कोऽपि धत्ते तं प्रणिहन्म्यहम् ॥ २४ ।
कालं बध्नामि वा संख्ये मृत्योर्वा मृत्युमर्थये ।
स्थावरेषु चरेष्वत्र मयि क्रुद्धे रणाऽङ्गणे ॥ २५ ।
त्वद्बलेन महेशान न कोऽपि स्थैर्यमेष्यति ।
मम पादतलाघातादेतद्वै क्षोणिमण्डलम् ॥ २६ ।
कदलीदलवद्र वाताद् वेपते सरसातलम् ।
चूर्णीकरोमि दोर्दण्डघाताच्चैतान् कुलाचलान् ॥ २७ ।

विनिमय्य परिवर्त्य । **स्वहेलया** स्वीयलीलया । आशु हेलयेति क्वचित् ॥ २२ ।
तेषु मध्ये । **प्रणिहन्मि** प्रकर्षेण निहन्मि ॥ २४ ।

अथवा एक ही चिल्लू में सातों समुद्रों को पी जाऊँ? हे नाथ! यदि आप की आज्ञा पाऊँ तो भूतल को पाताल में वा पाताल को भूतल के स्थान पर खेलवाड़ के साथ उठाकर धर दूँ । अथवा लोकपालों के सहित देवराज इन्द्र की चुन्डी (शिख) पकड़ कर यहाँ धर लाऊँ? ॥ २१-२२ ।

यदि वैकुंठनाथ भी उसकी सहायता करने के लिये आवें, तो उनको भी आप की आज्ञानुसार कुंठितास्त्र कर दूँ ॥ २३।

फिर ये सब रणदुर्बल तुच्छ दैत्य, दानव किस गिनती में हैं, यदि उन सबों में कोई प्रबल हुआ हो तो उसे मैं अभी मार डालूँ? ॥ २४ ।

युद्ध में काल को भी बाँध ला सकता हूँ, किं वा मृत्यु की भी मृत्यु उपस्थित कर दे सकता हूँ। हे महेश्वर! आप के प्रताप से जब मैं समरांगण में क्रुद्ध हो जाऊँगा, तो चराचर में कोई भी स्थिर नहीं रहने पावेगा, मेरे लात मार देने से यह भूमंडल रसातल के सहित केला के पत्ते-सा काँपने लगेगा । इन भुजदंडों के टक्करों से मैं समस्त कुलाचलों को चूर-चूर कर दे सकता हूँ ॥ २५-२७ ।

किं बहूक्तेन देह्याज्ञां ममाऽसाध्यं न किञ्चन् ।
त्वत्पादबलमासाद्य कृतं विद्ध्यद्य चिन्तितम् ॥ २८ ।
इति प्रतिज्ञां तस्येशः श्रुत्वा कृतममन्यत ।
कृतकृत्यमिवाऽत्यन्तं तं मुदा प्रत्युवाच च ॥ २९ ।
महावीरोऽसिरे भद्र मम सर्वगणेष्विह ।
वीरभद्राख्यया त्वं हि प्रथितिं परमां व्रज ॥ ३० ।
कुरु मे सत्वरं कार्यं दक्षयज्ञं क्षयं नय ।
ये त्वां तत्राऽवमन्यन्ते तत्साहाय्यविधायिनः ॥ ३१ ।
ते त्वयाऽप्यवमन्तव्या व्रज पुत्र शुभोदय ।
इत्याज्ञां मूर्ध्नि चाधाय स ततः पारमेश्वरीम् ॥ ३२ ।
हरं प्रदक्षिणीकृत्य जग्मिवानतिरंहसा ।
ततस्तदनुगान् शम्भुः स्वनिःश्वाससमुद्गतान् ॥ ३३ ।
शतकोटिमितानुग्रान् गणानन्यानवासृजत् ।
ते गणा वीरभद्रं तं यान्तं केचित्पुरो गताः ॥ ३४ ।
केचित्तदनुगा जाताः केचित्तत्पार्श्वगा ययुः ।
अम्बरं तैः समाक्रान्तं तेजोविजितभास्करैः ॥ ३५ ।

कृतं कृत्यं येन तमिव सम्पादितकार्यमिव ॥ २९ ।
अवासृजत् सृष्टवान् । असीसृजदिति क्वचित् ॥ ३४ ।

(बहुत कहाँ तक कहूँ) आप आज्ञा देवें तो मेरे लिये कुछ भी असाध्य नहीं है । आप के चरणों का बल पाकर आज अभीष्ट कृत्य को सिद्ध ही समझिये'॥ २८ ।

महेश्वर उसकी ऐसी प्रतिज्ञा सुन उसे कार्यसाधक समझ, वरन् कृतकृत्य-सा विचार कर बड़े ही हर्ष से कहने लगे ॥ २९ ।

"हे भद्र! तुम मेरे समस्त गणों में महावीर हो, अतएव तुम वीरभद्र नाम से बड़े प्रसिद्ध होओ ॥ ३० ।

हे शुभोदय! पुत्र! तुम शीघ्र ही मेरा यह काम करो कि, दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर डालो और जो लोग उसके सहायक होकर तुम्हारा अपमान करने लगें, तो तुम भी उन सबको तिरस्कृत कर देना, अभी चले जाओ" । वीरभद्र इस प्रकार से महादेव की आज्ञा को माथे पर रखकर उनकी प्रदक्षिणा करके बड़े वेग से चल दिये । तदनन्तर शिव ने अपने निःश्वास-वायु से उत्पादित सौ करोड़ दूसरे बड़े उग्र गणों को वीरभद्र की अनुचरता के लिये उत्पन्न कर दिया । वे सब गणलोग वीरभद्र को जाते हुए देखकर कुछ तो पीछे हुए और कोई-कोई पास में चलने लगे । उन सब सूर्याधिक तेजस्वी गणों से आकाश भर गया ॥ ३१-३५ ।

शृङ्गाग्राणि गिरीणां च कैश्चिदुत्पाटितानि वै ।
आचूडमूलाः कैश्चिच्च विधूता वै शिलोच्चयाः ॥ ३६ ।
उत्पाट्य महतो वृक्षान् केचित्प्राप्ता मखाऽङ्गणम् ।
कैश्चिदुत्पाटिता यूपाः केचित्कुण्डान्यपूपुरन् ॥ ३७ ।
मण्डपं ध्वंसयामासुः केचित्क्रोधोद्धुरा गणाः ।
अचीखनन् वै वेदीश्च केचिद्वै शूलपाणयः ॥
अभक्षयन् हवींष्यन्ये पृषदाज्यं पपुः परे ॥ ३८ ।
दध्वंसुरन्नराशींश्च केचित्पर्वतसन्निभान् ।
केचिद्वै पायसाहाराः केचिद्वै क्षीरपायिनः ॥ ३९ ।
केचित्पक्वान्नपुष्टाङ्गा यज्ञपात्राण्यचूर्णयन् ।
अमोटयन् स्रुचां दण्डान् केचिद्दोर्दण्डशालिनः ॥ ४० ।

आचूडमूलाः समग्रा इत्यर्थः । विधूताः कम्पिता उत्पाटिता इति वा ॥ ३६ ।
अचीखनन् खनयामासुः । वै निश्चितं प्रसिद्धौ वा । वितर्दीरिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । **पृषद्** दधि ॥ ३८ ।
दध्वंसुः ध्वंसयामासुः ॥ ३९ ।
स्रुचां स्रुगादीनामित्यर्थः । स्रुवादींश्चेति क्वचित् ॥ ४० ।

कितने ही गणों ने पर्वतों की चोटियाँ उखाड़ लीं । कितनों ने पहाड़ों को जड़ से लेकर चोटियों तक हिला दिया ॥ ३६ ।

कोई-कोई बड़े-बड़े वृक्षों ही को उखाड़ कर लिये हुए यज्ञभूमि में जा पहुँचे । वहाँ पर कोई तो यज्ञ के खंभों को उखाड़ने लगा, कोई कुंड़ों ही को पाटने लगा ॥ ३७ ।

कोई क्रोधोन्मत्त होकर मंडप ही को उजाड़ने लगा । कोई-कोई हाथ में त्रिशूल लेकर वेदियों ही को खोदने लगा । दूसरे गण हवि ही खाने लगे । अन्य लोग दही, घृत को पीने लगे ॥ ३८ ।

कोई-कोई पर्वताकार अन्नों की ढेरों ही को छितराने लगे । कुछ गण पायस ही खाने लगे और कुछ दूध ही पीने लगे ॥ ३९ ।

किसी-किसी ने पकवानों को खा-खाकर यज्ञ के पात्रों ही को फोड़ना आरंभ कर दिया । किसी-किसी भुजदंडशालियों ने स्रुवा और दंड इत्यादि को तोड़ डाला ॥ ४० ।

व्यभञ्जञ्छकटान् केचित्पशून् केचिदजीगिलन् ।
अग्निं निर्वापयामासुः केचिदत्यग्नितेजसः ॥ ४१ ।
स्वयं परिदधुश्चान्ये दुकूलानि मुदायुताः ।
जगृहुः केचन पुरा रत्नानां पर्वतं कृतम् ॥ ४२ ।
एकेन च भगोदेवः पश्यंश्चक्रेऽविलोचनः ।
पूष्णो दंन्तावलीमन्यः पातयामास कोपितः ॥ ४३ ।
यज्ञः पलायितो दृष्टः केनचिन्मृगरूपधृक् ।
शिरोविरहितश्चक्रे तेन चक्रेण दूरतः ॥ ४४ ।
एकः सरस्वतीं यान्तीं दृष्ट्वा निर्नासिकां व्यधात् ।
अदितेरोष्ठपुटकौ छिन्नावन्येन कोपिना ॥ ४५ ।
अर्यम्णो बाहुयुगलं तथोत्पाटितवान् परः ।
अग्नेरुत्पाटयामास कश्चिज्जिह्वां प्रसह्य च ॥ ४६ ।
चिच्छेद वायोर्वृषणं पार्षदोऽन्यः प्रतापवान् ।
पाशयित्वा यमं कश्चित् को धर्म इति पृष्टवान् ॥ ४७ ।

केनचिद् येन दृष्टस्तेनेत्यर्थः ॥ ४४ ।
निर्नासिकां व्यधात् विगतनासिकामकरोत् ॥ ४५ ।
पाशयित्वा बद्ध्वा ॥ ४७ ।

कोई तो शकटों के टुकड़े-टुकड़े करने लगे, कोई पशुओं को निगलने लगे । कोई अग्नि के समान तेजस्वी गण अग्नि ही को बुझाने लगे ॥ ४१ ।

दूसरे स्वयं हर्ष के साथ वहाँ के कपड़ों को पहनने लगे । कोई-कोई पहले के बने हुए रत्नों के पर्वतों ही को लूटने लगे ॥ ४२ ।

एक ने भगदेव को ताकते हुए देखकर उसकी आँख ही को निकाल लिया, दूसरे ने कुपित होकर पूषादेव के दाँतों ही को उखाड़ दिया ॥ ४३ ।

किसी ने यज्ञदेव को मृग का रूप धरकर भागते हुए देख लिया, उसने चक्र के द्वारा दूर ही से उसका शिर काट गिराया ॥ ४४ ।

एक ने सरस्वती देवी को जाती हुई देखकर उसे नकटी बना दिया । दूसरे ने कोप करके अदिति के दोनों ओठों को काट लिया ॥ ४५ ।

अपर किसी गण ने अर्यमा देव के दोनों हाथों को उखाड़ लिया । एक ने बलपूर्वक अग्निदेव की जीभ ही निकाल बाहर कर दी ॥ ४६ ।

दूसरे प्रतापी पारिषद ने वायु के अंडकोशों को काट डाला । एक ने यमराज को बाँधकर पूछा कि, "धर्म क्या है? ॥ ४७ ।

यत्र धर्मे महेशो न प्रथमं परिपूज्यते ।
नैर्ऋतं सङ्गृहीत्वाऽन्यः केशेष्वातोल्य[1] चासकृत् ॥ ४८ ।
अनीश्वरं हविर्भुक्तं त्वयेत्याताडयत्पदा ।
कुबेरमपरो धृत्वा पादयोरधुनोद् बलात् ॥ ४९ ।
वामयामास बहुशो भक्षिता ह्यध्वराहुतीः ।
एकादशापि ये रुद्रा लोकपालैकपङ्क्तयः ॥ ५० ।
रुद्राख्याधारणवशात्प्रमथैस्तेऽवहेलिताः ।
वरुणोदरमापीड्य प्रमथोऽन्यो बलेन हि ॥ ५१ ।
बहिरुद्गिरयामास यद्दत्तं चेशवर्जितम् ।
मायूरीं तनुमासाद्य सहस्राक्षो महामतिः ॥ ५२ ।
उड्डीय गिरिमाश्रित्य छन्नः कौतुकमैक्षत ।
ब्राह्मणान् प्रमथा नत्वा यातायातेति चाऽब्रुवन् ॥ ५३ ।

आतोल्य आकृष्य ॥ ४८ ।
पादयोः पादौ धृत्वाऽधुनोत् अकम्पयत् ॥ ४९ ।
वामयामास उद्गिरयामास च । भक्षिता[2] भक्षकः ॥ ५० ।
जगौ उवाच ॥ ५५ ।

जिस धर्म में प्रथम महेश्वर की पूजा नहीं होती, वह कौन धर्म है"? किसी एक ने नैर्ऋत की चुन्डी पकड़ बार-बार हिलाया ॥ ४८ ।

और कहा "तूने अनीश्वर हवि खाया है" यह कहकर लातों से मार गिराया । दूसरे ने कुबेर का पैर पकड़कर ऐसा घुमाया कि वह जो बहुत-सी यज्ञ की आहुतियाँ खा गये थे, उसे उगल दिया । लोकपालों की एक ही पंक्ति में बैंठे हुए ग्यारहों रुद्रों को प्रमथों ने रुद्र का नाम पड़ जाने से (विना कुछ कहे-सुने) अवज्ञापूर्वक छोड़ दिया । दूसरे एक गण ने बलपूर्वक वरुण का पेट ऐसा दबाया कि जब शिवभागहीन दक्ष की दी हुई हवि को उनसे वमन कराकर तभी छोड़ा । महामति इन्द्र मयूर का शरीर धर पर्वत पर उड़ जाकर छिपे हुए वहाँ का कौतुक देखने लगे । प्रमथों ने ब्राह्मणों को प्रणाम करके कहा कि, चले जाओ, चले जाओ ॥ ४९-५३ ।

---

1. पुस्तकान्तरे मूले टीकायां चालोल्येति पाठः ।
2. भक्षिता अध्वराहुतीर्वामयामासेत्यर्थः, कुतो न कृत इति विचारणीयम् ।

प्रमथाः कालयामासुरन्यानपि च याचकान् ।
इत्थं प्रमथिते यागे प्रमथैः प्रथमागतैः ॥
वीरभद्रः स्वतः प्राप्तः प्रमथानीकिनीवृतः ॥ ५४ ।
यज्ञवाटं श्मशानाभं दृष्ट्वा तैः प्रमथैः पुरा ।
अतिशोच्यां दशां नीतं वीरभद्रस्ततो जगौ ॥ ५५ ।
गणाः पश्यत दुर्वृत्तैः प्रारब्धानां च कर्मणाम् ।
अनीश्वरैरवस्थेयं कुतो द्वेषो महेश्वरे ॥ ५६ ।
ये द्विषन्ति महादेवं सर्वकर्मैकसाक्षिणम् ।
धर्मकार्ये प्रवृत्तास्तु ते प्राप्स्यन्तीदृशीं दशाम् ॥ ५७ ।
क्व स दक्षो दुराचारः क्व च यज्ञभुजः सुराः ।
धृत्वा सर्वानानयत यात द्रुततरं गणाः ॥ ५८ ।
इत्याज्ञां वीरभद्रस्य प्राप्य ते प्रमथा द्रुतम् ।
यावद्यान्त्यग्रतस्तावद्दृष्टः क्रुद्धो गदाधरः ॥ ५९ ।
तेन ते प्रमथाः सर्वे महाबलपराक्रमाः ।
शुष्कपर्णतृणावस्थां प्रापिता वात्ययेव हि ॥ ६० ।

अतः कुतो महेश्वरे द्वेष इति ॥ ५६ ।
वात्यया चक्रवातेन ॥ ६० ।

फिर और सब भी भिक्षुकों को गणलोगों ने भगा दिया । इस प्रकार से प्रथम ही आये हुए प्रमथ लोगों के यज्ञ मथ डालने पर प्रमथसेनावृत वीरभद्र स्वतः वहाँ पर प्राप्त हुए ॥ ५४ ।

अनन्तर वीरभद्र ने पहले ही उन सब प्रमथलोगों की करतूत से उस यज्ञस्थान को श्मशानभूमि की तरह बड़ी शोचनीय दशा को प्राप्त हुई देखकर यह कहा ॥ ५५ ।

'हे प्रमथगण! देखो, ईश्वर से पराङ्मुख दुराचारी लोगों के प्रारंभ किये हुए कर्मों की यही अवस्था होती है । नहीं तो महेश्वर में द्वेष कहाँ है ? ॥ ५६ ।

जो लोग धर्मकार्य में प्रवृत्त होने पर भी सब कर्मों के एकमात्र साक्षिस्वरूप महादेव से द्वेष करते हैं, वे ही सब इस दशा को प्राप्त होते हैं ॥ ५७ ।

प्रमथगण! वह दुराचारी दक्ष कहाँ है? तथा वे सब यज्ञभोजी देवतागण कहाँ हैं? तुम लोग अभी जाओ और उन सबों को यहाँ पकड़ लाओ' ॥ ५८ ।

इस भाँति से वीरभद्र की आज्ञानुसार प्रमथगण शीघ्रतापूर्वक ज्यों ही आगे बढ़े, त्यों ही क्रोधान्वित गदाधर देख पड़े ॥ ५९ ।

उन्होंने उन सब महाबली और बड़े पराक्रमी प्रमथों को भारी आँधी के आगे सूखे पत्तों की तरह उधिरा दिया ॥ ६० ।

अथ नष्टेषु सर्वेषु प्रमथेषु हरेर्भयात् ।
चुकोप वीरभद्रः स प्रलयानलसन्निभः ॥ ६१ ।
ददर्श शार्ङ्गिणं चाग्रे स्वगणैश्च परिष्टुतम् ।
चतुर्भुजैरसंख्यातैर्जितदैत्यमहाबलैः ॥ ६२ ।
चक्रिभिर्गदिभिर्जुष्टं खड्गिभिश्चापि शार्ङ्गिभिः ।
वीरभद्रस्ततः प्राह दृष्ट्वा तं दैत्यसूदनम् ॥ ६३ ।
त्वं तु यज्ञपुमानत्र महायज्ञप्रवर्तकः ।
रक्षिता निजवीर्येण दक्षस्य त्र्यक्षवैरिणः ॥ ६४।
किं वा दक्षं समानीय देहि युध्यस्व वा मया ।
न दास्यसि च चेद्दक्षं ततस्तं रक्ष यत्नतः ॥ ६५ ।
प्रायशः शम्भुभक्तेषु यतस्त्वं प्रोच्यसेऽग्रणीः ।
एकोनेऽब्जसहस्रे प्राग् ददौ नेत्राम्बुजं भवान् ॥ ६६ ।

नष्टेष्वदर्शनं गतेषु ॥ ६१ ।

ततस्तं रक्ष यत्नत इति गर्वोक्तिः ॥ ६५ ।

किञ्च युद्धं तदप्रदानं च त्वयि न सम्भाव्यत इत्याह–**प्रायश इति** । यद्वा रक्ष बद्ध्वा स्थापय । तत्र हेतुमाह–**प्रायश इति** । नेत्ररूपमम्बुजं नेत्राम्बुजम् ॥ ६६ ।

इसके उपरान्त विष्णु के भय से उन सब प्रमथों के भाग जाने पर वीरभद्र प्रलयानल के समान बड़े ही क्रुद्ध हुए ॥ ६१ ।

आगे बढ़ते ही उन्होंने विष्णु को देखा, जो महाबली दैत्यों के जीतने वाले चक्र, गदा, खड्ग और शार्ङ्गधनुर्धारी चतुर्भुजयुक्त अपने असंख्य गणों से परिसेवित थे । तब तो वीरभद्र ने दैत्यसूदन विष्णु को देखकर उनसे कहा ॥ ६२-६३ ।

"इस महायज्ञ के प्रवर्तक यज्ञपुरुष तुम्हीं हो और तुम्हीं अपने वीर्य के बल से त्र्यम्बक के वैरी दक्ष के रक्षक हो ॥ ६४ ।

सो तुम दक्ष को लाकर दे दो, नहीं तो मेरे साथ युद्ध करो और जो दक्ष को भी नहीं देना हो तो प्रयत्नपूर्वक उसकी रक्षा ही करो ॥ ६५ ।

प्रायः समस्त शिवभक्तों के मध्य में तुम्हीं अग्रगण्य कहे जाते हो । तुम्हीं ने पूर्वकाल में शिव के सहस्रकमल के पूजन में एक की न्यूनता हो जाने पर अपना नेत्रकमल (निकाल कर) चढ़ा दिया था ॥ ६६ ।

तुष्टेन शम्भुना दत्तं तुभ्यं चक्रं सुदर्शनम् ।
यत्साहाय्यमवाप्याजौ त्वं जयेर्दनुजाधिपान् ॥ ६७ ।
इत्याकर्ण्य वचस्तस्य वीरभद्रस्य चोर्जितम् ।
जिज्ञासुस्तद्बलं विष्णुर्वीरभद्रमुवाच ह ॥ ६८ ।
त्वं शम्भोः सुतदेशीयो गणानां प्रवरोऽस्यहो ।
राजादेशमनुप्राप्य ततोऽप्यतिबलो महान् ॥ ६९ ।
योऽसि सोऽस्यहमप्यत्र दक्षरक्षणदक्षधीः ।
पश्यामि तव सामर्थ्यं कथं दक्षं हरिष्यसि ॥ ७० ।
इत्युक्तो वीरभद्रः स तेन वै शार्ङ्गधन्वना ।
प्रमथान् दृष्टिभङ्ग्यैव प्रेरयामास सङ्गरे ॥ ७१ ।

सुतदेशीयः पुत्रस्थानीयः पुत्रात् किञ्चिन्न्यून इति वा । राजत इति राजा विश्वनाथस्तस्यादेशमाज्ञामिति ॥ ६९ ।

कथं केन प्रकारेण । स्वयमिति क्वचित् । तत्र स्वयं बलादित्येव ॥ ७० ।

दृष्टिभङ्ग्यैव कटाक्षेणैव ॥ ७१ ।

उसी पर सन्तुष्ट होकर शंकर ने भी तुमको वह सुदर्शनचक्र दिया, जिसकी सहायता पाकर तुम संग्राम में दानवाधिपतियों को भी जीत लेते हो" ॥ ६७ ।

इस प्रकार से वीरभद्र के गर्वित वाक्यों को सुनकर विष्णु वीरभद्र के बल को समझने की इच्छा से उनसे कहने लगे ॥ ६८ ।

"तुम तो महादेव के पुत्रस्थानापन्न हो, फिर इन सब गणों के प्रधान नायक हो, तिस पर राजा का आदेश पाकर और भी बहुत बड़े बलवान् हो गये हो ॥ ६९ ।

अस्तु, तुम जो चाहे सो हो, पर मैं तो दक्ष की रक्षा करने में दृढ़ बुद्धि हो चुका हूँ । अब तुम्हारा सामर्थ्य देखता हूँ कि तुम कैसे दक्ष को छीन ले जाते हो" ॥ ७० ।

शार्ङ्गधन्वा विष्णुदेव के ऐसा कहने पर वीरभद्र ने प्रमथगण को केवल दृष्टिभंगी ही से युद्ध में प्रेरित किया ॥ ७१ ।

अथ तैः प्रमथैर्विष्णोरनुगा गदिता रणे ।
आददानास्तृणं वक्त्रेणाऽपि ताः पाशवीं दशाम् ॥ ७२ ।
ततस्तार्क्ष्यरथः क्रुद्धस्त्वेकैकं रणमूर्धनि ।
सहस्रेण सहस्रेण बाणानां ह्यताडयत् ॥ ७३ ।
ते भिन्नवक्षसः सर्वे गणा रुधिरवर्षिणः ।
वासन्तीं कैंशुकीं शोभां परिप्रापू रणाजिरे ॥ ७४ ।
क्षरन्त इव मातङ्गाः स्रवन्त इव पर्वताः ।
मदेन धातुरागेण मिश्रैः शुशुभिरे गणाः ॥ ७५ ।
ततः प्रहस्य गणपोऽब्रवीद्वैकुण्ठनायकम् ।
हे शार्ङ्गधन्वन् जाने त्वां त्वं रणाङ्गणपण्डितः ॥ ७६ ।

अथ तैरिति ।। अथेत्यर्थान्तरम् । तैः प्रसिद्धैर्नन्दिभृङ्गिप्रमुखैः प्रमथैः शम्भोः पार्षदैर्विष्णोरनुगा भृत्याः सुनन्दनन्दप्रबलार्हणाद्यास्तिष्ठथ माऽस्मत्तो जीवन्तो मोक्षध्वमित्येवं गदिता आक्षिप्ताः सन्तो रणे संग्रामे भयाद् वक्त्रेण तृणमाददाना गृह्णानाः पाशवीं पशुसम्बन्धिनीं पशवो यथा मुखे न तृणं गृह्णन्ति, तादृशीं दशामापिताः प्रापिता इत्यर्थः । चक्रेणेति पाठे गदिता गदाभिर्युक्ता । अस्त्यर्थे इतच् । चक्रेणोपलक्षिताश्चक्रहस्ता अपीत्यर्थः । शेषं समानम् ॥ ७२ ।

एकैकं गणम् ॥ ७३ ।

मिश्रैर्मदधातुरागरक्तैः द्रवैरिति शेषः । सर्वे इति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ ७५ ।

गणपो वीरभद्रः ॥ ७६ ।

फिर तो रणभूमि में प्रमथगणों के ललकारने पर विष्णु के गणलोग मुख में तिनगा थामकर पशुओं की दशा को प्राप्त होने लगे ॥ ७२ ।

तब तो गरुड़ध्वज समरांगण में क्रुद्ध होकर एक-एक प्रमथ के हृदय में सहस्र-सहस्र बाणों को मारने लगे ॥ ७३ ।

उससे वे सब प्रमथगण युद्धस्थल में छाती के फटने और रुधिर के बह चलने से वसन्त ऋतु में पलास के फूलों की शोभा.को प्राप्त होने लगे ॥ ७४ ।

उस घड़ी प्रमथगण, मदस्रावी मातंगों की तरह अथवा गेरु इत्यादि धातुओं के रंग से मिले हुए पर्वतों के झरने की तरह शोभायमान हो रहे थे ॥ ७५ ।

तदनन्तर गणप्रधान वीरभद्र ने हँसकर वैकुंठनायक से कहा —'हे शार्ङ्गधन्वन्! मैं तुमको (अच्छी रीति से) जानता हूँ, तुम समरांगण में पंडित हो ॥ ७६ ।

परं युध्यसि दैत्येन्द्रैर्दानवेन्द्रैर्न पार्षदैः ।
इत्युक्त्वा वीरभद्रेण भुशुण्डी कलिता करे ॥ ७७ ।
गदिनाऽथ गदा तूर्णं दैत्येन्द्रगिरिरेणुकृत् ।
ततः प्रहृतवान् वीरो भुशुण्ड्या तं गदाधरम् ॥ ७८ ।
तदङ्गसङ्गमासाद्य विदद्रे शतधा तया ।
कौमोदकीप्रहारेण वीरभद्रं प्रतापिनम् ॥ ७९ ।
जघान वासुदेवोऽपि तरसाऽज्ञातवेदनम् ।
ततः खट्वाङ्गमादाय गदाहस्तं गदाधरम् ॥ ८० ।
आताड्य सव्यदोर्दण्डे गदां भूमावपातयत् ।
कुपितोऽयं मधुद्वेषी चक्रेणाताडयच्च तम् ॥ ८१ ।

कलिता गृहीता । भुशुण्ड्याऽस्त्रविशेषेण ॥ ७७-७८ ।

तदङ्गसङ्गं हरेर्देहसामीप्यम् । **विदद्रे** विदीर्णा । तया गदया । विषफालतया तु सेति क्वचित् ॥ ७९ ।

अज्ञाता वेदना येन तम् । खट्वाङ्गमस्त्रविशेषम् ॥ ८० ।

पर तुम दैत्य-दानवेन्द्रों ही के साथ लड़नेवाले हो, स्यात् शिव के पारिषदों से कभी नहीं लड़े होगे' । यह कहकर वीरभद्र ने हाथ में भुशुण्डी को उठा लिया ॥ ७७ ।

उधर गदाधर ने भी दैत्येन्द्ररूप पर्वत को धूल कर देनेवाली अपनी गदा को तुरन्त हाथ में ले लिया । तब तो वीरभद्र ने उस भुशुंडी से गदाधर के ऊपर चोट चलाई ॥ ७८ ।

वह भुशुंडी विष्णु के अंग में लगते ही सैकड़ों टुकड़े हो गई । गदाधर ने भी प्रतापशाली वीरभद्र को कौमोदकी गदा से बड़े वेग के साथ मारा । पर वीरभद्र को उसकी कुछ भी पीड़ा नहीं जान पड़ी । तब फिर वीरभद्र ने भी खट्वाङ्ग लेकर गदाधर विष्णु के बायें भुजदण्ड पर ऐसा मारा कि उनकी गदा को भूमि पर गिरा दिया । फिर तो मधुसूदन ने भी कुपित होकर चक्र के द्वारा वीरभद्र पर आघात किया ॥ ७९-८१ ।

स च चक्रं समागच्छद् दृष्ट्वा सस्मार शङ्करम् ।
शङ्करस्मरणाच्चक्रं मनाग् वक्रत्वमाप्य च ॥
कण्ठमासाद्य वीरस्य सम्यग् जातं सुदर्शनम् ॥ ८२ ।
तेन चक्रेण शुशुभे नितरां स गणेश्वरः ।
वीरलक्ष्म्यावृत इव समरे विजयस्रजा ॥ ८३ ।
ततः सुदर्शनं दृष्ट्वा तत्कण्ठाभरणं हरिः ।
मनाक् सचकितं स्मित्वा ततो जग्राह नन्दकम् ॥ ८४ ।
सनन्दकं करं तस्य प्रोद्यतं मधुविद्विषः ।
पश्यतो दिवि सिद्धानां स्तम्भयामास हुंकृता ॥ ८५ ।
अभ्यधावच्च वेगेन गृहीत्वा शूलमुज्ज्वलम् ।
यावज्जिघांसति हरिं तावदाकाशवाचया ॥ ८६ ।
वारितो गणराजः स मा कार्षीः साहसं त्विति ।
ततस्तमपहायाशु वीरभद्रो गणोत्तमः ॥ ८७ ।

हुंकृता हुंकारेण ॥ ८५ ।

अनन्तर जब वह चक्र चला तो उसको देखते ही वह शंकर को स्मरण करने लगा । फिर शंकर के स्मरण करते ही वह चक्र वक्र (टेढ़ा) होकर वीरभद्र के कंठ में लगते ही पूर्ण रीति से सुदर्शन हो गया ॥ ८२ ।

वह गणनायक उस चक्र के गले में अटक रहने से समर में वीरलक्ष्मी के द्वारा विजयमाला पहनाये जाने के ऐसा बहुत ही शोभायमान होने लगा ॥ ८३ ।

अब विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र को उसके कंठ का भूषण हुआ देख कुछ चकित से हो मुसकुराकर नन्दक नामक अपने खड्ग को उठा लिया ॥ ८४ ।

तब तो वीरभद्र ने आकाशस्थ सिद्धलोगों के देखते ही देखते मधुसूदन के खड्ग-युक्त उठे हुए हाथ को हुंकार से स्तंभित कर दिया ॥ ८५ ।

और बड़ा उज्ज्वल त्रिशूल लेकर बड़े वेग से उनकी ओर दौड़कर ज्यों ही चाहा कि विष्णु को मारें, त्यों ही आकाशवाणी ने उन गणनायक को निवारण कर दिया कि, "ऐसा साहस मत करो" । तत्पश्चात् प्रमथप्रधान वीरभद्र ने तुरन्त विष्णु को वहीं पर छोड़ दिया ॥ ८६-८७ ।

प्राप्य दक्षं विनद्योच्चैर्धिक् त्वामीश्वरनिन्दकम् ।
यस्येदृगस्ति सम्पत्तिर्यत्र देवाः सहायिनः ॥
स कथं सेश्वरं कर्म न कुर्याद्दक्षतां दधत् ॥ ८८ ।
येनास्येनाऽपवित्रेण भवता निन्दितः शिवः ।
चूर्णयामि तदास्यं ते चपेटाभिः समन्ततः ॥ ८९ ।
इत्युक्त्वा तस्य दक्षस्य हरपारुष्यभाषिणः ।
चिच्छेद वदनं वीरश्चपेटशतघातनैः ॥ ९० ।
ततस्त्वदितिमुख्यानां मिलितानां महोत्सवे ।
त्रोटयामास कर्णादीन्यङ्गप्रत्यङ्गकानि च ॥ ९१ ।

बुद्धिपूर्वकं निन्दति—**यस्येति** । सहायिनः साहाय्यकारिणः । इत्याकर्ण्येत्यारभ्य प्राप्य दक्षमित्यादेः प्राक्तनस्य ग्रन्थस्याऽयमभिप्रायः—स्वात्मनो विश्वेशस्य यो वै विष्णुः स वै रुद्र इत्याद्युक्तेः । मानो विधेयः, अत एवात्माभिन्नस्य रुद्रस्याज्ञाकर्तुर्वीरभद्रस्य सामर्थ्यजिज्ञासापूर्वकं मानो देयः स्वभक्तस्य शरणापन्नस्य दक्षस्यापि साहाय्यं विधेयम्, अत एतत्त्रितयं मनसि निधाय भगवांस्तथा चक्रे, यथा परशुरामरूपेण शरणापन्नाया अम्बायाः स्वशिष्यस्य च भीष्मस्य साहाय्यमानदानार्थं युद्धं मोहं पराजयं च स्वीकृतवानिति । दधीचिशापाद्वा एवम् । **भविष्यसि हृषीकेशः स्वाश्रितोऽपि पराङ्मुखः । एवमुक्त्वा तु विप्रर्षिर्विरराम तपोनिधिः ॥** इति कूर्मोक्तेः ॥ ८८ ।

अङ्गप्रत्यङ्गकानि अङ्गाभरणानि ॥ ९१ ।

वे सिंहनाद करते हुए दक्ष के पास जा पहुँचे (और कहने लगे कि) अरे ईश्वरनिन्दक! दक्ष! तुझे धिक्कार है! जिसके पास ऐसी सम्पत्ति हो, देवतालोग जहाँ पर सहायक हों और जो स्वयं सब कामों में दक्ष हो, वह ईश्वरहीन कर्म क्यों करने लगा? जिस अपवित्र मुख से तुमने शिव की निन्दा की है, मैं चारों ओर से थप्पड़ लगा-लगाकर उसी तेरे मुख को चकनाचूर करूँगा ॥ ८८-८९ ।

बस, इतना कहने के उपरान्त उस वीर ने शिवनिन्दक दक्ष के मुख को सैकड़ों थप्पड़ लगाकर चूर-चूर कर (धूल में) गिरा दिया ॥ ९० ।

फिर उस महोत्सव में संमिलित अदिति प्रभृति स्त्रियों के भी कर्ण इत्यादि अंग-प्रत्यंगों को तोड़ दिया ॥ ९१ ।

वेणीदण्डाश्च कासाञ्चित्तेन च्छिन्ना महारुषा ।
कासाञ्चिच्च कराश्छिन्नाः कासाञ्चित् कर्तिताः स्तनाः ॥ ९२ ।
नासापुटांस्तथाऽन्यासां पाटयामास पार्षदः ।
चिच्छेद चाङ्गुलीश्चाऽपि तथाऽन्यासां शिवप्रियः ॥ ९३ ।
ये ये निनिन्दुर्देवेश ये ये च शुश्रुवुः तदा ।
तेषां जिह्वाः श्रुतीः कोपादच्छिनच्चाऽकरोद्द्विधा ॥ ९४ ।
केचिदुल्लम्बिता यूपे पाशयित्वा दृढं गले ।
अधोमुखा यैर्देवेशं विहायात्तं महाहविः ॥ ९५ ।
द्विजराजश्च धर्मश्च भृगुमारीचमुख्यकाः ।
अत्यन्तमपमानस्य भाजनं तेन कारिताः ॥ ९६ ।

कर्तिताश्छिन्नाः ॥ ९२ ।

शुश्रुवुः श्रुतवन्तः । मुमुदुरिति क्वचित् । जिह्वाः अच्छिनत् । श्रुतीः कर्णान् द्विधा अकरोदित्यर्थः ॥ ९४ ।

उल्लम्बिताः भूम्यस्पर्शं यथा स्यात्तथा स्थापिता इत्यर्थः । अधोमुखाश्च केचिदुल्लम्बिता इत्यन्वयः । के ते तत्राह–**यैर्देवेशमिति** ॥ ९५ ।

उस शिव के प्यारे पार्षद ने मारे क्रोध के किसी-किसी की चोटी उखाड़ ली, क़िसी का हाथ काट दिया, किसी के स्तनों ही को उड़ा दिया ॥ ९२ ।

दूसरी की नाक ही निकाल दी एवं किसी-किसी की अंगुलियाँ ही पृथक् कर दीं ॥ ९३ ।

उन्होंने रोषान्वित होकर जिन-जिन लोगों ने महादेव की निन्दा की थी, उनकी जीभ काट ली और जिन-जिन लोगों ने निन्दा सुनी थीं, उनके कान दो टुकड़े कर दिये ॥ ९४ ।

"संत शंभु श्रीपति अपवादा । सुनिय जहाँ तहँ अस मरजादा ॥

काटिय तासु जो जीभ बसाई । श्रवन मूँदि न तु चलिय पराई" ॥ (तु. रा.)

जिन लोगों ने देवदेव के न होने पर भी महाकवि ले ली थी, वीरभद्र ने उन लोगों को भी उसी यज्ञ के खंभे पर दृढ़ फाँसी लगाकर नीचे मुँह लटका दिया ॥ ९५ ।

चन्द्र, धर्म, भृगु और कश्यप इत्यादि को तो उन्होंने बहुत ही अपमानित किया ॥ ९६ ।

एते जामातरस्तस्य यतो दक्षस्य दुर्धियः ।
हित्वा महेश्वरममून् सोऽपश्यदधिकान् शिवात् ॥ ९७ ।
तानि कुण्डानि ते यूपास्ते स्तम्भाः स च मण्डपः ।
ता वेद्यस्तानि पात्राणि तानि हव्यान्यनेकधा ॥ ९८ ।
ते च वै यज्ञसम्भारास्ते ते यज्ञप्रवर्तकाः ।
ते रक्षपालास्ते मन्त्रा विनेशुर्हेलयाऽखिलाः ॥ ९९ ।
स्तोकेनैव हि कालेन यथर्धिः परवञ्चनात् ।
अर्जिता नश्यति क्षिप्रं दक्षसम्पद्गताऽशिवा ॥ १०० ।
नीते महाक्रतौ तेन सगणेनेदृशीं दशाम् ।
विधिर्विधिविलोपाच्च हरं विज्ञाप्य चानयत् ॥ १०१ ।
तत्र यत्र मखः सोऽभूदीदृक्षः शिववर्जितः ।
आयातेऽथ महादेवे वीरभद्रोऽतिलज्जितः ॥ १०२ ।

हेलया ईश्वरस्य वीरभद्रस्य वेति शेषः ॥ ९९ ।
अशिवा अमङ्गलरूपा, न विद्यते शिव ईश्वरो यस्यामिति वा ॥ १०० ।
ईदृक्षः ईदृशः । विष्णुतिरस्कारेण शिवभिया वीरभद्रो लज्जितः ॥ १०२ ।

क्योंकि ये सब उसी दुर्बुद्धि दक्ष के जामाता थे और दक्ष भी महेश्वर को त्याग कर इन लोगों को उनकी अपेक्षा अधिक देखते थे ॥ ९७ ।

वे सब यज्ञ के कुण्ड, वे यूप, वे खंभे, वह मण्डप, वे सब वेदियाँ, वे पात्र, वे अनेक भाँति के हव्य, वे सब यज्ञ की सामग्रियाँ, वे यज्ञ के प्रवर्तक लोग, वे रक्षपाल गण और वे सब मंत्र अनायास ही सब के सब विनष्ट हो गये ॥ ९८-९९ ।

जैसे परवंचना करने से थोड़े ही समय में उपार्जित ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है, वैसे ही दक्ष (यज्ञ) की सम्पत्ति भी शिवहीन होने से विनष्ट हो गई ॥ १०० ।

गणों के सहित वीरभद्र जब उस महायज्ञ को इस दशा में पहुँचा चुके, तब ब्रह्मा विधि के लोप हो जाने का कारण दिखाकर, महादेव को वहाँ लिवा लाये, जहाँ पर शिवहीन वह यज्ञ उस दशा को प्राप्त हुआ था । अनन्तर महादेव के वहाँ आ जाने पर वीरभद्र बहुत ही लज्जित हुए ॥ १०१-१०२ ।

नत्वा न किञ्चिदवददेवः सर्वमवैत्स्वयम् ।
प्रसाद्य देवदेवेशं सुरज्येष्ठोऽब्रवीत्पुनः ॥ १०३ ।
अपराध्यप्ययं दक्षः सम्प्रसाद्यः कृपानिधे ।
यथापूर्वं पुनरमून् सर्वान् कारय शङ्कर ॥ १०४ ।
यथा विधिः प्रवर्तेत वैदिकः पुनरेव हि ।
तथाज्ञा दीयतां शम्भो कर्म सिद्ध्यति सेश्वरम् ॥ १०५ ।
अनीश्वरासु सर्वासु क्रियासु परमेश्वर ।
एवमेव भवन्त्येव विघ्नजाताः सहस्रशः ॥ १०६ ।
विचारतो वराकोऽयं दक्षो भक्ततरस्तव ।
कुर्वन्योऽनीश्वरं कर्म परदृष्टान्ततां गतः ॥ १०७ ।
अन्योऽपि यो महेशानं हित्वा कर्म करिष्यति ।
तस्य तत्कर्मसंसिद्धिर्दक्षस्येव भविष्यति ॥ १०८ ।

सम्प्रसाद्यः सम्यक् प्रसादं प्राप्यः प्रापणीयः ॥ १०४ ।

उन्होंने देवदेव को केवल प्रणाम भर किया, पर कुछ कहा नहीं । किन्तु भगवान् स्वयं समझ गये । फिर ब्रह्मा ने शिव को प्रसन्न करके कहा ॥ १०३ ।

"हे दयामय शंकर! इस अपराधी दक्ष पर भी प्रसाद करना चाहिए और ये सब लोग जैसे पूर्व में थे, वैसे ही फिर कर दिये जावें ॥ १०४ ।

जिसमें वैदिक विधि फिर से प्रचलित होवे, हे शंभो! वही आज्ञा दीजिये, क्योंकि ईश्वर के सहित रहने से तो कर्म सिद्ध हो ही जाता है ॥ १०५ ।

हे परमेश्वर! ईश्वरहीन सब क्रियाओं में ऐसे ही ऐसे सहस्रों भाँति के विघ्न समूह हुआ करते हैं ॥ १०६ ।

फिर विचार की दृष्टि से देखा जावे तो यह दीन (विचारा) दक्ष आपका बड़ा भारी भक्त है; क्योंकि यह अनीश्वर कर्म को करके दूसरे लोगों के लिये दृष्टान्त बन गया ॥ १०७ ।

और भी जो कोई महेश्वर को त्याग कर कुछ कर्म करेगा, उसके कर्म की सिद्धि भी दक्ष ही की भाँति होगी ॥ १०८ ।

अतो न कश्चित् किञ्चिच्च क्वचित्कर्म विना शिवम् ।
विधास्यति निशम्याऽस्य दक्षस्येदृक्षचेष्टितम् ॥ १०९ ।
विधीरितमिति श्रुत्वा स्मित्वा देवो महेश्वरः ।
वीरमाज्ञापयामास यथापूर्वमकल्पय ॥ ११० ।
वीरभद्रोऽपि तत्सर्वं शर्वाज्ञां प्रतिपद्य च ।
विना दक्षस्य वदनं यथापूर्वमकल्पयत् ॥ १११ ।
ईश्वरं ये विनिन्दन्ति ते मूकाः पशवो ध्रुवम् ।
ततो मेषमुखं दक्षं वीरभद्रो गणो व्यधात् ॥ ११२ ।
देवो ब्रह्माणमापृच्छ्य धर्माद् गार्हस्थ्यतश्च्युतः ।
सपार्षदो हिमप्रस्थं जगाम तपसे ततः ॥ ११३ ।
अनाश्रमवता पुंसा यतः कालो मनागपि ।
मुधा कलयितव्यो न तस्माच्छ्रेयः सदाश्रमः ॥ ११४ ।
अतः स सर्वतपसां फलदाता महेश्वरः ।
तपश्चचार सगणो ब्रह्मा दक्षं त्वशिक्षयत् ॥ ११५ ।

वीरं वीरभद्रम् । प्रकल्पय सम्पादय । प्रकल्पयन्निति क्वचित् ॥ ११० ।
हिमप्रस्थं हिमालयं वानप्रस्थमिति यावत् ॥ ११३।

अतएव इस दक्ष की ऐसी दशा को सुनकर अब कोई भी कहीं पर शिव के बिना किसी कर्म को नहीं करेगा" ॥ १०९ ।

भगवान् महेश्वर ने ब्रह्मा की बात सुन, मुसकुरा कर वीरभद्र को आज्ञा दी कि 'इन सब को पूर्व ही-सा बना दें' ॥ ११० ।

वीरभद्र ने भी शिव की आज्ञानुसार दक्ष का मुख छोड़कर और सब को पहले-सा बना दिया ॥ १११ ।

जो लोग ईश्वर की निन्दा करते हैं, निःसन्देह गूँगे पशु हैं । अतएव गणाध्यक्ष वीरभद्र ने दक्ष को मेष का मुख बना दिया ॥ ११२ ।

उधर भगवान् शिव भी गार्हस्थ्य धर्म नष्ट हो जाने से पारिषदों के साथ ब्रह्मा से पूछ (बिदा ले) कर तपस्या करने के लिये हिमालय पर वानप्रस्थार्थ चले गये ॥ ११३ ।

किसी पुरुष को आश्रमहीन होकर थोड़ा भी समय व्यर्थ नहीं बिताना चाहिए । अतएव सदैव आश्रमी ही होकर रहना भला है ॥ ११४ ।

इसी कारण से सब तपस्याओं के फलदाता स्वयं महेश्वर भी पारिषदों के सहित (जाकर) तपस्या करने लगे, तब ब्रह्मा ने दक्ष को यह सिखावन देते हुए

हरनिन्दासमुद्भूतपापपङ्कं सुदुस्त्यजम् ।
यदि क्षालयितुं काङ्क्षा तदा वाराणसीं व्रज ॥ ११६ ।
प्राप्य वाराणसीं पुण्यां महापापौघहारिणीम् ।
कुरु लिङ्गप्रतिष्ठां त्वं तेन शम्भुः स तुष्यति ॥ ११७ ।
तुष्टे महेश्वरे तुष्टं जगदेतच्चराचरम् ।
नान्यत्र पापं ते गन्तृ विना वाराणसीं पुरीम् ॥ ११८ ।
ब्रह्महत्यादिपापानां प्रायश्चित्तं मनीषिभिः ।
प्रोक्तं न हरनिन्दायास्तत्र काश्येव केवलम् ॥ ११९ ।
काश्यां लिङ्गप्रतिष्ठा यैः कृताऽत्र सुकृतात्मभिः ।
सर्वे धर्माः कृतास्तैस्तु त एव पुरुषार्थिनः ॥ १२० ।
इत्याकर्ण्य विधेर्वाक्यं दक्षः प्राप्याऽथ सत्वरम् ।
अविमुक्तं महाक्षेत्रं तताप परमं तपः ॥ १२१ ।
संस्थाप्य लिङ्गं विधिवल्लिङ्गाराधनतत्परः ।
न वेत्ति लिङ्गादपरं स किञ्चिज्जगतीतले ॥ १२२ ।

काङ्क्षा आकाङ्क्षा ॥ ११६ ।

कहा कि यदि शिव की निन्दा से उत्पन्न अत्यन्त दुस्त्यज पाप-पंक को धो डालने की इच्छा हो, तो वाराणसीपुरी में जाओ ॥ ११५-११६ ।

"महापातक पुंज की विनाशिनी पवित्र काशीपुरी में पहुँचकर तुम वहाँ लिंग की स्थापना करो । इसी से शिव प्रसन्न होंगे ॥ ११७ ।

महेश्वर के सन्तुष्ट होने पर यह चराचर संसार सन्तुष्ट हो जावेगा और काशीपुरी को छोड़कर अन्यत्र पर तुम्हारा पाप नहीं छूट सकता ॥ ११८ ।

आचार्यों ने ब्रह्महत्या इत्यादि पापों का तो प्रायश्चित्त कहा है । पर शिवनिन्दा का कोई प्रायश्चित्त नहीं होता । अतएव इस पाप की मुक्ति-भूमि केवल काशी ही है ॥ ११९ ।

जिन पुण्यात्माओं ने काशी में शिवलिंग की प्रतिष्ठा की है, वे सब धर्मों को कर चुके और वे ही लोग पुरुषार्थी हैं ॥ १२० ।

दक्ष ब्रह्मा के इस कथन को सुन तुरंत अविमुक्त महाक्षेत्र में पहुँचकर घोर तपस्या करने लगे ॥ १२१ ।

वे विधिपूर्वक लिंग की स्थापना कर लिंग ही की आराधना में तत्पर हो गये । और पृथिवीतल में लिंग से भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं जानते थे ॥ १२२ ।

दिवानिशं महेशानं परिष्टौति समर्चति ।
नमति ध्यायतीक्षेत दक्षो दक्षप्रजापतिः ॥ १२३ ।
एकचित्तस्य दक्षस्य ध्यायतो लिङ्गमैश्वरम् ।
समाः सहस्रमगमन्मितं द्वादशसंख्यया ॥ १२४ ।
मेनां यावत् सती प्राप्य हिमाचलपतिव्रताम् ।
उमारूपाऽतितपसा पतिं प्राप पिनाकिनम् ॥ १२५ ।
तावत् स दक्षस्तपसि निश्चलो लिङ्गमार्चयत् ।
ततः काशीं समासाद्य सह भर्त्रा गिरीन्द्रजा ॥ १२६ ।
दृष्ट्वा तं निश्चलहृदं शिवलिङ्गार्चने रतम् ।
हरं व्यजिज्ञपद्देवी क्षीणोऽयं तपसा विभो ॥ १२७ ।
प्रसादय कृपासिन्धो वरेणैनं प्रजापतिम् ।
इत्युक्तोऽपर्णया शम्भुः प्राह तं दक्षमीशिता ॥ १२८ ।
वरं ब्रूहि महाभाग दास्यामि मनसेप्सितम् ।
इतीशोदितमाकर्ण्य प्रणम्य बहुशो हरम् ॥ १२९ ।

व्यजिज्ञपद् विज्ञापितवती । पाठान्तरेऽऽभाव आर्षः ॥ १२७ ।

सुदक्ष दक्ष-प्रजापति रात्रि दिन महेश्वर ही की स्तुति, पूजा, प्रणाम, ध्यान और दर्शन करने लगे ॥ १२३ ।

एकाग्रचित्त से ईश्वर के लिंग का ध्यान करते हुए दक्ष के द्वादश सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये ॥ १२४ ।

जब तक सती देवी हिमाचल की पतिव्रता पत्नी मेना के गर्भ से प्रकट हो, उमारूप धर कठोर तपस्या कर, महादेव को अपना पति नहीं बना चुकी थी, तब तक दक्ष भी तपस्या में दृढ़ रहकर लिंग ही की पूजा करते रहे । उसके उपरान्त गिरीन्द्रनन्दिनी स्वामी के साथ काशी में आकर दक्ष को एकाग्रचित्त से शिवलिंगार्चन में तत्पर देख महादेव से प्रार्थना करने लगी कि, यह प्रजापति तो तप से क्षीण हो गया है ॥ १२५-१२७ ।

हे दयासिन्धो! (अब आप) प्रसन्न होकर इनको वरदान कीजिए । पार्वती के ऐसा कहने पर भगवान् शंभु ने दक्ष से कहा ॥ १२८ ।

'हे महाभाग! वर माँगो' मैं तुमको मनोवांछित (वर) दूँगा । तब तो दक्ष ने शिव के इस कथन पर उनको बारंबार प्रणाम किया ॥ १२९ ।

स्तुत्वा नानाविधैः स्तोत्रैः प्रसन्नं वीक्ष्य शङ्करम् ।
प्रोवाच देवदेवेशं यदि देयो वरो मम ॥ १३० ।
तत्त्वदीयपदद्वन्द्वे निर्द्वन्द्वा भक्तिरस्तु मे ।
इदं च ते महालिङ्गं यन्मयाऽद्य प्रतिष्ठितम् ॥
अस्मिँल्लिङ्गे त्वया नाथ स्थातव्यं सर्वदैव हि ॥ १३१ ।
मयाऽपराद्धं यद्देव तत्क्षन्तव्यं कृपानिधे ।
एत एव वराः सन्तु किमन्यैरुत्तमैर्वरैः ॥ १३२ ।
इति श्रुत्वा महादेवः प्रसन्नोऽतितरां भवः ।
प्रोवाच च यदुक्तं ते तत्तथाऽस्तु न चाऽन्यथा ॥ १३३ ।
अन्यच्च ते वरं दद्यां चच्छृणुष्व प्रजापते ।
यत्त्वया स्थापितं लिङ्गमेतद्दक्षेश्वराभिदम् ॥ १३४ ।
अस्य संसेवनात्पुंसामपराधसहस्रकम् ।
क्षमिष्येऽहं न सन्देहस्तस्मात्पूज्यमिदं जनैः ॥ १३५ ।
त्वं तु लिङ्गार्चनादस्मात् सर्वमान्यो भविष्यसि ।
परार्धद्वितयप्रान्ते ततो मोक्षमवाप्स्यसि ॥ १३६ ।

तत्तदा । निर्द्वन्द्वाऽव्यभिचारिणी ॥ १३१ ।

एवं नाना प्रकार के स्तोत्रों से स्तुतिगान करके शंकर को प्रसन्न देख कहने लगे– 'हे देवदेवेश! यदि मुझे वर देना है, तो यही दीजिये कि, आपके चरणयुगल में मेरी निर्द्वन्द्व भक्ति बनी रहे और हे नाथ! यहाँ पर जो मेरा स्थापित आपका यह महालिंग है, इसमें आप सदैव वास करें ॥ १३०-१३१ ।

हे कृपानिधे! देवदेव! मैंने जो कुछ अपराध किया है, उसे आप क्षमा करें, बस यही वरदान मिले और दूसरे उत्तम वरों का कोई प्रयोजन नहीं है' ॥ १३२ ।

यह सुनकर भगवान् महेश्वर बहुत ही प्रसन्न हो कहने लगे–'तुमने जो कुछ कहा, वह वैसे ही होगा । कभी अन्यथा नहीं होने पावेगा ॥ १३३ ।

हे प्रजापते! अब तुमको जो दूसरा वर देता हूँ, उसे सुनो । तुम्हारे स्थापित इस लिंग का दक्षेश्वर नाम पड़ेगा ॥ १३४ ।

और इसके सेवन करने से मैं लोगों के सहस्रों अपराधों को निःसन्देह क्षमा करूँगा । इसलिये सब लोगों को इसकी पूजा करनी चाहिए ॥ १३५ ।

और तुम इस लिंग के पूजन करने से सब किसी के मान्य होंगे, और दो परार्ध वर्ष के अन्त में मोक्ष को प्राप्त होंगे ॥ १३६ ।

इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तस्मिँल्लिङ्गे लयं ययौ ।
दक्षोऽपि गतवान् गेहं परिप्राप्तमनोरथः ॥ १३७ ।

स्कन्द उवाच –

इत्यगस्त्य समाख्यातो दक्षेश्वरसमुद्भवः ।
यं श्रुत्वा मुच्यते जन्तुरपराधशतैरपि ॥ १३८ ।
श्रुत्वाऽऽख्यानमिदं पुण्यं दक्षेश्वरसमुद्भवम् ।
नरो न लिप्यते पापैरपराधालयोऽपि हि ॥ १३९ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे दक्षेश्वरप्रादुर्भावो नामैकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ।

अपराधालयोऽपराधाश्रयः ॥ १३९ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ।

यह कहकर देवदेव उसी लिंग में लीन हो गये और दक्ष भी मनोरथ प्राप्त हो जाने से अपने गृह को चले गये ॥ १३७ ।

स्कन्द ने कहा–

हे अगस्त्य! यह तो दक्षेश्वर की उत्पत्ति मैंने कही, जिसके सुननें से प्राणी सैकड़ों अपराधों से छूट जाता है ॥ १३८ ।

दक्षेश्वर की उत्पत्ति से युक्त इस पवित्र आख्यान के श्रवण करने से मनुष्य अपराधों का घर होने पर भी पापपंक से लिप्त नहीं होने पाता ॥ १३९ ।

दोहा– **चाल मेषमुख दक्ष की, धरि बजाव जो गाल ।**
यहू काल शिव करत तेहि, सब प्रकार सो भाल ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायाम्
एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

●

॥ अथ नवतितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच –

पार्वतीहृदयानन्द पार्वतीशसमुद्भवम् ।
कथयेह यदुद्दिष्टं भवता प्रागघापहम् ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

शृण्वगस्ते यदा मेना हिमाचलपतिव्रता ।
गिरीन्द्रजां सुतामाह पुत्रि तेऽस्य महेशितुः ॥ २ ।
किं स्थानं वसतिर्वा का को बन्धुर्वेत्सि किञ्चन ।
प्रायो गृहं न जामातुरस्य कोऽपि च कुत्रचित् ॥ ३ ।
निशम्येति वचो मातुरतिह्रीणा गिरीन्द्रजा ।
आसाद्याऽवसरं शम्भुं नत्वा गौरी व्यजिज्ञपत् ॥ ४ ।

अध्यायेऽत्र नवत्याख्ये सर्वकामैकदायके ।
पार्वतीश्वरमाहात्म्यं वर्ण्यतेऽतिमनोहरम् ॥ १ ।

पार्वतीश्वरोत्पत्तिं पृच्छति–**पार्वतीति** । प्राक् पूर्वम् । सतीमिति पाठे सतीं पतिव्रतां पूर्वजन्मनि तन्नाम्नीमिति वा ॥ १-२ ।

किं स्थानं को देशः । वसतिर्वा का । गृहं वा किम् ॥ ३ ।

अतिह्रीणाऽतिशयेन लज्जिता ॥ ४ ।

(पार्वतीश्वर लिंग की कथा)

अगस्त्य मुनि बोले–

'हे पार्वतीहृदयानन्दन! इसके पूर्व में ही आपने पापनाशक **पार्वतीश्वर** लिंग के विषय में कहा था । उसके प्रकट होने का वृत्तान्त कहिये' ॥ १ ।

स्कन्द ने कहा–

हे अगस्त्य मुने! श्रवण करो, जब हिमाचल की पतिव्रता पत्नी मेना ने गिरीन्द्र-किशोरी से कहा "पुत्रि! इन जामाता महेश्वर का देश कहाँ है ? बस्ती किस स्थान में है ? अथवा इनके बन्धु-बान्धव भी कोई हैं ? यह सब कुछ जानती हो ? जान पड़ता है, इनका घर इत्यादि कहीं नहीं है और न इनका कोई स्वजन ही है" ॥ २-३ ।

इस प्रकार से माता का वचन सुनकर गिरीन्द्रनन्दिनी बहुत ही लज्जित हुईं । फिर अवसर पाकर पार्वती ने प्रणाम करके महादेव से निवेदन किया ॥ ४ ।

मया श्वश्रूगृहं कान्त गम्यमद्य विनिश्चितम् ।
नाथाऽत्र नैव वस्तव्यं नय मां स्वं निकेतनम् ॥ ५ ।
गिरीन्द्रजागिरं श्रुत्वा गिरीश इति तत्त्ववित् ।
हित्वा हिमगिरं प्राप्तो निजमानन्दकाननम् ॥ ६ ।
प्राप्याऽऽनन्दवनं देवी परमानन्दकारणम् ।
विस्मृत्य पितृसंवासं जाता चानन्दरूपिणी ॥ ७ ।
अथ विज्ञापयाञ्चक्रे गौरी गिरिशमेकदा ।
अच्छिन्नानन्दसन्दोहः कुतः क्षेत्रेऽत्र तद्वद ॥ ८ ।
इति गौरीरितं श्रुत्वा प्रत्युवाच पिनाकधृक् ।
पञ्चक्रोशपरीमाणे क्षेत्रेऽस्मिन् मुक्तिसद्मनि ॥ ९ ।
तिलान्तरं न देव्यस्ति विना लिङ्गं हि कुत्रचित् ।
एकैकं परितो लिङ्गं क्रोशं क्रोशं च यावनिः ॥ १० ।
अन्यत्रापि हि सा देवि भवेदानन्दकारणम् ।
अत्राऽऽनन्दवने देवि परमानन्दजन्मनि ॥ ११ ।
परमानन्दरूपाणि सन्ति लिङ्गान्यनेकशः ।
चतुर्दशसु लोकेषु कृतिनो ये वसन्ति हि ॥ १२ ।

तत्त्वविद् उमाऽभिप्रायंवित् । सर्वज्ञ इति वा ॥ ६ ।
एकैकमेकैकस्य लिङ्गस्य ॥ १० ।

कान्त ! आज तो मैं अवश्य ही सास के घर जाऊँगी, क्योंकि यहाँ का रहना अच्छा नहीं है, अतएव हे नाथ ! मुझे अब आप अपने घर पर ले चलिये ॥ ५ ।

तत्त्ववेत्ता भगवान् गिरीश शैलपुत्री देवी की यह बात सुन, हिमालय को त्याग कर, अपने आनन्दवन में चले आये ॥ ६ ।

पार्वतीदेवी परमानन्द के कारण आनन्दवन में पहुँच, पिता के घर को भूलकर आनन्दरूपिणी हो गईं ॥ ७ ।

अनन्तर एक दिन गौरी ने गिरीश से यह पूछा कि, "इस क्षेत्र में अविच्छिन्न आनन्दसमूह क्यों बना रहता है, इसका कारण बताइये" ॥ ८ ।

पार्वती के इस कथन पर पिनाकपाणि शिव ने उत्तर दिया कि, हे देवि! पंचक्रोश परिमाण इस मुक्ति-मन्दिर क्षेत्र के भीतर लिंग से रहित एक तिलमात्र भी स्थान कहीं पर सूना नहीं है । हे देवि! अन्यत्र कहीं भी एक-एक लिंग के चारों ओर एक-एक कोश की भूमि आनन्द का कारण हो जाती है, पर इस परमानन्दजनक आनन्दवन में तो परमानन्दस्वरूप अनेकानेक लिंग विराजमान हैं,

तैः स्वनाम्नेह लिङ्गानि कृत्वाऽऽपि कृतकृत्यता ।
अत्र येन महादेवि लिङ्गं संस्थापितं मम ॥ १३ ।
वेत्ति तच्छ्रेयसः संख्यां शेषोऽपि न विशेषवित् ॥ १४ ।
परिच्छेदव्यतीतस्यानन्दस्य परकारणम् ।
अतस्त्विदं परं क्षेत्रं लिङ्गैर्भूयोभिरद्रिजे ॥ १५ ।
निशम्येति महादेवी पुनः पादौ प्रणम्य च ।
देह्यनुज्ञां महादेव लिङ्गसंस्थापनाय मे ॥ १६ ।
पत्युराज्ञां समासाद्य यच्छेच्छ्रेयः पतिव्रता ।
न तस्याः श्रेयसो हानिः संवर्तेऽपि कदाचन ॥ १७ ।
इति प्रसाद्य देवेशमाज्ञां प्राप्य महेशितुः ।
लिङ्गं संस्थापितं गौर्या महादेवसमीपतः ॥ १८ ।
तल्लिङ्गदर्शनात्पुंसां ब्रह्महत्यादिपातकम् ।
विलीयेत न सन्देहो देहबन्धोऽपि नो पुनः ॥ १९ ।

आपि प्राप्ता ॥ १३ ।
यच्छेद् यच्छति ॥ १७ ।

चौदहों भुवनों में जितने ही पुण्यात्मा लोग रहते हैं, उन सब ने अपने-अपने नाम से यहाँ पर लिंग की स्थापना करके कृतार्थता प्राप्त की है । हे महादेवि! जिस किसी ने यहाँ पर मेरे लिंग की प्रतिष्ठा कर दी है, विशेषज्ञ शेष भी उसके कल्याण की संख्या को (यथार्थ विधि से) नहीं जान सकते ॥ ९-१४ ।

हे गिरीन्द्रजे! बहुतेरे लिंगों के वर्तमान रहने ही से यह उत्तम क्षेत्र निरन्तर परमानन्द का कारण हो गया है ॥ १५ ।

यह सुनकर पार्वती देवी ने फिर शंकर के चरणों को प्रणाम करके कहा– 'हे महादेव! मुझे भी (यहाँ पर) लिंग स्थापना की आज्ञा दीजिये ॥ १६ ।

क्योंकि जो पतिव्रता नारी स्वामी की आज्ञा लेकर कोई मंगल कार्य करती है, उसके मंगल कार्य की हानि प्रलय में भी कभी नहीं होने पाती' ॥ १७ ।

इस प्रकार से भगवान् महादेव को प्रसन्न कर और उनकी आज्ञा पाकर, पार्वती देवी ने महादेव नामक लिंग के समीप में ही लिंग की स्थापना की ॥ १८ ।

उस लिंग के दर्शन करने से लोगों का ब्रह्महत्यादिक पातक निःसन्देह बिलाय (नष्ट हो) जाता है और फिर देहबन्धन भी नहीं होता ॥ १९ ।

तत्र लिङ्गे वरो दत्तो देवदेवेन यः पुनः ।
निशामय मुने तं तु भक्तानां हितकाम्यया ॥ २० ।
लिङ्गं यः पार्वतीशाख्यं काश्यां सम्पूजयिष्यति ।
तद्देहावसितिं प्राप्य काशीलिङ्गं भविष्यति ॥ २१ ।
काशिलिङ्गत्वमासाद्य मामेवानु प्रवेक्ष्यति ।
चैत्रशुक्लतृतीयायां पार्वतीशसमर्चनात् ॥ २२ ।
इह सौभाग्यमाप्नोति परत्र च शुभां गतिम् ।
पार्वतीश्वरमाराध्य योषिद्वा पुरुषोऽपि वा ॥ २३ ।
न गर्भमाविशेद्भूयो भवेत्सौभाग्यभाजनम् ।
पार्वतीशस्य लिङ्गस्य नामाऽपि परिगृह्णतः ॥ २४ ।
अपि जन्मसहस्रस्य पापं क्षयति तत्क्षणात् ।
पार्वतीशस्य माहात्म्यं यः श्रोष्यति नरोत्तमः ॥
ऐहिकाऽमुष्मिकान् कामान् स प्राप्स्यति महामतिः ॥ २५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे पार्वतीशवर्णनं नाम नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ।

तद्देहावसितिं येन देहेन पूजा कृता तस्याऽवसानमित्यर्थः ॥ २१ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ।

हे मुनिवर! देवदेव ने भक्तों की हितकामना से उस लिंग के संबन्ध में जो वरदान किया है, उसे भी श्रवण कर लो ॥ २० ।

जो कोई काशी में **पार्वतीश्वर लिंग** की पूजा करेगा, शरीरान्त होने के उपरान्त वह काशी ही में लिंगस्वरूप हो जावेगा ॥ २१ ।

एवं जब वह काशी का लिंग बन जायगा, तो मुझ ही में प्रवेश कर जावेगा । चैत्रमास की शुक्ला तृतीया के दिन पार्वतीश (पार्वतीश्वर लिंग) के पूजन करने से इस लोक में तो सौभाग्य और परलोक में भी उत्तम गति प्राप्त होती है । स्त्री हो, अथवा पुरुष हो, **पार्वतीश्वर लिंग** की आराधना करने से (उसे) फिर कभी गर्भ में वास नहीं करना पड़ता, वरन् वह सौभाग्य का भाजन हो जाता है । पार्वतीश्वर लिंग के नामोच्चारण करनेवालों के सहस्रों जन्म के भी संचित पाप उसी क्षण में क्षय हो जाते हैं, जो उत्तम नर **पार्वतीश्वर लिंग** का माहात्म्य भी सुन लेगा, वह महामति ऐहिक और पारलौकिक समस्त कामनाओं को प्राप्त कर सकेगा ॥ २२-२५ ।

सोरठा– **महिमा अमित अपार, पारवतीश्वर लिंग की ।**
या भव पारावार, उतरि जाय तेहि देखि कै ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ।

॥ अथैकनवतितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

पार्वतीशस्य महिमा कथितस्ते मयाऽनघ ।
मुने निशामयेदानीं गङ्गेश्वरसमुद्भवम् ॥ १ ।
यं श्रुत्वा यत्र कुत्रापि गङ्गास्नानफलं लभेत् ।
चक्रपुष्करिणीतीर्थं यदा गङ्गा समागता ॥ २ ।
तेन दैलीपिना सार्धमस्मिन्नानन्दकानने ।
क्षेत्रप्रभावमतुलं ज्ञात्वा शम्भुपरिग्रहात् ॥ ३ ।

एकाधिकेऽथ नवतितमेऽध्यायेऽतिसुन्दरे ।
गङ्गेश्वरस्य माहात्म्यं वर्ण्यते पापहृत्परम् ॥ १ ।
अनुवादपूर्वकं गङ्गेशोत्पत्तिं कथयति–**पार्वतीशस्येति** ॥ १ ।
यत्रेत्यस्यानन्तरं तत्रेति ज्ञातव्यम् ॥ २ ।
दैलीपिना दिलीपस्य पुत्रेण भगीरथेन ॥ ३ ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ । ।

(गंगेश्वर के स्थापित होने की कथा)

स्कन्द बोले –

हे अनघ ! मैंने **पार्वतीश्वर** की महिमा तुमसे कही । हे मुने! अब **गंगेश्वर** के प्रादुर्भाव की कथा सुनो, ॥ १ ।

इस कथा के कहीं पर भी श्रवण करने से गंगास्नान करने का फल प्राप्त होता है, जब कि गंगा उस दिलीपनन्दन भगीरथ के साथ इस आनन्दकानन में चक्रपुष्करिणी तीर्थ पर आ पहुँचीं, तब शिव के परिग्रह से क्षेत्र के प्रभाव को अतुल समझना चाहिए ॥ २-३ ।

स्मृत्वा लिङ्गप्रतिष्ठायाः काश्यां लोकोत्तरं फलम् ।
गङ्गया स्थापितं लिङ्गं विश्वेशात्पूर्वतः शुभम् ॥ ४ ।
गङ्गेश्वरस्य लिङ्गस्य काश्यां दृष्टिः सुदुर्लभा ।
तिथौ दशहरायां च यो गङ्गेशं समर्चयेत् ॥ ५ ।
तस्य जन्मसहस्रस्य पापं संक्षीयते क्षणात् ।
कलौ गङ्गेश्वरं लिङ्गं गुप्तप्रायं भविष्यति ॥ ६ ।
तस्य संदर्शनं पुंसां जायते पुण्यहेतवे ।
दृष्टं गङ्गेश्वरं लिङ्गं येन काश्यां सुदुर्लभम् ॥ ७ ।
प्रत्यक्षरूपिणी गङ्गा तेन दृष्टा न संशयः ।
कलौ सुदुर्लभा गङ्गा सर्वकल्मषहारिणी ॥ ८ ।
भविष्यति न सन्देहो मित्रावरुणनन्दन ।
ततोऽपि तिष्ये सम्प्राप्ते काश्यत्यन्तं सुदुर्लभा ॥ ९ ।
ततोऽपि दुर्लभं काश्यां लिङ्गं गङ्गेश्वराभिधम् ।
यस्य सन्दर्शनं पुंसां भवेत्पापक्षयाय वै ॥ १० ।

काशी में तो लिंग प्रतिष्ठा का लोकोत्तर फल स्मरण कर **विश्वेश्वर** के पूर्वभाग में **गंगा देवी** ने एक उत्तम लिंग की स्थापना की ॥ ४ ।

काशीपुरी में उस **गंगेश्वर** लिंग का दर्शन मिलना बहुत ही दुर्लभ है । (पर) जो कोई दशहरा तिथि के दिन **गंगेश्वर** का पूजन करता है, तो उसके सहस्रों जन्म के संचित पाप क्षणमात्र में क्षय हो जाते हैं; किन्तु कलियुग में गंगेश्वर लिंग प्रायः गुप्त ही रहेगा ॥ ५-६ ॥

प्राणियों के पुण्य के ही कारण उनका दर्शन प्राप्त हो सकता है । जो कोई परमदुर्लभ **गंगेश्वर लिंग** का दर्शन काशी में पा जाता है, प्रत्यक्ष मूर्तिधारिणी गंगा का दर्शन पा चुका, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । हे मित्रावरुणनन्दन! सर्वकल्मषहारिणी भगवती भागीरथी कलिकाल में निःसन्देह बड़ी ही दुर्लभ होंगी, तिस पर जब कलियुग व्याप्त हो जायगा, तब तो काशीपुरी (में गंगा) और भी परमदुर्लभ हो जावेंगी ॥ ७-९ ।

तदपेक्षया काशी में **गंगेश्वर** नामक लिंग तो बहुत दुर्लभ होगा; क्योंकि उसका दर्शन लोगों के पाप का क्षय करने ही के लिये हो सकता है ॥ १० ।

श्रुत्वा गङ्गेशमाहात्म्यं न नरो निरयी भवेत् ।
लभेच्च पुण्यसम्भारं चिन्तितं चाऽधिगच्छति ॥ ११ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे गङ्गेश्वरमहिमाख्यानं नामैकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ।

गंगेश्वर लिंग का माहात्म्य सुनने से मनुष्य (कभी) नरकभागी नहीं होता और पुण्य की ढेर उसे प्राप्त होती है एवं अपनी चिन्तित वस्तु को प्राप्त करता है ॥ ११ ।

दोहा– यद्यपि गंगातीर पै, हैं शिवलिंग विशेष ।
पै काशी में नहिं कतहुँ, गंगेश्वर शिव देख[1] ॥ १ ।
करत भरथरी योग जहँ, वहि चुनार में ख्यात ।
गंगेश्वर शिवलिंग है, नहिं अन्यत्र दिखात ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे
भाषायामेकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ।

●

---

1. काशीपुरी में गंगातट पर गङ्गेश्वर लिङ्ग वर्तमान काल में लुप्त और अदृश्य है । चुनार में गङ्गातट के परिसर में 'गङ्गेश्वर लिङ्ग' है–अनुवादक.

।। अथ द्विनवतितमोऽध्यायः ।।

स्कन्द उवाच–

नर्मदेशस्य माहात्म्यं कथयामि मुने तव ।
यस्य स्मरणमात्रेण महापातकसंक्षयः ।। १ ।
अस्य वाराहकल्पस्य प्रवेशे मुनिपुङ्गवैः ।
आपृच्छि का सरिच्छ्रेष्ठा वद तां त्वं मृकण्डज ।। २ ।

मार्कण्डेय उवाच–

शृणुध्वं मुनयः सर्वे सन्ति नद्यः परःशतम् ।
सर्वा अप्यघहारिण्यः सर्वा अपि वृषप्रदाः ।। ३ ।
सर्वाभ्योऽपि नदीभ्यश्च श्रेष्ठाः सर्वाः समुद्रगाः ।
ततोऽपि हि महाश्रेष्ठाः सरित्सु सरिदुत्तमाः ।। ४ ।
गङ्गा च यमुना चाऽथ नर्मदा च सरस्वती ।
चतुष्टयमिदं पुण्यं धुनीषु मुनिपुङ्गवाः ।। ५ ।

द्वियुङ्नवतिकेऽध्याये सर्वाऽघौघविनाशिनि ।
नर्मदेशस्य माहात्म्यं वर्ण्यतेऽतिशुभप्रदम् ।। १ ।
नर्मदेशोत्पत्तिं कथयति – **नर्मदेशस्येति** ।। १ ।
वृषप्रदाः पुण्यदात्र्यः ।। ३ । **धुनीषु** नदीषु ।। ५ ।

(नर्मदेश्वर के प्रकट होने की कथा)

स्कन्द कहने लगे–

मुने! (अब) मैं तुमसे **नर्मदेश्वर लिंग** का माहात्म्य वर्णन करता हूँ, इसके केवल स्मरण करने से ही महापातकों का भी क्षय हो जाता है ।। १ ।

इस वाराहकल्प के चढ़ने ही के समय प्रधान मुनियों ने मार्कण्डेय ऋषि से यह पूछा था कि हे मृकण्डनन्दन ! जो सब नदियों में श्रेष्ठ हो, आप उसे कहें ।। २ ।

मार्कण्डेय ने कहा– मुनिगण ! श्रवण करो । नदियाँ तो सैकड़ों ही ऐसी हैं जो पापहारिणी और पुण्यकारिणी प्रसिद्ध हैं ।। ३ ।

उन सब नदियों से समुद्रगामिनी नदियाँ श्रेष्ठ हैं । उन सब नदियों में वे ही उत्तम नदियाँ परम श्रेष्ठ समझी जाती हैं ।। ४ ।

हे मुनिपुंगवगण! गंगा, यमुना, नर्मदा और सरस्वती, ये चारों नदियाँ समस्त नदियों में परम पवित्र हैं ।। ५ ।

ऋग्वेदमूर्तिर्गङ्गा स्याद्यमुना च यजुर्ध्रुवम् ।
नर्मदा साममूर्तिस्तु स्यादथर्वा सरस्वती ॥ ६ ।
गंगा सर्वसरिद्योनिः समुद्रस्याऽपि पूरणी ।
गङ्गाया न लभेत्साम्यं काचिदत्र सरिद्वरा ॥ ७ ।
किन्तु पूर्वं तपस्तप्त्वा रेवया बह्वनेहसम् ।
वरदानोन्मुखो धाता प्रार्थितश्चेति सत्तम ॥ ८ ।
गङ्गासाम्यं विधे देहि प्रसन्नोऽसि यदि प्रभो ।
ब्रह्मणाऽथ ततः प्रोक्ता नर्मदा स्मितपूर्वकम् ॥ ९ ।
यदि त्र्यक्षसमत्वं तु लभ्यतेऽन्येन केनचित् ।
तदा गङ्गासमत्वं च लभ्यते सरिताऽन्यया ॥ १० ।
पुरुषोत्तमतुल्यः स्यात् पुरुषोऽन्यो यदि क्वचित् ।
स्रोतस्विनी तदा साम्यं लभते गङ्गया परा ॥ ११ ।
यदि गौरीसमा नारी क्वचिदन्या भवेदिह ।
अन्या धुनीह स्वर्धुन्यास्तदा साम्यमुपैष्यति ॥ १२ ।

न लभेन्न प्राप्नुयात् । लभेत साम्यमिति पाठे काक्वा न काचिदिति व्याख्येयम् ॥ ७ ।

बह्वनेहसं बहुकालम् ॥ ८ ।

गंगा ऋग्वेद की मूर्ति, यमुना यजुर्वेदस्वरूपा, नर्मदा सामवेदस्वरूपिणी और सरस्वती अथर्ववेद की मूर्ति है । यह बात सर्वथा ध्रुव है ॥ ६ ।

गंगा सब नदियों की आदियोनि है और समुद्र को भी भर देनेवाली है । अतएव संसार में कोई भी उत्तम नदी गंगा की समानता नहीं कर सकती ॥ ७ ।

किन्तु हे उत्तम ! पूर्वकाल में नर्मदा ने बहुत दिनों तक तपस्या करके वरदानोन्मुख ब्रह्मा से एक प्रार्थना की थी ॥ ८ ।

'प्रभो विधे! यदि आप प्रसन्न हैं, तो मुझे गंगा की तुल्यता प्रदान कीजिये' । तब ब्रह्मा ने कुछ हँसकर नर्मदा से कहा ॥ ९ ।

यदि कोई महादेव की समानता पा सके तो दूसरी नदी भी गंगा के समान हो सकती है ॥ १० ।

यदि कहीं पर कोई भी पुरुष पुरषोत्तम के तुल्य हो सके तो अन्य नदी भी गंगा के सदृश हो सकती है ॥ ११ ।

यदि इस लोक में कोई भी नारी गौरी की तरह बन सके, तो दूसरी नदी भी गंगा की समानता कर सकती है ॥ १२ ।

यदि काशीपुरीतुल्या भवेदन्या क्वचित्पुरी ।
तदा स्वर्गतरङ्गिण्याः साम्यमन्या नदी लभेत् ॥ १३ ।
निशम्येति विधेर्वाक्यं नर्मदा सरिदुत्तमा ।
धातुर्वरं परित्यज्य प्राप्ता वाराणसीं पुरीम् ॥ १४ ।
सर्वेभ्योऽपि हि पुण्येभ्यः काश्यां लिङ्गप्रतिष्ठितेः ।
अपरा न समुद्दिष्टा कैश्चिच्छ्रेयस्करी क्रिया॥ १५ ।
अथ सा नर्मदा पुण्या विधिपूर्वां प्रतिष्ठितिम् ।
व्यधात् पिलिपिलातीर्थे त्रिविष्टपसमीपतः ॥ १६ ।
ततः शम्भुः प्रसन्नोऽभूत्तस्यै नद्यै शुभात्मने ।
वरं वृणीष्व सुभगे यत्तुभ्यं रोचतेऽनघे ॥ १७ ।
सरिद्वरा निशम्येति रेवा प्राह महेश्वरम् ।
किं वरेणेह देवेश भृशं तुच्छेन धूर्जटे ॥ १८ ।
निर्द्वन्द्वा त्वत्पदद्वन्द्वे भक्तिरस्तु महेश्वर ।
श्रुत्वेति नितरां तुष्टो रेवागिरमनुत्तमाम् ॥ १९ ।
प्रोवाच च सरिच्छ्रेष्ठे त्वयोक्तं यत्तथाऽस्तु तत् ।
गृहाण पुण्यनिलये वितरामि वरान्तरम् ॥ २० ।

त्रिविष्टपसमीपतः त्रिलोचनसमीपतः ॥ १६ ।

यदि 'काशीपुरी' के समान कोई दूसरी नगरी कहीं पर हो जावे, तो संभव है कि, स्वर्गतरंगिणी गंगा की तुल्यता दूसरी नदी को भी मिल सके ॥ १३ ।

नदीश्रेष्ठा नर्मदा विधाता के इस वचन को सुन उनके वरदान को त्याग कर काशीधाम में चली गई ॥ १४ ।

काशी में लिंग प्रतिष्ठा ही समस्त पुण्यों से बढ़कर श्रेयस्करी क्रिया कही गयी है । उससे भिन्न दूसरा कर्म कोई भी नहीं बता सकता ॥ १५ ।

इसके अनन्तर उस पवित्र **नर्मदा नदी** ने **पिलिपिलातीर्थ** पर **त्रिलोचन** के समीप ही में विधिपूर्वक लिंग की प्रतिष्ठा की ॥ १६ ।

तब तो भगवान् शिव उस शुभात्मिका नदी के ऊपर प्रसन्न हो बोले । हे सुभगे! वर माँगो, हे अनघे! जो तुम्हारी रुचि हो, वही माँग लो ॥ १७ ।

सरिद्वरा रेवा (नर्मदा) ने यह सुनकर महेश्वर से कहा– हे देवदेव! धूर्जटे ! अत्यन्त तुच्छ अन्य वरदान का कौन प्रयोजन है? ॥ १८ ।

हे महेश्वर! आप के चरणयुगल में मेरी निर्द्वन्द्व भक्ति बनी रहे । महादेव नर्मदा की इस उत्तमवाणी को सुन बहुत ही सन्तुष्ट हुए ॥ १९ ।

वे कहने लगे–हे सरिद्वरे! तुमने जो कहा, वही होवेगा । हे पुण्यनिलये! लो, अब मैं (अपनी ओर से) दूसरा वरदान करता हूँ ॥ २० ।

यावन्त्यो दृषदः सन्ति तव रोधसि नर्मदे ।
तावन्त्यो लिङ्गरूपिण्यो भविष्यन्ति वरान्मम ॥ २१ ।
अन्यं च ते वरं दद्यां तमप्याकर्णयोत्तमम् ।
दुष्प्रापं यच्च तपसां राशिभिः परमार्थतः ॥ २२ ।
सद्यः पापहरा गङ्गा सप्ताहेन कलिन्दजा ।
त्र्यहात् सरस्वती रेवे त्वं तु दर्शनमात्रतः ॥ २३ ।
अपरं च वरं दद्यां नर्मदे दर्शनाऽघहे ।
भवत्या स्थापितं लिङ्गं नर्मदेश्वरसंज्ञकम् ॥ २४ ।
यत्तल्लिङ्गं महापुण्यं मुक्तिं दास्यति शाश्वतीम् ।
अस्य लिङ्गस्य ये भक्तास्तान् दृष्ट्वा सूर्यनन्दनः ॥ २५ ।
प्रणमिष्यति यत्नेन महाश्रेयोऽभिवृद्धये ।
सन्ति लिङ्गान्यनेकानि काश्यां देवि पदे पदे ॥ २६ ।
परं हि नर्मदेशस्य महिमा कोऽपि चाद्भुतः ।
इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तस्मिँल्लिङ्गे लयं ययौ ॥ २७ ।

सूर्यनन्दनो यमः ॥ २५ ।
कञ्चुकं निर्मोकम् ॥ ३० ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ।

हे नर्मदे! तुम्हारे तट में जितने ही पत्थर होंगे, मेरे वर के प्रभाव से वे सब (के सब) लिंगरूप हो जावेंगे ॥ २१ ।

बड़ी तपस्याओं के द्वारा परमार्थतः परम दुर्लभ और भी उत्तम वर तुमको देता हूँ । उसे भी श्रवण करो ॥ २२ ।

हे नर्मदे! गंगा तो (स्नान करने से) सद्यः पाप को हर लेती है और यमुना एक सप्ताह में पाप नाश करती है एवं तीन दिन में सरस्वती भी पाप को दूर करती है पर तुम दर्शन करने मात्र से पाप को नष्ट कर दोगी ॥ २३ ।

हे दर्शनमात्र-पापहारिणि! नर्मदे! एक और भी वर तुमको देता हूँ, तुम्हारे स्थापित लिंग का नाम नर्मदेश्वर होगा ॥ २४ ।

और यह पुण्यप्रद लिंग शाश्वत मुक्ति को देगा, जो लोग इस लिंग के भक्त होंगे, उनको देखते ही सूर्यनन्दन यमराज बड़े कल्याण की वृद्धि के लिए प्रयत्न-पूर्वक प्रणाम करने लगेंगे । हे देवि ! यद्यपि काशी में पद-पद पर अनेक लिंग वर्तमान हैं, पर **नर्मदेश्वर लिंग** की कुछ विचित्र ही महिमा होगी । यह कहकर भगवान् शिव उसी लिंग में लीन हो गये ॥ २५-२७ ।

नर्मदाऽपि प्रहृष्टाऽऽसीत् पावित्र्यं प्राप्य चाऽद्भुतम् ।
स्वदेशं च परिप्राप्ता दृष्टमात्राऽघहारिणी ॥ २८ ।
वाक्यं मृकण्डजमुनेस्तेऽपि श्रुत्वा मुनीश्वराः ।
प्रहृष्टचेतसो जाताश्चक्रुः स्वं स्वं ततो हितम् ॥ २९ ।

स्कन्द उवाच–

नर्मदेशस्य माहात्म्यं श्रुत्वा भक्तियुतो नरः ।
पापकञ्चुकमुत्सृज्य प्राप्स्यति ज्ञानमुत्तमम् ॥ ३० ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे नर्मदेश्वराख्यानं नाम द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ।

नर्मदा की अद्भुत पवित्रता पाकर बहुत ही प्रसन्न हुईं और दर्शनमात्र से पापहारिणी होकर अपने देश में चली गईं ॥ २८ ।

इस प्रकार से मार्कण्डेय मुनि का कथन सुन, वे सब मुनीश्वर लोग भी प्रहृष्ट-चित्त होकर अपना-अपना हितसाधन करने लगे ॥ २९ ।

स्कन्द ने कहा–

मनुष्य भक्तिपूर्वक नर्मदेश्वर का माहात्म्य सुनने से पापकंचुक को छोड़कर उत्तम ज्ञान को प्राप्त करेगा ॥ ३० ।

दोहा– धन्य धुनी वह नर्मदा, जेहि दर्शन अघ जाय ।
होत आप शिवलिंग जहँ, नर्मदेश कहवाय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ।

●

॥ अथ त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

नर्मदेशस्य माहात्म्यं श्रुतं कल्मषनाशनम् ।
इदानीं कथय स्कन्द सतीश्वरसमुद्भवम् ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

मित्रावरुणसम्भूत कथयामि कथां शृणु ।
यथा सतीश्वरं लिङ्गं काश्यामाविर्बभूव ह ॥ २ ।
पुरा ततप सुहत्तपः शतधृतिर्मुने ।
तपसा तेन देवेशः सन्तुष्टो वरदोऽभवत् ३ ।
उवाच चाऽपि ब्रह्माणं नितरां ब्राह्मणप्रियः ।
सर्वज्ञनाथो लोकात्मा वरं वरय लोककृत् ॥ ४ ।

ब्रह्मोवाच–

यदि प्रसन्नो देवेश वरं दास्यसि वाञ्छितम् ।
तदा त्वं मे भव सुतो देवी दक्षसुताऽस्तु च ॥ ५ ।

त्रिनवतितमेऽध्याये महापुण्यैकशेवधौ ।
सतीश्वरसमुत्पत्तिर्वर्ण्यतेऽतिशुभाश्रया ॥१ ।
अनुवादपूर्वकं सतीश्वरोत्पत्तिं पृच्छति – **नर्मदेशस्येति** ॥ १ ।
शतधृतिः ब्रह्मा ॥३ ।
हे लोककृत् ॥ ४ ।

(सतीश्वर की उत्पत्ति कथा)

अगस्त्य बोले–

हे स्कन्द! नर्मदेश्वर का कल्मषनाशक माहात्म्य मैंने सुना, पर अब आप सतीश्वर के प्रकट होने की कथा का कीर्तन कीजिए ॥ १ ।

स्कन्द ने कहा–

हे मित्रावरुणसंभूत! काशी में जैसे **सतीश्वर लिंग** का प्रादुर्भाव हुआ, उस कथा को मैं कहता हूँ, तुम श्रवण करो ॥ २ ।

हे मुने! पूर्वकाल में ब्रह्मा ने कठोर तपस्या की थी । उससे ब्राह्मणप्रिय, सर्वज्ञनाथ, लोकात्मा भगवान् शिव बहुत ही सन्तुष्ट हुए और वर देने के लिये उद्यत होकर उनसे कहने लगे कि, "लोककर्तः! वर माँगो" ॥ ३-४।

ब्रह्मा बोले–

हे देवेश! यदि आप प्रसन्न होकर वांछित वर देते हैं, तो आप मेरे पुत्र हों, और देवी दक्ष की कन्या होवें ॥ ५ ।

इति श्रुत्वा महादेवः सर्वदो ब्रह्मणो वरम् ।
स्मित्वा देवीमुखं वीक्ष्य प्रोवाच चतुराननम् ॥ ६ ।
ब्रह्मंस्त्वद्वाञ्छितं भूयात् किमदेयं पितामह ।
इत्युक्त्वा ब्रह्मणो भालादाविरासीच्छशाङ्कभृत् ॥ ७ ।
रुदन् स उत्तानशयो ब्रह्मणो मुखमैक्षत ।
ततो ब्रह्माऽपि तं बालं रुदन्तं प्रविलोक्य च ॥ ८ ।
किं मां जनकमाप्याऽपि त्वं रोदिषि मुहुर्मुहुः ।
श्रुत्वेति पृथुकः प्राह यथोक्तं परमेष्ठिना ॥ ९ ।
नाम्ने रोदिमि मे स्रष्टर्नाम देहि पितामह ।
रोदनाद्रुद्र इत्याख्यां स मायाडिम्भकोऽलभत् ॥ १० ।

अगस्त्य उवाच—

अर्भकत्वं गतोऽपीशः किं रुरोद षडानन ।
यदि वेत्सि तदाऽऽचक्ष्व महत्कौतूहलं हि मे ॥ ११ ।

देवी चिच्छक्तिर्महामायेति यावत् । तस्या मुखम् ॥ ६ ।

उत्तानशयः शिशुः ॥ ८ ।

पृथुको बालकः ॥ ९ ।

मायाडिम्भको मायाबालकः । रोदनादिति । रोदनाद्रुद्रनाम ब्रह्मा कृतवानित्यर्थः ॥ १० ।

सर्वस्वदाता महादेव ब्रह्मा का यह वर सुन भगवती के मुख की ओर ताक कुछ मुसकुरा कर चतुरानन से बोले ॥ ६ ।

'हे पितामह! ब्रह्मन्! तुम्हारे लिये क्या अदेय है, अस्तु, तुम्हारा वांछित सिद्ध होवे' यह कहकर भगवान् चन्द्रमौलि ब्रह्मा के कपाल से (बालकरूप में) प्रकट हो गये ॥ ७ ।

वह बालक उत्तान सोकर रोता हुआ ब्रह्मा के मुख की ओर ताकने लगा । तब ब्रह्मा भी उस लड़के को रोता हुआ देखकर "मुझे पिता पाकर भी तुम क्यों बारंबार रो रहे हो" ऐसा बोले । तब वह बालक ब्रह्मा की बात सुनकर कहने लगा ॥ ८-९ ।

हे सृष्टिकर्ता! मैं नाम के लिए रो रहा हूँ, हे पितामह! मेरा नाम रख दीजिए । तब उस मायामय बच्चे का रोने के कारण रुद्र ही नामकरण किया गया ॥ १० ।

अगस्त्य ने पूछा—

हे षडानन! महेश्वर, बालक होने पर भी क्यों रोते रहे ? यदि इसका कारण आप जानते हों, तो मुझे बतलाइये; क्योंकि (इसके सुनने का) मुझे बड़ा ही कौतूहल है ॥ ११ ।

स्कन्द उवाच–

सर्वज्ञस्य कुमारत्वात् किञ्चित् किञ्चिदवैम्यहम् ।
रोदने कारणं वच्मि शृणु कुम्भसमुद्भव ॥ १२ ।
मनसीति विचारोऽभूद्देवस्य परमात्मनः ।
बुद्धिवैभवमस्याऽहो वीक्षितुं परमेष्ठिनः ॥ १३ ।
सत्यलोकाधिनाथस्य चतुरास्यस्य वेधसः ।
इत्यानन्दात् समद्भूतो वाष्पपूरो महेशितुः ॥ १४ ।

अगस्त्य उवाच–

किं बुद्धिवैभवं धातुः शम्भुना मनसीक्षितम् ।
येनाऽऽनन्दाश्रुसम्भारो बाल्येऽप्यभवदीशितुः ॥ १५ ।
एतत्कथय मे प्राज्ञ सर्वज्ञाऽऽनन्दवर्धन ।
श्रुत्वाऽगस्त्युदितं वाक्यं तारकारिरुवाच ह ॥ १६ ।
देवेन मनसि ध्यातमिति कुम्भजने मुने ।
विनाऽपत्यं जनेतारं क उद्धर्तुमिह प्रभुः ॥ १७ ।

अहो इत्याश्चर्ये । वीक्षितुं द्रष्टुम् ॥ १३ ।

देवेन शिवेन ।मनसि ध्यातं ब्रह्मसमीहितं विनेत्यादि स्यामसंशयमित्यन्तेन ॥ १७ ।

स्कन्द ने कहा–

हे कुंभसंभव ! सर्वज्ञ का कुमार होने से कुछ-कुछ मैं समझता हूँ, अतएव रोने का कारण कहता हूँ, श्रवण करो ॥ १२।

परमात्मा देवाधिदेव के मन में यह विचार आया कि अहो! सत्यलोक के अधिपति, परमेष्ठी, विधाता, चतुरानन का कैसा बुद्धिवैभव है (जो मुझे ही अपना पुत्र बना लिया) । इसी आनन्द के मारे महादेव की आँखों से वाष्पपूर बहने लगा ॥ १३-१४ ।

अगस्त्य ने फिर पूछा–

भगवान् शंभु ने मन में विधाता की कौन-सी बुद्धिमत्ता देखी, जिससे बालक होने पर भी महादेव के (नेत्रों से) आनन्द का अश्रुजल बहने लगा था ॥ १५ ।

हे सर्वज्ञानन्दवर्द्धन प्राज्ञ! इस विषय को स्पष्टरूप से कहिये । इस भाँति से अगस्त्य का कथन सुन तारकासुर के शत्रु **स्कन्द ने कहा** ॥ १६ ।

हे कुंभज मुने! महादेव ने मन ही मन यह सोचा– अपत्य के बिना पिता का उद्धार करने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ १७ ।

एको मनोरथश्चाऽयं द्वितीयोऽयं सुनिश्चितम् ।
अपत्यत्वं गते चाऽस्मिन् स्मर्तुरुत्पत्तिहारिणि ॥ १८ ।
क्षणं क्षणं समालोक्यमङ्गस्पर्शेक्षणं क्षणम् ।
एकशय्यासनाहारं लप्स्येऽनेन क्षणे क्षणे ॥ १९ ।
योऽयं न गोचरः क्वाऽपि वाणीमनसयोरपि ।
स मेऽपत्यत्वमासाद्य किं न दास्यति चिन्तितम् ॥ २० ।
योऽमुं सकृत् स्पृशेज्जन्तुर्योऽमुं पश्येत् सकृन्मुदा ।
न स भूयोऽभिजायेत भवेच्चानन्दमेदुरः ॥ २१ ।
गृहक्रीडनकं मेऽसौ यदि भूयात् कथञ्चन ।
तदा परस्य सौख्यस्य निधानं स्यामसंशयम् ॥ २२ ।
विधेः समीहितं चेति नूनं ज्ञात्वा स सर्ववित् ।
आनन्दवाष्पकलितं चक्षुस्त्रयमदीधरत् ॥ २३ ।

समालोक्यं सम्यग् दर्शनम् । लप्स्ये प्राप्स्ये इत्यग्रिमेणाऽन्वयः । एकशय्यासनाहारं च ॥ १९ ।

चक्षुस्त्रयं वाष्पकलितमासीदित्यर्थः ॥ २३ ।

(ब्रह्मा का) पहला तो यही मनोरथ रहा, (कि उन्हें अपत्य प्राप्त हो) दूसरा यह कि, स्मरणकर्ता के भी जन्मदुःखहारक इनके अपत्य बन जाने पर क्षण-क्षण में दर्शन, प्रतिक्षण अंगस्पर्श, एक शय्या पर शयन, एक स्थान पर बैठकी और एकत्र आहार (विहार) प्राप्त होगा ॥ १८-१९ ।

जो कभी वचन और मन के भी गोचर नहीं होते, वे ही जब मेरे पुत्र हो जायेंगे, तो मुझे क्या नहीं मिल सकता है ? ॥ २० ।

जो कोई इनको हर्षपूर्वक एक बार भी देख लेवे, अथवा स्पर्श कर सके, उसे न तो फिर जन्म ही लेना पड़ता है, न वह आनन्दभोग ही से वंचित रह सकता है ॥ २१ ।

यदि ये किसी प्रकार से मेरे घर के खिलौने हो जावें, तो निःसन्देह मैं परम-सुख का निधान हो जाऊँगा ॥ २२ ।

उस सर्वज्ञ महेश्वर ने विधाता की इसी इच्छा को जानकर, अपने तीनों ही नेत्रों को आनन्दाश्रु के जल से भर दिया ॥ २३ ।

श्रुत्वेत्यगस्तिः स्कन्दस्य भाषितं पर्यमूमुदत् ।
ननाम चाङ्घ्री प्रोवाच जय सर्वज्ञनन्दन ॥ २४ ।
विधेरपि मनोज्ञातं शम्भोरपि मनोगतम् ।
सम्यक् चित्तं त्वया ज्ञातं नमस्तुभ्यं चिदात्मने ॥ २५ ।
स्कन्दोऽपि नितरां तुष्टः श्रोतुरानन्ददर्शनात् ।
धन्योऽस्यगस्त्य धन्योऽसि श्रोतुं जानासि तत्त्वतः ॥ २६ ।
न मे श्रमो वृथा जातो ब्रुवतस्ते पुरः कथाम् ।
इत्यगस्तिं समाभाष्य पुनः प्राह षडाननः ॥ २७ ।
देवे रुद्रत्वमापन्ने देवी दक्षसुताऽभवत् ।
साऽपि तप्त्वा तपस्तीव्रं सती काश्यां वरार्थिनी ॥ २८ ।
ददर्श लिङ्गरूपेण प्रादुर्भूतं हरं पुरः ।
अलं तप्त्वा महादेवि प्रोक्तवन्तमिति स्फुटम् ॥ २९ ।

चिदात्मने ज्ञानरूपाय ॥ २५ ।

स्कन्दोऽपि श्रोतुरानन्ददर्शनाद्धन्य इत्यादिनाऽगस्ति-ऋषिं समाभाष्य पुनः प्राहेति तृतीयेनाऽन्वयः ॥ २६ ।

किं तत्तदाह – **देव इति** ॥ २८ ।

स्कन्ददेव की इस वाणी को सुनकर अगस्त्य मुनि बड़े ही आनन्दित हुए और उनके चरणों में प्रणाम करके कहने लगे, हे सर्वज्ञनन्दन! आप की जय हो ।।२४ ।

(आप ही धन्य हैं) आपने ब्रह्मा का चित्त तो जान ही लिया, पर महादेव का भी अभिप्राय भले ही समझ लिया, वास्तव में आप ने ठीक-ठीक (दोनों जन के) मन को जान लिया, अतएव चिदात्मास्वरूप आप को नमस्कार है ॥ २५ ।

भगवान् स्कन्द भी श्रोता का आनन्द देखकर बहुत ही सन्तुष्ट हुए (और बोले–) हे अगस्त्य! तुम परम धन्य हो, सुनने की यथार्थ रीति भी तुम ही जानते हो ॥ २६ ।

तुम्हारे आगे कथा कहने से मेरा परिश्रम सार्थक हुआ । इस प्रकार से बातचीत हो जाने पर षडानन फिर अगस्त्य से कहने लगे ॥ २७ ।

इस रीति से भगवान् के रुद्र होने पर भगवती भी सती नाम से दक्ष की कन्या हुईं । फिर उस सती देवी ने वरार्थिनी हो काशी धाम में घोर तपस्या करके लिंगस्वरूप में प्रकट हुए महादेव को अपने आगे देखा । लिंगरूपी हर ने स्पष्ट स्वर में उनसे कहा, हे महादेवि! अब तपस्या करने का कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २८-२९ ।

इदं सतीश्वरं लिङ्गं तव नाम्ना भविष्यति ।
यथा मनोरथस्तेऽत्र फलितो दक्षकन्यके ॥ ३० ।
तथैतल्लिङ्गमाराध्यान्यस्याऽपि हि फलिष्यति ।
कुमारी प्राप्स्यति पतिं मनसोऽपि समुच्छ्रितम् ॥ ३१ ।
एतल्लिङ्गं समाराध्य कुमारोऽपि वराङ्गनाम् ।
यस्य यस्य हि यः कामस्तस्य तस्य हि स ध्रुवम् ॥ ३२ ।
भविष्यति न सन्देहः सतीश्वरसमर्चनात् ।
सतीश्वरं समभ्यर्च्य यो यो यं यं समीहते ॥ ३३ ।
तस्य तस्य स स क्षिप्रं भविष्यति मनोरथः ।
इतोऽष्टमे च दिवसे त्वज्जनेता प्रजापतिः ॥ ३४ ।
मह्यं दास्यति कन्यां त्वां सफलस्ते मनोरथः ।
इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ॥ ३५ ।
साऽपि स्वभवनं याता सती दाक्षायणी मुदा ।
पिताऽपि तस्मै प्रादात्तां रुद्राय दिवसेऽष्टमे ॥ ३६ ।

मनसोऽपि समुच्छ्रितं यादृक् पतिः मनसा वाञ्छ्यते,ततोऽप्युत्कृष्टमित्यर्थः ॥ ३१ ।
त्वज्जनेता तव पिता ॥ ३४ ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रिनवतितमोऽध्यायः. ॥ ९३ ।

और यह लिंग तुम्हारे नामानुसार **सतीश्वर** संज्ञक होवेगा । अयि दक्षसुते! जैसे तुम्हारा मनोरथ इससे सिद्ध हुआ है, वैसे ही इस लिंग की आराधना करने से अन्य लोगों की भी सिद्धि होवेगी, इस लिंग की आराधना करने से कुमारी मन से भी उन्नत पति को पावेगी और कुमार पुरुष को भी उत्तम पत्नी प्राप्त होगी । इस **सतीश्वर लिंग** के पूजन करने से जिस-जिस की जो-जो कामना होगी, उस-उस की निःसन्देह वही कामना पूर्ण होगी । सतीश्वर की पूजा करके जो कोई जो मनोरथ करेगा, उसका वह मनोरथ तुरन्त सिद्ध हो जावेगा । आज के आठवें दिन तुम्हारे पिता दक्ष-प्रजापति मुझे तुम्हारा कन्यादान कर देवेंगे, जिससे तुम्हारा मनोरथ सफल हो जावेगा । ऐसा कहने के उपरान्त महादेव वहीं पर अन्तर्धान हो गये ॥ ३०-३५ ।

और वह दक्षसुता सती देवी भी सहर्ष अपने घर चली गई । फिर पिता दक्ष ने भी आठवें ही दिन रुद्रदेव को उस कन्या का दान कर दिया ॥ ३६ ।

स्कन्द उवाच—

इत्थं सतीश्वरं लिङ्गं काश्यां प्रादुरभून्मुने ।
स्मरणादपि लिङ्गं च दद्यात् सत्त्वगुणं परम् ॥ ३७ ।
रत्नेशात्पूर्वतो भागे दृष्ट्वा लिङ्गं सतीश्वरम् ।
मुच्यते पातकैः सद्यः क्रमाज्ज्ञानं च विन्दति ॥ ३८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे सतीश्वरप्रादुर्भावो नाम त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ।

स्कन्द बोले—

हे मुने! इस रूप से काशी में **सतीश्वर लिंग** प्रकट हुआ । वह केवल स्मरण करने से भी सत्त्वगुण दे देता है ॥ ३७ ।

रत्नेश्वर के पूर्वभाग में विराजमान उस **सतीश्वर लिंग** के दर्शन करने से मनुष्य उसी घड़ी पापों से मुक्त हो जाता है और क्रमशः ज्ञान को भी प्राप्त करता है ॥ ३८ ।

दोहा रत्नेश्वर के पास में, एक लिंग है जोय ।
वही सतीश्वर नाम है, देत सतोगुन सोय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां
त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ।

●

॥ अथ चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥

स्कन्द उवाच–

अन्यान्यपि च लिङ्गानि कथयामि महामुने ।
अमृतेशमुखादीनि यन्नामाऽप्यमृतप्रदम् ॥ १ ॥
पुरा सनारुनामाऽऽसीन्मुनिरत्र गृहाश्रमी ।
ब्रह्मयज्ञरतो नित्यं नित्यं चाऽतिथिदैवतः ॥ २ ॥
लिङ्गपूजारतो नित्यं नित्यं तीर्थाऽप्रतिग्रही ।
तस्यर्षेरभवत्पुत्रः सनारोरुपजंघनिः ॥ ३ ॥
स कदाचिद् गतोऽरण्यं तत्र दष्टः पृदाकुना ।
अथ तत्सवयोभिश्च स आनीतः स्वमाश्रमम् ॥ ४ ॥
सनारुणा समुच्छ्वस्य नीतः स उपजंघनिः ।
महाश्मशानभूभागं स्वर्गद्वारसमीपतः ॥ ५ ॥

अमृतःकरुणेशश्च ज्योतीरूपेश्वरस्तथा ।
वर्ण्यन्तेऽत्र नवत्याख्ये चतुर्भिरधिके शुभे ॥ १ ॥

अमृतेशादीनि लिङ्गानि कथयति – **अन्यानीति** । अमृतप्रदं मोक्षप्रदम् ॥ १ ॥
अत्र काश्याम् ॥ २ ॥
पृदाकुना सर्पेण । सवयोभिः समानवयस्कैर्मित्रैरित्यर्थः ॥ ४ ॥

(अमृतेश्वर इत्यादि लिंगों की कथा)

स्कन्द बोले–

हे महामुने ! जिनके नाम भी अमृतदायक हैं, उन अमृतेश्वर प्रभृति अन्यान्य लिंगों का भी मैं वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

पूर्वकाल में **सनारुनामा** एक गृहस्थ मुनि काशी में रहते थे । वे नित्य ही ब्रह्मयज्ञ में तत्पर और सदैव अतिथिपूजक थे ॥ २ ॥

वे सर्वदा लिंग की पूजा करते और कभी तीर्थ में प्रतिग्रह नहीं लेते थे । उस सनारु ऋषि को **उपजंघनि** नामक एक ही पुत्र था ॥ ३ ॥

एक बार उस ऋषि-कुमार को वन में सर्प ने काट लिया । तदनन्तर उसके समौरिया (समवयस्क) साथी लोग उसे अपने आश्रम में उठा लाये ॥ ४ ॥

सनारु विलाप करके उस **उपजंघनि** को स्वर्गद्वार के समीप महाश्मशान की भूमि पर उठा ले गये ॥ ५ ॥

तत्राऽऽसीच्छ्रीफलाकारं लिङ्गमेकं सुगुप्तवत् ।
निधाय तत्र तं यावच्छवं सञ्चिन्तयेत्सुधीः ॥ ६ ।
सर्पदष्टस्य संस्कारः कथं भवति चेति वै ।
तावत् स जीवन्नुत्तस्थौ सुप्तवच्चोपजंघनिः ॥ ७ ।
अथ तं वीक्ष्य स मुनिः सनारुरुपजंघनिम् ।
पुनः प्राणितसम्पन्नं विस्मयं प्राप्तवान् परम् ॥ ८ ।
प्राणितव्येऽत्र को होतुर्मच्छिशोरुपजंघनेः ।
क्षेत्राद् बहिरहिर्यं हि दष्टा नैषीत् परासुताम् ॥ ९ ।
इति यावत् स संधत्ते धियं तज्जीवितैकिकाम् ।
तावत् पिपीलिका त्वेका मृतं क्वापि पिपीलिकम् ॥ १० ।

शवं मृतम् । शिवमिति पाठे तस्य कल्याणमित्यर्थः ॥ ६ ।

तदेव दर्शयति–**सर्पेति** ॥ ७ ।

प्राणितसम्पन्नं चेष्ठायुक्तमित्यर्थः ॥ ८ ।

प्राणितव्ये चेष्टितव्ये । **क्षेत्रादिति** । क्षेत्राद् बहिरहिर्यं दष्टा दंशकर्ता भवेत्, स क्षेत्रमध्ये आनीतः परासुतां मृततां न प्राप्नोतीत्यर्थः । द्रष्ट्वेति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ ९ ।

तज्जीवितैकिकां जीवितमेवैकं मुख्यं यस्यास्ताम् । तज्जीवितं प्रतीति क्वचित् ॥ १० ।

वहाँ पर श्रीफल (शरीफा) के आकार का एक लिंग बड़ी गुप्त रीति से वर्तमान था । ऋषि उस मृत बालक को उसी के ऊपर रखकर जब तक यह सोचने लगे, सर्पदष्ट का संस्कार कैसे होता है, तब तक वह **उपजंघनि** सोये हुए के समान जीता-जागता उठ बैठा ॥ ६-७ ।

इसके उपरान्त वह सनारु ऋषि उस मृत **उपजंघनि** को प्राणसम्पन्न देखकर बहुत ही विस्मयापन्न हो गये ॥ ८ ।

और सोचने लगे कि, यह 'मेरा पुत्र सर्प के काटने से क्षेत्र के बाहर ही मर चुका था, पर क्योंकर इसमें प्राण का संचार हो आया' ? ॥ ९ !

वे यही विचार करते थे, इतने में एक चींटी कहीं से मरे हुए (किसी) एक पिपीलक को वहाँ पर उठा लाई, (बस) भूमि का स्पर्श होते ही वह भी फिर से

आनिनाय च तत्रैव सोऽप्यनन्निर्गतस्ततः ।
अथ विज्ञाय स मुनिस्तत्त्वं जीवितसूचितम् ॥ ११ ।
मृदुहस्ततलेनैव यावत् खनति वै मुनिः ।
तावच्छ्रीफलमात्रं हि लिङ्गं तेन समीक्षितम् ॥ १२ ।
सनारुणाऽथ तल्लिङ्गं तेन तत्र समर्चितम् ।
चिरकालीनलिङ्गस्य कृतं नामाऽपि सान्वयम् ॥ १३ ।
अमृतेश्वरनामेदं लिङ्गमानन्दकानने ।
एतल्लिङ्गस्य संस्पर्शादमृतत्वं लभेद् ध्रुवम् ॥ १४ ।
अमृतेशं समभ्यर्च्य जीवत्पुत्रः स वै मुनिः ।
स्वास्पदं समनुप्राप्तो दृष्ट आश्चर्यवज्जनैः ॥ १५ ।
तदा प्रभृति तल्लिङ्गममृतेशं मुनीश्वर ।
काश्यां सिद्धिप्रदं नृणां कलौ गुप्तं भवेत्पुनः ॥ १६ ।
अमृतेश्वरसंस्पर्शान्मृता जीवन्ति तत्क्षणात् ।
अमृतत्वं भजन्तेऽत्र जीवन्तः स्पर्शमात्रतः ॥ १७ ।

स पिपीलिकः । अनन् प्राणन् चेष्टन्नित्यर्थः । तत्त्वं पदार्थम् । जीवितसूचितमुभयोर्जीवनेनानुमितम् ॥ ११ ।

जीवत्पुत्रः जीवन् पुत्रो यस्य सः । पाठन्तरेऽपि[1] स एवार्थः ॥ १५ ।

जीवित होकर चला गया, तब तो मुनि ने वहाँ पर जीवनसूचक कोई पदार्थ समझा ॥ १०-११ ।

वैसा समझने पर ज्यों ही अपने कोमल हस्त से उसे खोदने लगे, त्यों ही श्रीफल के समान एक लिंग उनको दिखाई पड़ा ॥ १२ ।

फिर तो सनारु मुनि ने वहीं पर उसका पूजन कर, उस चिरकालीन लिंग का नाम भी सार्थक कर दिया ॥ १३ ।

आनन्दवन में वह लिंग **अमृतेश्वर** नामक है । उस लिंग के स्पर्श करने से अवश्य ही अमृतत्व प्राप्त होता है ॥ १४ ।

अमृतेश्वर की पूजा इत्यादि कर वह मुनि अपने जीते हुए पुत्र के साथ जब अपने स्थान पर पहुँचे, तब लोग बड़े ही आश्चर्य से देखने लगे ॥ १५ ।

हे मुनीश्वर ! तभी से वह **अमृतेश्वर लिंग** काशी में लोगों को बड़ा ही सिद्धिदायक है; किन्तु कलियुग में वह गुप्त ही रहता है ॥ १६ ।

अमृतेश्वर के स्पर्शमात्र से मृत प्राणी फिर जीवित हो जाते हैं, पर यदि जीवित व्यक्ति स्पर्श कर सके, तो उसे अमृतत्व प्राप्त होता है ॥ १७ ।

---

1. जीवपुत्र इति ।

अमृतेशसमं लिङ्गं नास्ति क्वापि महीतले ।
तल्लिङ्गं शम्भुना तिष्ये कृतं गुप्तं प्रयत्नतः ॥ १८ ।
अमृतेश्वरनामाऽपि ये काश्यां परिगृह्णते ।
न तेषामुपसर्गोत्थं भयं क्वापि भविष्यति ॥ १९ ।
मुनेऽन्यच्च महालिङ्गं करुणेश्वरसंज्ञितम् ।
मोक्षद्वारसमीपे तु मोक्षद्वारेश्वराग्रतः ॥ २० ।
दर्शनात्तस्य लिङ्गस्य महाकारुणिकस्य वै ।
न क्षेत्रान्निर्गमो जातु बहिर्भवति कस्यचित् ॥ २१ ।
स्नातव्यं मणिकर्ण्यां च द्रष्टव्यः करुणेश्वरः ।
क्षेत्रोपसर्गजा भीतिर्हातव्या परया मुदा ॥ २२ ।
सोमवासरमासाद्य एकभक्तव्रतं चरेत् ।
यष्टव्यः करुणापुष्पैर्व्रतिना करुणेश्वरः ॥ २३ ।
तेन व्रतेन सन्तुष्टः करुणेशः कदाचन ।
न तं क्षेत्राद् बहिः कुर्यात्तस्मात्कार्यं व्रतं त्विदम् ॥ २४ ।

उपसर्गोत्थं ग्रहादिपीडोत्थं विघ्नोत्थमिति वा ॥ १९ ।
करुणापुष्पैः प्रसिद्धैः ॥ २३ ।

अमृतेश्वर के समान कोई भी लिंग भूतल पर नहीं है । इसी से भगवान् शंकर ने उसे कलिकाल में बड़े प्रयत्न से गुप्त कर रखा है ॥ १८ ।

जो लोग काशी में अमृतेश्वर का नाम भी लेते हैं, उनको कभी उपसर्गजनित कोई भी भय नहीं हो पाता ॥ १९ ।

हे मुनिवर ! मोक्षद्वार के समीप ही में **मोक्षेश्वर** के आगे (सामने) **करुणेश्वर** नामक एक और भी महालिंग विराजमान है ॥ २० ।

उस परम करुणामय़ लिंग के दर्शन करने से किसी को कभी अविमुक्त क्षेत्र से बाहर कहीं नहीं जाना पड़ता ॥ २१ ।

मणिकर्णिका में स्नान कर **करुणेश्वर** का दर्शन करने से क्षेत्र में उपसर्गजनित भय हर्ष के साथ दूर भाग जाता है ॥ २२ ।

सोमवार के दिन एकभक्त-व्रती होकर करना के पुष्पों से भगवान् करुणेश्वर का पूजन करना चाहिए ॥ २३ ।

ऐसा करने से उसके ऊपर प्रसन्न होकर करुणासागर करुणेश्वर उसे कभी क्षेत्र से बाहर नहीं होने देते, अतएव यह व्रत करने ही योग्य है ॥ २४ ।

तत्पत्रैस्तत्फलैर्वाऽपि सम्पूज्यः करुणेश्वरः ।
यो न जानाति तल्लिङ्गं सम्यग् ज्ञानविवर्जितः ॥ २५ ।
तेनाऽर्च्यः करुणावृक्षो देवेशः प्रीयतामिति ।
यो वर्षं सोमवारस्य व्रतं कुर्यादिति द्विजः ॥ २६ ।
प्रसन्नः करुणेशोऽत्र तस्य दास्यति वाञ्छितम् ।
द्रष्टव्यः करुणेशोऽत्र काश्यां यत्नेन मानवैः ॥ २७ ।
इति ते करुणेशस्य महिमोक्तो महत्तरः ।
यं श्रुत्वा नोपसर्गोत्थं भयं काश्यां भविष्यति ॥ २८ ।
मोक्षद्वारेश्वरं चैव स्वर्गद्वारेश्वरं तथा ।
उभौ काश्यां नरो दृष्ट्वा स्वर्गं मोक्षं च विन्दति ॥ २९ ।
ज्योतीरूपेश्वरं लिङ्गं काश्यामन्यत्प्रकाशते ।
तस्य सम्पूजनाद् भक्ता ज्योतीरूपा भवन्ति हि ॥ ३० ।
चक्रपुष्करिणीतीरे ज्योतीरूपेश्वरं परम् ।
समभ्यर्च्याऽऽप्नुयान्मर्त्यो ज्योतीरूपं न संशयः ॥ ३१ ।

तत्पत्रैस्तत्फलैरित्यत्र तच्छब्दः करुणावृक्षपरः ॥ २५ ।

(पुष्प न मिले तो) करना के पत्र वा फलों से भी **करुणेश्वर** का पूजन करना चाहिए, यदि किसी को **करुणेश्वर** की ठीक पहचान (पता) न लगे, तो उसे उचित है कि "देवदेव प्रसन्न हों" यह कहकर करना के वृक्ष ही की पूजा करे । इस प्रकार से जो कोई द्विज वर्ष भर प्रति सोमवार को व्रत करता है, भगवान् करुणेश्वर उस पर प्रसन्न होकर उसकी अभिलाषा को परिपूर्ण कर देते हैं । अतएव काशी में लोगों को बड़ा श्रम उठाकर भी करुणेश्वर का दर्शन करना उचित है ॥ २५–२७ ।

यह मैंने तुमसे **करुणेश्वर** की महत्तर महिमा वर्णन की है । इसके सुनने से भी काशी में कभी किसी उपसर्ग का उपद्रव नहीं होने पावेगा ॥ २८ ।

मनुष्य काशी-धाम में **मोक्षद्वारेश्वर** और **स्वर्गद्वारेश्वर**–इन दोनों लिंगों के दर्शन करने से मोक्ष और स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥ २९ ।

काशीपुरी में एक **ज्योतीरूपेश्वर** नामक लिंग प्रकाशमान है । भक्तलोग उसके पूजन करने से ज्योतीरूप हो जाते हैं ॥ ३० ।

चक्रपुष्करिणी (मणिकर्णिका) के तीर पर **ज्योतीरूपेश्वर** की अर्चना करने से मनुष्य निःसन्देह ज्योतीरूप हो जाता है ॥ ३१ ।

यदा भागीरथी गङ्गा तत्र प्राप्ता सरिद्वरा ।
तदारभ्याऽर्चयेन्नित्यं तल्लिङ्गं स्वर्धुनी मुदा ॥ ३२ ।
पुरा विष्णौ तपत्यत्र तल्लिङ्गं स्वयमेव हि ।
तत्राऽऽविरासीत्तेजस्वी तेन क्षेत्रमिदं शुभम् ॥ ३३ ।
चक्रपुष्करिणीतीरे ज्योतीरूपेश्वरं तदा ।
दूरस्थोऽपीह यो ध्यायेत्तस्य सिद्धिरदूरतः ॥ ३४ ।
एतेष्वपि च लिङ्गेषु चतुर्दशसु सत्तम ।
लिङ्गाष्टकं महावीर्यं कर्मबीजदवानलम् ॥ ३५ ।
ओङ्कारादीनि लिङ्गानि यान्युक्तानि चतुर्दश ।
तथा दक्षेश्वरादीनि लिङ्गान्यष्टौ महान्ति च ॥ ३६ ।
शैलेशादीनि लिङ्गानि तथा यानि चतुर्दश ।
पुनः षट्त्रिंशदेतानि क्षेत्रसंसिद्धिहेतवे ॥ ३७ ।

एतेषु अमृतेशादिषु **लिङ्गाष्टकममृतेश-तारकेश-ज्ञानेश-करुणेश-मोक्षद्वारेश-स्वर्गद्वारेश-ब्रह्मेश-लाङ्गलीशानामष्टकम्** ॥ ३५ ।

जब से नदियों की महारानी स्वर्गतरंगिणी भगवती भागीरथी गंगा वहाँ पर आईं, तब से बड़े आनन्द के साथ प्रतिदिन उस लिंग का पूजन करती हैं ॥ ३२ ।

पूर्वकाल में जब भगवान् विष्णु वहाँ पर तपस्या कर रहे थे, तभी वह तेजोमय लिंग आप से आप प्रकट हुआ था और इसी के कारण यह क्षेत्र सर्वोत्तम हुआ है ॥ ३३ ।

यदि कोई दूर देश में भी रहकर चक्रपुष्करिणी के तीर पर विराजमान उस **ज्योतीरूपेश्वर** लिंग का ध्यान करे, तो उसकी सिद्धि दूर नहीं रहने पाती ॥ ३४ ।

जैसे महावीर्यशाली पूर्वोक्त चतुर्दश लिंग हैं, वैसे ही कर्मरूप बीजों को भस्म कर देने में दावानल के समान ये आठों लिंग भी हैं ॥ ३५ ।

ये आठों **दक्षेश्वर** इत्यादि लिंग, **ओंकारेश्वर** प्रभृति चतुर्दश लिंगों के समान हैं । **शैलेश्वरादिक** चौदहों लिंग भी इन्हीं के ऐसे श्रेष्ठ हैं । ये ही छत्तीसों लिंग क्षेत्रसिद्धि के कारण हैं । ॥ ३६-३७ ।

षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपोऽसौ लिङ्गेष्वेषु सदाशिवः ।
अस्मिन् क्षेत्रे वसन्नित्यं तारकं ज्ञानमादिशेत् ॥ ३८ ।
क्षेत्रस्य तत्त्वमेतद्धि षट्त्रिंशल्लिङ्गरूप्यहो ।
एतेषां भजनात्पुंसां न भवेद्दुर्गतिः क्वचित् ॥ ३९ ।
मुने रहस्यभूतानि लिङ्गान्येतानि निश्चितम् ।
एतल्लिङ्गप्रभावाच्च मुक्तिरत्र सुनिश्चिता ॥ ४० ।
मोक्षक्षेत्रमिदं काशी लिङ्गैरेतैर्महामते ।
एतान्यन्यानि सिद्धानि सम्भवन्ति युगे युगे ॥ ४१ ।
आनन्दकाननं शम्भोः क्षेत्रमेतदनादिमत् ।
अत्र संस्थितिमापन्ना मुक्ता एव न संशयः ॥ ४२ ।

षट्त्रिंशत्तत्त्वरूप इति । तान्युक्तान्यागमे—
तत्त्वानि शैवान्युच्यन्ते शिवः शक्तिः सदाशिवः ।
ईश्वरो विद्यया सार्धं पञ्चशुद्धान्यमूनि हि ।
माया कालश्च नियतिः कला विद्या पुनः स्मृताः ।
रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त च ।
प्रकृतिर्बुद्ध्यहङ्कारौ मनो ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ।
कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्राः पञ्चभूतानि देशिकाः ।
एतान्याहुरशुद्धानि चतुर्विंशतिरागमे ।
शैवानामिति तत्त्वानां विभागोऽत्र प्रदर्शितः ॥ इति ॥ ३८ ।
तत्त्वं स्वरूपं परमार्थमिति यावत् ॥ ३९ ।
निश्चितं निर्णीतमित्यर्थः ॥ ४० ।
संस्थितिं सम्यग् वसतिं मरणं वा ॥ ४२ ।

इन्हीं छत्तीस लिंगों में षट्त्रिंशत्तत्त्वस्वरूप सदाशिव वर्तमान रहकर इस क्षेत्र में नित्य ही तारक ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ ३८ ।

काशीक्षेत्र के तत्त्वस्वरूप ये ही छत्तीस लिंग हैं, इनके भजन करने से लोगों को कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती ॥ ३९ ।

हे मुने ! ये ही लिंग (क्षेत्र के) रहस्यरूप हैं, यह बात निश्चित है और इन्हीं के प्रभाव से काशी में मुक्ति सर्वतोमुख से स्थिर है ॥ ४० ।

हे महामते! इन्हीं लिंगों के कारण काशी मोक्ष-क्षेत्र हुई है । युग-युग में ये सब तथा और भी सिद्ध लिंग प्रकाशमान होते रहते हैं ॥ ४१ ।

यह आनन्दवन भगवान् शंभु का अनादिसिद्ध क्षेत्र है । इसी कारण यहाँ के निवासी लोग निःसन्देह मुक्त ही हैं ॥ ४२ ।

योगसिद्धिरिहाऽस्त्येव तपःसिद्धिरिहैव हि ।
व्रतसिद्धिर्मन्त्रसिद्धिस्तीर्थसिद्धिः सुनिश्चितम् ॥ ४३ ।
सिद्ध्यष्टकं तु यत्प्रोक्तमणिमादिमहत्तरम् ।
तज्जन्मभूमिरेषैव शम्भोरानन्दवाटिका ॥ ४४ ।
निर्वाणलक्ष्म्याः सदनमेतदानन्दकाननम् ।
एतत्प्राप्य न मोक्तव्यं पुण्यैः संसारभीरुणा ॥ ४५ ।
अयमेव महालाभ इदमेव परं तपः ।
एतदेव महत्पुण्यं लब्धा वाराणसीह यत् ॥ ४६ ।
अवश्यं जन्मिनो मृत्युर्यत्र कुत्र भविष्यति ।
कर्मानुसारिणी लभ्या गतिः पश्चाच्छुभाशुभा ॥ ४७ ।
मृत्युं विज्ञाय नियतं गतिं कर्मानुसारिणीम् ।
अवश्यं काशिका सेव्या सर्वकर्मनिवारिणी ॥ ४८ ।
मानुष्यं प्राप्य ये मूढा निमेषमितजीवितम् ।
न सेवन्ते पुरीं काशीं ते मुष्टा मन्दबुद्धयः ॥ ४९ ।

मुष्टा वञ्चिता दैवेनेति शेषः । मूढा इति पाठे अविवेकिनः । तत्र हेतुर्मन्दबुद्धय इति ॥ ४९ ।

इस क्षेत्र में योगसिद्धि, तपःसिद्धि, व्रतसिद्धि, मंत्रसिद्धि एवं तीर्थसिद्धि–सभी सुनिश्चित हैं ॥ ४३ ।

अणिमादिक जो आठ बड़ी भारी सिद्धियाँ कही गईं हैं, उन सबकी जन्मभूमि यही महादेव की आनन्दवाटिका है ॥ ४४ ।

यही आनन्दवन मोक्षलक्ष्मी का भवन है । पुण्यप्रभाव से यदि यह मिल जावे तो संसारभीरु जन को उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ४५ ।

यही बड़ा भारी लाभ है, यही बहुत बड़ी तपस्या है, यही महापुण्य भी है, जो इस (असार) संसार में काशी मिल जावे ॥ ४६ ।

जिसने जन्म पाया है, चाहे जहाँ हो, उसकी मृत्यु अवश्य ही होगी । फिर कर्म के अनुरूप सद्, असद् गति भी भोगनी ही पड़ेगी ॥ ४७ ।

सुतरां मृत्यु को नियत और गति को कर्मानुसारिणी समझकर, समस्त कर्मबन्धन को काट देनेवाली काशी की सेवा अवश्यमेव करनी चाहिए ॥ ४८ ।

इस क्षणभंगुर मनुष्यजन्म को पाकर जो मूढ़ लोग काशीपुरी को नहीं सेवते, वे सब मन्दबुद्धि अवश्य ही दैव से ठगे गये हैं ।

"जिनकर मन इन सन नहिं राता ।
ते जन वंचित किये विधाता"। (तु. रा.) ॥ ४९ ।

दुर्लभं जन्म मानुष्यं दुर्लभा काशिका पुरी ।
उभयोः सङ्गमासाद्य मुक्ता एव न संशयः ॥ ५० ।
क्व च तादृक् तपांसीह क्व तादृग् योग उत्तमः ।
यादृग्भिः प्राप्यते मुक्तिः काश्यां मोक्षोत्तमोत्तमः ॥ ५१ ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यपूर्वं पुनः पुनः ।
न काशीसदृशी मुक्त्यै भूमिरन्या महीतले ॥ ५२ ।
विश्वेशो मुक्तिदो नित्यं मुक्त्यै चोत्तरवाहिनी ।
आनन्दकानने मुक्तिर्मुक्तिर्नाऽन्यत्र कुत्रचित् ॥ ५३ ।
एक एव हि विश्वेशो मुक्तिदो नाऽन्य एव हि ।
स एव काशीं प्रापय्य मुक्तिं यच्छति नाऽन्यतः ॥ ५४ ।
सायुज्यमुक्तिरत्रैव सान्निध्यादिरथाऽन्यतः ।
सुलभा साऽपि नो नूनं काश्यां मोक्षोऽस्ति हेलया ॥ ५५ ।

यादृग्भिस्तप आदिभिः । **मोक्षोत्तमोत्तमः** सायुज्यमुक्तिरित्यर्थः ॥ ५१ ।

ननु सप्तैता मोक्षदा इत्यादिष्वन्यत्रापि मुक्तिः श्रूयते, कथमुक्तं नाऽन्यत्रेति तत्राह—**सायुज्येति** ॥ ५५ ।

दुर्लभ मनुष्यजन्म होने पर यदि परमदुर्लभ काशीपुरी भी प्राप्त हो जावे तो इन दोनों के संगम हो जाने पर फिर मुक्ति कहाँ जा सकती है? ॥ ५० ।

भला संसार में वैसी तपस्या अथवा वैसी उत्तम योगक्रिया कहाँ है ? जिससे मुक्ति मिल सके । पर काशी में तो उत्तमोत्तम मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ५१ ।

मैं बारंबार (पुकार कर) यह सत्य कहता हूँ, कि इस भूमंडल में काशी के समान मुक्ति का स्थान दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ५२ ।

जहाँ पर भगवान् विश्वेश्वर स्वयं मुक्ति का दान करते हैं और जहाँ पर मुक्ति ही के लिए भगवती भागीरथी उत्तरवाहिनी हो गई हैं, उसी आनन्द-कानन में मुक्ति मिलती है और दूसरे किसी स्थान में तो मुक्ति ही नहीं है ॥ ५३ ।

मुक्ति के दाता केवल एक विश्वेश्वर ही हैं, दूसरा तो कोई हुआ ही नहीं है, अतः वे ही जीवों को काशी में पहुँचाकर मुक्ति देते हैं । तो फिर अन्य से मुक्ति क्यों कर मिल सकती है? ॥ ५४ ।

केवल काशी ही में तो सायुज्य मुक्ति होती है । और स्थानों में बड़ा कठोर क्लेश उठाने पर सान्निध्यादिक मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु काशी में तो अनायास ही सायुज्यमुक्ति पाई जाती है ॥ ५५ ।

स्कन्द उवाच—

शृण्वगस्त्य महाभाग भविष्यं कथयाम्यहम् ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासोऽकथयद्यन्महद्वचः ॥
निश्चिकेतुमनाः पश्चाद्यत्करिष्यति तच्छृणु ॥ ५६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे अमृतेशादिलिङ्गप्रादुर्भावो नाम चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ।

अकथयत् कथयामास यन्महद्वचः । श्रोष्यत्येतन्महद्वच इति क्वचित् । तत्र एक एव हि विश्वेशो मुक्तिदो नान्य एव हि इत्येतच्छब्देन गृह्यते ॥ ५६ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ।

स्कन्द ने कहा—

हे महाभाग अगस्त्य ! अब मैं भविष्य कथा को कहता हूँ, जिसे कृष्णद्वैपायन वेदव्यास बड़ी बात कहकर मन में निश्चय हो जाने के पीछे जैसा करेंगे, उसे तुम श्रवण करो ॥ ५६ ।

दोहा—**करत सबै संहार जो, वह विश्वेश्वर एक ।**
देत मुक्ति सो काशि में, राखत आपनि टेक ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ।

●

॥ अथ पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥

व्यास उवाच–

शृणु सूत महाबुद्धे तथा स्कन्देन भाषितम् ।
भविष्यं मम तस्याऽग्रे कुम्भयोने महामते ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

निशामय महाभाग त्वं मैत्रावरुणे मुने ।
पाराशर्यो मुनिवरो यथा मोहमुपैष्यति ॥ २ ।
व्यस्य वेदान् महाबुद्धिर्नानाशाखाप्रभेदतः ।
अष्टादशपुराणानि सूतादीन् परिपाठ्य च ॥ ३ ।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां रहस्यं यस्त्वचीकरत् ।
महाभारतसंज्ञं च सर्वलोकमनोहरम् ॥ ४ ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वशान्तिकरं परम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण ब्रह्महत्या विनश्यति ॥ ५ ।

पञ्चाधिके तथाऽध्याये नवत्याख्य उशत्तमे ।
श्रीमद्व्यासभुजस्तम्भो वर्ण्यते संशयापहः ॥ १ ।
स्वस्यागामिवृत्तं कथयति–शृणु सूतेति । ॥ १ ।

(वेदव्यास का भुजस्तंभन)

व्यास बोले–

'हे महाबुद्धे ! सूत ! सर्वज्ञाता स्कन्द ने अगस्त्य से जो कुछ मेरा भविष्य-वर्णन किया था, उसे मैं तुमसे कहता हूँ, श्रवण करो ॥ १ ।

स्कन्द ने कहा–

हे मित्रावरुणनन्दन ! महाभाग! मुने ! अगस्त्य ! पराशरात्मज महर्षि व्यास जिस भाँति से मोह को प्राप्त होंगे, उसे भी तुम श्रवण कर लो ॥ २ ।

उस परमबुद्धिमान् व्यास ने चारों वेदों को नाना शाखाओं के भेद से विभक्त कर, सूतादि को अष्टादश पुराण पढ़ाया ॥ ३ ।

श्रुति, स्मृति और पुराणों के सारसंग्रहस्वरूप, सब लोगों के मन को हरण कर लेनेवाले, महाभारत (नामक एक अपूर्व ग्रन्थ) का निर्माण किया ॥ ४ ।

वह समस्त पापों का नाशक एवं परम शान्तिकारक है और उस महाभारत के श्रवणमात्र से ब्रह्महत्या दूर भागती है ॥ ५ ।

एकदा स मुनिः श्रीमान् पर्यटन् पृथिवीतले ।
सम्प्राप्तो नैमिषारण्यं यत्र सन्ति मुनीश्वराः ॥ ६ ।
अष्टाशीतिसहस्राणि शौनकद्यास्तपोधनाः ।
त्रिपुण्ड्रितमहाभाला लसद्रुद्राक्षमालिनः ॥ ७ ।
विभूतिधारिणो भक्त्या रुद्रसूक्तजपप्रियान् ।
लिङ्गाराधनसंसक्तान् शिवनामकृतादरान् ॥ ८ ।
एक एव हि विश्वेशो मुक्तिदो नाऽन्य एव हि ।
इति ब्रुवाणान् सततं परिनिश्चितमानसान् ॥ ९ ।
विलोक्य स मुनिर्व्यासस्तान् सर्वान् गिरिशात्मनः ।
उत्क्षिप्य तर्जनीमुच्चैः प्रोवाचेदं वचः पुनः ॥ १० ।
परिनिर्मथ्य वाग्जालं सुनिश्चित्याऽसकृद्बहु ।
इदमेकं परिज्ञातं सेव्यः सर्वेश्वरो हरिः ॥ ११ ।

नैमिषारण्यं विशिनष्टि – **यत्र सन्तीति** । पादाधिकेनैकेन ॥ ६ ।

विभूतिधारिण इत्यादीनां द्वितीयान्तानां पदानां **विलोक्य** स इति तृतीयेनान्वयः ॥ ८ ।

विश्वेश्वरचित्तान् । वचो वचनम् । पुनः पुनरिति क्वचित् ॥ १० ।

एक बार वे भूमंडल में भ्रमण करते हुए नैमिषारण्य में चले गये । वहाँ पर उन्होंने अट्ठासी सहस्र शौनक इत्यादि तपोधन मुनीश्वरों का अवलोकन किया, उस वेला में वे लोग भाल में त्रिपुंड्र, गले में रुद्राक्ष की माला एवं सर्वांग में भस्म को धारण किये हुए भक्तिपूर्वक रुद्रसूक्त का जप, लिंग की आराधना और शिव नाम का भजन कर रहे थे ॥ ६-८ ।

एकमात्र भगवान् विश्वेश्वर ही मुक्तिदाता हैं और कोई नहीं है, वे लोग इसी बात को चित्त में निश्चित रखकर बारंबार कह रहे थे ॥ ९ ।

महामुनि व्यास उन लोगों को दृढ़ (कट्टर) शैव देख, अपनी तर्जनी अंगुली को उठाकर उच्च स्वर से यह बात कहने लगे ॥ १० ।

समस्त वाग्जाल (शास्त्रों) का बहुत मंथन करके एवं बारंबार यथेष्ट निश्चय करने से एक यही बात जानी गई है कि, सबके स्वामी भगवान् हरि ही सेवनीय हैं ॥ ११ ।

वेदे रामायणे चैव पुराणेषु च भारते ।
आदिमध्यावसानेषु हरिरेकोऽत्र नाऽपरः ॥ १२ ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं त्रिसत्यं न मृषा पुनः ।
न वेदादपरं शास्त्रं न देवाऽच्युततः परः ॥ १३ ।
लक्ष्मीशः सर्वदो नाऽन्यो लक्ष्मीशोऽप्यपवर्गदः ।
एक एव हि लक्ष्मीशस्ततो ध्येयो न चाऽपरः ॥ १४ ।
भुक्तेर्मुक्तेरिहान्यत्र नाऽन्यो दाता जनार्दनात् ।
तस्माच्चतुर्भुजो नित्यं सेवनीयः सुखेप्सुभिः ॥ १५ ।
विहाय केशवादन्यं ये सेवन्तेऽल्पमेधसः ।
संसारचक्रे गहने ते विशन्ति पुनः पुनः ॥ १६ ।
एक एव हि सर्वेशो हृषीकेशः परात्परः ।
तं सेवमानः सततं सेव्यस्त्रिजगतां भवेत् ॥ १७ ।

तदेव च वचनमाह – **न वेदादित्यादि** ॥ १३ ।
अपि एव ॥ १४ ।
विपक्षे बाधकमाह–**विहायेति** ॥ १६ ।

वेद, पुराण, रामायण और महाभारतादि के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र हरि ही व्याप्त हैं, दूसरा कोई नहीं ॥ १२ ।

मैं तो शपथपूर्वक सत्य ही सत्य कहता हूँ कि, वेद से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है और भगवान् विष्णु से बढ़कर कोई देवता नहीं है ॥ १३ ।

एकमात्र लक्ष्मीश्वर ही सर्वस्व के दाता हैं और वही अपवर्ग भी देते हैं, अतएव केवल लक्ष्मीनाथ ही ध्यान करने योग्य हैं, दूसरा कोई नहीं ॥ १४ ।

इस लोक में भोग और मोक्ष के देनेवाले भगवान् जनार्दन को छोड़कर अन्य कोई भी नहीं है । अतएव सुख चाहनेवालों को उन्हीं की सेवा करनी चाहिए ॥ १५ ।

जो मन्दमति लोग केशवदेव को छोड़कर दूसरे की सेवा करते हैं, वे सब बड़े घने-गंभीर संसार-चक्र में बारंबार पड़ते रहते हैं ॥ १६ ।

केवल हृषीकेश ही सबसे परे और अखिल लोक के स्वामी हैं । निरन्तर उन्हीं की सेवा करनेवाला (मनुष्य) त्रैलोक्य भर का सेवनीय होता है ॥ १७ ।

एको धर्मप्रदो विष्णुस्त्वेको बह्वर्थदो हरिः ।
एकः कामप्रदश्चक्रो त्वेको मोक्षप्रदोऽच्युतः ॥ १८ ।
शार्ङ्गिणं ये परित्यज्य देवमन्यमुपासते ।
ते सद्भिश्च बहिष्कार्या वेदहीना यथा द्विजाः ॥ १९ ।
श्रुत्वेति वाक्यं व्यासस्य नैमिषारण्यवासिनः ।
प्रवेपमानहृदयाः परिप्रोचुरिदं वचः ॥ २० ।

ऋषय ऊचुः –

पाराशर्य मुने मान्यस्त्वमस्माकं महामते ।
यतो वेदास्त्वया व्यस्ताः पुराणान्यपि वेत्सि यत् ॥ २१ ।
यतश्च कर्ता त्वमसि महतो भारतस्य वै ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां विनिश्चयकृतो ध्रुवम् ॥ २२ ।
तत्त्वज्ञः कोऽपरश्चात्र त्वत्तः सत्यवतीसुत ।
भवता यत्प्रतिज्ञातं निश्चित्योत्क्षिप्य तर्जनीम् ॥ २३ ।

विष्णुं विहायाऽन्यं सेवमानानां न केवलं संसारप्रवेशमात्रमपि तु महती निन्दा चेत्याह–**शार्ङ्गिणमिति** ॥ १९ ।

यद्यतः ॥ २१ ।

विनिश्चयकृतो निर्णयकारकस्य ॥ २२ ।

केवल विष्णु ही धर्म के दाता हैं । एकमात्र हरि ही बहुतेरे अर्थों को देते हैं, कामनाओं के पूरण करनेवाले अकेले चक्रपाणि ही हैं एवं एक अच्युत ही मोक्षप्रद हैं ॥ १८ ।

जो लोग भगवान् शार्ङ्गधर को त्याग कर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, साधु लोगों को उचित है कि, उन सब को वेदहीन ब्राह्मण की तरह (सब कर्मों से) बाहर कर देवें ॥ १९ ।

इस प्रकार से व्यास के वाक्य को सुनकर नैमिषारण्य के निवासी मुनि लोग कंपमान हृदय से यह बात कहने लगे ॥ २० ।

ऋषियों ने कहा –

हे महामते ! पाराशर्य ! मुने ! आपने वेदों का विभाग किया है । पुराणों के तत्त्वज्ञाता हैं एवं जिससे चतुर्वर्ग का निश्चय हो सकता है, उस महाभारत के आप ही रचयिता हैं । सुतरां आप हम सब लोगों के पूजनीय हैं ॥ २१-२२ ।

हे सत्यवतीनन्दन ! यहाँ पर आप से बढ़कर तत्त्वज्ञाता कोई नहीं है । पर आपने तर्जनी उठाकर शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की है ॥ २३ ।

अस्मिन् माणवकास्तत्र परिश्रद्दधते न हि ।
प्रतिज्ञातस्य वचसस्तव श्रद्धा भवेत्तदा ॥ २४ ।
यदाऽऽनन्दवने शम्भोः प्रतिजानासि वै वचः ॥ २५ ।
गच्छ वाराणसीं व्यास यत्र विश्वेश्वरः स्वयम् ।
न तत्र युगधर्मोऽस्ति न च लग्ना वसुन्धरा ॥ २६ ।
इति श्रुत्वा मुनिर्व्यासः किञ्चित् कुपितवद्हृदि ।
जगाम तूर्णं सहितः स्वशिष्यैरयुतोन्मितैः ॥ २७ ।
प्राप्य वाराणसीं व्यासः स्नात्वा पञ्चनदे ह्रदे ।
श्रीमन्माधवमभ्यर्च्य ययौ पादोदकं ततः ॥ २८ ।
तत्र स्नानादिकं कृत्वा दृष्ट्वा चैवादिकेशवम् ।
पञ्चरात्रं ततः कृत्वा वैष्णवैरभिनन्दितः ॥ २९ ।

माणवका बालकाः ॥ २४ ।

वै निश्चितम् । ऋतमिति क्वचित् ॥ २५ ।

युगधर्माभावे हेतुमाह—**न च लग्नेति** । न तत्रेत्यस्याऽयं भावः—युगधर्मवशात्त्वमेवं ब्रूषे वाराणस्यां गतो न वक्ष्यसीति ॥ २६ ।

पादोदकं गङ्गावरणसङ्गमम् ॥ २८ ।

पञ्चरात्रं पञ्चदिनानि । कृत्वा वैष्णवतीर्थानि संसेव्येत्यर्थः । यद्वा पञ्चरात्रं कृत्वा पञ्चरात्रागमोक्तेन प्रकारेण माधवकेशवादीन् दृष्ट्वा समर्च्य सम्पूज्येत्यर्थः ॥ २९ ।

उस प्रतिज्ञा पर यहाँ के बालकों का विश्वास नहीं जमता, (हाँ) आप के प्रतिज्ञात वचनों पर श्रद्धा तभी हो सकती है, जब आप शिवपुरी काशी में भी ऐसे ही शपथपूर्वक अपनी प्रतिज्ञा कर सकें ॥ २४-२५ ।

अतएव हे व्यास ! जहाँ पर भगवान् विश्वेश्वर स्वयं विराज रहे हैं एवं जहाँ युगधर्म नहीं व्यापता और जिसकी भूमि भूलोक से पृथक् समझी जाती है, उसी वाराणसीपुरी में गमन कीजिये ॥ २६ ।

इसे सुनने पर व्यासमुनि मन में कुछ क्रुद्ध से होकर अपने दश सहस्र शिष्यों के साथ तुरन्त ही वहाँ से चल दिये ॥ २७ ।

फिर काशी में पहुँचकर पंचनद ह्रद (पंचगंगा) में स्नान एवं श्रीमान् बिन्दुमाधव का पूजन कर पादोदकतीर्थ पर चले गये ॥ २८ ।

वहाँ भी स्नानादि के उपरान्त आदिकेशव का दर्शन कर पाँच दिन के व्यतीत होने पर वहाँ से आगे और पीछे प्रमोद के साथ शंखध्वनि करते हुए

अग्रतः पृष्ठतः शंखैर्वाद्यमानैः प्रमोदितः ।
जय विष्णो हृषीकेश गोविन्द मधुसूदन ॥ ३० ।
अच्युताऽनन्त वैकुण्ठ माधवोपेन्द्र केशव ।
त्रिविक्रम गदापाणे शार्ङ्गपाणे जनार्दन ॥ ३१ ।
श्रीवत्सवक्षः श्रीकान्त पीताम्बर मुरान्तक ।
कैटभारे बलिध्वंसिन् कंसारे केशिसूदन ॥ ३२ ।
नारायणाऽसुररिपो कृष्ण शौरे चतुर्भुज ।
देवकीहृदयानन्द यशोदानन्दवर्धन ॥ ३३ ।
पुण्डरीकाक्ष दैत्यारे दामोदर बलप्रिय ।
बलरातिस्तुत हरे वासुदेव वसुप्रद ॥ ३४ ।
विष्वक्चमूस्तार्क्ष्यरथ वनमालिन्नरोत्तम ।
अधोक्षज क्षमाधार पद्मनाभ जलेशय ॥ ३५ ।
नृसिंह यज्ञवाराह गोपगोपालवल्लभ ।
गोपीपते गुणातीत गरुडध्वज गोत्रभृत् ॥ ३६ ।

जय विष्णो इत्यादीनां इत्यादिनाममालाभिः संस्तुवन् व्यासो विश्वेशवनं समायात इत्येकादशेनाऽन्वयः ॥ ३० ।

बलरातिस्तुत इन्द्रनुत ॥ ३४ ।

विष्वक् सर्वतश्चमूः सेना यस्य तत्सम्बोधनं **विष्वक्चमूः** । ह्रस्वाभावो विसर्गश्चार्षः । विष्वक्सेन महाबाहो इति क्वचित् ॥ ३५ ।

गोपालवल्लभ गोपानां प्रिय ॥ ३६ ।

वैष्णव लोगों से अभिनन्दित होकर (यह कहते हुए चले) जय विष्णो ! हृषीकेश, गोविन्द । मधुसूदन ! अच्युत ! अनन्त ! वैकुंठ, माधव, उपेन्द्र, केशव, त्रिविक्रम, गदापाणे, शार्ङ्गपाणे, जनार्दन ! श्रीवत्सवक्षः ! श्रीकान्त ! पीताम्बर ! मुरान्तक ! कैटभारे ! बलिविध्वंसिन् ! कंसारे ! केशिसूदन ! नारायण ! असुररिपो ! कृष्ण ! शौरे ! चतुर्भुज ! देवकीहृदयानन्द ! यशोदानन्दवर्द्धन ! पुंडरीकाक्ष! दैत्यारे, दामोदर ! बलप्रिय ! बलरातिस्तुत ! हरे ! वासुदेव! वसुप्रद ! विष्वक्सेन ! महाबाहो ! वनमालिन् ! नरोत्तम ! अधोक्षज ! क्षमाधार ! पद्मनाभ ! जलेशय! नृसिंह, यज्ञवाराह! गोप! गोपालवल्लभ ! गोपीपत ! गुणातीते ! गरुड़ध्वज!

जय चाणूरमथन जय त्रैलोक्यरक्षण ।
जयाऽनाद्य जयानन्द जय नीलोत्पलद्युते ॥ ३७ ।
कौस्तुभोद्भूषितोरस्क पूतनाधातुशोषण ।
रक्ष रक्ष जगद्रक्षामणे नरकहारक ॥ ३८ ।
सहस्रशीर्षपुरुष पुरुहूत सुखप्रद ।
यद्भूतं यच्च भाव्यं वै तत्रैकः पुरुषो भवान् ॥ ३९ ।
इत्यादिनाममालाभिः संस्तुवन् वनमालिनम् ।
स्वच्छन्दलीलया गायन्नृत्यंश्च परया मुदा ॥ ४० ।
व्यासो विश्वेशभवनं समायातः सहृष्टवत् ।
ज्ञानवापीपुरोभागे महाभागवतैः सह ॥ ४१ ।
विराजमानसत्कण्ठस्तुलसीवरदामभिः ।
स्वयं तालधरो जातः स्वयं जातः सुनर्तकः ॥ ४२ ।
वेणुवादनतत्त्वज्ञः स्वयं श्रुतिधरोऽभवत् ।
नृत्यं परिसमाप्येत्थं व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ ४३ ।
पुनरूर्ध्वं भुजं कृत्वा दक्षिणं शिष्यमध्यगः ।
पुनः पपाठ तानेव श्लोकान् गायन्निवोच्चकैः ॥ ४४ ।

आदौ भव आद्यः, न आद्यः अनाद्यः, तत्सम्बोधनमनाद्य । अनघेति क्वचित् ॥ ३७ ।

गोत्रभृत् ! चाणूरमर्दन! आद्यन्तरहित! त्रैलोक्यरक्षण! आनन्दस्वरूप! नीलोत्पलद्युते ! कौस्तुभभूषण! पूतनाधातुशोषण! आप की जय हो, जय हो, जय हो, हे जगद्रक्षा-मणे! नरकहारक! आप हम लोगों की रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥ २९-३८ ।

हे सहस्रशीर्ष पुरुष! आप ही इन्द्र के भी सुखदाता हैं एवं भूत और भावी जो कुछ है, उसके कर्ता एकमात्र आप ही (पुराण) पुरुष हैं ॥ ३९ ।

इस प्रकार नाममाला से वनमाली की स्तुति करते हुए और स्वेच्छानुसार परमहर्ष के साथ नृत्य करते रहे ॥ ४० ।

तदनन्तर अत्यन्त प्रसन्न से होकर वेदव्यास विश्वेश्वर के मन्दिर पर जा पहुँचे । वहाँ ज्ञानवापी के आगे (सामने) तुलसी की माला को कंठ में धारण किये हुए परमभागवतों के सहित स्वयं करताल लेकर आप ही नाचने लगे ॥ ४१-४२ ।

वे स्वयं बाँसुरी बजाते-बजाते श्रुतिधर बन गये । इस भाँति से नृत्य समाप्त होने पर सत्यवतीनन्दन व्यास शिष्यों के मध्य में अपना दाहिना हाथ उठाकर बारंबार उच्चस्वर से गाते हुए फिर उन्हीं श्लोकों को पढ़ने लगे ॥ ४३-४४ ।

परिनिर्मथ्य वाग्जालं सुनिश्चित्यासकृद्बहु ।
इदमेकं परिज्ञातं सेव्यः सर्वेश्वरो हरिः ॥ ४५ ।
इत्यादिश्लोकसंघातं स्वप्रतिज्ञाप्रबोधकम् ।
यावत्पठति स व्यासः सव्यमुत्क्षिप्य वै भुजम् ॥ ४६ ।
तस्तम्भ तावत्तद् बाहुं स शैलादिः स्वलीलया ।
वाक्स्तम्भश्चापि तस्यासीन्मुनेर्व्यासस्य सन्मुने ॥ ४७ ।
ततो गुप्तं समागम्य विष्णुर्व्यासमभाषत ।
अपराद्धं महच्चात्र भवता व्यास निश्चितम् ॥ ४८ ।
तवैतदपराधेन भीतिर्मेऽपि महत्तरा ।
एक एव हि विश्वेशो द्वितीयो नास्ति कश्चन ॥ ४९ ।
तत्प्रसादादहं चक्री लक्ष्मीशस्तत्प्रभावतः ।
त्रैलोक्यरक्षासामर्थ्यं दत्तं तेनैव शम्भुना ॥ ५० ।
तद्भक्त्या परमैश्वर्यं मया लब्धं वरात्ततः ।
इदानीं स्तुहि तं शम्भुं यदि मे शुभमिच्छसि ॥ ५१ ।

तत्प्रसिद्धं परमैश्वर्यं च दत्तम् । **लब्धं वरात्तत इति** । वराच्छ्रेष्ठात्तस्मात्परमैश्वर्यं लब्धमित्यर्थः ॥ ५१ ।

"समस्त वाग्जाल को मथकर बारंबार यही निश्चय परिज्ञात हुआ है कि, सब के स्वामी हरि ही सेवनीय हैं" ॥ ४५ ।

इन सब पूर्वोक्त अपनी प्रतिज्ञा के अवबोधक श्लोकों को व्यास दाहिना हाथ उठाकर कहने लगे ॥ ४६ ।

वे ज्यों ही कहने लगे, त्यों ही नन्दी ने उनके हाथ का स्तंभन एवं वचन का भी स्तंभन कर दिया ॥ ४७ ।

हे मुने! इसी बीच में विष्णु ने भी आकर व्यास से कहा, 'हे व्यास ! तूने यह बड़ा भारी अपराध किया । इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ४८ ।

तुम्हारे इस अपराध से मुझे बड़ा भारी भय हो गया । इस विश्वमंडल में एकमात्र विश्वनाथ ही सब कुछ हैं, उनसे भिन्न कोई भी नहीं है ॥ ४९ ।

उन्हीं का प्रसादरूप यह चक्र मुझको मिला है और उन्हीं के प्रभाव से मैं लक्ष्मीपति हुआ हूँ एवं उन्हीं शंभु ने (कृपा करके) त्रैलोक्य के रक्षा करने की सामर्थ्य मुझको दी है ॥ ५० ।

और उन्हीं की भक्ति से वरदान पाकर मैं परम ऐश्वर्यशाली हुआ हूँ, इसलिए यदि तुम मेरा कल्याण चाहते हो, तो अब उन्हीं महादेव की स्तुति करो ॥ ५१ ।

अन्यदापि न वै कार्या भवता शेमुषीदृशी ।
पाराशर्य इति श्रुत्वा संज्ञया व्याजहार ह ॥ ५२ ।
भुजस्तम्भः कृतस्तेन नन्दिना दृष्टिमात्रतः ।
वाक्स्तम्भस्तद्भयाज्जातः स्पृश मे कण्ठकन्दलीम् ॥ ५३ ।
यथा स्तोतुं भवानीशं प्रभवामि भवान्तकम् ।
संस्पृश्य विष्णुस्तत्कण्ठं गुप्तमेव जगाम ह ॥ ५४ ।
ततः सत्यवतीसूनुस्तथा स्तम्भितदोर्लतः ।
प्रारब्धवान् महेशानं परिष्टोतुमुदारधीः ॥ ५५ ।

व्यास उवाच–

एको रुद्रो न द्वितीयो यतस्तद्ब्रह्मैवैकं नेह नानाऽस्ति किञ्चित् ।
यद्यप्यन्यः कोऽपि वा कुत्रचिद्वा व्याचष्टां तद्यस्य शक्तिर्मदग्रे ॥ ५६ ।

शेमुषी बुद्धिः । ईदशी मत्स्तवनपरा । मे स्तुतिः परेति क्वचित्[1] । संज्ञया नेत्रचालनादिना ॥ ५२ ।

कण्ठकदलीं कण्ठमूलम् ॥ ५३ ।

भवान्तकं संसारनाशकम् ॥ ५४ ।

स्तम्भितः दोर्लतः स्तिमितहस्तवल्लिकः ॥ ५५ ।

पद्यैश्चित्रपदार्थार्[2] थैरष्टभिः सुमनोरमैः ।
कृष्णद्वैपायनोऽस्तौषीद्द भवानीशं जगत्पतिम् ॥

तापत्रयात्मकं संसारदुःखं दुःखहेतुर्वा रुत् तद्द्रावयति नाशयतीति रुद्रः –

"रुद्दुःखं दुःखहेतुर्वा द्रावयत्येष नः प्रभुः ।
रुद्र इत्युच्यते सद्भिः शिवः परमकारणम्" ॥ इति स्मृतेः ।

और फिर कभी ऐसी बुद्धि मत करना । इस प्रकार से हरि की बात सुनकर व्यास ने इंगित (इशारे) से कहा ॥ ५२ ।

व्यास ने कहा–नन्दी ने देखते ही मेरा भुजस्तंभ कर दिया था, फिर उन्हीं के भय से मेरी वाक्शक्ति भी चली गई । सो आप मेरे कंठस्थल को छू दीजिये ॥ ५३ ।

इससे मैं भवानीपति भवान्तक भव की स्तुति कर सकूँ । तदनन्तर भगवान् विष्णु बड़े गुप्तरूप से उनके कंठ का स्पर्श करके वहाँ से चले गये ॥ ५४ ।

तब उदारबुद्धि सत्यवतीनन्दन व्यास उसी भाँति भुजस्तंभन ही की अवस्था में विश्वेश्वर की स्तुति करने लगे ॥ ५५ ।

व्यास ने कहा–

"एकमात्र भगवान् रुद्र ही अद्वितीय हैं, क्योंकि वे ही एक ब्रह्म हैं, तद्भिन्न इस ब्रह्माण्ड में और कुछ नहीं है । यदि कहीं पर कोई दूसरा होवे, तो वह मेरे आगे अपनी शक्ति को प्रकट करे" ॥ ५६ ।

---

1. शेमुषीदृशीत्यत्र ।
2. पदार्थाढ्यैरिति वा पाठः ।

यः क्षीराब्धेर्मन्दराघातजातो ज्वालामाली कालकूटोऽतिभीमः ।
तं सोढुं वा कोऽपरोऽभून्महेशाद्यत्कीलाभिः कृष्णतामाप विष्णुः ॥ ५७ ।
यद्बाणोऽभूच्छ्रीपतिर्यस्य यन्ता लोकेशो यत्स्यन्दनं भूः समस्ता ।
वाहा वेदा यस्य येनेषुपाताद् दग्धा ग्रामास्त्रैपुरास्तत्समः कः ॥ ५८ ।

अशुभद्रावको रुद्रो यज्ञहा च पुनर्वदन् ।
ततः स्मृतमथो रुद्रशब्देनाऽत्र विधीयते ॥ इति ।

रुतानि भूतानि त्वन्ते द्रवति द्रावयतीति वा रुद्रः – रुत्या वेदरूपया धर्मादीन् बोधयति द्रावयतीति वा रुद्रः । रुत्या प्रणवरूपया स्वात्मानं प्रापयतीति वा रुद्रः ।

रोरूयमाणो द्रवति प्रविशति मर्त्यानिति वा रुद्रः । **"त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्या आविवेश"** इति श्रुतेः । **बोधिका बन्धिका मोहिका च शक्ती रुत्, तद्वांस्तस्याः द्रावयिता भक्तेभ्य इति वा रुद्रः । रुतिं शब्दं वेदात्मानं कल्पादौ ब्रह्मणे ददातीति रुद्रः । "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा"** इति श्रुतेः । अलमतिविस्तरेण । स एकः सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यः । एतदेव व्यतिरेकमुखेनाह–न **द्वितीय इति** । एकत्वे हेतुमाह–**यतस्तद्ब्रह्मैवैकमिति** । पदत्रयेण सजातीयविजातीयस्वगतभेदत्रयं निराक्रियते – **एकमेवाद्वितीयमिति** । **यस्यानत्या चैकयाल्पेन्द्रलक्ष्मीः** । हेतुमाह–**नेहेति** । तथा च श्रुतिर्नेहादिकिञ्चनान्ता यथापादमेव । कुत्रचिद्वेति वाशब्दः समुच्चयार्थः । कालं समुच्चिनोति। क्वचित्काले वेत्यर्थः । कुत्रचिद्देशे । तत् तत्पदार्थम् । मदग्रे मम सम्मुखम् । समग्रेति क्वचित् ॥ ५६ ।

यत्कीलाभिर्यस्य ज्वालाभिः । यज्ज्वालाभिरिति क्वचित् । **कृष्णतां** नवीनमेघश्यामताम् । तदुक्तम्–

विषेणोत्तिष्ठमानेन कालानलसमत्विषा ।
निर्दग्धो हेमगौराङ्गः कृतः कृष्णो जनार्दनः ॥ इति ॥ ५७ ।

यद् बाणो यस्य शरः । **यन्ता** सारथिः । **लोकेशो** ब्रह्मा । येन श्रीरुद्रेण ॥ ५८ ।

मन्दराचल से मथे जाने पर क्षीरसमुद्र से ज्वाला की मालाओं से भरा हुआ बड़ा भयंकर कालकूट विष उत्पन्न हुआ था । उसकी ज्वालाओं से विष्णु भी कृष्ण हो गये थे । उसे सहने (पी जाने) वाले भगवान् महेश्वर को छोड़कर दूसरा कौन है? ॥ ५७ ।

जिसके बाण विष्णु, सारथि ब्रह्मा और जिसका रथ समस्त भूमि ही बनी थी एवं वेद लोग जिसके घोड़े हुए थे, अथ च जिसके एक ही बाण के गिरते त्रिपुर के सब ग्राम जल-भुन कर भस्म हो गये, उस महादेव के समान दूसरा कौन है? ॥ ५८ ।

यं कन्दर्पो वीक्षमाणः समानं देवैरन्यैर्भस्मजातः स्वयं हि ।
पौष्पैर्बाणैः सर्वविश्वैकजेता को वा स्तुत्यः कामजेतुस्ततोऽन्यः ॥ ५९ ।
यं वै वेद नो नैव विष्णुर्नो वा वेधा नो मनो नैव वाणी ।
तं देवशं मादृशः कोऽल्पमेधा याथात्म्याद्वै वेत्त्यहो विश्वनाथम् ॥ ६० ।
यस्मिन् सर्वं यस्तु सर्वत्र सर्वो यो वै कर्ता योऽविता योऽपहर्ता ।
नो यस्यादिर्यः समस्तादिरेको नो यस्याऽन्तो योऽन्तकृत्तं नतोऽस्मि ॥ ६१ ।
यस्यैकाख्या वाजिमेधेन तुल्या यस्यानत्यावैकया ल्पेन्द्रलक्ष्मीः ।
यस्य स्तुत्या लभ्यते सत्यलोको यस्याऽर्चातो मोक्षलक्ष्मीरदूरा ॥ ६२ ।
नाऽन्यं देवं वेद्म्यहं श्रीमहेशान्नाऽन्यं देवं स्तौमि शम्भोर्ऋतेऽहम् ।
नाऽन्यं देवं वा नमामि त्रिनेत्रात् सत्यं सत्यं सत्यमेतन्मृषा न ॥ ६३ ।

सर्वं विश्वम् । सर्वे इति क्वचित् । **सर्वः** सर्वस्वरूपः ॥ ६१ ।
आनत्या नमस्कारमात्रेण ॥ ६२ ।

केवल फूलों के बाण से त्रैलोक्य को जीतने वाला कामदेव अन्य देवताओं के समान जिसे देखते ही स्वयं भस्म हो गया, उस कन्दर्पविजयी शिव से भिन्न कौन स्तुति करने के योग्य हो सकता है? ॥ ५९ ।

जिसे वेद, ब्रह्मा, विष्णु, मन और वाणी भी नहीं जान सकती, उस देवाधिदेव विश्वनाथ को भला मुझसा अल्पबुद्धिजन यथार्थरूप से क्यों कर जान सकता है ? ॥ ६० ।

जो स्वयं विश्वाधार होने पर भी विश्वभर में सर्वत्र ही सबमें सर्वदा विराजमान रहते हैं, वे ही स्वयं सब लोगों के अकेले आदि हैं, जिनका अन्त नहीं है, पर जो सभी के अन्तकारक हैं, उन्हीं महादेव को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६१ ।

जिसका नाम एक बार उच्चारण करने से अश्वमेध यज्ञ के समान फल मिलता है, फिर एक बार भी जिसे प्रणाम करने से इन्द्र की सम्पत्ति भी तुच्छ जँचती है एवं जिसकी स्तुति करने से सत्यलोक प्राप्त होता है, उसी प्रकार से उनकी पूजा करने से मोक्षलक्ष्मी भी दूर नहीं रह पाती ॥ ६२ ।

श्री महेश से भिन्न दूसरे देवता को मैं नहीं जानता । न भगवान् शंभु को छोड़कर दूसरे किसी देवता की स्तुति ही करता हूँ । अथवा त्रिलोचन से भिन्न अन्य देव को मैं प्रणाम भी नहीं करता । यह सर्वथा सत्य-सत्य है । इसमें तनिक भी झूठ का लेश नहीं है" ॥ ६३ ।

इत्थं यावत् स्तौति शम्भुं महर्षिस्तावन्नन्दी शाम्भवादृदृक्प्रसादात् ।
तद्दोःस्तम्भं त्यक्तवांश्च बभाषे स्मायं स्मायं ब्राह्मणेभ्यो नमो वः ॥ ६४ ।

नन्दिकेश्वर उवाच–

इदं स्तवं महापुण्यं व्यास ते परिकीर्तितम् ।
यः पठिष्यति मेधावी तस्य तुष्यति शङ्करः ॥ ६५ ।
व्यासाऽष्टकमिदं प्रातः पठितव्यं प्रयत्नतः ।
दुःस्वप्नपापशमनं शिवसान्निध्यकारकम् ॥ ६६ ।
मातृहा पितृहा वाऽपि गोघ्नो बालघ्न एव वा ।
सुरापी स्वर्णहृद् वाऽपि निष्पापोऽस्याः स्तुतेर्जपात् ॥ ६७ ।

स्कन्द उवाच–

पाराशर्यस्तदारभ्य शम्भुभक्तिपरोऽभवत् ।
लिङ्गं व्यासेश्वरं स्थाप्य घण्टाकर्णह्रदाग्रतः ॥ ६८ ।
विभूतिभूषणो नित्यं नित्यं रुद्राक्षभूषणः ।
रुद्रसूक्तपरो नित्यं नित्यं लिङ्गार्चकोऽभवत् ॥ ६९ ।

स्मायं स्मायं स्मित्वा स्मित्वा पुनः पुनरीषद्धास्यं विधायेति यावत् ॥ ६४ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ।

महर्षि वेदव्यास इसी भाँति से महादेव की स्तुति कर रहे थे, इतने में नन्दी महेश्वर की दृष्टि-चेष्टा से उनके भुजस्तंभन को दूर कर मुस्कुराते हुए कहने लगे–"तुम सब ब्राह्मणों को नमस्कार है" ॥ ६४ ।

नन्दिकेश्वर बोले–

'हे व्यास ! तुम्हारे बनाये हुए इस परम पवित्र स्तव का जो बुद्धिमान् पाठ करेगा, उस पर भगवान् शंकर प्रसन्न होंगे ॥ ६५ ।

इस शिवसान्निध्यकारक व्यासाष्टक के प्रातःकाल प्रयत्नपूर्वक पाठ करने से समस्त दुःस्वप्नों की शान्ति हो जावेगी ॥ ६६ ।

यदि कोई मातृघाती , पितृहन्ता, गोघ्न, बालकघ्न, सुरापी और स्वर्णतस्कर भी इस स्तुति का जप करे तो वह भी पापरहित हो जावेगा' ॥ ६७ ।

स्कन्द ने कहा–

तब से वेदव्यास **घंटाकर्ण ह्रद** के ऊपर ही व्यासेश्वर नामक लिंग की स्थापना करके बड़े भारी शैव हो गये ॥ ६८ ।

वे नित्य ही सर्वांग में भस्म रमाते, रुद्राक्ष की माला पहनते एवं रुद्रसूक्त को जपते हुए लिंग-पूजन ही में तत्पर रहने लगे ॥ ६९ ।

स कृत्त्वा क्षेत्रसंन्यासं त्यजेन्नाद्याऽपि काशिकाम् ।
तत्त्वं क्षेत्रस्य विज्ञाय निर्वाणपददायिनः ॥ ७० ।
घण्टाकर्णह्रदे स्नात्वा दृष्ट्वा व्यासेश्वरं नरः ।
यत्र कुत्र मृतो वाऽपि वाराणस्यां मृतो भवेत् ॥ ७१ ।
काश्यां व्यासेश्वरं लिङ्गं पूजयित्वा नरोत्तमः ।
न ज्ञानाद् भ्रश्यते क्वापि पातकैर्नाऽभिभूयते ॥ ७२ ।
व्यासेश्वरस्य ये भक्ता न तेषां कलिकालतः ।
न पापतो भयं क्वापि न च क्षेत्रोपसर्गतः ॥ ७३ ।
व्यासेश्वरः प्रयत्नेन द्रष्टव्यः काशिवासिभिः ।
घण्टाकर्णकृतस्नानैः क्षेत्रपातकभीरुभिः ॥ ७४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे व्यासभुजस्तम्भो नाम पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ।

तभी से वे मुक्तिदायिनी काशी के तत्त्व को समझकर क्षेत्रसंन्यास लेकर आज तक काशी का परित्याग नहीं करते हैं ॥ ७० ।

मनुष्य घंटाकर्ण के पोखरे में नहाकर **व्यासेश्वर** का दर्शन करने से चाहे कहीं पर भी मरे पर उसे काशी में मरने का फल प्राप्त होता है ॥ ७१ ।

उत्तम जन काशीपुरी में **व्यासेश्वर लिंग** का पूजन करने से न तो कभी ज्ञानभ्रष्ट होता है और न पापों के फेर में पड़ता है ॥ ७२ ।

जो लोग **व्यासेश्वर** के भक्त हैं, उनको कलिकाल और पाप एवं क्षेत्रज उपसर्गों का भय नहीं होने पाता ॥ ७३ ।

काशीवासियों को क्षेत्रसम्बन्धी पापों के दूर करने की इच्छा से घंटाकर्ण में स्नान करके प्रयत्नपूर्वक व्यासेश्वर का दर्शन करना चाहिए ॥ ७४ ।

विदितकर्णघण्टाह्रदे, व्यासेश्वरो विभाति ।
तस्य दर्शनतः स्वयं, क्लेशो विलयं याति ॥ १ ।
आषाढ़ी गुरु पूर्णिमा, मेला तहँ पर होय ।
छुटै सर्ग उपसर्ग भय, दरस परस करु जोय ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ।

●

॥ अथ षण्णवतितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

कृष्णद्वैपायनः स्कन्द शम्भुभक्तिपरो यदि ।
यदि क्षेत्ररहस्यज्ञः क्षेत्रसंन्यासकृद्यदि ॥ १ ।
तथा दृष्टप्रभावश्चेत्तथा चेज्ज्ञानिनां वरः ।
पुरीं वाराणसीं श्रेष्ठां कथं किल शपिष्यति ॥ २ ।

स्कन्द उवाच–

सत्यमेतत्त्वयाऽपृच्छि कथयामि मुने शृणु ।
तस्य व्यासस्य चरितं भविष्यं त्वयि पृच्छति ॥ ३ ।
यदारभ्य मुनेस्तस्य नन्दी स्तम्भितवान् भुजम् ।
तदारभ्य महेशानं संस्तौति परमादृतः ॥ ४ ।

अध्याये षड्भिरधिके नवत्याख्ये मनोहरे ।
व्यासशापविमोक्षश्च वर्ण्यतेऽतिकुतूहलः ॥ १ ।

काशीं व्यासः शप्स्यतीति पूर्वमेव जानन्नाक्षिपति – **कृष्णद्वैपायन इति** ॥ १ ।

(व्यासशाप-विमोक्षण)

अगस्त्य ने पूछा–

हे स्कन्द ! यदि कृष्णद्वैपायन, शिवभक्तिपरायण, क्षेत्र के रहस्यज्ञाता तथा शिव के प्रभाववेत्ता और परमज्ञानी थे, तो क्षेत्रसंन्यास लेने पर सर्वश्रेष्ठा वाराणसी पुरी को क्यों शाप देवेंगे ॥ १-२ ।

स्कन्द ने कहा–

हे महर्षे ! यह तो तुमने बहुत ही ठीक पूछा है । एतदर्थ मैं उन वेदव्यास का भविष्य चरित्र तुम्हारे पूछने पर कहता हूँ, श्रवण करो ॥ ३ ।

हे अंगस्त्य मुने ! जब से नन्दी ने उनका भुजस्तंभन किया, तब से व्यास बड़े आदर के साथ महेश्वर की स्तुति करने लगे ॥ ४ ।

काश्यां तीर्थान्यनेकानि काश्यां लिङ्गान्यनेकशः ।
तथापि सेव्यो विश्वेशः स्नातव्या मणिकर्णिका ॥ ५ ।
लिङ्गेष्वेको हि विश्वेशस्तीर्थेषु मणिकर्णिका ।
इति संव्याहरन् व्यासः तद्द्वयं बहु मन्यते ॥ ६ ।
त्यक्त्वा स बहुवाग्जालं प्रातः स्नात्वा दिने दिने ।
निर्वाणमण्डपे वक्ति महिमानं महेशितुः ॥ ७ ।
शिष्याणां पुरतो नित्यं क्षेत्रस्य महिमा महान् ।
व्याख्यायते मुदा तेन व्यासेन परमर्षिणा ॥ ८ ।
अत्र यत् क्रियते क्षेत्रे शुभं वाऽशुभमेव वा ।
संवर्तेऽपि न तस्यान्तस्तस्माच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ ९ ।
क्षेत्रसिद्धिं समीहन्ते ये चाऽत्र कृतिनो जनाः ।
यावज्जीवं न तैस्त्याज्या सुधीभिर्मणिकर्णिका ॥ १० ।

संस्तवनमेवाह – **काश्यामिति** । काश्यामित्यादि सार्धस्य इति संव्याहरन्नित्य-ग्रिमेणाऽन्वयः ॥ ५ ।

क्षेत्रमहिमानमेव सपरिकरमाह । अत्रेत्यारभ्यागस्त्य उवाचेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ ९ ।

यद्यपि काशी में अनेक तीर्थ और बहुतेरे लिंग भरे पड़े हैं, तथापि **विश्वेश्वर** का सेवन और **मणिकर्णिका** का स्नान करने ही योग्य है ॥ ५ ।

लिंगों में एकमात्र **विश्वेश्वर** और तीर्थों में **मणिकर्णिका** ही श्रेष्ठ है, यही बात कहते हुए वेदव्यास उन दोनों को बहुत ही अधिक मानने लगे ॥ ६ ।

वे प्रतिदिन (मणिकर्णिका) स्नान के उपरान्त मुक्तिमण्डप में (बैठ) व्यर्थ के वाग्वितण्डा को छोड़कर केवल महादेव की महिमा कहने लगे ॥ ७ ।

वे महर्षि वेदव्यास शिष्यों के सन्मुख बड़े हर्ष के साथ नित्य ही क्षेत्र की बड़ी महिमा का ही बखान करते थे । वे कहा करते थे कि इस क्षेत्र में उत्तम अथवा अधम जो कुछ कर्म किया जाता है, प्रलयकाल में भी उसका अन्त नहीं होता । इसलिये यहाँ पर अच्छा ही काम करना चाहिए ॥ ८-९ ।

जो पुण्यात्मा जन इस क्षेत्र को चाहते हों, यावज्जीवन उन बुद्धिमानों को मणिकर्णिका कभी नहीं छोड़नी चाहिए ॥ १० ।

चक्रपुष्करिणीतीर्थे स्नातव्यं प्रतिवासरम् ।
पुष्पैः पत्रैः फलैस्तोयैरर्च्यो विश्वेश्वरः सदा ॥ ११ ।
स्ववर्णाश्रमधर्मश्च त्यक्तव्यो न मनागपि ।
प्रत्यहं क्षेत्रमहिमा श्रोतव्यः श्रद्धयाऽसकृत् ॥ १२ ।
यथाशक्ति च देयानि दानान्यत्र सुगुप्तवत् ।
अन्नान्यपि च देयानि विघ्नान् परिजिहीर्षुणा ॥ १३ ।
परोपकरणं चाऽत्र कर्तव्यं सुधिया सदा ।
पर्वस्वपि विशेषेण स्नानदानादिकाः क्रियाः ॥ १४ ।
विशेषपूजा कर्तव्या सुमहोत्सवपूर्वकम् ।
कार्यास्तथाधिका यात्राः समर्च्याः क्षेत्रदेवताः ॥ १५ ।
अत्र मर्म न वक्तव्यं सुधिया कस्यचित् क्वचित् ।
परदारपरद्रव्यपरापकरणं त्यजेत् ॥ १६ ।
परापवादो नो वाच्यः परेर्ष्यां न च कारयेत् ।
असत्यं नैव वक्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ १७ ।

असकृदिति च्छेदः । प्रत्यहं सकृदिति वा ॥ १२ ।

प्रतिदिन **चक्रपुष्करिणी** तीर्थ में नहाना और पत्र, पुष्प, फल और जल से सदैव **विश्वनाथ** का पूजन करना योग्य है ॥ ११ ।

अपने वर्ण और आश्रमधर्म के अनुसार रहकर प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक एक बार क्षेत्र का माहात्म्य सुनना उचित है ॥ १२ ।

यहाँ पर यथाशक्ति गुप्तदान करना चाहिए और विघ्नों के दूर हटाने की इच्छा हो तो अन्नों का भी दान करें ॥ १३ ।

यहाँ पर बुद्धिमान् जन को उचित है कि, सर्वदा पराये का उपकार ही करे और पर्वों पर स्नान और दान इत्यादि क्रियाओं को विशेषरूप से करे ॥ १४ ।

साथ ही बड़े भारी उत्सव के साथ विशेष पूजन भी करना चाहिए और अधिक यात्रा तथा क्षेत्र के देवताओं का पूजन भी अवश्य करणीय है ॥ १५ ।

इस क्षेत्र में परदार, परद्रव्य और पराये का अपकार त्याग कर कभी किसी के मर्म की बात नहीं कहनी चाहिए ॥ १६ ।

कभी किसी का अपवाद नहीं कहना और न किसी से डाह करना एवं प्राण जो कंठ में भी जा रहे हों, तो भी असत्य नहीं बोलना चाहिए ॥ १७ ।

अत्रत्यजन्तुरक्षार्थमसत्यमपि भाषयेत् ।
येन केन प्रकारेण शुभेनाप्यशुभेन वा ॥ १८ ।
अत्रत्यः प्राणिमात्रोऽपि रक्षणीयः प्रयत्नतः ।
एकस्मिन् रक्षिते जन्तावत्र काश्यां प्रयत्नतः ॥
त्रैलोक्यरक्षणात् पुण्यं यत् स्यात्तत्स्यान्न संशयः ॥ १९ ।
ये वसन्ति सदा काश्यां क्षेत्रसंन्यासकारिणः ।
त एव रुद्रा मन्तव्या जीवन्मुक्ता न संशयः ॥ २० ।
ते पूज्यास्ते नमस्कार्यास्ते सन्तोष्याः प्रयत्नतः ।
तेषु वै परितुष्टेषु तुष्येद्विश्वेश्वरः स्वयम् ॥ २१ ।
योगक्षेमो विधातव्यस्तेषां विश्वेशितुर्मुदे ।
काश्यां वसन्ति ये मर्त्या दूरस्थैरपि सन्नरैः ॥ २२ ।

भाषयेद् वदेत् । अन्यान् वा भाषयेदिति ॥ १८ ।

तर्ह्यनृतेन पापमपि स्यादित्याशङ्क्याह– **एकस्मिन्निति** । पापस्याऽल्पत्वात् पुण्यस्य बहुत्वान्नानृताद् भेतव्यम् । यद्वाऽत्रानृते पुण्यमेव न पापं यागे पशुहिंसायामिवेति भावः ॥ १९ ।

योगक्षेमो योगसहितः क्षेमो योगस्य क्षेम इति वा । तत्रालब्धस्य लाभो योगो लब्धस्य रक्षणं क्षेम इति भेदः ॥ २२ ।

पर यदि भले वा अनभले रूप में किसी प्रकार से यहाँ के रहनेवाले की रक्षा के लिए झूठ भी बोलना पड़े, तो कोई हानि की बात नहीं है ॥ १८ ।

प्रयत्नपूर्वक यहाँ के प्राणिमात्र की रक्षा करनी ही चाहिए; क्योंकि काशी में यदि प्रयत्न उठाकर एक भी जन्तु की रक्षा हो सके, तो निःसन्देह त्रैलोक्य भर के रक्षण का पुण्य प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ।

जो लोग काशी में क्षेत्रसंन्यास लेकर वास करते हैं, उन्हीं सब को निःसन्देह जीवन्मुक्त और रुद्रस्वरूप मानना उचित है ॥ २० ।

उन लोगों के सन्तुष्ट होने से स्वयं भगवान् **विश्वेश्वर** सन्तुष्ट होते हैं । अतएव उन सबको प्रयत्नपूर्वक पूजा और नमस्कार इत्यादि के द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिए ॥ २१ ।

दूरदेशवासी सज्जन लोगों को भी विश्वनाथ की प्रसन्नता के लिये, काशी में रहनेवाले मनुष्यों का योगक्षेम करना बहुत ही उचित है ॥ २२ ।

प्रसरस्त्विन्द्रियाणां च निवार्योऽत्र निवासिभिः ।
मनसोऽपि हि चाञ्चल्यमिह वार्यं प्रयत्नतः ॥ २३ ।
मरणं नाऽभिकाङ्क्षेद्धि काङ्क्ष्यो मोक्षोऽपि नो पुनः ।
शरीरशोषणोपायः कर्तव्यः सुधिया न हि ॥ २४ ।
शरीरसौष्ठवं काङ्क्ष्यं व्रतस्नानादिसिद्धये ।
आयुर्बह्वत्र वै चिन्त्यं महाफलसमृद्धये ॥ २५ ।
आत्मरक्षाऽत्र कर्तव्या महाश्रेयोऽभिवृद्धये ।
अत्राऽऽत्मत्यजनोपायं मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ २६ ।
एकस्मिन्नपि यच्चाऽह्नि काश्यां श्रेयोऽभिलभ्यते ।
न तु वर्षशतेनाऽपि तदन्यत्राऽऽप्यते क्वचित् ॥ २७ ।

सुधिया न हीत्यत्र सुधियान्न हीति पाठे इन्द्रियचाञ्चल्यपरिहारोपयोगितया शरीरशोषणोपायः कर्तव्यो न पुनः शरीरनाशायेत्यर्थः ॥ २४ ।

न हीत्यत्र हेतुमाह – **शरीरसौष्ठवमिति । सौष्ठवं पाटवम् ।** पौष्टिकमिति पाठे पुष्ट्युपायमित्यर्थः ॥ २५ ।

अत्रात्मत्यजनोपायं मनसाऽपि न चिन्तयेदित्यनशनं विनेति बोद्धव्यम् । **'विनात्मघातमशनं त्यक्त्वा प्रायोपवेशनम् ।** अनाशकं यः कुरुते मद्भक्त इह सुव्रतः । न तस्य पुनरावृत्ति'रित्याद्युक्तेः ॥ २६ ।

काशीवास करनेवालों को यहाँ पर इन्द्रियों का प्रसार और मन की चंचलता को प्रयत्नपूर्वक दूर हटा देना चाहिए ॥ २३ ।

बुद्धिमान् जन यहाँ पर मरण अथवा मोक्ष की अभिलाषा नहीं करें और न अपने शरीर के शोषण ही का उपाय ढूंढें, वरन् व्रत और स्नान इत्यादि की सिद्धि के लिए शरीर की स्वस्थता और महाफल की समृद्धि के लिये आयु की दीर्घता ही की चिन्ता करनी चाहिए ॥ २४-२५ ।

यहाँ पर परम कल्याण की वृद्धि के लिए आत्मा की रक्षा ही करनी उचित है, पर काशी में कभी आत्मा के परित्याग का उपाय मन से नहीं सोचना चाहिए ॥ २६ ।

क्योंकि काशी में जो श्रेयस्कर फल एक दिन में मिल जाता है, वह दूसरे किसी स्थान में सैकड़ों वर्ष बीतने पर भी नहीं प्राप्त हो सकता ॥ २७ ।

अन्यत्र योगाभ्यसनाद्यावज्जन्म यदर्ज्यते ।
वाराणस्यां तदेकेन प्राणायामेन लभ्यते ॥ २८ ।
सर्वतीर्थावगाहाच्च यावज्जन्म यदर्ज्यते ।
तदानन्दवने प्राप्यं मणिकर्ण्येकमज्जनात् ॥ २९ ।
सर्वलिङ्गाऽर्चनात्पुण्यं यावज्जन्म यदर्ज्यते ।
सकृद्विश्वेशमभ्यर्च्य श्रद्धया तदवाप्यते ॥ ३० ।
यज्जन्मनां सहस्रेण निर्मलं पुण्यमर्जितम् ।
तत्पुण्यपरिवर्तेन भवेद्विश्वेशदर्शनम् ॥ ३१ ।
गवां कोटिप्रदानेन सम्यग्दत्तेन यत्फलम् ।
तत्फलं सम्यगाप्येत विश्वेश्वरविलोकनात् ॥ ३२ ।
यत्षोडशमहादानैः पुण्यं प्रोक्तं महर्षिभिः ।
तत्पुण्यं जायते पुंसां विश्वेशे पुष्पदानतः ॥ ३३ ।
अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्यत्फलं प्राप्यतेऽखिलैः ।
पञ्चाऽमृतानां स्नपनाद्विश्वेशे तदवाप्यते ॥ ३४ ।

अन्यत्र जन्मभर योगाभ्यास करने से जो फल मिलता है, वाराणसी में केवल एक ही प्राणायाम से वह प्राप्त हो सकता है ॥ २८ ।

इस आनन्दवन में **मणिकर्णिका** में एक डुबकी से जो पुण्य होता है, जन्मभर समस्त तीर्थों में स्नान करने से भी वह नहीं मिल सकता ॥ २९ ।

यावत् जीवन समस्त लिंगों की आराधना करने से जो पुण्य मिलना कठिन है, श्रद्धापूर्वक एक बार भी **विश्वेश्वर** की पूजा करने से (तुरंत) वह मिल जाता है ॥ ३० ।

जब सहस्रों जन्म के उपार्जित पुण्य इकट्ठे होते हैं, तब उन्हीं के परिवर्तन में **विश्वनाथ** का दर्शन प्राप्त होता है ॥ ३१ ।

विधानयुक्त करोड़ों गोदान करने से जो फल होता है, भगवान् **विश्वेश्वर** के दर्शन मिल जाने से भी वही फल ज्यों का त्यों प्राप्त होता है ॥ ३२ ।

महर्षियों ने षोडशविध महादानों से जो पुण्य कहा है, भगवान् **विश्वेश्वर** पर पुष्प चढ़ा देने से भी वही पुण्य होता है ॥ ३३ ।

अश्वमेध इत्यादि समस्त यज्ञों के करने से जो फल होता है, **विश्वनाथ** को पंचामृत से स्नान कराने का भी वही फल है ॥ ३४ ।

वाजपेयसहस्रेण सम्यगिष्टेन यत्फलम् ।
सकृन्महार्हैर्नैवेद्यैर्विश्वेशे तच्छताऽधिकम् ॥ ३५ ।
ध्वजातपत्रं चमरं विश्वेशे यः समर्पयेत् ।
एकच्छत्रं स वै राज्यं प्राप्नुयाद्वसुधातले ॥ ३६ ।
महापूजोपकरणं योऽर्पयेद्विश्वभर्तरि ।
न तं सम्पत्तिसम्भारा विमुञ्चन्तीह कुत्रचित् ॥ ३७ ।
सर्वर्तुकुसुमाढ्यां च यः कुर्यात्पुष्पवाटिकाम् ।
तदङ्गणे कल्पवृक्षाश्छायां कुर्वन्ति शीतलाम् ॥ ३८ ।
यः क्षीरस्नपनार्थं वै विश्वेशे धेनुमर्पयेत् ।
क्षीरार्णवतटे तस्य निवसेयुः पितामहाः ॥ ३९ ।
विश्वेशराजसदने यः सुधां चित्रमेव वा ।
कारयेत्तस्य भवनं कैलासे चित्रितं भवेत् ॥ ४० ।

सहस्रों वाजपेय यज्ञ से जो पुण्य मिलता है, एक बार विश्वनाथ को बहुमूल्य (उत्तम) नैवेद्य लगाने से उसका सौ गुना फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ।

जो कोई ध्वजा, छत्र, चामर इत्यादि से **विश्वेश्वर** को सुसज्जित करता है, वह भूमण्डल में एकछत्र राज्य का भोग पाता है ॥ ३६ ।

भगवान् विश्वनाथ की महापूजा की सामग्री जो कोई चढ़ाता है, उसे इस संसार में कहीं पर किसी सम्पत्ति का अभाव नहीं हो पाता ॥ ३७ ।

जो कोई सब ऋतुओं के पुष्पों से परिपूर्ण पुष्पवाटिका बनाता है, उसके घर के आँगन में कल्पवृक्षों की शीतल छाया बनी रहती है ॥ ३८ ।

इसी भाँति जो मनुष्य विश्वनाथ के दुग्धस्नान के लिए धेनु को अर्पण करता है, उसके पूर्व पुरुष लोग क्षीरार्णव के तट पर निवास करने लगते हैं ॥ ३९ ।

विश्वनाथ के राजमन्दिर में जो कोई चूना से छुहवावे अथवा चित्रकारी लिखवावे, कैलास में उसका भवन चित्रों से विभूषित हो जाता है ॥ ४० ।

ब्राह्मणान् यतिनो वाऽपि तथैव शिवयोगिनः ।
भोजयेद्योऽत्र वै काश्यामेकैकगणनाक्रमात् ॥ ४१ ।
कोटिभोज्यफलं तस्य श्रद्धया नाऽत्र संशयः ।
तपस्त्वत्र प्रकर्तव्यं दानमत्र प्रदापयेत् ॥ ४२ ।
विश्वेशस्तोषणीयोऽत्र स्नानहोमजपादिभिः ।
अन्यत्र कोटिजप्येन यत्फलं प्राप्यते नरैः ॥
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा तदत्र समवाप्यते ॥ ४३ ।
कोटिहोमेन यत्प्रोक्तं फलमन्यत्र सूरिभिः ।
अष्टोत्तराहुतिशतात्तदत्राऽऽनन्दकानने ॥ ४४ ।
यो जपेद्रुद्रसूक्तानि काश्यां विश्वेशसन्निधौ ।
पारायणेन वेदानां सर्वेषां फलमाप्यते ॥ ४५ ।
तस्य पुण्यं न जानामि चिन्तिते चाऽक्षरे परे ।
काश्यां नित्यं प्रवस्तव्यं सेव्योत्तरवहा सदा ॥ ४६ ।

शिवयोगिनः पाशुपतान् । शिवैकभक्तानिति वा ॥ ४१ ।

परे अक्षरे नित्ये महादेवे चिन्तिते यत्पुण्यं भवति, तदियदिति नाऽहं जाने ॥ ४६ ।

इस काशीपुरी में ब्राह्मण, संन्यासी तथा शिवयोगियों को श्रद्धापूर्वक भोजन करावे तो प्रत्येक जन को कोटिगुण फल निःसन्देह प्राप्त होता है । यहाँ पर तप, दान, स्नान, होम और जपादि के द्वारा भगवान् विश्वेश्वर को सन्तुष्ट करना चाहिए । अन्यत्र कोटि-संख्यक जप करने से जो फल होता है, इस काशी में केवल अष्टोत्तरशत ही में मनुष्यों को वह फल मिल जाता है ॥ ४१–४३ ।

अन्य स्थानों में कोटि आहुति देने से जो पुण्य होता है, यहाँ पर केवल अष्टोत्तरशत आहुतियों से वह पुण्य मिलता है, ऐसा ही पंडितों का कथन है ॥ ४४ ।

आनन्दवन में **विश्वनाथ** के सन्निहित केंवल रुद्रसूक्त के ही पाठ करने से समग्र वेदाध्ययन का पुण्य प्राप्त होता है ॥ ४५ ।

परन्तु अक्षरों का अर्थ समझकर रुद्रसूक्त का पारायण करने वाले को जो फल मिलता है, उसे मैं भी नहीं जान सकता । काशी में नित्य वास और उत्तरवाहिनी गंगा का सेवन करना ही उचित है ॥ ४६ ।

आपद्यपि हि घोरायां काशी त्याज्या न कुत्रचित् ।
यतः सर्वापदां हर्ता त्राता विश्वपतिः प्रभुः ॥ ४७ ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात्स्नानदानजपादिभिः ।
यतः काश्यां कृतं कर्म महत्त्वाय प्रकल्पते ॥ ४८ ।
कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि कर्तव्यानि प्रयत्नतः ।
तथेन्द्रियविकाराश्च न बाधन्तेऽत्र कर्हिचित् ॥ ४९ ।
यदीन्द्रियाणि कुर्वन्ति विक्रियामिह देहिनाम् ।
तदाऽत्र वाससंसिद्धिर्विघ्नेभ्यो नैव लभ्यते ॥ ५० ।

अगस्त्य उवाच–

कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि व्यासो वक्ष्यति यानि वै ।
तेषां स्वरूपमाख्याहि स्कन्देन्द्रियविशुद्धये ॥ ५१ ।

स्कन्द उवाच–

कथयामि महाबुद्धे कृच्छ्रादीनि तवाऽग्रतः ।
यानि कृत्वाऽत्र मनुजो देहशुद्धिं लभेत्पराम् ॥ ५२ ।

अथ कृच्छ्रचान्द्रायणकरणाद्यनन्तरं न बाधन्ते तत्कर्तॄन्नरानित्यर्थः ॥ ४९ ।
यदि चेत् । यदिति पाठेऽप्ययमेवाऽर्थः ॥ ५० ।
कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि कर्तव्यानीत्युक्तं तत्र पृच्छति – **कृच्छ्रेति** ॥ ५१ ।
कृच्छ्रादीनि व्यासेन वक्ष्यमाणानि ॥ ५२ ।

विषम विपत्ति पड़ने पर भी काशी कभी नहीं छोड़नी चाहिए; क्योंकि सब आपत्तियों के निवारक भगवान् विश्वेश्वर (यहाँ के स्वयं) रक्षक (बने) हैं ।

"चना चबैना गंग जल, जो पुरवै करतार ।
काशी कबहुँ न छोड़िये, विश्वनाथ दरबार" ॥ ४७ । (प्राचीन)

काशी में अनुष्ठित कर्म बड़े ही फलदायक होते हैं, इसलिए यहाँ पर स्नान, दान और जप इत्यादि के द्वारा दिन को सार्थक करना उचित है ॥ ४८ ।

यहाँ पर प्रयत्नपूर्वक कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि व्रतों को (तो) अवश्य ही करना चाहिए, जिससे इन्द्रियों के विकारों की कोई बाधा कभी नहीं होवे ॥ ४९ ।

क्योंकि यहाँ पर जब इन्द्रियाँ मनुष्य में विकार उत्पन्न कर देती हैं, तब विघ्नों के मारे काशीवास की सिद्धि नहीं हो पाती ॥ ५० ।

अगस्त्य ने कहा–

हे स्वामिकार्तिकेय ! व्यासदेव जिन कृच्छ्र-चान्द्रायण प्रभृति व्रतों को इन्द्रियों की शुद्धि के लिए कहेंगे, आप उनका स्वरूप वर्णन कर दीजिए ॥ ५१ ।

स्कन्द ने कहा–

हे महाबुद्धे ! मैं आपसे कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रतों को कहता हूँ, मनुष्य जिनके अनुष्ठान से यहाँ पर शरीर की परमशुद्धि को प्राप्त कर सकता है ॥ ५२ ।

एकभक्तेन नक्तेन तथैवाऽयाचितेन च।
उपवासेन चैकेन पादकृच्छ्रः प्रकीर्तितः ॥ ५३ ।
वटोदुम्बरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकम् ।
प्रत्येकं प्रत्यहं पीतं पर्णकृच्छ्रः प्रकीर्तितः ॥ ५४ ।
पिण्याकघृततक्राम्बुसक्तूनां प्रतिवासरम् ।
एकैकमुपवासश्च कृच्छ्रः सौम्यः प्रकीर्तितः ॥ ५५ ।
हविषा प्रातरश्नीत हविषा सायमेव च।
हविषा याचितं त्रींस्तु सोपवासस्त्र्यहं वसेत् ॥ ५६ ।
एकैकं ग्रासमश्नीयादहानि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥ ५७ ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रं पयसा दिवसानेकविंशतिः ।
द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ५८ ।

एकभक्तेनेत्यादीनां पद्यानामित्यादि सत्प्रवृत्तिश्चेति सार्धसप्तविंशतितमश्लोकेनाऽन्वयः ॥ ५३ ।

राजीवं पद्मम् ॥ ५४ । **पिण्याकं** तिलपिष्टं च । घृतं च तंक्रं चाम्बु च सक्तुश्च तेषां प्रत्येकाभ्यवहरणमिति शेषः ॥ ५५ ।

त्रीनिति सर्वत्र सम्बध्यते । **हविषा** त्रीन् दिवसान् प्रातरित्यर्थः ॥ ५६ ।

पूर्ववत् प्रातरादिवत् ॥ ५७ ।

(प्रथम दिन) एक बार भोजन, (दूसरे दिन) रात्रिभोजन, (तीसरे दिन) अयाचित भोजन, (चौथे दिन) उपवास करने से **पादकृच्छ्र** नामक व्रत कहा जाता है ॥ ५३ ।

बड़, गुल्लर, कमल, बिल्वपत्र और कुशोदक, इन सबों को क्रम से प्रत्येक दिन पान करने से **पर्णकृच्छ्र** व्रत होता है ॥ ५४ ।

पिण्याक (तिल की खली), घृत, तक्र, जल और सत्तु–इन सबों में एक-एक को प्रतिदिन खाकर एक-एक उपवास बीच-बीच में करते जाने से **सौम्यकृच्छ्र** नामक व्रत कहा जाता है ॥ ५५ ।

तीन दिन प्रातःकाल और तीन दिन सायंकाल एवं तीन दिन अयाचित विधि से घृत भोजन करे, फिर तीन दिन उपवास करके पूर्ववत् तीन दिन एक-एक कवर (ग्रास) मात्र भोजन करे, फिर पिछले (अन्तिम) तीन दिनों में उपवास ही करे, तो यह **अतिकृच्छ्र** नामक व्रत कहा जाता है ॥ ५६-५७ ।

इक्कीस दिन तक केवल दूध ही पीकर रह जावे, तो वह **कृच्छ्रातिकृच्छ्र** व्रत होता है । द्वादश दिन पर्यन्त (लगातार) उपवास करते रहने से **पराक** नामक व्रत होता है ॥ ५८ ।

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यं प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥ ५९ ।
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रः सान्तपनः स्मृतः ॥ ६० ।
पृथक्सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासकः ।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनः स्मृतः ॥ ६१ ।
तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
एतांस्त्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः ॥ ६२ ।
त्र्यहमुष्णाः पिबेदापस्त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं घृतं प्राश्य वायुभक्षो दिनत्रयम् ॥ ६३ ।
पलमेकं पयः पीत्वा सर्पिषश्च पलद्वयम् ।
पलमेकं तु तोयस्य तप्तकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ६४ ।
गोमूत्रेण समायुक्तं यावकं यः प्रयोजयेत् ।
कृच्छ्रमेकाह्निकं प्रोक्तं शरीरस्य विशोधनम् ॥ ६५ ।

गोमूत्रमित्यादीनामेकीकृत्य भक्षणम् ॥ ६० । **षडहः** षडहानि ॥ ६१ ।
यावकं यवान्नम् । प्रयोजयेद् भक्षयेदित्यर्थः ॥ ६५ ।

जिस द्विज को **प्राजापत्य** व्रत का अनुष्ठान करना हो, उसे तीन दिन प्रातः-काल, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन अयाचित भोजन करके तीन दिन उपवास करना चाहिए ॥ ५९ ।

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत और कुशोदक–इन सबों को क्रम से एक-एक दिन पीकर फिर एक रात्रि उपवास करने से **कृच्छ्र सान्तपन** व्रत कहलाता है ॥ ६० ।

पूर्वोक्त सान्तपन व्रत के छः द्रव्यों का सेवन न करके सातों दिन उपवास ही करने से भी कृच्छ्र महासान्तपन व्रत होता है ॥ ६१ ।

ब्राह्मण यदि तप्तकृच्छ्र व्रत को किया चाहे, तो प्रतिदिन एक बार स्नान कर सावधानी से तीन दिन उष्ण जल, दुग्ध, घृत और वायु को पिये ॥ ६२ ।

फिर तीन दिन केवल उष्ण जल, तीन दिन उष्ण दुग्ध, तीन दिन उष्ण घृत एवं शेष तीन दिनों में केवल वायु भक्षण करे ॥ ६३ ।

इस व्रत में (चार रूपये भर का) एक पल पानी और दूध एवं दो पल घृत का परिमाण है । इस प्रकार से तप्तकृच्छ्र व्रत कहा गया है ॥ ६४ ।

गोमूत्र के साथ जब खाया जावे, तो वह भी शरीर-शोधक **एकाह्निक कृच्छ्र** कहा जाता है ॥ ६५ ।

हस्तावुत्तानतः कृत्वा दिवसं मारुताशनः ।
रात्रौ जले स्थितो व्युष्टः प्राजापत्येन तत्समम् ॥ ६६ ।
एकैकं ह्रासयेद् ग्रासं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ ६७ ।
एकैकं वर्धयेद् ग्रासं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत् ।
भुञ्जीत दर्शे नो किञ्चिदेष चान्द्रायणो विधिः ॥ ६८ ।
चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ ६९ ।
अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ ७० ।
यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन् हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ ७१ ।
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ ७२ ।

व्युष्टः प्राप्तप्रातःकालः ॥ ६६ ।
शिशुचान्द्रायणं ब्रह्मचारिचान्द्रायणम् ॥ ६९ ।
तिस्रोऽशीतीः अशीतित्रयम् । यथाकथञ्चिदित्येकादश्युपवासाभिप्रायम् ॥ ७१ ।
भूतात्माऽहङ्कारः ॥ ७२ ।

दिन भर दोनों हाथों को उत्तान किये हुए केवल वायु भोजन करे और रात्रि भर जल में बैठकर सबेरा करे, तो वह भी प्राजापत्य व्रत के समान ही समझा जाता है ॥ ६६ ।

त्रिकाल स्नान करके कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास को घटाता जावे और शुक्ल-पक्ष में एक-एक ग्रास को बढ़ाता जावे तो वही **चान्द्रायण व्रत** की विधि कही जाती है ॥ ६७ ।

अथवा शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास बढ़ावे और कृष्णपक्ष में घटावे एवं अमावास्या को कुछ भी नहीं खावे तो वह भी **चान्द्रायण व्रत** होता है ॥ ६८ ।

यदि ब्राह्मण समाहित होकर चार कवर (सं. कवल) प्रातःकाल और चार ही कवर सूर्यास्त होने पर भोजन करे तो वह ब्रह्मचारियों का चान्द्रायण व्रत कहलाता है ॥ ६९ ।

संयमपूर्वक ठीक मध्याह्नकाल में आठ कवर हविष्यान्न का भोजन कर लेवे तो वह **यतिचान्द्रायण** कहाता है ॥ ७० ।

समाहित होकर, यदि एक मास भर में किसी रीति से दो सौ चालीस कवर हविष्य का भोजन करे, तो वह चन्द्रलोक का अधिकारी अवश्य ही हो जाता है ॥ ७१ ।

शरीर की शुद्धि जल से, मन की शुद्धि सत्य से, भूतात्मा की शुद्धि विद्या और तपस्या से एवं बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है ॥ ७२ ।

तच्च ज्ञानं भवेत्पुंसां सम्यक्काशीनिषेवणात् ।
काशीनिषेवणेन स्याद्विश्वेशकरुणोदयः ॥ ७३ ।
ततो महोदयावाप्तिः कर्मनिर्मूलनक्षमा ।
अतः काश्यां प्रयत्नेन स्नानं दानं तपो जपः ॥ ७४ ।
व्रतं पुराणश्रवणं स्मृत्युक्ताध्वनिषेवणम् ।
प्रतिक्षणं प्रतिदिनं विश्वेशपदचिन्तनम् ॥ ७५ ।
लिङ्गार्चनं त्रिकालं च लिङ्गस्यापि प्रतिष्ठितिः ।
साधुभिः सह संलापो जल्पः शिव शिवेति च ॥ ७६ ।
अतिथेश्चापि सत्कारो मैत्री तीर्थनिवासिभिः ।
आस्तिक्यबुद्धिर्विनयो मानामानसमानधीः ॥ ७७ ।
अकामिता त्वनौद्धत्यमरागित्वमहिंसनम् ।
अप्रतिग्रहवृत्तिश्च मतिश्चानुग्रहात्मिका ॥ ७८ ।
अदम्भिता त्वमात्सर्यमप्रार्थितधनागमः ।
अलोभित्वमनालस्यमपारुष्यमदीनता ॥ ७९ ।
इत्यादिसत्प्रवृत्तिश्च कर्तव्या क्षेत्रवासिना ।
प्रत्यहं चेति शिष्येभ्यः स धर्ममुपदेक्ष्यति ॥ ८० ।
नित्यं त्रिषवणस्नायी नित्यं भिक्षाकृताशनः ।
लिङ्गपूजार्चको नित्यमित्थं व्यासो वसेत्पुरा ॥ ८१ ।

लिङ्गपूजार्चक इति । पूजाऽत्र रुद्रियपाठः । वसेत्पुरा। भविष्यदर्थे पुरेत्यतीत-निर्देशः ॥ ८१ ।

पर वह ज्ञान लोगों को यथार्थरीति से काशी के सेवन करने ही से हो सकता है, क्योंकि काशी के ही सेवन से विश्वेश्वर की दया का उदय होता है ॥ ७३ ।

तभी कर्म के निर्मूलन करने में समर्थ महोदय की प्राप्ति होती है । अतएव इस काशीपुरी में प्रयत्न उठाकर स्नान,दान, तप, जप, व्रत, पुराण-श्रवण, धर्मशास्त्रोक्त मार्गसेवन, प्रतिदिन प्रतिक्षण विश्वनाथ के चरणों का ध्यान, त्रिकाल लिंगपूजन, लिंग की स्थापना, साधुवों के संग वार्तालाप, बारम्बार "शिव शिव" का कथन, अतिथिसत्कार, तीर्थवासियों से मैत्री, आस्तिक्यबुद्धि, नम्रता, मान और अपमान में समान बुद्धि, निष्कामता, अनुद्धत स्वभाव, रागहीनता, अहिंसा, अप्रतिग्रहवृत्ति, दयार्द्रचित्तता, दंभशून्यता, निर्मत्सरता, अप्रार्थित धनागम, अलोभिता, अनालसता, अपरुषता और अदीनता इत्यादि सत्प्रवृत्तियों को क्षेत्रवासी होकर अवश्य ही करना चाहिए । इस प्रकार से वे अपने शिष्यलोगों को प्रतिदिन उपदेश देवेंगे ॥ ७४-८० ।

व्यास जी नित्य ही त्रिकाल स्नान और लिंग-पूजन में तत्पर होकर केवल भिक्षा से ही भोजनादि का निर्वाह करते हुए काशी में वास करने लगे ॥ ८१ ।

एकदा तस्य जिज्ञासां कर्तुं देवीं हरोऽवदत् ।
अद्य भिक्षाटनं प्राप्ते व्यासे परमधार्मिके ॥ ८२ ।
अपि सर्वगते क्वापि भिक्षां मा यच्छ सुन्दरि ।
तथेत्युक्त्वा भवानी सा भवं भवनिवारणम् ॥ ८३ ।
नमस्कृत्य प्रतिगृहं तस्य भिक्षां न्यषेधयत् ।
स मुनिः सहितः शिष्यैर्भिक्षामप्राप्य दूनवत् ॥ ८४ ।
वेलातिक्रममालोक्य पुनर्बभ्राम तां पुरीम् ।
गृहे गृहे परिप्राप्ता भिक्षान्यैः सर्वभिक्षुकैः ॥ ८५ ।
तदह्नि नाऽलभद् भिक्षां सशिष्यः स मुनिः क्वचित् ।
अथ सायन्तनं कर्म कृत्वा छात्रैः समन्वितः ॥ ८६ ।
उपोषणपरो भूत्वा तथैवासीदहर्निशम् ।
अथाऽन्येद्युर्मुनिर्व्यासः कृत्वा माध्याह्निकं विधिम् ॥ ८७ ।
ययौ भिक्षाटनं कर्तुं सशिष्यः परितः पुरीम् ।
सर्वत्र स परिभ्रान्तः प्रतिसौधं मुहुर्मुहुः ॥ ८८ ।

भिक्षाटनं प्राप्ते भिक्षितुं गते सतीत्यर्थः ॥ ८२ ।
तस्य सशिष्यस्य भिक्षां न्यषेधयत् । **दूनवत्** खिन्नवत् ॥ ८४ ।
छत्रमिव गुरुं गोपायन्तीति छात्राः शिष्यास्तैः ॥ ८६ ।

तदनन्तर एक बार महादेव ने व्यास की परीक्षा लेने के लिये पार्वती देवी से कहा कि, हे सुन्दरि ! आज उस परम-धार्मिक व्यास को भिक्षार्थ सर्वत्र पर्यटन करने पर भी कहीं से कुछ भी भिक्षा मत पाने दो । भवानी ने भी भवनाशक (भगवान् भवनाथ) भव की आज्ञा को प्रणामपूर्वक स्वीकार कर घर-घर से उनकी भिक्षा का निषेध कर दिया । इससे वे मुनिवर व्यास भिक्षा के नहीं पाने से अपने शिष्यों के सहित बड़े ही खिन्न हुए ॥ ८२–८४ ।

और वेला को बीतती हुई देखकर फिर नगर में घूमने लगे । इधर समस्त भिक्षुकों ने घर-घर में भिक्षा पाई ॥ ८५ ।

पर शिष्यों के सहित व्यास मुनि को उस दिन कहीं भी भिक्षा नहीं मिली । फिर तो उन्होंने अपने शिष्यों के साथ सन्ध्योपासन इत्यादि कर्म किया ॥ ८६ ।

पुनः रात्रि दिन वैसे ही (कोरा) उपवास ही करते रह गये । फिर दूसरे दिन व्यास जी माध्याह्निक विधियों के करने पर शिष्यों के साथ नगर में चारों ओर भिक्षा पाने के लिये घूमते रहे । यहाँ तक कि बारंबार प्रत्येक धनी गृहस्थों के घर पर फेरा लगाते रहे ॥ ८७-८८ ।

न क्वापि लब्धवान् भिक्षां भाग्यहीनो धनं यथा ।
अथ चिन्तितवान् व्यासः परिश्रान्तः परिभ्रमन् ॥ ८९ ।
को हेतुर्यन्न लभ्येत भिक्षा यत्नेन रक्षिता ।
अन्तेवासिन आहूय व्यासः पप्रच्छ चाऽखिलान् ॥ ९० ।
भवद्भिरपि नो भिक्षा परिप्राप्तेति गम्यते ।
किमत्र पुरि संवृत्तं द्वित्रा यात ममाज्ञया ॥ ९१ ।
द्वितीयेऽह्न्यपि यद्भिक्षा न लभ्येताऽतियत्नतः ।
अनिष्टं किञ्चिदत्रासीन्महागुरुनिपातजम् ॥ ९२ ।
अन्नक्षयो वा सर्वस्यां नगर्यामभवत्क्षणात् ।
राजदण्डोऽथ युगपज्जातः सर्वपुरौकसाम् ॥ ९३ ।
अथवा वारिता भिक्षा केनाप्यस्मासु चेर्ष्यया ।
पुरौकसोऽभवन् दुस्थास्तूपसर्गेण केनचित् ॥ ९४ ।

यत्नेन रक्षिता प्रयत्नेन केनचिद् वारितेत्यर्थः । यत्ने कृतेऽपि चेति पाठः सुगमः । अन्तेवासिनः शिष्यान् ॥ ९० ।

दुस्थास्तु पीडिता वा । उपसर्गेण दुर्निमित्तेन ॥ ९४ ।

पर जैसे भाग्यहीन पुरुष को धन नहीं मिलता, वैसे ही उनको भिक्षा नहीं मिली । तब तो व्यास जी घूमते-घूमते थककर यह सोचने लगे ॥ ८९ ।

वे सोचने लगे–क्या कारण है जो सुरक्षित होने पर भी भिक्षा नहीं मिलती है ? फिर अपने सब शिष्यों को बुलाकर पूछने लगे ॥ ९० ।

उन्होंने पूछा–जान पड़ता है, तुम लोगों को भी भिक्षा नहीं मिली ? अच्छा तो मेरे कहने से दो-तीन जन जाकर देखो तो (सही) कि इस नगर में क्या हुआ जो बड़ा प्रयास उठाने पर दूसरे दिन भी कुछ भिक्षा नहीं मिली । संभव है कि, यहाँ पर कोई बड़ा भारी अनिष्ट गिरा चाहता है ॥ ९१-९२ ।

क्या इस विशाल काशी नगरी में एक बार ही क्षणभर में सर्वत्र अन्न का क्षय हो गया ? किं वा समस्त पुरवासी लोग एक साथ ही राजदण्ड में फँस गये हैं ? ॥ ९३ ।

अथवा हम लोगों से डाह रखकर किसी के कहने से भिक्षा देना रोक दिया है ? किं वा नगरवासियों में कोई ऐसा उपद्रव मच गया है, जिससे वे लोग अस्वस्थ हो गये हैं ? ॥ ९४ ।

किमेतदखिलं ज्ञात्वा समागच्छत सत्वरम् ।
द्वित्राः पवित्रचरणात् प्राप्याऽनुज्ञां गुरोरथ ॥
समाचख्युः समागम्य दृष्ट्वर्धिं तत्पुरौकसाम् ॥ ९५ ।

शिष्या ऊचुः –

शृण्वन्त्वाराध्यचरणा नोपसर्गोऽत्र कश्चन ।
नान्नक्षयो वा सर्वस्यां नगर्यामिह कुत्रचित् ॥ ९६ ।
यत्र विश्वेश्वरः साक्षाद्यत्राऽमरधुनी स्वयम् ।
त्वादृशा यत्र मुनयः क्व भीस्तत्रोपसर्गजा ॥ ९७ ।
समृद्धिर्या गृहस्थानामिह विश्वेशितुः पुरि ।
न सर्धिरस्ति वैकुण्ठे त्वल्पास्ता अलकादयः ॥ ९८ ।
रत्नाकरेषु रत्नानि न तावन्ति महामुने ।
यावन्ति सन्ति विश्वेशनिर्माल्योपभुजां गृहे ॥ ९९ ।

पवित्रचरणादाराध्यचरणात् ॥ ९५ ।
विश्वेशनिर्माल्योपभुजां लैङ्गिकानां देवलकानामिति वा ॥ ९९ ।

इसका ठीक अनुसन्धान (पता) लगाकर तुम लोग अभी चले आओ । इस प्रकार से पूज्यपाद गुरु की आज्ञा पाकर उस शिष्यमण्डली से दो-तीन जन वहाँ से जाकर उस पुर के निवासी लोगों की सम्पत्ति देख आने पर उनसे कहने लगे ॥ ९५ ।

शिष्यों ने कहा–

हे आराध्यचरण ! आप श्रवण करें । यहाँ पर न तो कोई उपसर्ग ही हुआ है, न समस्त नगर एक बार अन्नहीन ही हो गया है ॥ ९६ ।

भला जहाँ पर साक्षात् भगवान् विश्वेश्वर विराजमान हैं, जहाँ स्वयं स्वर्गतरङ्गिणी गंगा बह रही हैं और आप सरीखे महर्षिगण वास करते हैं, वहाँ पर उपसर्गजनित भय कहाँ से हो सकता है ? ॥ ९७ ।

इस विश्वनाथ की पुरी में सामान्य गृहस्थ लोगों की जैसी सम्पत्ति है, वैसी तो अलका इत्यादि को कौन कहे (स्वयं) वैकुंठ में भी नहीं है ॥ ९८ ।

हे महामुने ! यहाँ पर शिवनिर्माल्यभोजियों (पंडों) के घर में जितने रत्न पड़े हैं, स्वयं रत्नाकर समुद्र में भी उतने नहीं हो सकते ॥ ९९ ।

गृहे गृहेऽत्र धान्यानां राशयो यादृशः पुनः ।
न तादृशः कल्पवृक्षदत्ता ऐन्द्रे पुरे क्वचित् ॥ १०० ।
यत्र साक्षाद् विशालाक्षी सुविस्तारफलप्रदा ।
न तत्र पुरि सर्वस्यां नरो वै निर्धनः क्वचित् ॥ १०१ ।
निर्वाणलक्ष्म्याः सदने त्वस्मिन्नानन्दकानने ।
मोक्षोऽपि यत्र सुलभः किमन्यंत्तत्र दुर्लभम् ॥ १०२ ।
सीमन्तिन्यः स्त्रियः सर्वाः पतिव्रतपरायणाः ।
सर्वा भवानीरूपिण्यो विश्वेशार्पितसत्क्रियाः ॥ १०३ ।
यावन्तः पुरुषाः काश्यां सर्व एव गणाधिपाः ।
सर्व एव कुमारा वै सर्वे तारकदृष्टयः ॥ १०४ ।
त्रिपुण्ड्राङ्कितभाला ये ते सर्वे चन्द्रमौलयः ।
उपसर्गसहस्रैश्च पीड्यमाना अपीह ये ॥ १०५ ।
न त्यजन्ति सदा काशीं सर्वज्ञा एव तेऽखिलाः ।
गृहे गृहेऽपि बटवो ब्रह्मवादविवादिनः ॥ १०६ ।

यादृशस्तादृश इति च बहुवचनम् ॥ १०० ।

इस नगर के घर-घर में जितनी अन्नों की राशियाँ पड़ी हैं, उतनी तो कल्पवृक्ष ने भी इन्द्र की पुरी में कभी नहीं दी होंगी ॥ १०० ।

भला, जिस नगरी में स्वयं **विशालाक्षी** (अन्नपूर्णा) देवी विशाल फलों को दे रही हैं, वहाँ के निवासियों में एक भी मनुष्य कभी निर्धन हो सकता है ? ॥ १०१ ।

मोक्षलक्ष्मी के विलासमन्दिररूप इस आनन्दवन में जब कि मुक्ति[1] ही सुलभ हो गई है, तब भला अन्य कौन-सी वस्तु दुर्लभ हो सकती है ? ॥ १०२ ।

यहाँ समस्त स्त्रियाँ पतिव्रत में तत्पर होने से साक्षात् भवानी की मूर्ति होकर अपने समस्त उत्तम कर्मों को शिवार्पण कर देती हैं ॥ १०३ ।

फिर इस काशी में जितने ही पुरुष हैं, वे सब के सब गणाधिपति, अथवा तारकदृष्टि कुमार के समान हैं ॥ १०४ ।

यहाँ पर जो लोग माथे पर त्रिपुण्ड्र लगाये रहते हैं, वे तो मानो साक्षात् चन्द्रशेखर ही हैं । जो लोग सहस्रों उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी काशी को कभी नहीं छोड़ते, वे ही सब सर्वज्ञ हैं । यहाँ तो बच्चे भी घर-घर में ब्रह्मवाद ही का विवाद करते हैं ॥ १०५-१०६ ।

---

1. (क) मुक्ति—मोक्ष, (ख) मोक्ष और (ग) मोक्षरूपी मुक्ति (संपादक)।

स्वर्धुनीधूतकलुषाः सन्तीह चतुराननाः ।
निर्वाणलक्ष्मीपतयः क्षेत्रसंन्यासकारिणः ॥ १०७ ।
सर्व एव हृषीकेशाः सर्वे वै पुरुषोत्तमाः ।
अच्युता एव विज्ञेया एतत्क्षेत्रपरिग्रहाः ॥ १०८ ।
स्त्रियो वा पुरुषा वाऽपि सर्व एव न संशयः ।
सर्व एव त्रिनयनाः सर्व एव चतुर्भुजाः ॥ १०९ ।
श्रीकण्ठाः सर्व एवाऽत्र सर्वे मृत्युञ्जया ध्रुवम् ।
मोक्षश्रीश्रितवर्ष्माणस्त्वर्धनारीश्वरा यतः ॥ ११० ।
धर्मराशिः परश्चाऽत्र महान्तोऽत्रार्थराशयः ।
सर्वे कामाः फलन्त्यत्र कैवल्यं चाऽत्र निर्मलम् ॥ १११ ।
न गर्भवाससंसर्गः काशीसंस्थितिकारिणाम् ।
न कलिश्चाऽत्र बाधेत कालो नैव प्रबाधते ॥ ११२ ।
एनांसि नाऽत्र बाधन्ते विश्वेशशरणार्थिनः ।
यत्र विश्वेश्वरः साक्षान्नादबिन्दुकलात्मकः ॥ ११३ ।

चतुरानना हिरण्यगर्भसदृशाः । वाक्चातुर्ययुक्तान्याननानि येषां ते इति वा ॥ १०७ ।

नादबिन्दुकलात्मको नादबिन्दुकलास्वरूपः । वाच्यवाचकयोरभेदनिर्देशात् सामानाधिकरण्यम् । षष्ठ्यन्तपाठे[1] तद्वाच्यो विश्वेश्वरो यत्राऽस्तीति पृथग् वाक्यम् ॥ ११३ ।

यहाँ गंगास्नान से ही निष्पाप होकर सभी चतुरानन हो गये हैं और सभी क्षेत्र- संन्यासी मोक्षलक्ष्मी के पति बने हैं ॥ १०७ ।

सभी कोई हृषीकेश, (गोस्वामी) पुरुषोत्तम और अच्युत ही जान पड़ते हैं, क्योंकि वे लोग इस क्षेत्र के परिग्रही हो चुके हैं ॥ १०८ ।

स्त्रियाँ हों अथवा पुरुष हों, सभी लोग यहाँ पर त्रिलोचन, चतुर्भुज, श्रीकंठ और मृत्युंजय बन गये हैं । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । यों ही मोक्ष-लक्ष्मी को अपने शरीर में धारण करने से सभी कोई अर्धनारीश्वर हो गये हैं ॥ १०९-११० ।

इस काशी में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की बड़ी भारी-भारी ढेरें पड़ी हैं ॥ १११ ।

यहाँ पर कलि और काल कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते । इसी कारण से काशी में वास करनेवालों को गर्भवास का क्लेश नहीं झेलना पड़ता ॥ ११२ ।

यहाँ तो विश्वनाथ के शरणार्थियों को पापों का कुछ भय रहता ही नहीं है । इस नगरी में साक्षात् विश्वनायक ही नादबिन्दुकलात्मक होकर विराजमान रहते हैं ॥ ११३ ।

---

1. नादबिन्द्वोरिति ।

ध्वनिरूपी हि तत्राऽस्ति प्रणवो मन्त्रविग्रहः ।
अतो विग्रहवन्तोऽत्र सन्ति वेदा विनिश्चितम् ॥ ११४ ।
सरस्वती सरिद्रूपा ह्यतः शास्त्रनिकेतनम् ।
आनन्दकाननं सर्वं धर्मशास्त्रकृतालयम् ॥ ११५ ।
यावन्तो दिवि वै देवास्तावन्तोऽत्र मृषा न हि ।
नीराजयन्ति विश्वेशं रात्रौ रात्रौ सदाऽहयः ॥ ११६ ।
स्वफणामणिदीपैश्च प्राप्य काशीं रसातलात् ।
समुद्राः सर्व एवाऽत्र कामधेनुव्रजान्विताः ॥ ११७ ।
पञ्चपीयूषधाराभिर्विश्वेशं स्नपयन्ति हि ।
मन्दारः पारिजातश्च सन्तानो हरिचन्दनः ॥ ११८ ।
कल्पद्रुमश्च पञ्चैते तरुभिः सह सर्वदा ॥ ११९ ।

नीराजयन्ति नीराजनां प्रापयन्ति ॥ ११६ ।
पञ्चपीयूषधाराभिः पञ्चामृतसम्पातैः ॥ ११८ ।
तरुभिरन्यैर्वृक्षैः सह । ऋतुभिरिति क्वचित् । निवसन्तीति शेषः ॥ ११९ ।

इसी से यहाँ पर मंत्रस्वरूप प्रणवध्वनिरूपी बना रहता है, फिर इसी कारण से काशी में चारों वेद मूर्तिमान् होकर वास करते हैं, यह बात सर्वथा निश्चित है ॥ ११४ ।

इस स्थान में साक्षात् वाग्देवी सरस्वती नदीरूप धारण कर बहती हैं, इसी से यह शास्त्रमन्दिर आनन्दवन समस्त धर्मशास्त्रों का प्रधान स्थान (अड्डा) कहा जाता है ॥ ११५ ।

जितने देवता स्वर्ग में रहते हैं, वे सब यहाँ पर वर्तमान हैं, इसमें कुछ झूठ नहीं है । सदैव रात्रि के समय नाग लोग रसातल से काशी में आकर अपने फणामणि के दीपों से भगवान् विश्वेश्वर की आरती करते हैं । कामधेनुवों के साथ सभी समुद्र यहाँ पर विश्वनाथ को सदैव पंचामृत की धाराओं से नहलाते हैं । मन्दार, पारिजात, सन्तान, हरिचन्दन और कल्पवृक्ष, समस्त वृक्षों के साथ यहाँ पर सदैव वास करते हैं ॥ ११६–११९ ।

सर्वे सुरनिकायाश्च सर्व एव महर्षयः ।
योगिनः सर्व एवाऽत्र काशीनाथमुपासते ॥ १२० ।
विद्यानां सदनं काशी लक्ष्म्याः काशी परालयः ।
मुक्तिक्षेत्रमिदं काशी काशी सर्वा त्रयीमयी ॥ १२१ ।
इति श्रुत्वा मुनिवरः पाराशर्यो महातपाः ।
एवं बभाषे तान् शिष्यान् पुनः श्लोकं पठन्त्वमुम् ॥ १२२ ।

शिष्या ऊचुः –

विद्यानां चाश्रयः काशी काशी लक्ष्म्याः परालयः ।
मुक्तिक्षेत्रमिदं काशी काशी सर्वा त्रयीमयी ॥ १२३ ।

स्कन्द उवाच –

निशम्येति तदा व्यासः क्रोधान्धीकृतलोचनः ।
क्षुत्कृशानुज्वलन्मूर्तिः काशीं शप्स्यति कुम्भज ॥ १२४ ।

व्यास उवाच –

मा भूत्त्रैपूरुषी विद्या मा भूत्त्रैपूरुषं धनम् ।
मा भूत्त्रैपूरुषी मुक्तिः काशीं व्यासः शपन्निति ॥ १२५ ।

शपन् शप्स्यति। अशपत्त्वितीति **क्वचित्**। तत्र विभक्ति व्यत्ययश्छान्दसः ॥१२५ ।

यहाँ पर समग्र देवतागण, अशेषमहर्षिगण, समस्त योगी लोग, सभी कोई काशीनाथ की उपासना करते हैं ॥ १२० ।

काशी समस्त विद्याओं की जन्मभूमि, लक्ष्मी का उत्तम निवास-स्थान एवं त्रिगुणात्मिका यह समस्त काशी ही मुक्तिक्षेत्र है ॥ १२१ ।

यह सुनते ही महातपस्वी मुनिवर पराशरात्मज ने अपने शिष्यों से यों कहा कि, इस श्लोक को फिर से तो पढ़ो ॥ १२२ ।

शिष्यों ने कहा –

सब विद्या की खानि है, है कमला को गेह ।
त्रयीमयी यह काशिका, प्रकट मुक्ति की देह ॥ २३ ।

स्कन्द बोले –

हे कुंभज ! यह सुनते ही व्यास क्रोध से अन्धलोचन और क्षुधाग्नि से प्रज्वलित मूर्ति होकर काशी को शाप देने लगे ॥ १२४ ।

व्यास ने कहा–

काशी में तीन पुरुष विद्या न होवे और तीन पुरुष तक धन नहीं रहे एवं तीन पुरुषपर्यन्त मुक्ति न मिले' इस प्रकार से व्यास ने काशी को शाप दिया ॥ १२५ ।

गर्वः परोऽत्र विद्यानां धनगर्वोऽत्र वै महान् ।
मुक्तिगर्वेण नो भिक्षां प्रयच्छन्त्यत्र वासिनः ॥ १२६ ।
इति कृत्वा मतिं व्यासः काश्यां शापमदात्तदा ।
दत्वाऽपि शापं स मुनिर्भिक्षितुं क्रोधवान् ययौ ॥ १२७ ।
प्रतिगेहं त्वरायुक्तः प्रविशन् व्योमदत्तदृक् ।
बभ्राम नगरीं सर्वां क्वाऽपि भैक्षं न लब्धवान् ॥ १२८ ।
अंशुमालिनमावीक्ष्य मनाग्लोहितमण्डलम् ।
भिक्षापात्रं परिक्षिप्य निर्ययावाश्रमं प्रति ॥ १२९ ।
अथ गच्छन् महादेव्या गृहद्वारि निषण्णया ।
प्राकृतस्त्रीस्वरूपिण्या भिक्षायै प्रार्थितोऽतिथिः ॥ १३० ।

गृहिण्युवाच–

भगवन् भिक्षुकास्तावदद्य दृष्टा न कुत्रचित् ।
असत्कृत्याऽतिथिं नाथो न मे भोक्ष्यति कर्हिचित् ॥ १३१ ।

एतादृशशापे कारणमाह – **गर्वः परोऽत्र विद्यानामिति** । परो ह्यत्र विद्येति पाठे गर्वो गर्वहेतुरित्यर्थः ॥ १२६ ।

कारण यह कि, यहाँ के रहने वाले विद्वान् लोग विद्या के अहंकार से, धनी लोग धन के दर्प से एवं कृती लोग मुक्ति के गर्व से (भिक्षुकों को) भिक्षा नहीं देते हैं ॥ १२६ ।

यही समझ कर व्यास ने उस घड़ी काशी को शाप दिया, पर क्रोधित होकर शाप देने पर भी वे मुनि भिक्षा के लिये फिर चले ॥ १२७ ।

आकाश की ओर ताकते हुए वे बड़ी शीघ्रता से प्रत्येक घरों में घूमे । यहाँ तक कि समस्त नगरी का चक्कर लगा डालने पर भी कहीं से भिक्षा नहीं पा सके ॥ १२८ ।

अन्ततोगत्वा सूर्य को अस्तोन्मुख होते हुए देख भिक्षा के पात्र को फेंक कर अपने आश्रम की ओर चल पड़े ॥ १२९ ।

इसके उपरान्त जब जाने लगे, तब गृह के द्वार पर बैठी हुई साधारण गृहस्थ की स्त्री का स्वरूप धारण कर महादेवी (भगवती अन्नपूर्णा) ने उनसे अतिथि होने की प्रार्थना की ॥ १३० ।

गृहिणी बोली–

भगवन् ! आज तो कहीं कोई भी भिक्षुक ही नहीं दीख पड़ता और अतिथि को विना जिमाये मेरे स्वामी कभी भोजन ही नहीं करते ॥ १३१ ।

वैश्वदेवादिकं कर्म कृत्वा गृहपतिर्मम ।
प्रतीक्षेताऽतिथिपथं तस्मात्त्वमतिथिर्भव ॥ १३२ ।
विनाऽतिथिं गृहस्थो यस्त्वन्नमेको निषेवते ।
निषेवतेऽघं स परं सहितः स्वपितामहैः ॥ १३३ ।
तस्मात्त्वरितमायाहि कुरु मे पत्युरीहितम् ।
गार्हस्थ्यं सफलं कर्तुमिच्छतोऽतिथिपूजनात् ॥ १३४ ।
इति श्रुत्वा गताऽमर्षो व्यासस्तामाह विस्मितः ।

व्यास उवाच–

भद्रे का त्वं कुतः प्राप्ता पूर्वं दृष्टा न कुत्रचित् ॥ १३५ ।
मन्ये धर्ममयी मूर्तिः काऽपि त्वं शुचिमानसा ।
त्वद्दर्शनात्परां प्रीतिं सम्प्राप्तानीन्द्रियाणि मे ॥ १३६ ।
त्वं सुधैव भवेत्प्रायः सर्वावयवसुन्दरि ।
मन्दराघातसंत्रासात्त्यक्तक्षीरार्णवस्थितिः ॥ १३७ ।

सुधाऽमृताऽधिष्ठात्री देवता ॥ १३७ ।

वे बहुत विलम्ब से वैश्वदेवादिक सब कर्म करके अतिथि का मार्ग जोह रहे हैं । सो (अतः) आज आप अतिथि हो जाइये ॥ १३२ ।

क्योंकि जो गृहस्थ अतिथि को बिना जिमाये (भोजन कराये) आप ही खा लेता है, वह अपने पितरों के सहित केवल पाप ही भोजन करता है ॥ १३३ ।

अतएव आप तुरन्त चलकर अतिथिपूजन से अपने गृहस्थधर्म को सफल करने की इच्छा रखने वाले मेरे स्वामी का मनोरथ पूर्ण कीजिये ॥ १३४ ।

यह सुनते ही निष्क्रोध और आश्चर्ययुक्त होकर व्यास ने उस स्त्री से कहा ।

व्यास बोले–

हे भद्रे ! तुम कौन हो ? और यहाँ कहाँ से आ गई ? पहले तो मैंने तुम को कहीं नहीं देखा था ॥ १३५ ।

मेरी समझ में तो तुम कोई शुद्धहृदया धर्ममयी मूर्ति हो; क्योंकि तुम्हारे दर्शन ही से मेरी समस्त इन्द्रियाँ बहुत ही प्रसन्न हो रही हैं ॥ १३६ ।

हे सर्वांगसुन्दरि ! तुम अवश्य ही सुधा हो, (स्यात्) मन्दराचल के आघात-भय से भीत होकर क्षीरसमुद्र को छोड़ यहाँ चली आई हो ॥ १३७ ।

कला सुधाकरस्याऽथ कुहूराहुभयार्दिता ।
सीमन्तिनीस्वरूपेण तिष्ठेः काश्यामनिर्भया[1] ॥ १३८ ।
अथवा कमलाऽसि त्वं विहाय कमलालयम् ।
निशि सङ्कोचिनं काश्यां विकाशिन्यां वसेः सदा ॥ १३९ ।
किं वा नु करुणामूर्तिरिह काशिनिवासिनाम् ।
सर्वदुःखौघहरिणी पराऽऽनन्दप्रदायिनी ॥ १४० ।
वाराणस्याः किमथवाऽधिष्ठात्री देवता त्वमु ।
किं वा निर्वाणलक्ष्मीस्त्वं या काश्यां परिगीयते ॥ १४१ ।
श्वपाकं यायजूकं वा प्रान्तेऽलङ्कुर्वती समम् ।
मद्भाग्यं वा परिणतमेतद्योषित्स्वरूपतः ॥ १४२ ।
अथवा सा भवेन्नूनं या क्षेत्रे परिगीयते ।
भक्तपोतप्रदा भक्त्या भवानी भवनाशिनी ॥ १४३ ।
सर्वथैव न नारी त्वं नाऽसुरी नैव किन्नरी ।
विद्याधरी न नो नागी नो गन्धर्वी न यक्षिणी ॥ १४४ ।

अथवेति पक्षान्तरे । आज्ञातमिति क्वचित् ॥ १३९ ।

भक्तपोतप्रदा संसारार्णवतारणाय विद्यानौप्रदेत्यर्थः । किमिति सर्वे संसारं न तरेयुरिति तत्राह – **भक्त्येति** प्रेमलक्षणयेत्यर्थः ॥ १४३ ।

किं वा तुम सुधाकर (चन्द्र) की कला हो, जो अमावस्या में राहु के भय से घबड़ाकर स्त्री का रूप धर इस काशी में निःशंक वास करती हो ॥ १३८ ।

अथवा तुम साक्षात् लक्ष्मी हो, जो अपने वासालय कमल को रात्रि में सकुचते हुए देखकर सर्वदा खिली रहनेवाली काशीपुरी में निवास करने लगी हो ॥ १३९ ।

अथवा काशीवासियों के सर्वदुःखौघ का हरण करनेवाली परमानन्ददात्री तुम ही दया की मूर्ति हो ॥ १४० ।

नहीं तो तुम इस वाराणसी नगरी की अधिष्ठात्री देवता होगी, अथवा काशी में जो मुक्तिलक्ष्मी रहती हैं, तुम वह तो नहीं हो ? ॥ १४१ ।

जो चांडाल और वाजपेयी (ब्राह्मण) पर भी अन्त समय में समान दृष्टि रखती हैं । किं वा मेरा भाग्य ही तो नहीं इस स्त्री का रूप धारण कर परिणत हुआ है ? ॥ १४२ ।

हो न हो, तुम भक्तों को पार उतारने वाली वह भवानी (अन्नपूर्णा) तो नहीं हो, जिसका माहात्म्य इस क्षेत्र में गाया जाता है ॥ १४३ ।

तुम अवश्य ही न तो स्त्री हो, न असुरी हो, न किन्नरी हो, न विद्याधरी हो, न नागिन हो, न गन्धर्वी हो, न यक्षिणी ही हो ॥ १४४ ।

---

1. न विद्यते निश्चितं भयं यस्यास्तथाविधा ।

त्वमिष्टदेवतैवाऽसि काचिन्मे मोहहारिणी ।
केयं चिन्ताऽथवा मेऽत्र काचित्त्वं भव सुन्दरि ॥ १४५ ।
परवानस्म्यहं जातस्तव दर्शनतोऽधुना ।
अवश्यमेव कर्ताऽस्मि तवादेश्यं तदादिश ॥ १४६ ।
एकं तपोव्ययं हित्वा कारयिष्यसि यत्पुनः ।
तदेवाऽहं करिष्यामि विधेयः शुभलोचने ॥ १४७ ।
न वचस्त्वादृशीनां हि महत्त्वं हापयेत्सताम् ।
परं त्वं काऽसि सुभगे सत्यं ब्रूहि ममाऽग्रतः ॥ १४८ ।
अथवा तव देहेऽस्मिन् क्वाऽसत्यं निर्मलेक्षणे ।
इति पृष्टाऽऽह मुनिना सा विश्वायुर्घटोद्भव ॥ १४९ ।

विधेयस्त्वधीनस्त्वयोक्त इति यावत् ॥ १४७ ।

विश्वायुर्विश्वैकजीवनेत्यर्थः । तदुक्तम्–"या देवी सर्वभूतेषु वृत्तिरूपेण संस्थितेति" ॥ १४९ ।

वास्तव में तुम मेरे मोह को दूर करने वाली इष्ट देवता ही हो, अस्तु, हे सुन्दरि ! तुम जो चाहो, सो हो, इस चिन्ता का तो मुझे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १४५ ।

पर इस घड़ी तुम्हारे दर्शन ही से मैं पराधीन हो गया हूँ । मैं जो कुछ तुम आज्ञा दोगी, उसे अवश्य ही करूँगा ॥ १४६ ।

हे शुभलोचने ! एक तपस्या के व्यय को छोड़कर शेष जो कर्म करने की तुम्हारी अनुमति मिलेगी, उसे ही मैं कर डालूँगा ॥ १४७ ।

तुम्हारी ऐसी साध्वी स्त्रियों की बात साधुओं की बड़ाई को कभी नहीं बिगाड़ सकती; परन्तु हे सुभगे ! तुम कौन हो ? यह बात मुझसे सच-सच कहो ॥ १४८ ।

अथवा हे निर्मलेक्षणे ! तुम्हारे इस पवित्र शरीर में असत्य का लेश कहाँ है ? हे घटोद्भव ! तब तो विश्वजननी व्यास की इन सब बातों को सुनकर कहने लगीं ॥ १४९ ।

अत्रत्यस्यैव हि मुने गृहिणी गृहमेधिनः ।
नित्यं वीक्ष्ये चरन्तं त्वां भिक्षां शिष्यगणैर्वृतम् ॥ १५० ।
त्वमेव मां नो जानीषे जाने त्वामहमेव हि ।
तपस्विन् किं बहूक्तेन यावन्नाऽस्तं व्रजेद्रविः ॥ १५१ ।
प्राणनाथस्य मे तावदातिथ्यं सफलीकुरु ।
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह विनयानतकन्धरः ॥ १५२ ।

व्यास उवाच –

अस्ति मे नियमः कश्चित् स सिद्धिं चेद् व्रजेच्छुभे ।
एकभिक्षां तदाऽहं तु करिष्ये नाऽन्यथा पुनः ॥ १५३ ।
तपस्व्युदीरितं श्रुत्वा सा प्रोवाच वचस्ततः ।
अविशङ्कं वद मुने कस्तेऽस्ति नियमः सुधीः ॥ १५४ ।
मम भर्तुः प्रसादेन किञ्चिन्न्यूनं यतोऽत्र न ।
इति श्रुत्वा प्रहृष्टात्मा स तामाह तपोधनः ॥ १५५ ।

सुधीरिति कटाक्षः ॥ १५४ ।

(उन्होंने कहा–)

हे मुने ! यहाँ के ही एक गृहस्थ की मैं कुटुम्बिनी हूँ और आप को अपने शिष्यों के सहित भिक्षा के लिए जाते हुए नित्य ही देखती हूँ ॥ १५० ।

आप मुझे नहीं जानते, पर मैं आपको भलीभाँति से पहचानती हूँ । हे तपस्विन् ! बहुत बात करने का अवसर नहीं है । जब तक सूर्य-नारायण अस्त नहीं हो जाते ॥ १५१ ।

(तब तक) उसके पहले ही मेरे स्वामी के आतिथ्य को आप सफल कीजिये । यह सुनकर व्यास ऋषि ने बड़ी नम्रता के साथ कहा ॥ १५२ ।

व्यास बोले–

हे सुभगे ! मेरा एक नियम है, जहाँ पर उसका प्रतिपालन होता है, वहीं पर मैं भिक्षा करता हूँ, नहीं तो नहीं कर सकता ॥ १५३ ।

इस भाँति से व्यास का कथन सुनकर भगवती ने कहा कि, हे मतिमन् ! आपका जो कुछ नियम हो, उसे आप निःशंक होकर कहिये ॥ १५४ ।

क्योंकि मेरे स्वामी की कृपा से यहाँ पर किसी वस्तु की न्यूनता नहीं है । यह सुनते ही बड़े प्रसन्नचित्त से व्यास बोले ॥ १५५ ।

अयुतं मम शिष्या ये तैः सपक्तिमहं वृणे ।
अस्तं यावन्न यात्यर्कस्तावद्भोक्ष्येऽन्यथा न हि ॥ १५६ ।
निशम्येति प्रहृष्टास्या सा प्रोवाच मुनिं ततः ।
किं विलम्बेन तद्याहि सर्वान् शिष्यान् समाह्वय ॥ १५७ ।
पुनः प्राह स तां साध्वि त्वेतावत्सिद्धिरस्ति ते ।
येन तृप्तिं गमिष्यन्ति मच्छिष्याः सर्व एव ते ॥ १५८ ।
स्मित्वाऽथ साऽब्रवीत्तं तु मुने भर्तुरनुग्रहात् ।
सिद्धमेव सदैवाऽऽस्ते सर्वं तावन्ममाऽऽलये ॥ १५९ ।
यावताऽर्थिजनस्तृप्तिमेति सर्वोऽपि सर्वशः ।
वयं न तादृङ्महिला भर्तृसन्देहकारिकाः ॥ १६० ।
आयातोऽर्थी यदा गेहे सिद्धं कार्यं तदैव हि ।
परिपूर्णा दिशः सर्वाः परिपूर्णा मनोरथाः ॥ १६१ ।
परिपूर्णं गृहं सर्वं पत्युः पादप्रसादतः ।
याहि तूर्णं समायाहि यावदन्नार्थिभिः सह ॥ १६२ ।

सर्वशः सर्वप्रकारेण । तादृश्यश्च ता महिलाश्च भार्यास्तादृङ्महिलाः ॥ १६० ।

'मैं अपने दश सहस्र शिष्यों को अपने ही साथ खिलाता हूँ और सूर्य के रहते ही खा लेता हूँ, नहीं तो फिर भोजन नहीं करता' ॥ १५६ ।

इसे सुनते ही प्रसन्नमुख से उस स्त्री ने कहा–'हे मुने ! तो फिर आप विलम्ब क्यों करते हैं ? अपने सब शिष्यों को भी बुला लीजिये ' ॥ १५७ ।

फिर व्यास ने उस स्त्री से कहा–'हे साध्वि ! क्या तुम्हारी सिद्धि ऐसी है, जिससे मेरे सब शिष्यों की तृप्ति हो जावेगी' ? ॥ १५८ ।

इस पर उस स्त्री ने कुछ हँसकर कहा, 'हे महर्षे ! पतिदेव के अनुग्रह से मेरे घर में उतनी सामग्री सदैव सिद्ध ही रहती है, जितने में समस्त अर्थिजन सब प्रकार से सन्तुष्ट हो सकें । हम लोग ऐसी महिला नहीं हैं, जो पति को सन्देह में डाल देवें ॥ १५९–१६० ।

जब अतिथि घर में आ जावें, तब सामग्री सिद्ध करने लगें । स्वामी के चरणों की कृपा से मेरे लिये सब दिशाएँ भरपूर और सभी मनोरथ परिपूर्ण एवं गृह में समस्त वस्तु सुसज्जित ही रहते हैं । सो आप अभी जाइये, और चाहे जितने अन्नार्थियों को सांथ लिवा लाइये' ॥ १६१–१६२ ।

पतिर्मे बहुकालीनः कालं न सहते चिरम् ।
प्रियातिथिः प्रियतमस्तदातिथ्यसमृद्धये ॥ १६३ ।
आशु गत्वा समागच्छ यावन्नास्तमितो रविः ।
इति प्रहृष्टस्त्वरितः शिष्यानाहूय सर्वतः ॥ १६४ ।
आगत्य तां पुनः प्राह दृष्ट्वा तन्मार्गलोचनाम् ।
मातः सर्वे समायातास्त्वरितं देहि भोजनम् ॥ १६५ ।
अस्ताचलं हि समया समियादेष भास्करः ।
इत्युक्त्वा मन्दिरस्यान्तर्विविशुस्ते तपोधनाः ॥ १६६ ।
तन्मण्डपमणिज्योतिस्ततत्याहितदिनश्रियः ।
यावद् गच्छन्ति तत्सौधमध्यमाशु तपस्विनः ॥ १६७ ।
पादौ प्रक्षाल्य तावत्ते कैश्चित्कैश्चित्समर्च्य च ।
कतिचित्परिविष्टान्ना भोक्तुमेवोपवेशिताः ॥ १६८ ।

तन्मार्गलोचनां व्यासागमवर्त्मदृष्टिम् ॥ १६५ ।

समया समीपे ॥ १६६ ।

ज्योतिस्ततत्या ज्योतिषो विस्तारेणाहिता समर्पिता दिनश्रीर्येषां ते । [1]स्वर्जित-स्वर्गमाश्रियमिति पाठे सौधमध्यविशेषणम् ॥ १६७ ।

[2]**कतिचित्परिविष्टान्नाः** कतिचिद्भिर्जनैः परिविष्टमन्नं येभ्यस्ते यथा ॥ १६८ ।

क्योंकि अतिथिप्रिय मेरे पति बहुत ही वृद्ध हैं । वे (अब) बहुत विलम्ब नहीं सह सकते । इसलिये आप शीघ्र ही जाकर उनके आतिथ्यसत्कार के लिए सूर्यास्त के पहले ही आ जाइये । तब तो बड़ी प्रसन्नता से अपने सब शिष्यों को चारों ओर से (व्यास ने) बुलाया ॥ १६३–१६४ ।

वे तुरंत लौट आये और उसे अपना मार्ग जोहते देखकर कहने लगे । हे मातः ! (हम) सब लोग आ गये, अब तुरन्त भोजन दो ॥ १६५ ।

अब तो सूर्यनारायण भी अस्ताचल पर जाना ही चाहते हैं । ऐसा कहने के उपरान्त वे सब तपस्वी लोग मन्दिर के भीतर चले गये ॥ १६६ ।

भीतर पहुँचते ही वहाँ की मणियों की किरणराशि से सूर्य की शोभा को पाकर वे सब तपस्विगण ज्यों ही आँगन में पहुँचे; त्यों ही कोई तो उन लोगों के पैर धोने लगे, कोई पूजा करने लगे और कोई समस्त पकवानों को परोसकर भोजन ही कराने के लिए बैठाने लगे ॥ १६७–१६८ ।

---

1. ज्योतिषा सुतरामर्जितां स्वर्गमानां देवानामनिशयिता श्रीर्येन तम् ।
2. अत्र कतिभिर्जनैरित्यपेक्षितमिति भाति ।

तद्दिव्यपाकसम्भारान् दृष्ट्वा तद्‌दृष्टयः क्षणात् ।
परां तृप्तिमुपागच्छन् घ्राणन्यामोदराजिभिः ॥ १६९ ।
अतितृप्तिं समापन्नास्ते तदन्ननिषेवणात् ।
आचान्ताश्चन्दनैः स्रग्भिरम्बरैः परिभूषिताः ॥ १७० ।
अथ सान्ध्यं विधिं कृत्वा प्रोपविश्य तदग्रतः ।
अभिनन्द्य महाशीर्भिर्यावद्‌गन्तुं प्रचक्रमुः ॥ १७१ ।
तावद् वृद्धगृहस्थेन गृहिणी सा कटाक्षिता ।
पप्रच्छ तीर्थे वसतां को धर्मो मुख्य एव हि ॥ १७२ ।
तथा तदनुसारेण तीर्थे वर्तामहे वयम् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठः श्रुत्वा तद्‌गृहिणीवचः ॥ १७३ ।
तदादरसुधाक्लिन्नमहान्नस्वादतर्पितः ।
प्रत्युवाच मुनिर्व्यासः स्मित्वा तां सर्ववित्तमाम् ॥ १७४ ।

घ्राणेन्द्रियहिता घ्राणन्यस्ताश्च आमोदराजयश्च ताभिः । घ्राणनेति क्वचित् । तत्र घ्राणानमाघ्राणम् ॥ १६९ ।

तदग्रतः गृहस्थाग्रतः ॥ १७१ ।

कटाक्षिता कटाक्षेण प्रेरिता ॥ १७२ ।

तदिति । तस्या भवान्या आदररूपसुधैव क्लिन्नं सुपक्वं यन्महान्नम् । यद्वाऽऽदरसुधया क्लिन्नमार्द्रं तत्पूर्वकं यन्महान्नमित्यर्थः । तस्य यः स्वादस्तेन तर्पित इति ॥ १७४ ।

वे सब लोग उन सब उत्तमोत्तम व्यंजनों को देख तथा उनके दिव्य सुगन्धों को सूँघते ही क्षणमात्र में सन्तुष्ट हो गये ॥ १६९ ।

फिर उन पकवानों के भोजन करने से असीम तृप्ति को प्राप्त हुए । तदनन्तर हाथ-मुँह धोकर चन्दन, माला, वस्त्र इत्यादि से भूषित होने पर सायंकाल की संध्या इत्यादि करके गृहस्वामी के सन्मुख बैठकर बहुतेरे आशीर्वादों से अभिनन्दन करते हुए ज्यों ही जाने का उपक्रम करने लगे, त्यों ही वृद्ध गृहस्थ ने गृहिणी की ओर ताककर प्रेरित कर दिया । तब उस वृद्धा ने पूछा कि, तीर्थ में वास करनेवालों का मुख्य धर्म क्या है ? ॥ १७०-१७२ ।

हम लोग उसी के अनुसार इस तीर्थ में बर्ताव करें । धर्मज्ञश्रेष्ठ वेदव्यास ने गृहिणी के प्रश्न को सुना ॥ १७३ ।

तदनन्तर उसके अपूर्व सादर आतिथ्यसत्कार से सन्तुष्ट होने के कारण प्रसन्नतापूर्वक कुछ हँसकर उस परमसर्वज्ञा गृहिणी से कहने लगे ॥ १७४ ।

व्यास उवाच–

स्वच्छान्तःकरणे मातर्महामिष्टान्नमानदे ।
स एष धर्मो नाऽन्योऽस्ति यत्त्वया परिचर्यते ॥ १७५ ।
त्वमेव धर्मं जानासि पतिशुश्रूषणे रता ।
यदि पृच्छसि मां सत्यं तदा किञ्चन वच्मि ते ॥ १७६ ।
वक्तव्यमेव पृष्टेन मनागपि विजानता ।
स एव धर्मः सुभगे नाऽन्यो धर्मोऽस्ति कश्चन ॥ १७७ ।
येनैष तोषमायाति तव भर्ता चिरन्तनः ।

गृहिण्युवाच–

अयं धर्मो भवेन्नूनं क्रियते च स्वशक्तितः ॥ १७८ ।
साधारणानि धर्माणि सम्पृच्छे तानि मे वद ।

व्यास उवाच–

अनुद्वेगकरं वाक्यं परोत्कर्षसहिष्णुता ॥ १७९ ।
विचार्य कारिता नित्यं स्वधिष्ण्योदयचिन्तनम् ।

मिष्ठान्नं च मानश्चेति द्वन्द्वः ॥ १७५ ।

व्यास ने कहा–

हे स्वच्छहृदये! मातः! तुमने हम लोगों को परमोत्तम मिष्ठान्न खिलाकर बड़ा सत्कार किया है । हे देवि ! जो कुछ कार्य तुम करती हो, वही धर्म है, उससे भिन्न कोई दूसरा धर्म नहीं है ॥ १७५ ।

पतिदेव की सेवा में तत्पर रहने से धर्म का मर्म तुम्हीं समझती हो, पर यदि सचमुच मुझसे पूछती ही हो, तो जो बन पड़ेगा, मैं भी तुमसे कहता हूँ ॥ १७६ ।

क्योंकि पूछने पर यदि कुछ भी जानता रहे तो उसे कहना ही उचित है । हे सुभगे! जिसमें आपके ये बूढ़े पति सन्तुष्ट रहें, वही एकमात्र धर्म है, तद्भिन्न कोई दूसरा धर्म नहीं है ।

गृहिणी ने कहा–

हे मुने ! यह धर्म निश्चय ही ठीक है और यथाशक्ति किया भी जाता है ॥ १७७-१७८ ।

परन्तु मैं आपसे साधारण धर्मों को पूछती हूँ । आप उनको मुझसे कहें ।

व्यास बोले–

ऐसी बात कहना, जिसमें किसी को कुछ क्लेश न हो, दूसरे की उन्नति देखकर उस पर ईर्ष्या न करना, सर्वदा सब कामों को भलीभाँति विचारपूर्वक करना और अपने गृह की उन्नति का सोचना (ये ही साधारण धर्म हैं) ॥ १७९ ।

दोहा– मधुर वचन नित बोलिए, कभू करिय मत डाह ।
सदा विचारिय काज सब, निज गृह उन्नति चाह' ॥

गृहस्थ उवाच–

एषु धर्मेषु भो विद्वंस्त्वयि कोऽस्तीह तद्वद ॥ १८० ।
ततः स्थगितवद् व्यासस्तस्थौ किञ्चिन्न चोक्तवान् ।
ततः पुनर्गृहस्थेन स हि प्रोक्तस्तपोधनः ॥ १८१ ।
यद्येत एव वै धर्मास्त्वया ये प्रतिपादिताः ।
तद्दान्तता तवैवैक्षि दानं शापस्य चोत्तमम् ॥ १८२ ।
त्वय्येव हि दया सम्यग् धैर्यं त्वय्येव चोत्तमम् ।
त्वयि सम्भावनाऽस्त्येव कामक्रोधविनिग्रहे ॥ १८३ ।
त्वमेव सम्यग् जानीषे वक्तुं चोद्वेगवर्जितम् ।
त्वय्येव सम्यग् दृश्येत परोत्कर्षसहिष्णुता ॥ १८४ ।
विचार्य कारितायाश्च त्वमेव निलयो महान् ।
स्वस्य धिष्ण्यस्य च भवांश्चिन्तयेदुदयं ध्रुवम् ॥ १८५ ।

तत्तेषु धर्मेषु । ऐक्षि दृष्टा । दानं च ऐक्षीत्यन्वयः । तदत्र तावन्नैक्षिष्टेति क्वचित्पाठः ॥ १८२ ।

गृहस्थ (बाबा) ने कहा–

हे विद्वान्! इन सब धर्मों में कौन-सा धर्म आपमें है, उसे तो यहाँ (पर) कह सुनाइये ॥ १८० ।

तब तो व्यास जी स्तब्ध से रह गये और कुछ भी उत्तर नहीं दे सके । इसके अनन्तर गृहस्थ ने फिर उस तपोधन से कहा ॥ १८१ ।

यदि तुम इन्हीं सब को धर्म मानते हो, जिनको अभी कहा है, तब तो शाप का उत्तम दान देकर तुमने अपनी दान्तता को भले ही (स्पष्ट कर) दिखा दिया ॥ १८२ ।

दया और धीरता की पराकाष्ठा तुम्हीं में है, फिर काम और क्रोध को बाँध रखना तुम्हारा ही काम है ॥ १८३ ।

और उद्वेगरहित बात बोलने का ढंग तो तुम्हीं जानते हो, हाँ, दूसरे की बढ़ती देखकर प्रसन्न होने की (निराली) छटा भी तुम्हीं में दिखाई देती है ॥ १८४ ।

फिर विचारकारिता के तो एकमात्र तुम्हीं कोशागार हो । अपने गृह के उदय का चिन्तन, वह तो मानो आप ही के आश्रित है ॥ १८५ ।

ममैकं ब्रूहि भो विद्वन् शापं दद्याच्च यः क्रुधा ।
अलभन् स्वार्थसंसिद्धिमभाग्यात्तस्य कस्य सः ॥ १८६ ।

व्यास उवाच–

यः स्वार्थसिद्धिमलभन्नभाग्याच्छपति क्रुधा ।
स शापः प्रत्युत भवेच्छप्तुरेवाऽविवेकिनः ॥ १८७ ।

गृहस्थ उवाच–

भवता भ्रमता विप्र नाप्ता भिक्षा यदाप्यहो ।
तदापराद्धं किमिह वराकैः क्षेत्रवासिभिः ॥ १८८ ।
तपस्विन् शृणु मे वाक्यं राजधान्यां ममेह यः ।
ऋद्धिं द्रष्टुं न शक्नोति परिशप्तः स एव हि ॥ १८९ ।
अद्यप्रभृति न क्षेत्रे मदीये शापवर्जिते ।
आवस क्रोधनमुने न वासे योग्यताऽत्र ते ॥ १९० ।

तस्य स शापः कस्य स्यादित्यर्थः । कस्याभाग्यात्मकस्य[1] स इति क्वचित् । अभाग्यात्स्वस्येति चान्यत्र ॥ १८६ ।

शापवर्जिते दत्तोऽपि शापोऽत्र न प्रभवतीत्यर्थः ॥ १९० ।

अच्छा, हे विद्वन् ! मेरी एक बात का तो उत्तर दो । यदि कोई अभाग्यवश स्वार्थ की सिद्धि के नहीं पाने पर क्रोध करके शाप दे देवे, तो वह शाप किस पर पड़ता है ? ॥ १८६ ।

व्यास ने कहा–

जो कोई दुराग्रहवश अपने कार्य के सिद्ध नहीं होने से क्रोध करके शाप दे बैठता है, वह शाप उस अविवेकी दाता ही पर पड़ता है ॥ १८७ ।

गृहस्थ बोले–

अहो विप्र! यदि (बहुत) घूमने-फिरने पर भी आपको भिक्षा नहीं मिली, तो भला इसमें बिचारे क्षेत्रवासियों ने आपका क्या अपराध किया ? ॥ १८८ ।

हे तपोधन! मेरी बात सुनो, जो कोई मेरी इस राजधानी में दूसरे की सम्पत्ति को नहीं देख सकता, वह तो स्वयं शापग्रस्त है ॥ १८९ ।

हे कोपनमुने! शापशून्य मेरे इस क्षेत्र में आज से तुम मत रहो, क्योंकि यहाँ बसने की तुम्हारी योग्यता नहीं है ? ॥ १९० ।

---

1. अभाग्यात्मकस्य स शापः कस्येत्यर्थः ।

इदानीमेव निर्गच्छ बहिः क्षेत्रादितो भव ।
त्वद्विधानां न योग्यं मे क्षेत्रं मोक्षैकसाधनम् ॥ १९१ ।
अत्राऽल्पमपि यद्दौष्ट्यं कृतं मत्क्षेत्रवासिनाम् ।
तद्दौष्ट्यस्य परीपाको रुद्रपैशाच्यमेव हि ॥ १९२ ।
तच्छ्रुत्वा वेपमानः स परिशुष्कौष्ठतालुकः ।
जगाम शरणं गौरीं लुठंस्तच्चरणाऽग्रतः ॥ १९३ ।
उवाच च वचो मातस्त्राहि त्राहि भृशं रुदन् ।
अनाथस्त्वत्सनाथोऽहं बालिशस्तव बालकः ॥ १९४ ।
शरणागतं च संत्राहि रक्ष मां शरणागतम् ।
बहूनामागसां गेहमस्माकं दुष्टमानसम् ॥ १९५ ।
शम्भुशापोऽन्यथा कर्तुं भवत्याऽपि न शक्यते ।
अहं च शरणायातस्तदेकं क्रियतां शिवे ॥ १९६ ।

त्वद्विधानामित्ययं भावः । अत्रत्यैः कामक्रोधादिरहितैर्भाव्यमिति ॥ १९१ ।

तुम अभी इस क्षेत्र से बाहर चले जाओ । तुम्हारे ऐसे लोगों के रहने योग्य मोक्षसाधक मेरा यह क्षेत्र (कभी) नहीं हो सकता ॥ १९१ ।

मेरे इस क्षेत्र के निवासियों से जो कोई थोड़ी-सी भी दुष्टता करता है, उस अत्याचार के फल से उसे रुद्रपिशाच ही होना पड़ता है ॥ १९२ ।

इस वचन के सुनते ही व्यास जी का तालु और ओठ चटकने लगा । वे बिचारे थर-थर काँपते हुए भगवती के शरणागत होकर उनके चरणों के आगे लोटने लगे ॥ १९३ ।

और बहुत ही रो-रो कर यह कहने लगे– 'हे मातः ! मुझ अनाथ और अज्ञानी बालक को सनाथ करके रक्षा करो और बचा लो ॥ १९४ ।

हे जननि ! हम लोगों का दुष्ट हृदय बहुतेरे अपराधों का भवन है, अतएव मुझ शरणागत की रक्षा करो, मैं आज आपका शरणागत हूँ । मुझ पर दया करो ॥ १९५ ।

हे शिवे! यद्यपि महादेव के शाप को अन्यथा कर देने की शक्ति किसी में भी नहीं, पर मैं आपका शरणागत हूँ, अतएव इस दास पर दया करके ऐसा कर दो ॥ १९६ ।

प्रत्यष्टमि सदा क्षेत्रे प्रतिभूतं च पार्वति ।
दिश प्रवेशनाऽऽदेशं नेशस्त्वद्वाक्यलङ्घकः ॥ १९७ ।
इत्युक्ता तेन मुनिना भवानी करुणाजनिः ।
मुखं महेशितुर्वीक्ष्य तथेत्याह तदाज्ञया ॥ १९८ ।
अथाऽन्तर्हितवन्तौ तौ शिवौ क्षेत्रशिवङ्करौ ।
व्यासोऽपि निर्ययौ क्षेत्रात् स्वापराधवशंवदन् ॥ १९९ ।
अहोरात्रं स पश्यन् वै क्षेत्रं दृष्टेरदूरगम् ।
प्राप्याऽष्टमीं च भूतां च मध्येक्षेत्रं सदा विशेत् ॥ २०० ।
लोलार्कादग्निदिग्भागे स्वर्धुनीपूर्वरोधसि ।
स्थितो ह्यद्यापि पश्येत् स काशीप्रासादराजिकाम् ॥ २०१ ।

प्रतिभूतं प्रतिचतुर्दशि ॥ १९७ ।
स्वश्चासौ अपराधवशश्च तमात्मानं वदतीति तथा । छान्दसो लुगभावः । स्वापराधं च संवदन्निति क्वचित् ॥ १९९ ।
रोधसि तीरे ॥ २०१ ।

जिसमें प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को मैं सदैव इस क्षेत्र में प्रवेश कर सकूँ । हे पार्वती ! भगवान् शंकर भी आप की बात नहीं टालेंगे' ॥ १९७ ।

व्यास की विनती सुनकर करुणामयी अन्नपूर्णा देवी ने विश्वनाथ स्वामी के मुख की ओर ताककर उनकी आज्ञानुसार व्यास से "तथास्तु" कह दिया ॥ १९८ ।

तदनन्तर वे दोनों ही क्षेत्र के मंगलकारक महादेव और पार्वती अन्तर्धान हो गये और व्यास भी अपने ही अपराध को कहते हुए अष्टमी और चतुर्दशी आने पर क्षेत्र के भीतर सदैव प्रवेश करते हैं ॥ २०० ।

लोलार्क से अग्निकोण में गंगा के पूर्व तट पर बैठे रहकर वे आज तक (सदैव) काशी के मन्दिरराजि की शोभा को देखते रहते हैं ॥ २०१ ।

स्कन्द उवाच–

इत्थं कुम्भज स व्यासः क्षेत्रे शापं प्रदास्यति ।
क्षेत्रशापप्रदानाच्च बहिर्यास्यति तत्क्षणात् ॥ २०२ ।
अत एवाविमुक्तस्य क्षेत्रस्य शुभशंसिनः ।
भविष्यति शुभं नित्यमन्यथा त्वन्यथैव हि ॥ २०३ ।
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं व्यासशापविमोक्षणम् ।
महादुर्गोपसर्गेभ्यो भयं तस्य न कुत्रचित् ॥ २०४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे व्यासशापविमोक्षणं नाम षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ।

आख्यानतात्पर्यमाह – अत इति ॥ २०३ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ।

स्कन्द बोले–

हे कुंभजमुने! इस प्रकार से महर्षि वेदव्यास उस क्षेत्र में शाप देवेंगे और उसी कारण से तुरत आप क्षेत्र से बाहर हो जावेंगे ॥ २०२ ।

इसलिए जो कोई अविमुक्तक्षेत्र का भला चाहेगा, उसका सदैव भला ही होगा । इसके विरुद्ध करने से विपरीत ही फल मिलेगा ॥ २०३ ।

जिसके कर्णकुहर में यह व्यास-शापविमोक्षण नामक पवित्र अध्याय प्रवेश करेगा, उसे कभी बड़े-से-बड़े उपसर्गों का भी भय नहीं होने पावेगा ॥ २०४ ।

सोरठा– रामनगर एक ठाम, पुर ते गंगापार में ।
तहँ व्यास को धाम, काशिराज के दुर्ग में ॥ १ ।
तहँ मेला विख्यात, होत माघ के मास भर ।
व्यास दरस हित जात, काशीवासी नारि-नर ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ।

●

॥ अथ सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥

अगस्त्य उवाच–

एतद् भविष्यं श्रुत्वाऽहं व्यासस्य शिवनन्दन ।
आश्चर्यभाजनं जातस्तीर्थानि कथयाऽधुना ॥ १ ।
आनन्दकानने यानि यत्र सन्ति षडानन ।
तानि लिङ्गस्वरूपाणि समाचक्ष्व ममाऽग्रतः ॥ २ ।

स्कन्द उवाच–

अयमेव हि वै प्रश्नो देव्यै देवेन भो तदा ।
यादृशः कथितो वच्मि तादृशं शृणु कुम्भज ॥ ३ ।

देव्युवाच–

यानि यानि हि तीर्थानि यत्र यत्र महेश्वर ।
तानि तानीह मे काश्यां तत्र तत्र वद प्रभो ॥ ४ ।

देवदेव उवाच–

शृणु देवि विशालाक्षि तीर्थं लिङ्गमुदाहृतम् ।
जलाशयेऽपि तीर्थाख्या जाता मूर्तिपरिग्रहात् ॥ ५ ।

सप्तभिः सहितेऽध्याये नवत्याख्ये मनोहरे ।
वर्णनं क्षेत्रतीर्थानां क्रियते सर्वपापनुत् ॥ १ ।
हे विशालाक्षि ! तर्हि जलाशयादेः कथं तीर्थत्वं तत्राह–**जलाशय इति** ॥ ५ ।

(क्षेत्र के (लिंगरूप) तीर्थों का वर्णन)

अगस्त्य बोले–

हे शिवनन्दन ! वेदव्यास की इस भविष्य घटना के सुनने से मैं बड़ा ही आश्चर्यान्वित हुआ । हे षडानन ! अब आप आनन्दकानन में जिन-जिन स्थानों पर जो-जो लिंगस्वरूप तीर्थ हैं, उनका (भी) मुझसे वर्णन कीजिए ॥ १-२ ।

स्कन्द ने कहा–

हे कुंभयोने ! भगवती के पूछने पर भगवान् ने इस विषय में जो कहा था, उसे ज्यों का त्यों कहता हूँ । श्रवण करो ॥ ३ ।

देवी ने कहा–

हे प्रभो ! महेश्वर ! इस काशीधाम में जहाँ-जहाँ पर जो-जो तीर्थ हैं, आप उन सबको यथास्थान मुझसे कीर्तन कीजिये ॥ ४ ।

देवदेव ने उत्तर दिया–

हे विशालाक्षि ! (तुमने जो पूछा है, उसे मैं कहता हूँ) सुनो । हे देवि ! सभी लिंग तीर्थ कहे जाते हैं और इन्हीं मूर्तियों ही के सम्बन्ध से जलाशय भी तीर्थ के नाम से कहे गये हैं ॥ ५ ।

मूर्तयो ब्रह्मविष्ण्वर्कशिवविघ्नेश्वरादिकाः ।
लिङ्गं शैवमिति ख्यातं यत्रैतत्तीर्थमेव तत् ॥ ६ ।
वाराणस्यां महादेवः प्रथमं तीर्थमुच्यते ।
तदुत्तरे महाकूपः सारस्वतपदप्रदः ॥ ७ ।
क्षेत्रपूर्वोत्तरे भागे तद्दृष्टं पशुपाशहृत् ।
तत्पश्चाद्विग्रहवती पूज्या वाराणसी नरैः ॥ ८ ।
सा पूजिता प्रयत्नेन सुखवस्तिप्रदा सदा ।
महादेवस्य पूर्वेण गोप्रेक्षं लिङ्गमुत्तमम् ॥ ९ ।
तद्दर्शनाद् भवेत्सम्यग्गोदानजनितं फलम् ।
गोलोकात्प्रेषिता गावः पूर्वं यच्छम्भुना स्वयम् ॥ १० ।

---

[1]मूर्तीनामधिष्ठानादित्युक्तं ता मूर्तीरेव दर्शयति—**मूर्तय इति** । शैवं शिवसम्बन्धि-मूर्तिरूपं लिङ्गमित्यन्वयः ॥ ६ ।

पशवो जीवास्तेषां पाशाश्चतुर्विंशतितत्त्वानि तद्धृत् ॥ ८ ।

ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, शिव और गणेशादिक देवताओं की तो मूर्तियाँ होती हैं, पर शिव का लिंग ही प्रसिद्ध है । फिर ये सब जहाँ रहते हैं, वहीं तीर्थ कहाता है ॥ ६ ।

इस वाराणसीपुरी में प्रथम तीर्थ तो **महादेव** ही हैं । उनके उत्तर ओर सारस्वत पद का देनेवाला एक बड़ा भारी कूप है ॥ ७ ।

क्षेत्र के पूर्वोत्तर भाग में अवस्थित उस कूप का दर्शन करने से मनुष्य पशु-पाश से मुक्त हो जाता है । उसके पिछवाड़े मूर्तिमती वाराणसी देवी विराजमान हैं ॥ ८ ।

वह लोगों से पूजित होने पर सुखपूर्वक सदा निवास का दान करती हैं । महादेव के पूर्व **गोप्रेक्ष** नामक उत्तम लिंग अवस्थित है ॥ ९ ।

उसके दर्शन करने से गोदान का सम्पूर्ण फल होता है । पूर्वकाल में भगवान् शंकर ने स्वयं गोलोक से गायों को यहाँ भेजा था ॥ १० ।

---

1. मूर्तिपरिग्रहादित्यस्य फलितार्थकथनमिदम् ।

वाराणसीं समायाता गोप्रेक्षं तत्ततः स्मृतम् ।
गोप्रेक्षाद्दक्षिणे भागे दधीचीश्वरसंज्ञितम् ॥ ११ ।
तद्दर्शनाद् भवेत्पुंसां फलं यज्ञसमुद्भवम् ।
अत्रीश्वरं तु तत्प्राच्यां मधुकैटभपूजितम् ॥ १२ ।
लिङ्गं दृष्ट्वा प्रयत्नेन वैष्णवं पदमृच्छति ।
गोप्रेक्षात्पूर्वदिग्भागे लिङ्गं वै विज्वरं स्मृतम् ॥ १३ ।
तस्य सम्पूजनान्मर्त्यो विज्वरो जायते क्षणात् ।
प्राच्यां वेदेश्वरस्तस्य चतुर्वेदफलप्रदः ॥ १४ ।
वेदेश्वरादुदीच्यां तु क्षेत्रज्ञश्चादिकेशवः ।
दृष्टं त्रिभुवनं सर्वं तस्य सन्दर्शनाद्ध्रुवम् ॥ १५ ।
सङ्गमेश्वरमालोक्य तत्प्राच्यां जायतेऽनघः ।
चतुर्मुखेन विधिना तत्पूर्वेण चतुर्मुखम् ॥ १६ ।
प्रयागसंज्ञकं लिङ्गमर्चितं ब्रह्मलोकदम् ।
तत्र शान्तिकरी गौरी पूजिता शान्तिकृद् भवेत् ॥ १७ ।

शम्भुप्रेषितगोभिः प्रेक्ष्यत इति **गोप्रेक्षम्** ॥ ११ ।
तस्य प्राच्यां **वेदेश्वर** इत्यन्वयः ॥ १४ ।
क्षेत्रज्ञ ईश्वरः ॥ १५ ।
विधिना स्थापितमिति शेषः ॥ १६ ।

और वे सब काशी में आईं । अतएव उस लिंग का नाम **गोप्रेक्ष** पड़ा है । गोप्रेक्ष के दक्षिणभाग में **दधीचीश्वर** नामक लिंग है ॥ ११ ।

उसके दर्शन से लोगों को यज्ञ करने का फल होता है । उसके भी पूर्व मधुकैटभ के पूजित **अत्रीश्वर** सुशोभित हैं ॥ १२ ।

प्रयत्नपूर्वक उस लिंग के अवलोकन से विष्णुलोक की प्राप्ति होती है; गोप्रेक्ष के पूर्व भाग में **विज्वर** नामक लिंग है ॥ १३ ।

उसके पूजन करने से मनुष्य क्षणभर में ज्वर से रहित हो जाता है । उससे भी पूर्व चारों वेदों के फलदाता **वेदेश्वर** विराजित हैं ॥ १४ ।

पूर्वोक्त **वेदेश्वर** से उत्तर क्षेत्रज्ञाता **आदिकेशव** हैं । उनके दर्शन से त्रैलोक्य मात्र के दर्शन का पुण्य अवश्य होता है ॥ १५ ।

उनसे पूर्व की ओर **संगमेश्वर** लिंग के दर्शन से निष्पापता होती है, उसके भी पूर्व चतुर्मुख ब्रह्मा का स्थापित **चतुर्मुख प्रयाग** नामक लिंग है । उसकी पूजा करने से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है । वहीं पर शान्तिकरी **गौरी भी** हैं, जो पूजन ही से शान्ति कर देती हैं ॥ १६-१७ ।

वरणायास्तटे पूर्वे पूज्यं कुन्तीश्वरं नृभिः ।
तत्पूजनात् प्रजायन्ते पुत्रा निजकुलोज्ज्वलाः ॥ १८ ।
कुन्तीश्वरादुत्तरतस्तीर्थं वै कापिलो ह्रदः ।
तत्र वै स्नानमात्रेण वृषभध्वजपूजनात् ॥ १९ ।
राजसूयस्य. यज्ञस्य फलं त्वविकलं भवेत् ।
रौरवादिषु ये केचित् पितर कोटिसम्मिताः ॥ २० ।
तत्र श्राद्धे कृते पुत्रैः पितृलोकं प्रयान्ति ते ।
आनुसूयेश्वरं लिङ्गं गोप्रेक्षादुत्तरे मुने ॥ २१ ।
तद्दर्शनाद्र भवेत्स्त्रीणां पातिव्रत्यफलं स्फुटम् ।
तल्लिङ्गपूर्वदिग्भागे पूज्यः सिद्धिविनायकः ॥ २२ ।
यां सिद्धिं यः समीहेत स तामाप्नोति तन्नतेः ।
हिरण्यकशिपोर्लिङ्गं गणेशात्पश्चिमे ततः ॥ २३ ।

कुन्तीश्वरं पृथया स्थापितम् । कुम्भीश्वरमिति क्वचित् ॥ १८ ।
रौरवादिषु आदिशब्देन महारौरवादयो गृह्यन्ते ॥ २० ।
यां सिद्धिमभीष्टां सिद्धिम् । तन्नतेः तस्य नमस्कारतः ॥ २३ ।

वरणा के पूर्वतट पर **कुन्तीश्वर** हैं । वे पूजन करने से कुल के उज्ज्वल करने वाले पुत्रों को (उत्पन्न कर) देते हैं ॥ १८ ।

कुन्तीश्वर से उत्तर **कपिलधारा** नामक एक बड़ा तीर्थ है । वहाँ पर स्नान करके **वृषभध्वज** की अर्चना करने से ही राजसूय यज्ञ करने का पूरा-पूरा फल मिल जाता है । और वहाँ पर श्राद्ध करने से तो रौरवादिक नरकों में पड़े हुए करोड़ों पितर पितृलोक में चले जाते हैं । हे मुने ! **गोप्रेक्ष** ही के उत्तरभाग में **अनुसूयेश्वर लिंग** भी है ॥ १९-२१ ।

उसके दर्शन से स्त्रियों को निःसन्देह पातिव्रत्य का फल लाभ होता है । उस लिंग के पूर्वभाग में **सिद्धिविनायक** का पूजन करना चाहिए ॥ २२ ।

उनके प्रणाम ही करने से जो कोई जिस सिद्धि को चाहे, उसे वही प्राप्त होती है । उन गणेश से पश्चिम की ओर हिरण्यकशिपु का स्थापित एक लिंग है ॥ २३ ।

हिरण्यकूपस्तत्राऽस्ति [1]हिरण्याश्वसमृद्धिकृत् ॥ २४ ।
मुण्डासुरेश्वरं लिङ्गं तत्प्रतीच्यां च सिद्धिदम् ।
अभीष्टदं तु नैर्ऋत्यां गोप्रेक्षाद् वृषभेश्वरम् ॥ २५ ।
मुने स्कन्देश्वरं लिङ्गं महादेवस्य पश्चिमे ।
तल्लिङ्गपूजनान्नृणां भवेन्मम सलोकता ॥ २६ ।
तत्पार्श्वतो हि शाखेशो विशाखेशश्च तत्र वै ।
नैगमेयेश्वरस्तत्र येऽन्ये नन्द्यादयो गणाः ॥ २७ ।
तेषामपि हि लिङ्गानि तत्र सन्ति सहस्रशः ।
तद्दर्शनाद् भवेत्पुंसां तत्तद्गणसलोकता ॥ २८ ।
नन्दीश्वरात्प्रतीच्यां च शिलादेशः कुधीहरः ।
महाबलप्रदस्तत्र हिरण्याक्षेश्वरः शुभः ॥ २९ ।

मम स्कन्दस्य सलोकता समानलोकता ॥ २६ ।

और वहीं पर एक **हिरण्यकूप** भी है, वह हिरण्य और अश्वों की सम्पत्ति को देता है ॥ २४ ।

उसके भी पश्चिम सिद्धिप्रद **मुंडासुरेश्वर** नामक लिंग है । एवं गोप्रेक्ष से नैर्ऋत्य कोण पर अभीष्टदायक **वृषभेश्वर** लिंग भी (विराजित है) ॥ २५ ।

हे मुनिनायक ! महादेव के पश्चिम (मेरा स्थापित किया हुआ) **स्कन्देश्वर** नामक लिंग है । उस लिंग के पूजन करने से लोगों को मेरे लोक में वास मिलता है ॥ २६ ।

उसके पास में ही वहीं पर **शाखेश्वर** और **विशाखेश्वर** नामक तथा **नैगमेयेश्वर** लिंग भी है, एवं जो नन्दी इत्यादि शिव के गणलोग हैं, उन सबके स्थापित सहस्रों और भी लिंग वहाँ पर शोभित हैं । उन सबके दर्शन से उन्हीं-उन्हीं गणों के लोकों की प्राप्ति होती है ॥ २७-२८ ।

नन्दीश्वर के पश्चिम कुबुद्धिनाशक **शिलादेश्वर** हैं और वहीं पर महाबलप्रद शुभमय **हिरण्याक्षेश्वर** भी हैं ॥ २९ ।

---

1. हिरण्यान्नेति वा पाठः ।

तद्दक्षिणेऽट्टहासाख्यं लिङ्गं सर्वसुखप्रदम् ।
प्रसन्नवदनेशाख्यं लिङ्गं तस्योत्तरे शुभम् ॥ ३० ।
प्रसन्नवदनस्तिष्ठेद् भक्तस्तद्दर्शनाच्छुभात् ।
तदुत्तरे प्रसन्नोदं कुण्डं नैर्मल्यदं नृणाम् ॥ ३१ ।
प्रतीच्यामट्टहासस्य मित्रावरुणनामनी ।
लिङ्गे तल्लोकदे पूज्ये महापातकहारिणी ॥ ३२ ।
नैऋत्यां चाऽट्टहासस्य वृद्धवासिष्ठसंज्ञकम् ।
लिङ्गं तत्पूजनात्पुंसां ज्ञानमुत्पद्यते महत् ॥ ३३ ।
वसिष्ठेशसमीपस्थः कृष्णेशो विष्णुलोकदः ।
तद्याम्यां याज्ञवल्क्येशो ब्रह्मतेजोविवर्धनः ॥ ३४ ।
प्रह्लादेश्वरमभ्यर्च्य तत्पश्चाद् भक्तिवर्धनम् ।
स्वयं लीनः शिवो यत्र भक्तानुग्रहकाम्यया ॥ ३५ ।
अतः स्वलीनं तत्पूर्वे लिङ्गं पूज्यं प्रयत्नतः ।
सदैव ज्ञाननिष्ठानां परमानन्दमिच्छताम् ॥
या गतिर्विहिता तेषां स्वलीने सा तनुत्यजाम् ॥ ३६ ।

उससे दक्षिण की ओर सब सुखों को देनेवाला **अट्टहाससंज्ञक** लिंग है । और उसके उत्तर शुभप्रद **प्रसन्नवदनेश्वर** नामक लिंग है ॥ ३० ।

जो भक्त उसका दर्शन करे, वह सदैव प्रसन्नवदन ही रहता है । फिर उसी के उत्तर ओर **प्रसन्नोद**(क) नामक लोगों को निर्मलता देनेवाला एक कुण्ड है ॥ ३१ ।

उक्त **अट्टहास लिंग** के पश्चिम **मित्रावरुण** नामक महापातकहारी दो लिंग विराजित हैं, उनके पूजन करने से उन्हीं के लोकों में वास मिलता है ॥ ३२ ।

फिर अट्टहास के नैर्ऋत्य कोण पर **वृद्धवासिष्ठ** संज्ञक लिंग है । उसकी पूजा करने से लोगों को बड़ा भारी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ ३३ ।

वसिष्ठेश्वर के समीप ही में विष्णुलोक के दाता **कृष्णेश्वर** और उनके दक्षिण ब्रह्मतेज़ के वर्द्धक **याज्ञवल्क्येश्वर** हैं ॥ ३४ ।

उसके पीछे की ओर भक्तिवर्धन **प्रह्लादेश्वर** लिंग है । वहाँ पर भगवान् शिव भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से स्वयं लीन हुए हैं ॥ ३५ ।

अतएव **प्रह्लादेश्वर** से पूर्व **स्वलीन** नामक लिंग प्रयत्नपूर्वक पूजन ही के योग्य है, क्योंकि परमानन्द के चाहने वाले ज्ञाननिष्ठ लोगों की जो गति होती है, स्वलीन के समीप में शरीर त्यागने वाले को भी सदैव वही गति मिलती है ॥ ३६ ।

वैरोचनेश्वरं लिङ्गं स्वलीनात्पुरतः स्थितम् ।
तदुत्तरे बलीशं च महाबलविवर्धनम् ॥ ३७ ।
तत्रैव लिङ्गं बाणेशं पूजितं सर्वकामदम् ।
चन्द्रेश्वरस्य पूर्वेण लिङ्गं विद्येश्वराभिधम् ॥ ३८ ।
सर्वविद्याः प्रसन्नाः स्युस्तस्य लिङ्गस्य सेवनात् ।
तद्दक्षिणे तु वीरेशो महासिद्धिविधायकः ॥ ३९ ।
तत्रैव विकटा देवी सर्वदुःखौघमोचनी ।
पञ्चमुद्रं महापीठं तज्ज्ञेयं सर्वसिद्धिदम् ॥ ४० ।
तत्र जप्ता महामन्त्राः क्षिप्रं सिद्ध्यन्ति नाऽन्यथा ।
तत्पीठे वायुकोणे तु सम्पूज्यः सगरेश्वरः ॥ ४१ ।
तदर्चनादश्वमेधफलं त्वविकलं भवेत् ।
तदीशाने च वालीशस्तिर्यग्योनिनिवारकः ॥ ४२ ।
महापापौघविध्वंसी सुग्रीवेशस्तदुत्तरे ।
हनूमदीश्वरस्तत्र ब्रह्मचर्यफलप्रदः ॥ ४३ ।

अविकलं समग्रम् ॥ ४२ ।

स्वलीन लिंग के सन्मुख ही **वैरोचनेश्वर** लिंग स्थित है और उसके उत्तर भाग में महाबलवर्धक **बलीश्वर** लिंग है ॥ ३७ ।

एवं वहीं पर पूजक लोगों को वांछित फल देनेवाला **बाणेश्वर** लिंग भी विराजमान है । चन्द्रेश्वर से पूर्व ओर एक **विद्येश्वर** नामक लिंग है ॥ ३८ ।

उस लिंग के सेवन करने से सब विद्याएँ प्रसन्न रहती हैं, उसके दक्षिण भाग में **महासिद्धि-विधायक वीरेश्वर** लिंग है ॥ ३९ ।

वहीं पर समस्त दुःखमोचनी **विकटादेवी** भी हैं, वह स्थान सर्वसिद्धिदायक **पंचमुद्र नामक महापीठ** है ॥ ४० ।

वहाँ पर कैसे भी बड़े मंत्रों को ज़पे, वे बहुत ही शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । उस स्थान के वायुकोण पर **सगरेश्वर** नामक लिंग परम-पूजनीय है ॥ ४१ ।

उसके पूजन करने से अश्वमेध यज्ञ का पूरा-पूरा फल प्राप्त होता है, उससे ईशानकोण पर तिर्यग्योनिनिवारक **वालीश्वर** लिंग है ॥ ४२ ।

उसके उत्तर भाग में महापापराशियों का संहारक **सुग्रीवेश्वर** लिंग आर वहीं पर ब्रह्मचर्य का फल देनेवाला **हनूमदीश्वर लिंग** भी शोभित है ॥ ४३ ।

महाबुद्धिप्रदस्तत्र पूज्यो जाम्बवतीश्वरः ।
आश्विनेयेश्वरौ पूज्यौ गङ्गायाः पश्चिमे तटे ॥ ४४ ।
तदुत्तरे भद्रह्रदो गवां क्षीरेण पूरितः ।
कपिलानां सहस्रेण सम्यग् दत्तेन यत्फलम् ॥ ४५ ।
तत्फलं लभते मर्त्यः स्नातो भद्रह्रदे ध्रुवम् ।
पूर्वाभाद्रपदायुक्ता पौर्णमासी यदा भवेत् ॥ ४६ ।
तदा पुण्यतमः कालो वाजिमेधफलप्रदः ।
ह्रदपश्चिमतीरे तु भद्रेश्वरविलोकनात् ॥ ४७ ।
गोलोकं प्राप्नुयात्तस्मात्पुण्यान्नैवाऽत्र संशयः ।
भद्रेश्वराद्यातुधान्यामुपशान्तशिवो मुने ॥ ४८ ।
तस्य लिङ्गस्य संस्पर्शात्परां शान्तिं समृच्छति ।
उपशान्तशिवं लिङ्गं दृष्ट्वा जन्मशतार्जितम् ॥ ४९ ।
त्यजेदश्रेयसोराशिं श्रेयोराशिं च विन्दति ।
तदुत्तरे च चक्रेशो योनिचक्रनिवारकः ॥ ५० ।

आश्विनेयेश्वरौ अश्विनीकुमाराभ्यां स्थापितौ ॥ ४४ ।
यातुधान्यां नैर्ऋत्याम् ॥ ४८ ।

उसी स्थान पर महाबुद्धिप्रद **जाम्बवती(दी)श्वर** भी हैं । तदनन्तर गंगा के पश्चिम तट पर (अश्विनीकुमारों के प्रतिष्ठित) **आश्विनेयेश्वर** नामक दोनों लिंगों की पूजा करनी चाहिए ॥ ४४ ।

फिर उनके उत्तर भाग में गायों के क्षीर से भरा हुआ **भद्रह्रद** नामक एक कुंड है । विधिपूर्वक सहस्र कपिला गोदान करने से जो फल होता है, इस भद्रह्रद में स्नान करने से भी मनुष्य निःसन्देह उसी फल को पाता है । जब कभी पूर्वा भाद्रपद नक्षत्रयुक्त पौर्णमासी होवे, तभी वहाँ का परम पुण्यकाल होता है । उस घड़ी उसमें नहा लेने से अश्वमेध यज्ञ का फल मिल जाता है । उस ह्रद के पश्चिम तीर पर **भद्रेश्वर** का दर्शन करने से मनुष्य निश्चय ही गोलोकवासी होता है । कारण, दर्शन का ही पुण्यफल हो जाता है । हे मुने ! भद्रेश्वर से नैर्ऋत्यकोण पर **उपशान्त शिव** विराजित हैं ॥ ४५-४८ ।

उस लिंग के स्पर्श करते ही परम शान्ति आ जाती है एवं उस उपशान्त नामक शिवलिंग के दर्शन करने से सैकड़ों जन्मों के बटोरे हुए पापपुंज को त्यागकर मंगलराशि को प्राप्त करता है । उसके उत्तरभाग में योनिचक्र का निवारण करने वाला **चक्रेश्वर** नामक लिंग है ॥ ४९-५० ।

तदुत्तरे चक्रहृदो महापुण्यविवर्धनः ।
स्नात्वा चक्रहृदे मर्त्यश्चक्रेशं परिपूज्य च ॥ ५१ ।
शिवलोकमवाप्नोति भावितेनान्तरात्मना ।
तन्नैर्ऋते च शूलेशो द्रष्टव्यश्च प्रयत्नतः ॥ ५२ ।
शूलं तत्र पुरा न्यस्तं स्नानार्थं वरवर्णिनि ।
हृदस्तत्र समुत्पन्नः शूलेशस्याऽग्रतो महान् ॥ ५३ ।
स्नानं कृत्वा हृदे तत्र दृष्ट्वा शूलेश्वरं विभुम् ।
रुद्रलोकं नरा यान्ति त्यक्त्वा संसारगह्वरम् ॥ ५४ ।
तत्पूर्वतो नारदेन तपस्तप्तं महत्तरम् ।
लिङ्गं च स्थापितं श्रेष्ठं कुण्डं चाऽपि शुभं कृतम् ॥ ५५ ।
तत्रं कुण्डे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा वै नारदेश्वरम् ।
संसाराब्धिं महाघोरं सन्तरेन्नाऽत्र संशयः ॥ ५६ ।
नारदेश्वरपूर्वेण[1] दृष्ट्वाऽवभ्रातकेश्वरम् ।
निर्मलां गतिमाप्नोति पापौघं च विमुञ्चति ॥ ५७ ।

जिसके उत्तर की ओर महापुण्यवर्धक एक **चक्रहृद** भी है, मनुष्य उस **चक्रहृद** में स्नान कर शुद्ध हृदय से **चक्रेश्वर** का पूजन करने से शिवलोक में गमन करता है । उसके नैर्ऋत्यकोण पर प्रयत्न उठाकर **शूलेश्वर** का दर्शन करना चाहिए ॥ ५१-५२ ।

हे वरवर्णिनि ! पूर्वकाल में मैंने स्नान करने के लिये वहीं पर अपना त्रिशूल गाड़ दिया था, जिससे शूलेश्वर के आगे यह बड़ा भारी पोखरा हो गया है ॥ ५३ ।

उस हृद में नहाकर भगवान् शूलेश्वर का दर्शन करने से मनुष्य संसाररूप गह्वर को त्याग कर रुद्रलोक को चले जाते हैं ॥ ५४ ।

उसके पूर्वभाग में महर्षि नारद ने घोर तपस्या की थी और एक उत्तम कुंड बनाकर वहीं पर शिवलिंग की भी स्थापना कर दी थी ॥ ५५ ।

जो कोई उस कुंड में स्नान करके **नारदेश्वर** का दर्शन करता है, वह महाघोर संसार-सागर के पार उतर जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ५६ ।

नारदेश्वर से पूर्वभाग में स्थित **अवभ्रातकेश्वर** का दर्शन करने से (मनुष्य) समस्त पातकों को दूर भगाकर निर्मल गति को प्राप्त होता है ॥ ५७ ।

---

1. पुस्तकान्तरे दृष्ट्वा च भ्रातकेश्वरमिति पाठः ।

तदग्रे [1]ताम्रकुण्डं च तत्र स्नातो न गर्भभाक् ।
विघ्नहर्ता गणाध्यक्षस्तद्वायव्ये सुविघ्नहृत् ॥ ५८ ।
तत्र विघ्नहरं कुण्डं तत्र स्नातो न विघ्नभाक् ।
अनारकेश्वरं लिङ्गं तदुदग्दिशि चोत्तमम् ॥ ५९ ।
कुण्डं चाऽनारकाख्यं वै तत्र स्नातो न नारकी ।
वरणायास्तटे रम्ये वरणेशस्तदुत्तरे ॥ ६० ।
तत्र पाशुपतः सिद्धस्त्वक्षपादो महामुने ।
अनेनैव शरीरेण शाश्वतीं सिद्धिमागतः ॥ ६१ ।
तत्पश्चिमे च शैलेशः परनिर्वाणकामदः ।
कोटीश्वरं तु तद्याम्यां लिङ्गं शाश्वतसिद्धिदम् ॥ ६२ ।
कोटितीर्थे ह्रदे स्नात्वा कोटीशं परिपूज्य च ।
गवां कोटिप्रदानस्य फलमाप्नोति मानवः ॥ ६३ ।

उसके आगे **ताम्रकुंड** है । उसमें स्नान कर लेने से फिर कभी गर्भ का दुःख नहीं झेलना पड़ता । उससे वायव्यकोण पर समस्त विघ्नों के विध्वंसक **विघ्नहर्ता नामक गणेश** हैं ॥ ५८ ।

एवं विघ्नहर नामक एक कुंड भी वहीं पर है । उसमें नहानेवाले को विघ्न-भागी नहीं होना पड़ता । उसके उत्तर भाग में एक **अनारकेश्वर** नामक उत्तम लिंग शोभायमान है ॥ ५९ ।

और **नारक** नामक एक कुंड भी है । इसके स्नान से नरक नहीं भोगना पड़ता । उसके भी उत्तर वरणा (नदी) के रमणीय तीर पर **वरणेश्वर लिंग** है ॥ ६० ।

हे महामुने ! इसी की आराधना से **अक्षपादनामा** एक परम शैवजन इसी स्थूल शरीर से शाश्वती सिद्धि को प्राप्त हो गये थे ॥ ६१ ।

उसके पश्चिम परमनिर्वाणदाता **शैलेश्वर** हैं । उनसे दक्षिण की ओर शाश्वत-सिद्धिप्रद **कोटीश्वर लिंग** है ॥ ६२ ।

वहाँ पर **कोटितीर्थ** नामक ह्रद में नहाकर **कोटीश्वर** का पूजन करने से मनुष्य कोटि गोदान करने का फल पाता है ॥ ६३ ।

---

1. तदग्रे वा त्रिकुण्डं चेत्यपि पाठः ।

महाश्मशानस्तम्भोऽस्ति कोटीशाद् वह्निदिक् स्थितः ।
तस्मिन् स्तम्भे महारुद्रस्तिष्ठते चोमया सह ॥ ६४ ।
तं स्तम्भं समलङ्कृत्य नरस्तत्पदमाप्नुयात् ।
तत्रैव तीर्थं परमं कपालेशसमीपतः ॥ ६५ ।
कपालमोचनं नाम तत्र स्नातोऽश्वमेधभाक् ।
ऋणमोचनतीर्थं तु तदुदग्दिशि शोभनम् ॥ ६६ ।
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा मुक्तो भवति चर्णतः ।
तत्रैवाऽङ्गारकं तीर्थं कुण्डं चाऽङ्गारनिर्मलम् ॥ ६७ ।
स्नात्वाऽङ्गारकतीर्थे तु भवेद् भूयो न गर्भभाक् ।
अङ्गारवारयुक्तायां चतुर्थ्यां स्नाति यो नरः ॥
व्याधिभिर्नाऽभिभूयेत न च दुःखी कदाचन ॥ ६८ ।
विश्वकर्मेश्वरं लिङ्गं ज्ञानदं च तदुत्तरे ।
महामुण्डेश्वरं लिङ्गं तस्य दक्षिणतः शुभम् ॥ ६९ ।

श्मशानवदतिभीषणत्वात् श्मशानस्तम्भः कुलस्तम्भ इति प्रसिद्धः ॥ ६४ ।
भवति च भवत्येव । ऋणतः ऋणत्रयात् । अङ्गारनिर्मलं ज्वलदङ्गारवदुज्ज्वलम् ॥ ६७ ।

कोटीश्वर से अग्निकोण पर महाश्मशान का स्तंभ गड़ा है । उस खंभे में **उमादेवी** के सहित **महारुद्र** सदैव वास करते हैं ॥ ६४ ।

उस स्तंभ के विभूषित करने से मनुष्य रुद्रपद का भागी होता है । वहीं पर कपालेश्वर के समीप ही में एक बहुत बड़ा **कपालमोचन** नामक तीर्थ है । उसमें स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है और उसके उत्तर शोभन **ऋणमोचन तीर्थ** शोभित है ॥ ६५-६६ ।

यदि कोई उस तीर्थ में नहा लेवे, तो ऋणबन्धन से छूट जाता है । उसी स्थान पर **अंगारक तीर्थ** भी है । वह अंगार ही के समान उज्ज्वल रहता है ॥ ६७ ।

उस **अंगारक तीर्थ** में स्नान करने से फिर गर्भवासी नहीं होना पड़ता । जो कोई मंगलवार की चतुर्थी को उस तीर्थ में नहाता है, उसे किसी प्रकार की व्याधि अथवा दुःख कभी नहीं सता सकते ॥ ६८ ।

उसके उत्तर भाग में ज्ञानप्रद **विश्वकर्मेश्वर** लिंग है और उससे दक्षिण की ओर एक उत्तम **महामुण्डेश्वर लिंग** है ॥ ६९ ।

कूपः शुभोदनामाऽपि स्नातव्यं तत्र निश्चितम् ।
तत्र मुण्डमयी माला मया क्षिप्ताऽतिशोभना ॥ ७० ।
महामुण्डा ततो देवी समुत्पन्नाऽघहारिणी ।
खट्वाङ्गं च धृतं तत्र खट्वाङ्गेशस्ततोऽभवत् ॥ ७१ ।
निष्पापो जायते मर्त्यः खट्वाङ्गेशविलोकनात् ।
भुवनेशस्ततो याम्यां कुण्डं च भुवनेश्वरम् ॥ ७२ ।
तत्र कुण्डे नरः स्नातो भुवनेशो भवेन्नरः ।
तद्याम्यां विमलेशश्च कुण्डं च विमलोदकम् ॥ ७३ ।
तत्र स्नात्वा विलोक्येशं विमलो जायते नरः ।
तत्र पाशुपतः सिद्धः त्र्यम्बको नाम नामतः ॥ ७४ ।
अनेनैव शरीरेण रुद्रलोकमवाप्तवान् ।
भृगोरायतनं तस्य पश्चिमेऽतीव पुण्यदम् ॥ ७५ ।
विधिपूर्वं तदभ्यर्च्य प्राप्नुयाच्छिवमन्दिरम् ।
शुभेश्वरश्च तद्याम्यां महाशुभफलप्रदः ॥ ७६ ।
तत्र सिद्धः पाशुपतः कपिलर्षिर्महातपाः ।
तत्राऽस्ति हि गुहा रम्या कपिलेश्वरसन्निधौ ॥ ७७ ।

एवं **शुभोदक** नामक स्नान योग्य एक कूप भी है । वहीं पर मैंने अपनी सुन्दर मुण्डमाला उतार कर रख दी थी ॥ ७० ।

अतः वहाँ पर **महामुंडा** नाम्नी पातकहारिणी एक देवी प्रकट हो गई हैं एवं जिस स्थल पर मैंने अपना खट्वांग रक्खा था, वहाँ पर **खट्वांगेश्वर** हो गये हैं ॥ ७१ ।

उस लिंग के दर्शन करने से मनुष्य पापरहित हो जाता है । उसके दक्षिण भाग में **भुवनेश्वर** नामक लिंग और कुण्ड भी वर्तमान है ॥ ७२ ।

उस **भुवनेश्वर** कुंड में नहाने से मनुष्य **भुवनेश्वर** ही होता है । उसके दक्षिण की ओर **विमलेश्वर** लिंग और **विमलोदक** कुंड है । उसमें भी स्नान करके **विमलेश्वर** का दर्शन करने से मनुष्य विमल हो जाता है । वहाँ पर त्र्यम्बक नामक एक शैव सिद्ध हो गया था ॥ ७३-७४ ।

उसने इसी शरीर से रुद्रलोक को प्राप्त किया था । उसके पश्चिम परम-पुण्यप्रद **भृगु मुनि** का आश्रम है ॥ ७५ ।

विधिपूर्वक उसका पूजन करने से मनुष्य शिवलोक में चला जाता है । उसके दक्षिण महाशुभदायक **शुभेश्वर नामक** लिंग है ॥ ७६ ।

इसी लिंग के प्रताप से महातपस्वी **कपिल ऋषि** नामक शैव सिद्ध हो चुके हैं । वहाँ पर **कपिलेश्वर** के पास ही में एक रमणीय गुहा है ॥ ७७ ।

तां गुहां प्रविशद्यो वै न स गर्भे विशेत् क्वचित् ।
तत्र यज्ञोदकूपोऽस्ति वाजिमेधफलप्रदः ॥ ७८ ।
ओङ्कार एष एवाऽसावादिवर्णमयात्मकः ।
मत्स्योदर्युत्तरे कूले नादेशस्त्वहमेव च ॥ ७९ ।
नादेशः परमं ब्रह्म नादेशः परमा गतिः ।
नादेशः परमं स्थानं दुःखसंसारमोचनम् ॥ ८० ।
कदाचित्तस्य देवस्य दर्शने याति जाह्नवी ।
मत्स्योदरी सा कथिता स्नानं पुण्यैरवाप्यते ॥ ८१ ।
मत्स्योदरी यदा गङ्गा पश्चिमे कपिलेश्वरम् ।
समायाति महादेवि तदा योगः सुदुर्लभः ॥ ८२ ।
उद्दालकेश्वरं लिङ्गमुदीच्यां कपिलेश्वरात् ।
तद्दर्शनेन संसिद्धिः परा सर्वैरवाप्यते ॥ ८३ ।

आदिवर्णमयात्मकः अकारोकारमकारवर्णत्रयात्मक इत्यर्थः ॥ ७९ ।
पश्चिमे तस्याः पश्चिमे ॥ ८२ ।

उस गुहा में जो कोई घुसता है, उसे फिर कभी गर्भ में प्रवेश नहीं करना पड़ता । वहीं पर **यज्ञोदक** कूप भी है, जो अश्वमेध यज्ञ का फल देता है ॥७८ ।

यही (कपिलेश्वर) आदिवर्णमयात्मक **ओंकार** हैं । पर मत्स्योदरी के उत्तर तट पर जो नादेश्वर हैं, वह तो मैं ही हूँ ॥ ७९ ।

नादेश्वर ही परमब्रह्म और परमगति एवं दुःखमय संसार से मोचन कर देने का प्रधान साधन कहा जाता है ॥ ८० ।

जब कभी भगवान् नादेश्वर के दर्शन को भगवती जह्नुनन्दिनी गंगा वहाँ जाती हैं, तब वह **मत्स्योदरी** कही जाती है । उस घड़ी वहाँ का स्नान बड़े पुण्य से मिलता है ॥ ८१ ।

हे महादेवि ! जब **कपिलेश्वर** के पूर्व की ओर **मत्स्योदरी** (तीर्थ) में गंगा (की सोती) आ जाती है, तब वह संगमयोग बहुत ही दुर्लभ है ॥ ८२ ।

कपिलेश्वर से उत्तर **उद्दालकेश्वर** लिंग है । उसके दर्शन करने ही से सब किसी को परमसिद्धि का लाभ होता है ॥ ८३ ।

तदुत्तरे बाष्कुलीशं लिङ्गं सर्वार्थसिद्धिदम् ।
बाष्कुलीशाद्दक्षिणतो लिङ्गं वै कौस्तुभेश्वरम् ॥ ८४ ।
तस्याऽर्चनेन रत्नौघैर्न वियुज्येत कर्हिचित् ।
शङ्कुकर्णेश्वरं लिङ्गं कौस्तुभेश्वरदक्षिणे ॥ ८५ ।
संसेव्य परमं ज्ञानं लभेदद्याऽपि साधकः ।
अघोरेशो गुहाद्वारि कूपस्तस्योत्तरे शुभः ॥ ८६ ।
अघोरोद इति ख्यातो वाजिमेधफलप्रदः ।
गर्गेशो दमनेशश्च तत्र लिङ्गद्वयं शुभम् ॥ ८७ ।
अनेनैवेह देहेन यत्र तौ सिद्धिमापतुः ।
तल्लिङ्गयोः समर्चातः सिद्धिर्भवति वाञ्छिता ॥ ८८ ।
तद्दक्षिणे महाकुण्डं रुद्रावास इति स्मृतम् ।
तत्र रुद्रेशमभ्यर्च्य कोटिरुद्रफलं लभेत् ॥ ८९ ।

अघोरोदः अघोरं संसारनिवर्तकमुदमुदकं यस्य स तथा ॥ ८७ ।
कोटिरुद्रफलं शतलक्षरुद्रसूक्तजपस्य फलम् ॥ ८९ ।

उसके भी उत्तर सर्वार्थसिद्धिदायक **बाष्कुलीश्वर** लिंग है । उसके दक्षिण एक **कौस्तुभेश्वर** संज्ञक लिंग है ॥ ८४ ।

उसकी पूजा करने से मनुष्य रत्न-समूहों से कभी शून्य नहीं होने पाता । **कौस्तुभेश्वर** के दक्षिण **शंकुकर्णेश्वर** हैं ॥ ८५ ।

उस लिंग की आराधना से आज भी साधक परमज्ञान को प्राप्त करता ह । **कपिलेश्वर** के समीप जो गुफा है, उसके द्वार ही पर शुभमय **अघोरेश्वर** हैं और उनके उत्तर भाग में अश्वमेधफलप्रद **अघोरोद**(क) नामा कूप भी है । वहीं पर **गर्गेश्वर** और **दमनेश्वर** नामक दो लिंग और भी विराजमान हैं ॥ ८६-८७ ।

वहाँ पर गर्ग और दमन मुनि ने इसी शरीर से सिद्धि पाई थी । इन दोनों लिंगों की पूजा से वांछित कार्य सिद्ध हो जाते हैं ॥ ८८ ।

उसके दक्षिण भाग में **रुद्रावास** नामक **महाकुंड** है, वहाँ पर **रुद्रेश्वर** के पूजन करने से कोटि रुद्र का फल प्राप्त होता है ॥ ८९ ।

चतुर्दशी यदाऽपर्णे रुद्रनक्षत्रसंयुता ।
तदा पुण्यतमः कालस्तस्मिन् कुण्डे महाफलः ॥ ९० ।
रुद्रकुण्डे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा रुद्रेश्वरं विभुम् ।
यत्र तत्र मृतो वाऽपि रुद्रलोकमवाप्नुयात् ॥ ९१ ।
रुद्रस्य नैर्ऋते भागे लिङ्गं तत्र महालयम् ।
तदग्रे पितृकूपोऽस्ति पितृणामालयः परः ॥ ९२ ।
तत्र श्राद्धं नरः कृत्वा पिण्डान् कूपे परिक्षिपेत् ।
एकविंशकुलोपेतः श्राद्धकृद्रुद्रलोकभाक् ॥ ९३ ।
तत्र वैतरणी नाम दीर्घिका पश्चिमानना ।
तस्यां स्नातो नरो देवि नरकं नैव गच्छति ॥ ९४ ।
बृहस्पतीश्वरं लिङ्गं रुद्रकुण्डाच्च पश्चिमे ।
गुरुपुष्यसमायोगे दृष्ट्वा दिव्यां लभेद् गिरम् ॥ ९५ ।
रुद्रावासाद्दक्षिणतः कामेशं लिङ्गमुत्तमम् ।
तद्दक्षिणे महाकुण्डं स्नानाच्चिन्तितकामदम् ॥ ९६ ।

रुद्रनक्षत्रम् आर्द्रा ॥ ९० ।

हे अपर्णे ! जब चतुर्दशी (तिथि) में रुद्र (आर्द्रा) नक्षत्र मिले, तब उस **रुद्रकुंड** का महाफलदायक सर्वोत्तम पुण्यकाल होता है ॥ ९० ।

उस वेला जो कोई रुद्रकुंड में स्नान कर भगवान् **रुद्रेश्वर** का दर्शन करता है, वह चाहे कहीं भी मरे, पर रुद्रलोक में चला ही जाता है ॥ ९१ ।

उसके नैर्ऋत्यकोण पर **महालयेश्वर** लिंग हैं, जिसके आगे पितरों का परम निवासस्थान **पितृकूप** वर्तमान है ॥ ९२ ।

जो मनुष्य वहाँ पर श्राद्ध करके पिंडों को उसी कूप में फेंक देता है, वह श्राद्धकर्ता अपने इक्कीस कुलों के सहित रुद्रलोक का भागी होता है ॥ ९३ ।

हे देवि ! उसी स्थान पर पश्चिम मुख की **वैतरणी** (नाम) बावली है । उसमें स्नान करने से मनुष्य नरक में नहीं पड़ता ॥ ९४ ।

रुद्रकुंड से पश्चिम **बृहस्पतीश्वर** लिंग है । पुष्यनक्षत्र से युक्त गुरुवार को उनके दर्शन से दिव्यवाणी मिलती है ॥ ९५ ।

रुद्रावास के दक्षिण सर्वोत्तम **कामेश्वर** लिंग है । उसके दक्षिण भाग में एक महा(काम)कुंड है, जो स्नानमात्र से चिन्तित कामनाओं को देता है ॥ ९६ ।

चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां तत्र यात्रा च कामदा ।
नलकूबरलिङ्गं च प्राच्यां कामेश्वराच्छुभम् ॥ ९७ ।
तदग्रे पावनः कूपो धनधान्यसमृद्धिदः ।
नलकूबरपूर्वेण सूर्याचन्द्रमसेश्वरौ ॥ ९८ ।
अज्ञानध्वान्तपटलीं हरतस्तौ समर्चितौ ।
तद्दक्षिणेऽध्वकेशश्च दृष्टो मोहविनाशनः ॥ ९९ ।
तत्र सिद्धीश्वरं लिङ्गं महासिद्धिसमर्पकम् ।
तत्रैव मण्डलेशश्च मण्डलेशपदप्रदः ॥ १०० ।
कामकुण्डस्य पूर्वेण च्यवनेशः समृद्धिदः ।
तत्रैव सनकेशश्च राजसूयफलप्रदः ॥ १०१ ।
सनत्कुमारलिङ्गं च तत्पश्चाद्योगसिद्धिकृत् ।
तदुत्तरे सनन्देशो महाज्ञानसमर्थकः ॥ १०२ ।
तद्याम्यामाहुतीशश्च दृष्टो होमफलप्रदः ।
तद्याम्यां पुण्यजनकं लिङ्गं पञ्चशिखेश्वरम् ॥ १०३ ।

चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वहाँ की यात्रा करने से मनोवांछित फल मिलता है । **कामेश्वर** से पूर्व की ओर **नलकूबर** लिंग है ॥ ९७ ।

जिसके आगे ही धन-धान्य की समृद्धि करने वाला पावन कूप है, उस **नलकूबर** लिंग के पूर्व **सूर्याचन्द्रमसेश्वर** नाम के दो लिंग एकत्र ही विराजमान हैं ॥ ९८ ।

उन दोनों की पूजा करने से अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है । उनके दक्षिण **अध्वकेश्वर** नामक लिंग है, जो दर्शन ही से मोह का नाश कर देता है ॥ ९९ ।

वहीं पर परमसिद्धिदायक **सिद्धीश्वर** लिंग भी है । उसके पास ही में **मंडलेश** का पद देनेवाला **मण्डलेश्वर** लिंग विद्यमान है ॥ १०० ।

कामकुंड के पूर्व सर्वसम्पत्तिदायक **च्यवनेश्वर** हैं और राजसूय यज्ञ के फलदाता **सनकेश्वर** भी वहीं है ॥ १०१ ।

जिसके पिछवाड़े योगसिद्धि का करनेवाला **सनत्कुमार** लिंग है, और उससे उत्तर की ओर बड़ा ज्ञान समर्थक **सनन्देश्वर** नामक लिंग सुशोभित है ॥ १०२ ।

उसके दक्षिण भाग में **आहुतीश्वर** लिंग है । उसके देखने ही से होम करने का फल मिल जाता है । उससे भी दक्षिण पुण्यजनक **पंचशिखेश्वर** लिंग है ॥ १०३ ।

मार्कण्डेयह्रदस्तस्य पश्चिमे पुण्यवर्धनः ।
तस्मिन् ह्रदे नरः स्नात्वा किं भूयः परिशोचति ॥ १०४ ।
तत्र स्नानं च दानं च भवेदक्षयपुण्यदम् ।
तदुत्तरे च कुण्डेशः सर्वसिद्धैर्नमस्कृतः ॥ १०५ ।
दीक्षां पाशुपतीं लब्ध्वा द्वादशाब्देन यत्फलम् ।
तत्फलं लभते विप्र मर्त्यः कुण्डेशदर्शनात् ॥ १०६ ।
मार्कण्डेयह्रदात्पूर्वं शाण्डिल्येशः सुपुण्यदः ।
तत्पश्चिमे च चण्डेशश्चण्डांशुग्रहणाघहृत् ॥ १०७ ।
दक्षिणे च कपालेशात् कुण्डं श्रीकण्ठसंज्ञितम् ।
तत्र कुण्डे नरः स्नात्वा दाता स्याच्छ्रीप्रभावतः ॥ १०८ ।
महालक्ष्मीश्वरं लिङ्गं तस्य कुण्डस्य सन्निधौ ।
महालक्ष्मीं समभ्यर्च्य स्नातस्तत्कुण्डवारिषु ॥ १०९ ।
चामरासक्तहस्ताभिर्दिव्यस्त्रीभिश्च वीज्यते ।
यदा मत्स्योदरीं यान्ति स्वर्गलोकाद्दिवौकसः ॥
तदा तेनैव मार्गेण यान्ति स्त्रीभिर्वृताः सुखम् ॥ ११० ।

चण्डांशुग्रहणाऽघहृच्चण्डांशुग्रहणं यावदघं हरति तावदघहृत् ॥ १०७ ।

उसके पश्चिम ओर पुण्यवर्धक **मार्कण्डेय ह्रद** है । मनुंष्य उस ह्रद में स्नान करके कभी शोकभागी नहीं होने पाता ॥ १०४ ।

वहाँ का स्नान और दान अक्षयपुण्यप्रद हो जाता है । उसके उत्तर समस्त सिद्धों से नमस्कृत **कुण्डेश्वर** नामक लिंग है ॥ १०५ ।

हे विप्रवर ! पाशुपत मन्त्र की दीक्षा लेकर द्वादश वर्षपर्यन्त तपोऽनुष्ठान करने से जो फल होता है, इस **कुंडेश्वर** लिंग के दर्शन से भी वही फल मिल जाता है ॥ १०६ ।

मार्कण्डेय ह्रद से पूर्व परमपुण्यप्रद भगवान् **शाण्डिल्येश्वर** विराजते हैं । उनसे पश्चिम सूर्यग्रहण के समान पापनाशक **चंडेश्वर** लिंग है ॥ १०७ ।

कपालेश्वर की दक्षिण ओर **श्रीकंठ** संज्ञक एक कुंड है, उस कुंड में स्नान करने से मनुष्य लक्ष्मी देवी के प्रभाववश (बड़ा भारी) दाता हो जाता है ॥१०८।

उसी कुंड के समीप में **महालक्ष्मीश्वर** लिंग भी है । उक्त कुण्ड में नहाकर महालक्ष्मी का पूजन करने से मनुष्य दिव्य स्त्रियों के द्वारा चामर से बीजित होता है । स्वर्गवासी देवता लोग स्त्रियों के सहित स्वर्गलोक से उक्त मत्स्योदरी तीर्थ के लिये चलते हैं, तो उसी मार्ग से आते-जाते हैं ॥ १०९-११० ।

स्वर्गद्वारमतः ख्यातं तत्स्थानं मुनिसत्तम ।
तत्कुण्डदक्षिणे भागे लिङ्गं ब्रह्मपदप्रदम् ॥ १११ ।
गायत्रीश्वरसावित्रीश्वरौ पूज्यौ प्रयत्नतः ।
मत्स्योदर्यास्तटे रम्ये लिङ्गं सत्यवतीश्वरम् ॥ ११२ ।
तयोः पूर्वेण सम्पूज्यं तपःश्रीपरिवर्धनम् ।
उग्रेश्वरं महालिङ्गं लक्ष्मीशात् पूर्वदिक् स्थितम् ॥ ११३ ।
जातिस्मरो भवेन्मर्त्यस्तल्लिङ्गस्य समर्चनात् ।
तद्दक्षिणे चोग्रकुण्डं स्नानात् कनखलाधिकम् ॥ ११४ ।
करवीरेश्वरं लिङ्गं तस्य कुण्डस्य पश्चिमे ।
तस्य दर्शनतः पुंसां जायते रोगसंक्षयः ॥ ११५ ।
तद्वायव्ये मरीचीशं कुण्डं चाऽघौघनाशनम् ।
तत्पश्चाच्चैन्द्रकुण्डं च लिङ्गं चेन्द्रेश्वरं मुने ॥ ११६ ।

पूर्वेण पूर्वे ॥ ११३ ।
कनखलं हरिद्वारं गया वान्तरतीर्थविशेषो वा ॥ ११४ ।
इन्द्रेश्वरमन्यत् ॥ ११६ ।

हे मुनिसत्तम ! इसी कारण से उस स्थान का नाम **स्वर्गद्वार** प्रसिद्ध है । उस कुंड के दक्षिण भाग में **ब्रह्मपदप्रद** एक लिंग है ॥ १११ ।

उसी स्थल पर **गायत्रीश्वर** और **सावित्रीश्वर** नामक दो लिंगों की प्रयत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिए । फिर मत्स्योदरी के रमणीय तट पर **सत्यवतीश्वर** लिंग है ॥ ११२ ।

गायत्रीश्वर-सावित्रीश्वर के पूर्व **तपःश्रीवर्धन** लिंग है । **लक्ष्मीश्वर** के पूर्व **उग्रेश्वर** नामक एक महालिंग है ॥ ११३ ।

मनुष्य उस लिंग की अर्चना करने से जातिस्मर्ता हो जाता है । और उसके दक्षिण भाग में **उग्रकुंड** भी है, जो स्नान के लिये कनखल (तीर्थ) से भी अधिक (फलदायक) है ॥ ११४ ।

उस कुण्ड के पश्चिम **करवीरेश्वर लिंग** है । उसके दर्शन से लोगों के सब रोगों का नाश हो जाता है ॥ ११५ ।

उससे वायव्यकोण पर पापनाशक **मरीचिकुण्ड** और **मरीचीश्वर** लिंग है । उसके पीछे की ओर **इन्द्रकुण्ड** एवं **इन्द्रेश्वर** नामक लिंग वर्तमान हैं ॥ ११६ ।

इन्द्रेशाद्दक्षिणे भागे शुभा कर्कोटवापिका ।
तत्र वापीजले स्नात्वा दृष्ट्वा कर्कोटकेश्वरम् ॥ ११७ ।
नागानामाधिपत्यं तु जायते नाऽत्र संशयः ।
तत्पश्चाद्दमिचण्डेशो ब्रह्महत्याहरो हरः ॥ ११८ ।
तद्दक्षिणे महाकुण्डं रुद्रलोकफलप्रदम् ।
तत्पश्चिमे महालिङ्गमग्नीश इति विश्रुतम् ॥ ११९ ।
आग्नेयं नाम कुण्डं च तत्पूर्वेऽग्निसलोकदम् ।
आग्नेयेश्वरतः प्राच्यां कुण्डं तद्दक्षिणे शुभम् ॥ १२० ।
तत्र कुण्डे नरः स्नात्वा स्वर्गे वसति पूर्वजैः ।
तत्प्राच्यां बालचन्द्रेशश्चन्द्रलोकगतिप्रदः ॥ १२१ ।
परितो बालचन्द्रेशं गणलिङ्गान्यनेकशः ।
विलोक्य तानि लिङ्गानि गाणपत्यं पदं लभेत् ॥ १२२ ।
बालचन्द्रसमीपे तु कूपः पितृगणप्रियः ।
तत्र श्राद्धप्रदः स्नात्वा पितॄन् सप्ताऽत्र तारयेत् ॥ १२३ ।

अग्नीशोऽप्यन्य एव प्रसिद्धः ॥ ११९ ।

आग्नेयेश्वरतः प्राच्यां कुण्डमित्यनुवादः । तद्दक्षिणे आग्नेयकुण्डदक्षिणे शुभं कुण्डमिति शेषः ॥ १२० ।

इन्द्रेश्वर के दक्षिण भाग में कर्कोटक वापी है । उसमें स्नान कर **कर्कोटकेश्वर** का दर्शन करने से मनुष्य निःसन्देह नाग लोगों का अधिपति होता है । उसके पीछे ब्रह्महत्या के छुड़ाने वाले **दमिचण्डेश्वर** शिव हैं ॥ ११७-११८ ।

उसके दक्षिण रुद्रलोक में पहुँचाने वाला एक बड़ा भारी कुण्ड विद्यमान है । उससे पश्चिम **अग्नीश्वर** नामक प्रसिद्ध लिंग है ॥ ११९ ।

अग्नीश्वर से पूर्व अग्निलोक का फलदायक **आग्नेयकुण्ड** है । उसके दक्षिण एक और भी उत्तम कुण्ड है ॥ १२० ।

उसमें नहाने से मनुष्य अपने पूर्वपुरुषों के साथ स्वर्ग में वास पाता है । उससे पूर्व चन्द्रलोक की गति देनेवाला **बालचन्द्रेश्वर लिंग** है ॥ १२१ ।

बालचन्द्रेश्वर के चारों ओर कितने ही गणों के स्थापित अनेक लिंग विराजित हैं । उन सब लिंगों के दर्शन से गणाध्यक्ष का पद प्राप्त होता है ॥ १२२ ।

बालचन्द्र के समीप में ही पितरों का बड़ा प्यारा एक कूप भी है । उसमें श्राद्ध करने से सात पुरुषों का उद्धार हो जाता है ॥ १२३ ।

तदन्धोः पूर्वतो लिङ्गं पुण्यं विश्वेश्वराह्वयम् ।
विश्वेश्वरस्य पूर्वेण वृद्धकालेश्वरो हरः ॥ १२४ ।
कालोदो नाम कूपोऽस्ति तदग्रे सर्वरोगहृत् ।
यैस्तु तत्रोदकं पीतं स्त्रीभिः पुंभिः स्वकर्मभिः ॥ १२५ ।
न तेषां परिवर्तोऽत्र कल्पकोटिशतैरपि ।
तत्पीत्वा जन्मबन्धोत्थाद् भयान्मुच्येत मानवः ॥ १२६ ।
तत्र कूपे तु यद्दत्तं दानं शिवरतात्मनाम् ।
संवर्तेऽपि न तस्याऽस्ति नाशः कलशसम्भव ॥ १२७ ।
खण्डस्फुटितसंस्कारं तत्र कुर्वन्ति ये नराः ।
ते रुद्रलोकमासाद्य मोदन्ते सुखिनः सदा ॥ १२८ ।
कालेशाद्दक्षिणे भागे मृत्त्वीशस्त्वपमृत्युहृत् ।
लिङ्गं दक्षेश्वराह्वं च ततः कूपादुदग्दिशि ॥ १२९ ।
अपराधसहस्रं तु नश्येत्तस्य समर्चनात् ॥ १३० ।

तदन्धोः तत्कूपस्य । विश्वेश्वराह्वयमित्यन्यदेव ॥ १२४ ।
ततः कालोदात् ॥ १२९ ।

उस कूप से पूर्व एक **विश्वेश्वर** नामक पवित्र लिंग है । उसके पूर्व की ओर **वृद्धकालेश्वर** महादेव हैं ॥ १२४ ।

उनके सम्मुख ही **कालोद(क)** नामक कूप है । वह सब रोगों को दूर कर देता है । जो स्त्री अथवा पुरुष उस कूप का जल पीते हैं, शतकोटि कल्प बीत जाने पर भी उनका परिवर्तन नहीं होने पाता । मनुष्य उसका जल पीकर जन्मबन्धन के भय से निर्मुक्त हो जाता है ॥ १२५-१२६ ।

उस कूप पर शैवलोगों को जो कुछ दान दिया जाता है, हे घटज ! प्रलयकाल में भी उसका नाश नहीं हो सकता ॥ १२७ ।

जो लोग वहाँ पर टूटे-फूटे को बनवा (जीर्णोद्धार करा) देते हैं, वे सब लोग रुद्रलोक में जाकर सदैव सुखपूर्वक आमोद-प्रमोद करते हैं ॥ १२८ ।

(वृद्ध)कालेश्वर से दक्षिण अपमृत्युनाशक **मृत्त्वीश (मृत्युंजय)** नामक लिंग है, और उस कूप के उत्तर की ओर **दक्षेश्वर** लिंग है ॥ १२९ ।

जिसके समर्चन से सहस्रों ही अपराध विनष्ट हो जाते हैं ॥ १३० ।

महाकालेशलिङ्गं च दक्षेशात्पूर्वतो महत् ।
महाकुण्डे नरः स्नात्वा महाकालं तु योऽर्चयेत् ॥ १३१ ।
अर्चितं तेन वै तत्र जगदेतच्चराचरम् ।
अन्तकेश्वरमालोक्य तद्याम्यां नाऽन्तकस्य[1] भीः ॥ १३२ ।
हस्तिपालेश्वरं लिङ्गं तस्य दक्षिणतो मुने ।
तस्य पूजनतो याति पुण्यं वै हस्तिदानजम् ॥ १३३ ।
तत्रैरावतकुण्डं च लिङ्गमैरावतेश्वरम् ।
तल्लिङ्गमर्चयन् मर्त्यो धनधान्यसमृद्धिभाक् ॥ १३४ ।
तद्दक्षिणे श्रेयसे च लिङ्गं स्यान्मालतीश्वरम् ।
हस्तीश्वरादुत्तरे तु जयन्तेशो जयप्रदः ॥ १३५ ।
बन्दीश्वरो महाकालकुण्डादुत्तरतः शुभः ।
बन्दिकुण्डं च विख्यातं वाराणस्यां महाऽघहृत् ॥ १३६ ।

महाकुण्डे महाकालकुण्डे ॥ १३१ ।

दक्षेश्वर से पूर्व बड़ा भारी **महाकालेश्वर** लिंग है, जो कोई महाकाल कुण्ड में नहाकर महाकाल का पूजन करता है, उसे चराचर जगत् भर की पूजा का फल प्राप्त होता है । उससे दक्षिण **अन्तकेश्वर** के दर्शन करने से यमराज का कुछ भय नहीं रह जाता ॥ १३१-१३२ ।

हे मुने ! उस लिंग से भी दक्षिण **हस्तिपालेश्वर** लिंग है । उसके पूजन से हस्तिदान का पुण्यलाभ होता है ॥ १३३ ।

वहीं पर **ऐरावतकुंड** और **ऐरावतेश्वर** लिंग भी है, जिसके पूजन से मनुष्य धनधान्य से समृद्धिशाली होता है ॥ १३४ ।

उसके दक्षिणांश में कल्याणकर **मालतीश्वर** लिंग है और **हस्तिपालेश्वर** के उत्तर जयप्रद **जयन्तेश्वर** लिंग है ॥ १३५ ।

महाकाल-कुंड से उत्तर शुभदायक **बन्दीश्वर** लिंग है । इसी स्थान पर काशीपुरी का विख्यात पापनाशक **बन्दीकुण्ड** है ॥ १३६ ।

---

1. स्थितस्येति शेषः ।

तत्र स्नानेन दानेन श्राद्धेनाऽक्षयमश्नुते ।
धन्वन्तरीश्वरं लिङ्गं कुण्डं तन्नाम चैव हि ॥ १३७ ।
तस्य लिङ्गस्य नामाऽन्यत्कुण्डनामाऽन्यदेव हि ।
तुङ्गेश्वरं लिङ्गनाम कुण्डं वैद्येश्वराऽभिधम् ॥ १३८ ।
सुधामय्यो महौषध्यः क्षिप्तास्तत्र महाधियः ।
तत्कुण्डस्नानतस्तस्मात्तल्लिङ्गपरिवीक्षणात् ॥
नश्यन्ति व्याधयः सर्वे सह पापैः सुदारुणैः ॥ १३९ ।
तदुत्तरे हलीशेशः सर्वव्याधिनिषूदनः ।
शिवेश्वरः शिवकरस्तुङ्गनाम्नश्च दक्षिणे ॥ १४० ।
जमदग्नीश्वरं लिङ्गं शिवेशाद्दक्षिणे शुभम् ।
तत्पश्चिमे भैरवेशः कूपस्तस्योत्तरे शुभः ॥ १४१ ।

लिङ्गकुण्डयोरन्यनामनी एवाह—**तुङ्गेश्वरमिति** ॥ १३८ ।

सुधामय्यो या महौषध्यो मृतसञ्जीविन्यादिरूपा वर्तन्ते, ता महामहौषध्यस्तत्र क्षिप्ता इत्यर्थः । कथंभूता महौषध्यो महाधियः स्वास्थ्यप्रदात्र्यो महाऽगदरूपा इत्यर्थः । क्षिप्तास्तत्र महाधियेति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ १३९ ।

तुङ्गनाम्नस्तुङ्गेश्वरादित्यर्थः ॥ १४० ।

वहाँ पर स्नान, दान और श्राद्ध करने से अक्षय फल होता है । **धन्वन्तरीश्वर** लिंग और उसी नाम का कुण्ड भी है ॥ १३७ ।

(पर) इस लिंग का नाम दूसरा है और कुण्ड का नाम अन्य ही (प्रसिद्ध) है । लिंग का नाम तो **तुंगेश्वर** है, पर कुण्ड **वैद्येश्वर** कहाता है ॥ १३८ ।

उस कुण्ड में (धन्वन्तरि ने) आरोग्यकर, अमृतस्वरूप (मृतसंजीवनी इत्यादि) बड़ी-बड़ी औषंधियाँ डाल दी हैं । (अतएव) उस कुंड में स्नान तथा उक्त लिंग के दर्शन से बड़े कठोर पापों के साथ समस्त व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ १३९ ।

उसके उत्तर भाग में **हलीशेश्वर** लिंग है । वह भी सब रोगों का विनाशक ही है । फिर **तुंगेश्वर** नामक लिंग से दक्षिण शुभकारक **शिवेश्वर** लिंग है ॥ १४० ।

उसके भी दक्षिण **जमदग्नीश्वर** लिंग है । उसके पश्चिम **भैरवेश्वर** हैं, जिनकी उत्तर ओर उत्तम (भैरव) कूप है ॥ १४१ ।

तदुदस्पर्शमात्रेण सर्वयज्ञफलं लभेत् ।
तत्कूपपश्चिमे भागे सुकेशो योगसिद्धिदः ॥ १४२ ।
तन्नैर्ऋत्यां च व्यासेशः कूपश्च विमलोदकः ।
व्यासकूपे नरः स्नात्वा तर्पयित्वा सुरान् पितॄन् ॥ १४३ ।
अक्षयं लभते लोकं यत्र कुत्राऽभिकाङ्क्षितम् ।
व्यासतीर्थात्पश्चिमतो घण्टाकर्णो ह्रदो महान् ॥ १४४ ।
घण्टाकर्णह्रदे स्नात्वा व्यासेशपरिदर्शनात् ।
यत्र तत्र मृतो वाऽपि वाराणस्यां मृतो भवेत् ॥ १४५ ।
घण्टाकर्णसमीपे तु पञ्चचूडाप्सरः सरः ।
पञ्चचूडाजले स्नात्वा दृष्ट्वा देवं तमीश्वरम् ॥ १४६ ।
स्वर्गलोकं नरो याति पञ्चचूडाप्रियो भवेत् ।
गौरीकूपस्ततोऽवाच्यां सर्वजाड्यविनाशनः ॥ १४७ ।
पञ्चचूडोत्तरे भागे तीर्थं चाऽशोकसंज्ञितम् ।
मन्दाकिनी महातीर्थं तदुदीच्यां महाऽघहृत् ॥ १४८ ।

तमीश्वरं पञ्चचूडेशमित्यर्थः ॥ १४६ ।
प्रियो भर्ता ॥ १४७ ।

उसके जल का केवल स्पर्श करने ही से समस्त यज्ञों का फल मिल जाता है । उस कूप के पश्चिम योगसिद्धियों का दाता **सुकेश (सुकेश्वर)** लिंग अवस्थित है ॥ १४२ ।

उससे नैर्ऋत्यकोण में निर्मल जल (वाला) **व्यासकूप** है एवं वहीं पर **व्यासेश्वर लिङ्ग** भी है । मनुष्य उस कूपोदक से नहाने के उपरान्त देवता और पितरों का तर्पण करने से मनोवांछित चाहे जिस लोक को अक्षयरूप से प्राप्त कर सकता है । उस व्यासतीर्थ के पश्चिम बहुत बड़ा **घंटाकर्ण ह्रद** है, (जो कर्णघंटा नाम से प्रसिद्ध है) ॥ १४३-१४४ ।

घंटाकर्ण नामक ह्रद में स्नान कर **व्यासेश्वर** का दर्शन करने से प्राणी चाहे कहीं पर मरे, पर उसे काशी ही में मरने का फल प्राप्त होता है ॥ १४५ ।

घंटाकर्ण से सटा हुआ ही **पंचचूडा** नाम की अप्सरा का एक सरोवर है, उसमें स्नान कर **पंचचूड़ेश्वर** के अवलोकन से मनुष्य स्वर्ग में जाता और **पंचचूड़ा** का बड़ा प्रिय होता है । उसके दक्षिण सब भाँति की जड़ता को धो डालनेवाला **गौरी कूप** है ॥ १४६-१४७ ।

और उसी पंचचूड़ा (सरोवर) के उत्तर की ओर **अशोक** नामक तीर्थ है । उसके उत्तर महापापहारी **मन्दाकिनी**[1] (नामक) महातीर्थ है ॥ १४८ ।

---

1. संभवतः मैदागिन के कम्पनीबाग का कुण्ड ही **मंदाकिनी कुण्ड** है । (सम्पादक)

स्वर्गलोकेऽपि सा पुण्या किं पुनर्मानवे मुने ।
तदुत्तरे मध्यमेशो मध्येक्षेत्रं स्वपित्यहो ॥ १४९ ।
तत्र जागरणं कृत्वाऽशोकाष्टम्यां मधौ नरः ।
न जातु शोकं लभते सदानन्दमयो भवेत् ॥ १५० ।
मुक्तिक्षेत्रप्रमाणं च क्रोशं क्रोशं च सर्वतः ।
आरभ्य लिङ्गादस्माच्च पुण्यदान्मध्यमेश्वरात् ॥ १५१ ।
एतदेव सदा प्राहुः सर्वे वै प्रपितामहाः ।
कश्चिदस्मत्कुले जातो मन्दाकिन्या जलाप्लुतः ॥ १५२ ।
भोजयेत् प्रयतो विप्रान् यतीन् पाशुपतानपि ।
मन्दाकिन्यां नरः स्नात्वा दृष्ट्वा वै मध्यमेश्वरम् ॥ १५३ ।

अशोकाष्टम्यामिति च्छेदः । **मधौ चैत्रे** ॥ १५० ।

मुक्तिक्षेत्रेति सर्वतो मुक्तिक्षेत्रं तस्य प्रमाणमित्यर्थः । तत्र दक्षिणतस्तटेश्वरमारभ्य क्रोशपरिमितं क्षेत्रमुत्तरतश्चैवमिति । अत एव यदा गङ्गा मणिकर्णिकायां मिलति, तदा गङ्गातस्तु यवाधिकेति गङ्गापारेऽपि वर्तत इति वचनं सङ्गच्छते । तत्र यवाधिकेति न यवपरिमाणमात्रं विवक्षितं किन्तु यथाप्रमाणं गङ्गातोऽप्यधिकेत्यर्थः । अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमितिवत् ॥ १५१ ।

हे मुने ! जो **मन्दाकिनी** स्वर्ग में भी परमपवित्र मानी जाती है, फिर इस मर्त्यलोक में उसकी कौन बात है ? उसके उत्तर प्रान्त में **मध्यमेश्वर** शिव हैं, जो (अविमुक्त) क्षेत्र के मध्यभाग में (सुख से) शयन कर रहे हैं ॥ १४९ ।

चैत्र मास की अशोकाष्टमी को जो कोई उस स्थान पर जागरण करता है, वह कभी शोकभागी नहीं होता, वरन् सदैव आनन्दस्वरूप बना रहता है ॥ १५० ।

इसी परमपुण्यप्रद **मध्यमेश्वर** लिंग से लेकर एक-एक कोस चारों ओर मुक्तिक्षेत्र का प्रमाण (समझा गया) है ॥ १५१ ।

पितर लोग यह बात सदैव कहा करते हैं कि "हमारे वंश में ऐसा कोई एक जन भी उत्पन्न होता, जो चित्तसंयमपूर्वक **मन्दाकिनी** के जल में स्नान कर ब्राह्मण, संन्यासी और शिवभक्तों को भोजन करा देता" । मनुष्य **मन्दाकिनी** में स्नान कर **मध्यमेश्वर** का दर्शन करने से इक्कीस पीढ़ियों के साथ रुद्रलोक में

एकविंशत्कुलोपेतो रुद्रलोके वसेच्चिरम् ।
मध्यमेशादवाच्यां च विश्वेदेवेश्वरः शुभः ॥ १५४ ।
तदर्चनादर्चिताः स्युर्विश्वेदेवास्त्रयोदश ।
तत्पूर्वे वीरभद्रेशो महावीरपदप्रदः ॥ १५५ ।
भद्रदा भद्रकाली च तस्य दक्षिणतः शुभा ।
भद्रकालह्रदो नाम तत्राऽतीवशुभप्रदः ॥ १५६ ।
आपस्तम्बेश्वरं लिङ्गं तत्प्राच्यां ज्ञानदं परम् ।
तदुत्तरे पुण्यकूपस्तत्पश्चाच्छौनको ह्रदः ॥ १५७ ।
ह्रदपश्चिमतो लिङ्गं शौनकेशं सुधीप्रदम् ।
ह्रदे तत्र नरः स्नात्वा दृष्ट्वा वै शौनकेश्वरम् ॥ १५८ ।
ज्ञानं [1]तत्संलभेद्दिव्यं येन मृत्युं तरत्यसौ ।
तद्दक्षिणे जम्बुकेशस्तिर्यग्योनिनिवारकः ॥ १५९ ।

वीरभद्रोऽन्यः ॥ १५५ ।

बहुत दिनों तक निवास करता है । **मध्यमेश्वर** से दक्षिण **विश्वेदेवेश्वर** नामक एक पवित्र लिंग है ॥ १५२-१५४ ।

अकेले उसी लिंग के पूजन करने से तेरहों विश्वेदेवों के पूजन करने का फल होता है । उससे पूर्व महावीरपद के दाता **वीरभद्रेश्वर** हैं ॥ १५५ ।

उनके दक्षिण भद्रकारिणी भगवती **भद्रकाली** विराजमान हैं और वहीं पर मंगलदायक **भद्रकाल** नामक ह्रद भी है ॥ १५६ ।

उससे पूर्व परमज्ञानप्रद **आपस्तम्बेश्वर** लिंग है, पर उसके उत्तर की ओर **पुण्यकूप** और पिछवाड़े ही **शौनक ह्रद** है ॥ १५७ ।

उस ह्रद के पश्चिम सुबुद्धिवर्धक **शौकनेश्वर** लिंग भी है । यदि कोई उस ह्रद में नहाकर **शौनकेश्वर** का दर्शन कर लेवे, तो उसे वह दिव्यज्ञान हो जाता है, जिससे वह मृत्यु को पार कर सकता है । उसके दक्षिण **जम्बुकेश्वर** हैं, जो तिर्यग्योनि के दुःख को छुड़ा देते हैं ॥ १५८-१५९ ।

---

1. पुस्तकान्तरे ज्ञानं तत्सम्भवेदिति पाठः ।

तदुत्तरे मतङ्गेशो गानविद्याप्रबोधकः ।
मतङ्गेशस्य वायव्ये नानालिङ्गानि सर्वतः ॥ १६० ।
मुनिभिः स्थापितानीह सर्वसिद्धिप्रदानि च ।
ब्रह्मरातेश्वरं लिङ्गं मतङ्गेशाच्च दक्षिणे ॥ १६१ ।
तल्लिङ्गदर्शनादायुर्नान्तराच्छिद्यते क्वचित् ।
तत्राऽऽज्यपेश्वरं लिङ्गं पितृलिङ्गान्यनेकशः ॥
तल्लिङ्गसेवया सर्वे तुष्यन्ति प्रपितामहाः ॥ १६२ ।
तद्दक्षिणे सिद्धकूपः सिद्धाः सन्ति सहस्रशः ।
वायुरूपास्तु ये सिद्धा ये सिद्धा भानुरश्मिगाः ॥ १६३ ।
तैः स्थापितं तु यल्लिङ्गं तत् सिद्धेश्वरमीरितम् ।
तस्य सन्दर्शनादेव सर्वाः स्युः सिद्धयोऽमलाः ॥ १६४ ।
तत्पश्चिमे सिद्धवापी पीता स्नाता च सिद्धिदा ।
प्राच्यां च सिद्धकूपाद्वै लिङ्गं व्याघ्रेश्वराऽभिधम् ॥ १६५ ।
तल्लिङ्गदर्शनान्नॄणां न भयं व्याघ्रचोरजम् ।
ज्येष्ठेश्वरं च तद्याम्यां ज्येष्ठस्थानेति सिद्धिदम् ॥ १६६ ।

उससे उत्तर गान विद्या का प्रबोधक **मतंगेश्वर** लिंग है । **मतंगेश्वर** से वायव्य कोण पर चारों ओर मुनियों के स्थापित बहुतेरे सिद्धिप्रद शिवलिंग विराजमान हैं । पर **ब्रह्मरातेश्वर** लिंग **मतंगेश्वर** से दक्षिण भाग में अवस्थित है ॥ १६०-१६१ ।

उसके दर्शन से कभी अकालमृत्यु नहीं होने पाती है । वहीं पर पितरों के प्रतिष्ठित अनेक लिंग हैं एवं एक प्रसिद्ध **आज्यपेश्वर** लिंग है । उन सब लिंगों के सेवन से पितरलोग बड़े सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ १६२ ।

उससे भी दक्षिण एक **सिद्धकूप** है, जहाँ पर सहस्रों सिद्धलोग रहते हैं । वायुस्वरूप अथवा सूर्यकिरण में रहनेवाले बहुतेरे सिद्धों के स्थापित किये हुए एक **सिद्धेश्वर** वहाँ पर विराजमान हैं । उनके दर्शन ही से सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ १६३-१६४ ।

उसके पश्चिम ओर एक **सिद्धवापी** भी है, जो स्नान और पान करने से सिद्धि को देती है, फिर उक्त सिद्धकूप के पूर्व **व्याघ्रेश्वर** नामक लिंग है ॥ १६५ ।

उसके दर्शन से व्याघ्र अथवा चोर (डाकू) का कुछ डर नहीं रहने पाता । उससे दक्षिण ज्येष्ठ स्थान में परमसिद्धिप्रद **ज्येष्ठेश्वर** लिंग विराज रहा है ॥ १६६ ।

तद्दक्षिणे मुदां धाम लिङ्गं प्रहसितेश्वरम् ।
तदुत्तरे निवासेशः काशीवासफलप्रदः ॥ १६७ ।
चतुःसमुद्रकूपोऽस्ति तत्राऽब्धिस्नानपुण्यदः ।
ज्येष्ठा देवी तु तत्राऽस्ति नता ज्येष्ठपदप्रदा ॥ १६८ ।
अवाच्यां व्याघ्रलिङ्गाच्च लिङ्गं चण्डीश्वराऽभिधम् ।
तदुत्तरे दण्डखातं सरः पितृमुदावहम् ॥ १६९ ।
ग्रहणाऽनन्तरे स्नानं दण्डखातेऽतिपुण्यदम् ।
जैगीषव्यगुहा तत्र तत्र लिङ्गं तदाह्वयम् ॥ १७० ।
त्रिरात्रोपोषितस्तत्र ज्ञानं लभ्येत निर्मलम् ।
महापुण्यप्रदं लिङ्गं तत्पश्चाद्देवलेश्वरम् ॥ १७१ ।
शतकालस्तत्समीपे शतं कालानुमापतिः ।
तल्लिङ्गाऽऽविर्भवे काश्यां कालयामास कुम्भज ॥ १७२ ।
तल्लिङ्गदर्शनादायुः शतवर्षाण्यखण्डितम् ।
शातातपेशस्तद्याम्यां महाजपफलप्रदः ॥ १७३ ।

शतकालनाम निर्वक्ति—**शतमिति** ॥ १७२ ।

उसके दक्षिण आनन्दधाम **प्रहसितेश्वर** लिंग है । उसके उत्तर भाग में काशीवास के फलदाता **निवासेश्वर** हैं ॥ १६७ ।

वहीं पर **चतुःसमुद्र** नामक कूप है । उसमें स्नान करने से समुद्र के स्नान का फल मिलता है और वहाँ पर ही **ज्येष्ठा देवी** भी हैं, जो प्रणाम मात्र से ज्येष्ठता दे देती हैं ॥ १६८ ।

व्याघ्रेश्वर से दक्षिण **चंडीश्वर** नामक लिंग है । उसके उत्तरांश में पितरों को हर्षदायक **दण्डखात** सरोवर है ॥ १६९ ।

ग्रहण के अनन्तर **देवखात** नामक पोखरे में स्नान करने का बड़ा माहात्म्य है । वहीं पर **जैगीषव्य मुनि** की गुहा और **जैगीषव्येश्वर** लिंग भी सुशोभित है ॥ १७० ।

वहाँ पर यदि त्रिरात्र उपवास करें, तो निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है । उसके पीछे की ओर महापुण्यदायक **देवलेश्वर** हैं ॥ १७१ ।

उससे लगा हुआ पास ही में **शतकाल** नामक लिंग है । हे कुंभसंभव ! भगवान उमापति ने इस लिंग को प्रकट करने के लिये शतवर्षपर्यन्त काशी में कालयापन किया था ॥ १७२ ।

उस लिंग के दर्शन से सौ वर्ष की आयु अखंडित (पूरी) होती है । उसके दक्षिण महाजप के फलदाता **शातातपेश्वर** हैं ॥ १७३ ।

तत्पश्चिमे हेतुकेशो हेतुभूतो महाफले ।
तद्दक्षिणे क्षपादेशो महाज्ञानप्रवर्तकः ॥ १७४ ।
तदग्रे च कणादेशस्तत्र पुण्योदकः प्रहिः ।
स्नात्वा क्काणादकूपे यः कणादेशं समर्चयेत् ॥ १७५ ।
न धनेन न धान्येन त्यजते स कदाचन ।
तस्य दक्षिणतो दृश्यो भूतीशो भूतिकृत् सताम् ॥ १७६ ।
तत्पश्चिमेऽघसंहर्तृ आषाढीश्वरसंज्ञितम् ।
दुर्वासेशश्च तत्पूर्वे सर्वकामसमृद्धिकृत् ॥ १७७ ।
तद्याम्यां भारभूतेशः पापभाराऽपहारकः ।
व्यासेश्वरस्य पूर्वेण द्वौ शंखलिखितेश्वरौ ॥
तौ दृश्यौ यत्नतः काश्यां महाज्ञानप्रवर्तकौ ॥ १७८
यत्समाप्याऽऽप्यते पुण्यं निष्ठा पाशुपतव्रतम् ।
तदाप्यतेऽत्र विश्वेशसकृदीक्षणतः क्षणात् ॥ १७९ ।

अक्षपादेति च्छेदः ॥ १७४ ।

प्रहिः कूपः ॥ १७५ ।

दुर्वासेशः कामेशात्तेन स्थापितादन्यः । सन्धिरार्षः । दुर्वासो वा कश्चिद्-गणः ॥ १७७ ।

यत्समेति । निष्ठा नियमस्तत्पूर्वकं पाशुपतव्रतं समाप्य यत्पुण्यमाप्यते, तदत्र काश्यां विश्वेशयोः शंखलिखितेश्वरयोर्दर्शनात् क्षणात् प्राप्यत इत्यर्थः । यत् सम्यक् प्राप्यत इति पाठे निष्ठापूर्वकं यत्पाशुपतव्रतं तस्मादित्यध्याहरणीयम् ॥ १७९ ।

उसके पश्चिम की ओर महाफल के हेतुभूत **हेतुकेश्वर** हैं । उनके दक्षिण महाज्ञानप्रवर्तक **अक्षपादेश्वर** हैं ॥ १७४ ।

उनसे आगे (बढ़कर) **कणादेश्वर** हैं और वहीं पर **पुण्योदक** कूप भी है । उस **कणादकूप** में नहाकर **कणादेश्वर** का पूजन करने से कभी धन और धान्य की न्यूनता नहीं होती । उसके दक्षिण सज्जनों के भूतिकर्ता **भूतीश्वर** भी दर्शन ही के योग्य हैं ॥ १७५-१७६ ।

उनसे पश्चिम अघनाशक **आषाढ़ीश्वर** हैं । उनके पूर्व सब कामों की सम्पत्ति देनेवाले **दुर्वासेश्वर** विराजित हैं ॥ १७७ ।

उनके दक्षिण पापभारापहारक **भारभूतेश्वर** हैं और पूर्वोक्त **व्यासेश्वर** के पूर्वांश में महाज्ञानदायक **शंखेश्वर** और **लिखितेश्वर** नामक दो लिंग वर्तमान हैं । काशी में प्रयत्नपूर्वक उन दोनों लिंगों का दर्शन करना चाहिए ॥ १७८ ।

पाशुपतव्रत को पूर्ण करके उद्यापन करने से जो पुण्य होता है, एक बार क्षणमात्र **विश्वेश्वर** के दर्शन से भी वह फल मिलता है ॥ १७९ ।

तदीशानेऽवधूतेशो योगज्ञानप्रवर्तकः ।
तीर्थं चैवाऽवधूतेशं सर्वकल्मषनाशकृत् ॥ १८० ।
अवधूतेश्वरात्पूर्वे लिङ्गं पशुपतीश्वरम् ।
तल्लिङ्गसेवया पुंसां पशुपाशविमोक्षणम् ॥ १८१ ।
तद्दक्षिणे गोभिलेशो महाऽभिलषितप्रदः ।
जीमूतवाहनेशश्च तत्पश्चाल्लिङ्गमुत्तमम् ॥ १८२ ।
विद्याधरपदप्राप्तिस्तल्लिङ्गपरिसेवनात् ।
मयूखार्कः पञ्चनदे गभस्तीशश्च तत्र वै ॥ १८३ ।
दधिकल्पह्रदो नाम तदुदीच्यां महाप्रहिः ।
दुर्लभं तत्प्रहिस्नानं दुर्लभं च तदीक्षणम् ॥ १८४ ।
गभस्तीशोत्तरे भागे दधिकल्पेश्वरो हरः ।
नरस्तमाशु संवीक्ष्य कल्पं त्र्यक्षपुरे वसेत् ॥ १८५ ।
गभस्तीशाद्दक्षिणे तु मङ्गलां मङ्गलालयाम् ।
उद्दिश्य मङ्गलां गौरीं भोजयेद्द्विजदम्पती ॥ १८६ ।
अलङ्कृत्य यथाशक्ति तत्पुण्यान्तो न कर्हिचित् ।
क्षितिप्रदक्षिणफला मङ्गलैका प्रदक्षिणा ॥ १८७ ।

उनके ईशानकोण पर योगज्ञान का प्रवर्तक **अवधूतेश्वर** लिंग और सर्वकल्मष-नाशक **अवधूतेश्वर तीर्थ** भी स्थित है ॥ १८० ।

उसके सेवन से लोगों का पशुपाश छूट जाता है । वह **पशुपतीश्वर लिंग अवधूतेश्वर** के पूर्वभाग में प्रकाशमान है ॥ १८१ ।

उसके दक्षिण अभिलषित वर देनेवाला **गोभिलेश्वर** लिंग है, जिसके पिछवाड़े **जीमूतवाहनेश्वर** नामक उत्तम लिंग है ॥ १८२ ।

उस लिंग की सेवा से मनुष्य विद्याधर होता है । **पंचनद** (तीर्थ) पर **मयूखादित्य** हैं और वहीं पर **गभस्तीश्वर** भी हैं ॥ १८३ ।

उनसे उत्तर की ओर **दधिकल्प ह्रद** नामक एक बड़ा भारी कूप है । उस कूप का स्नान और (गभस्तीश्वर का) दर्शन मिलना बहुत ही कठिन समस्या है ॥१८४ ।

गभस्तीश्वर से उत्तर **दधिकल्पेश्वर** लिंग है । मनुष्य उस लिंग के दर्शन करने से कल्प भर शिवलोक में वास करता है ॥ १८५ ।

गभस्तीश्वर से दक्षिण मंगलालया जो **मंगला गौरी** हैं, उनके उद्देश्य से यदि द्विजदम्पती को यथाशक्ति विभूषित करके भोजन कराया जावे, तो असीम पुण्य होता है । **मंगला गौरी** की एक प्रदक्षिणा करने से समस्त पृथिवी की प्रदक्षिणा का फल प्राप्त होता है ॥ १८६-१८७ ।

वदनप्रेक्षणादेवी मुखप्रेक्षेश्वरोत्तरे ।
मङ्गलायाः समीपे तु सर्वसिद्धिकरी शिवा ॥ १८८ ।
लिङ्गे त्वष्ट्रीशवृत्तेशौ मुखप्रेक्षोत्तरे शुभे ।
सहेमभूमिदानस्य फलं दर्शनतस्तयोः ॥ १८९ ।
तदुत्तरे चर्चिकाया देव्याः सन्दर्शनं शुभम् ।
रेवतेश्वरलिङ्गं च चर्चिकाऽग्रेण शान्तिकृत् ॥ १९० ।
महाशुभाय तस्याग्रे लिङ्गं पञ्चनदेश्वरम् ।
मङ्गलोदो महाकूपो मङ्गलापश्चिमे शुभः ॥ १९१ ।
उपमन्योर्महालिङ्गं मङ्गलापश्चिमे शुभम् ।
व्याघ्रपादेश्वरं लिङ्गं तत्पश्चाद् व्याघ्रभीतिहृत् ॥ १९२ ।
नैर्ऋत्यां च गभस्तीशाच्छशाङ्केशोऽघसंघहृत् ।
तत्पश्चिमे चैत्ररथं लिङ्गं दिव्यगतिप्रदम् ॥ १९३ ।
रेवतेशात्पश्चिमतो जैमिनीशो महाऽघहृत् ।
तत्र लिङ्गान्यनेकानि ऋषीणामृषिसत्तम ॥ १९४ ।

मंगलागौरी के पास ही में **मुखप्रेक्षेश्वर** के उत्तर सर्वसिद्धिकरी **वदनप्रेक्षणा** नाम की देवी सुशोभित हैं ॥ १८८ ।

मुखप्रेक्षेश्वर के उत्तर ही ओर **त्वष्ट्रीश्वर** और **वृत्तेश्वर** नामक दो लिंग हैं । उनके दर्शन से ससुवर्ण भूमिदान करने का फल होता है ॥ १८९ ।

उनके भी उत्तर शुभदर्शना **चर्चिका** देवी हैं । उनके आगे (बढ़ते ही) शान्तिकर **रेवतेश्वर नामक** लिंग अवस्थित हैं ॥ १९० ।

उसके आगे महाशुभप्रद **पंचनदेश्वर** लिंग है और वहीं पर मंगला गौरी के पश्चिम **मंगलोदक** नामक एक बड़ा भारी कूप है ॥ १९१ ।

और उसी ओर उपमन्यु का स्थापित एक महालिंग है, उसके पीछे व्याघ्र का भय हरनेवाला **व्याघ्रपादेश्वर** लिंग है ॥ १९२ ।

गभस्तीश्वर से नैर्ऋत्यकोण पर अघसमूह के नाशक **शशांकेश्वर** वर्तमान हैं, जिनके पश्चिम भाग में दिव्यगति के दाता **चैत्ररथेश्वर** स्थित हैं ॥ १९३ ।

रेवतेश्वर के पश्चिम महापातकहारी **जैमिनीश्वर** हैं । हे ऋषिसत्तम ! वहाँ पर अनेक ऋषियों के स्थापित लिंग हैं ॥ १९४ ।

जैमिनेशाच्च वायव्ये लिङ्गं वै रावणेश्वरम् ।
न तद्दर्शनतः पुंसां राक्षसानां महाभयम् ॥ १९५ ।
तद्दक्षिणे वराहेशो माण्डव्येशस्ततो यमे ।
तद्दक्षिणे प्रचण्डेशो योगेशो दक्षिणे ततः ॥ १९६ ।
तद्दक्षिणे च धातेशः सोमेशश्च तदग्रतः ।
तन्नैर्ऋत्यां कनकेशो महाकनकदः सताम् ॥ १९७ ।
तदुत्तरे पाण्डवानां पञ्चलिङ्गानि सन्मुदे ।
संवर्तेशस्तदग्रे च श्वेतेशस्तस्य पश्चिमे ॥ १९८ ।
तत्पश्चात् कलशेशश्च लिङ्गं कालाऽभयप्रदम् ।
कालेन पाशिते श्वेते मुने कुम्भात्[1] समुत्थितम् ॥ १९९ ।
चित्रगुप्तेश्वरं लिङ्गं तदुदीच्यामघाऽपहम् ।
चित्रगुप्तेश्वरात्पश्चाद्यो दृढेशो महाफलः ॥ २०० ।

यमे याम्ये कोणे इत्यर्थः ॥ १९६ ।
धातेशः धात्रीश इत्यर्थः ॥ १९७ ।
सन्मुदे सतां मुदे इत्यर्थः ॥ १९८ ।
तदुदीच्यामिति स्थूलगत्योक्तम् । अन्यद्वा चित्रगुप्तेश्वरमिति ॥ २०० ।

जैमिनीश्वर से वायव्यकोण पर **रावणेश्वर** लिंग है । उसके दर्शन से लोगों को राक्षसों का कुछ भी भय नहीं होने पाता ॥ १९५ ।

उसके दक्षिण **वराहेश्वर** हैं । उनके दक्षिण भाग में **माण्डव्येश** हैं । उनके दक्षिण **प्रचण्डेश्वर** हैं । फिर उनके दक्षिण **योगेश्वर** हैं ॥ १९६ ।

उनके दक्षिण **धातेश्वर** हैं, उनके भी आगे बढ़ते ही **सोमेश्वर** लिंग मिलता है । उसके नैर्ऋत्यकोण में सज्जनों को कनक देनेवाला **कनकेश्वर** लिंग है ॥ १९७ ।

उसके उत्तर हर्षकारक पाँचों पाण्डवों के स्थापित पाँच लिंग हैं, जिनके आगे **संवर्तेश्वर** और पश्चिम की ओर **श्वेतेश्वर** लिंग है ॥ १९८ ।

उसके पिछवाड़े ही काल से अभय कर देने वाला **कलशेश्वर** लिङ्ग है, जो कि श्वेतकेत के कालफाँस में पड़ जाने पर अमृत के घड़े से निकला था ॥ १९९ ।

उसके भी उत्तर अघनाशक **चित्रगुप्तेश्वर** लिंग हैं । उसके पीछे महाफलदायक **दृढेश्वर** विद्यमान हैं ॥ २०० ।

---

1. अमृतकुम्भादिति क्वचित्पाठः ।

कलशेशादवाच्यां च ग्रहेशो लिङ्गमुत्तमम् ।
ग्रहबाधां शमयति तल्लिङ्गपरिलोकनम् ॥ २०१ ।
चित्रगुप्तेश्वरात् पश्चाद्यदृच्छेशो महाफलः ।
उतथ्यवामदेवेशं लिङ्गं याम्यां ग्रहेश्वरात् ॥ २०२ ।
कम्बलाऽश्वतरेशौ च तस्य दक्षिणतः शुभे ।
तत्रैव निर्मलं लिङ्गं नलकूबरपूजितम् ॥ २०३ ।
तद्याम्यां मणिकर्णीशं तदुदक् पलितेश्वरम् ।
जराहरं च तत्रैव तत्पश्चात्पापनाशनम् ॥ २०४ ।
तद्याभ्यां निर्जरेशस्तन्नैर्ऋत्यां पितामहः ।
पितामहस्रोतिका च तत्र श्राद्धं महाफलम् ॥ २०५ ।
तद्याम्यां वरुणेशश्च बाणेशस्तस्य दक्षिणे ।
पितामहस्रोतिकायां कूश्माण्डेशस्तु सिद्धिकृत् ॥ २०६ ।
तत्पूर्वतो राक्षसेशो गङ्गेशस्तस्य दक्षिणे ।
तदुत्तरे निम्नगेशाः सन्ति लिङ्गान्यनेकशः ॥ २०७ ।

जराहरं लिङ्गमिति शेषः ॥ २०४ ।

कलशेश्वर के दक्षिण **ग्रहेश्वर** नामक एक उत्तम लिंग है । उसके दर्शन से सब ग्रहों की बाधा का शमन हो जाता है ॥ २०१ ।

चित्रगुप्तेश्वर के पश्चाद्भाग में जो **यदृच्छेश्वर** लिंग है, वह भी बड़ा ही फलप्रद है । फिर **ग्रहेश्वर** के दक्षिण **उतथ्यवामदेवेश्वर** लिंग है ॥ २०२ ।

जिसके दक्षिण **कंबलाश्वतरेश्वर** नामक शुभप्रद दो लिंग विराजमान हैं और वहीं पर नलकूबर का पूजित एक निर्मल लिंग भी अवस्थित है ॥ २०३ ।

उसके दक्षिण **मणिकर्णिकेश्वर** हैं, जिनसे उत्तर दिशा में **पलितेश्वर** और **जराहरेश्वर** लिंग है और उसके पीछे की ओर **पापनाशन लिंग** भी है ॥ २०४ ।

उसके पश्चिम **निर्जरेश्वर** हैं, उससे नैर्ऋत्यकोण पर **पितामहेश्वर** हैं और वहीं पर **पितामहस्रोती** नामक तीर्थ भी है । वहाँ पर श्राद्ध करने से बड़ा फल होता है ॥ २०५ ।

उससे दक्षिण **वरुणेश्वर** हैं । उनके दक्षिण भाग में **बाणेश्वर** विराजमान हैं । फिर पितामहस्रोतिका पर सिद्धिकारक **कूश्माण्डेश्वर** लिंग है ॥ २०६ ।

उसके पूर्वभाग में **राक्षसेश्वर** और दक्षिण ओर **गंगेश्वर** हैं; पर उत्तर प्रान्त में तो बहुत से **निम्नगेश्वर** वर्तमान हैं ॥ २०७ ।

वैवस्वतेश्वरस्तत्र यमलोकनिवारकः ।
तत्पश्चाददितीशश्च चक्रेशस्तस्य चाऽग्रतः ॥ २०८ ।
तदग्रे कालकेशाख्यो दृष्टप्रत्ययकृत् परः ।
छाया संदृश्यते तत्र निष्पापस्तदवेक्षणात् ॥ २०९ ।
तदग्रे तारकेशश्च तदग्रे स्वर्णभारदः ।
तदुत्तरे मरुत्तेशः शक्रेशश्च तदग्रतः ॥ २१० ।
तद्दक्षिणे च रम्भेशस्तत्रैव च शशीश्वरः ।
तदुत्तरे लोकपेशास्तत्र लिङ्गान्यनेकशः ॥ २११ ।
नागगन्धर्वयक्षाणां किन्नराऽप्सरसामपि ।
देवर्षिगणवृन्दानां नानासिद्धिकराण्यपि ॥ २१२ ।
शक्रेशाद्दक्षिणे भागे फाल्गुनेशो महाऽघहृत् ।
महापाशुपतेशश्च तद्याम्यां शुभकृत् परः ॥ २१३ ।
तत्पश्चिमे समुद्रेश ईशानेशस्तदुत्तरे ।
तत्पूर्वे लाङ्गलीशश्च सर्वसिद्धिसमर्पकः ॥ २१४ ।

छाया देवप्रतिबिम्बः । तदवेक्षणाच्छायादर्शनात् ॥ २०९ ।

वहीं पर **वैवस्वतेश्वर** भी हैं, जिनके दर्शन से यमलोक में नहीं जाना पड़ता । उसके पीछे **अदितीश्वर** और आगे की ओर **चक्रेश्वर** हैं ॥ २०८ ।

उनके आगे बढ़ते ही देखने मात्र से विश्वास उपजाने वाले **कालकेश्वर** हैं । वहाँ पर उनकी छाया दिखाई देती है । उनके दर्शन से प्राणी निष्पाप हो जाता है ॥ २०९ ।

उनके आगे **तारकेश्वर** हैं, जिनके सन्मुख ही **स्वर्णभारदेश्वर** विराजित हैं । उनसे उत्तर **मरुत्तेश्वर** हैं, उनके आगे **शक्रेश्वर** हैं ॥ २१० ।

उनसे दक्षिण **रंभेश्वर** और (वहीं पर) **शशीश्वर** भी हैं । उनके उत्तर की ओर सभी लोकपालों के स्थापित अनेक लिंग वर्तमान हैं ॥ २११ ।

और वहीं पर नाग, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, अप्सरा, देवता और ऋषिगण के प्रतिष्ठित बहुतेरे सिद्धिकर लिंग सुशोभित हैं ॥ २१२ ।

शक्रेश्वर के दक्षिण महापापापहारी **फाल्गुनेश्वर** हैं । उनके दक्षिण भाग में परम-शुभकर्ता **महापाशुपतेश्वर** स्थित हैं ॥ २१३ ।

उनके पश्चिम **समुद्रेश्वर** और उत्तर में **ईशानेश्वर** एवं पूर्व की ओर सर्वसिद्धिप्रद **लांगलीश्वर** लिंग है ॥ २१४ ।

रागद्वेषविनिर्मुक्ताः सिद्धिं यान्ति च पूजकाः ।
तेषां मोक्षो मयाऽऽख्यातो न तु ते देवि मानवाः ॥ २१५ ।
मधुपिङ्गश्वेतकेतू लाङ्गलीशे च तपस्विनौ ।
अनेनैव शरीरेण जग्मतुः सिद्धिमुत्तमाम् ॥ २१६ ।
तत्रैव नकुलीशश्च कपिलेशश्च तत्र वै ।
रहस्यं परमं चोभौ मम व्रतनिषेविणौ ॥ २१७ ।
तत्सन्निधौ प्रीतिकेशस्तत्र प्रीतिर्मम प्रिये ।
तत्रोपवासादेकस्मात् फलमब्दशताधिकम् ॥ २१८ ।
एकं जागरणं कृत्वा प्रीतिकेश उपोषितः ।
गणत्वपदवी तस्य निश्चिता मम पर्वणि ॥ २१९ ।
देवस्य दक्षिणे भागे तत्र वापी शुभोदका ।
तदम्बुप्राशनं नृणामपुनर्भवहेतवे ॥ २२० ।
तज्जलात्पश्चिमे भागे दण्डपाणिः सदावति ।
तत्प्राच्यवाच्युत्तरस्यां तारः कालः शिलादजः ॥ २२१ ।

पर्वणि शिवरात्रौ ॥ २१९ ।
तारः तारकेशः । **कालः** कालेशः । **शिलादजः** नन्दिकेश्वरः ॥ २२१ ।

हे देवि ! जो लोग रागद्वेष को छोड़कर (उस लिंग का) पूजन करते हैं, वे सिद्धि को प्राप्त होते हैं, उन लोगों को मोक्ष मिलता है । अतएव उनको मनुष्य नहीं कहना चाहिए ॥ २१५ ।

इसी **लांगलीश्वर** पर **मधुपिंग** और **श्वेतकेतु** नाम के दो तपस्वियों ने इसी शरीर से परमसिद्धि का लाभ किया था ॥ २१६ ।

वहीं पर **नकुलीश्वर** और **कपिलेश्वर** भी हैं । मेरे व्रतधारियों को ये दोनों ही (लिंग) परम रहस्यरूप हैं ॥ २१७ ।

उनके पार्श्व ही में मेरे प्रीतिवर्द्धक **प्रीतिकेश्वर** हैं । हे देवि ! वहाँ पर एक उपवास करने से भी सैकड़ों वर्ष व्रत करने का उत्तम फल प्राप्त होता है ॥ २१८ ।

जो कोई मेरे शिवरात्र इत्यादि पर्व पर व्रत में रहकर **प्रीतिकेश्वर** के समीप एक भी जागरण करता है, वह अवश्यमेव मेरा गण हो जाता है ॥ २१९ ।

उस लिंग के दक्षिण भाग में एक **शुभोदका** बावली भी है, उसका जल पीने से लोगों को पुनर्जन्म का दुःख नहीं भोगना पड़ता ॥ २२० ।

उस बावली के पश्चिम भाग में **दण्डपाणि**, पूर्व में **तारकेश्वर**, दक्षिण में **कालेश्वर**, और उत्तर में **नन्दिकेश्वर** सदैव रक्षा करते रहते हैं ॥ २२१ ।

लिङ्गत्रयं हृदब्जे यच्छ्रद्धया पीतमर्पयेत् ।
यैस्तत्र तज्जलं पीतं कृतार्थास्ते नरोत्तमाः ॥ २२२ ।
अविमुक्तसमीपेऽर्च्यो मोक्षेशो मोक्षबुद्धिदः ।
करुणेशो दयाधाम तदुदीच्यां समर्चयेत् ॥ २२३ ।
स्वर्णाक्षेशस्तु तत्प्राच्यां ज्ञानदस्तस्य चोत्तरे ।
सौभाग्यगौरी सम्पूज्या बहुसौभाग्यसम्पदे ॥ २२४ ।
विश्वेशाद्दक्षिणे भागे निकुम्भेशः प्रयत्नतः ।
क्षेत्रक्षेमकरः पूज्यस्तत्पश्चाद्विघ्ननायकः ॥ २२५ ।
सर्वविघ्नच्छिदभ्यर्च्यश्चतुर्थ्यां तु विशेषतः ।
विरूपाक्षो निकुम्भेशाद्वह्नौ पूज्यः सुसिद्धिदः ॥ २२६ ।
तद्दक्षिणे च शुक्रेशः पुत्रपौत्रप्रवर्धनः ।
तदुदीच्यां महालिङ्गं देवयानीश्वराऽभिधम् ॥ २२७ ।
शुक्रेशादग्रतः पूज्यः कचेश इति संज्ञितः ।
शुक्रकूपमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ॥ २२८ ।

यज्जलं श्रद्धया पीतं लिङ्गत्रयमर्पयेत् तदम्बुप्राशनमिति पूर्वेणैवान्वयः ॥ २२२ ।
समर्चयेत्तमित्यर्थः ॥ २२३ ।
सुसिद्धिदः शोभनसिद्धिदः स्वरूपभूतसिद्धिद इति वा ॥ २२६ ।
उपस्पृश्य स्नात्वा ॥ २२८ ।

उसका जल यदि श्रद्धापूर्वक पीया जावे तो पीनेवाले के हृदयारविन्द में ये पूर्वोक्त तीनों ही लिंग वास करते हैं । (जैसे ही हो) उस बावली के जल पीनेवाले उत्तम जन सर्वथा कृतार्थ हो जाते हैं

अविमुक्तेश्वर से सटे हुए मोक्ष-बुद्धि के दाता **मोक्षेश्वर** पूजनीय हैं । उनके उत्तर दयाधाम करुणेश्वर की पूजा करनी चाहिए ॥ २२२ । २२३ ।

उनके पूर्व **स्वर्णाक्षेश्वर** लिंग है । उसके उत्तर **ज्ञानदेश्वर** हैं और वहीं पर बड़ी सौभाग्य-सम्पत्ति के लिये **सौभाग्य-गौरी** का भी पूजन करना उचित है ॥ २२४ ।

विश्वेश्वर के दक्षिण भाग में क्षेत्र के क्षेमकर्ता **निकुंभेश्वर** को प्रयत्नपूर्वक पूजना चाहिए । उनके पीछे की ओर सर्वविघ्नविदारक **विघ्न(वि)नायक** विराजते हैं । विशेषरूप से चतुर्थी के दिन उनकी अर्चना करनी चाहिए । फिर **निकुंभेश्वर** से अग्निकोण पर सुसिद्धिप्रद **विरूपाक्षेश्वर** लिंग परमपूजनीय है ॥ २२५-२२६ ।

उसके दक्षिण शुक्रेश्वर हैं, जो पुत्र-पौत्रादि की वृद्धि करते हैं । उनके उत्तर भाग में **देवयानीश्वर** नामक एक महालिंग अवस्थित है ॥ २२७ ।

शुक्रेश्वर के अग्रभाग में पूजनीय **कचेश्वर** हैं । वहीं शुक्रकूप भी है, जिसके जल के छूने ही से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है ॥ २२८ ।

भवानीशौ नमस्यौ च शुक्रेशात्पश्चिमे शुभौ ।
भक्तपोतप्रदौ तौ तु निजभक्तस्य सर्वदा ॥ २२९ ।
अलर्केशः समभ्यर्च्यः शुक्रेशात्पूर्वदिक् स्थितः ।
मदालसेश्वरस्तत्र तत्पूर्वे सर्वविघ्नहृत् ॥ २३० ।
गणेश्वरेश्वरं लिङ्गं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
हत्वा लङ्केश्वरं विप्र रघुनाथप्रतिष्ठितम् ॥ २३१ ।
तल्लिङ्गस्पर्शनादाशु ब्रह्महाऽपि विशुद्ध्यति ।
महापुण्यप्रदं चाऽन्यत्तत्राऽर्च्यं त्रिपुरान्तकम् ॥ २३२ ।
दत्तात्रेयेश्वरं लिङ्गं तस्य पश्चिमतः शुभम् ।
तद्याम्यां हरिकेशेशो गोकर्णेशः ततः परम् ॥ २३३ ।
सरस्तदग्रे पापघ्नं तत्पश्चाच्च ध्रुवेश्वरः ।
तदग्रे ध्रुवकुण्डं च पितृप्रीतिकरं परम् ॥ २३४ ।

रघुणा रघुवंशोद्भवेन रामाख्येन विष्णुनेति यावत् । तदुक्तमारण्यके पर्वणि –
जातो दशरथस्याऽऽसीद्रामो नाम महात्मनः ।
विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय च ॥ इति ।
रघुनाथेति पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः ॥ २३१ ।

शुक्रेश्वर के पश्चिम अपने भक्तों को सदैव पार उतारने वाले शुभप्रद भवानी-शंकर को प्रणाम करना चाहिए ॥ २२९ ।

शुक्रेश्वर से पूर्वदिशा में स्थित **अलकेश्वर** और **मदालसेश्वर** का पूजन करना उचित है । उनके पूर्व सर्वविघ्नविध्वंसक तथा समस्त सिद्धियों के दाता **गणेश्वर** विराज रहे हैं । हे मुने ! **लंकेश्वर** को मारकर रघुनाथ के स्थापित उस **(रघुनाथेश्वर)** लिंग के स्पर्श करने से ब्रह्मघाती मनुष्य भी तुरत ही शुद्ध हो जाता है । फिर वहीं पर महापुण्यप्रद **त्रिपुरान्तकेश्वर** नामक एक और भी लिंग है ॥ २३०-२३२ ।

उसके पश्चिम शुभमय **दत्तात्रेयेश्वर**, उनके दक्षिण **हरिकेशेश्वर** हैं । तदनन्तर **गोकर्णेश्वर** लिंग है ॥ २३३ ।

उसके आगे **(गोकर्ण)** सरोवर है, जो पापों का नाशक है । उसके पीछे **ध्रुवेश्वर** हैं, जिनके आगे पितरों का परमप्रीतिकर **ध्रुवकुंड** है ॥ २३४ ।

तदुत्तरे पिशाचेशः पैशाच्यपदहारकः ।
पित्रीशस्तद्यमदिशि पितृकुण्डं तदग्रतः ॥ २३५ ।
तत्र श्राद्धकृतां पुंसां तुष्येयुः प्रपितामहाः ।
अग्रे ध्रुवेशात्तारेशो वैद्यनाथः स एव हि ॥ २३६ ।
तन्नैर्ऋत्यां मनोर्लिङ्गं वंशवृद्धिकरं परम् ।
प्रियव्रतेश्वरं लिङ्गं वैद्यनाथपुरोगतम् ॥ २३७ ।
तद्याम्यां मुचुकुन्देशस्तत्पार्श्वे गौतमेश्वरः ।
तत्पश्चिमे तु भद्रेशस्तद्याम्यामृष्यशृङ्गिणः ॥ २३८ ।
ब्रह्मेशस्तत्पुरस्ताच्च पर्जन्येशस्तदीशगः ।
तत्प्राच्यां नहुषेशश्च विशालाक्षी च तत्पुरः ॥ २३९ ।
विशालाक्षीश्वरं लिङ्गं तत्रैव क्षेत्रवस्तिदम् ।
जरासन्धेश्वरं लिङ्गं तद्याम्यां ज्वरनाशनम् ॥ २४० ।
तत्पुरस्ताद्धिरण्याक्षलिङ्गं पूज्यं हिरण्यदम् ।
तत्पश्चिमे गयाधीशस्तत्प्रतीच्यां भगीरथः ॥ २४१ ।

तारेशः प्रणवेशः । ताराङ्ग इति क्वचित् ॥ २३६ ।
ऋष्यशृङ्गिणः ईश्वर इति ॥ २३८ ।
क्षेत्रवस्तिदं काशीवासदम् ॥ २४० ।

फिर उसके उत्तर पिशाचता को दूर करनेवाले **पिशाचेश्वर** हैं, जिनके दक्षिण **पितृकुण्ड** है और वहीं पर **पित्रीश्वर** लिंग भी विराजित है ॥ २३५ ।

वहाँ पर श्राद्ध करने वालों के पितरलोग बहुत ही सन्तुष्ट होते हैं । **ध्रुवेश्वर** के आगे **तारेश्वर** हैं, जो वैद्यनाथ कहे जाते हैं ॥ २३६ ।

उनसे नैर्ऋत्यकोण पर परमवंशवृद्धिकर मनु का स्थापित लिंग है और जो वैद्यनाथ के सामने ही शिवलिंग है, वह तो **प्रियव्रतेश्वर** हैं ॥ २३७ ।

उनके दक्षिण **मुचुकुन्देश्वर** और पास ही में **गौतमेश्वर** हैं, फिर पश्चिम की ओर **भद्रेश्वर** हैं, जिनके दक्षिण **ऋष्यशृंगीश्वर** हैं ॥ २३८ ।

उनके आगे ही **ब्रह्मेश्वर** हैं और ईशानकोण पर **पर्जन्येश्वर** वर्तमान हैं । उनके पूर्व **नहुषेश्वर** हैं और उनके आगे **विशालाक्षी देवी** हैं ॥ २३९ ।

वहीं पर क्षेत्र में वास देनेवाला **विशालाक्षीश्वर** लिंग भी है । उसके दक्षिण ज्वरनाशक **जरासन्धेश्वर** हैं ॥ २४० ।

उनके आगे हिरण्यप्रद **हिरण्याक्षेश्वर लिंग** है । उसके भी पश्चिम **गयाधीश्वर** हैं । उनके पश्चिम **भगीरथेश्वर** हैं ॥ २४१ ।

तदग्रे च दिलीपेशो ब्रह्मेशात्पश्चिमे मुने ।
तत्र लिङ्गं सकुण्डं च स्नातुरिष्टफलप्रदम् ॥ २४२ ।
तत्र विश्वावसोर्लिङ्गं मुण्डेशस्तत्र पूर्वतः ।
तद्दक्षिणे विधीशश्च तद्याम्यां वाजिमेधकः ॥ २४३ ।
दशाश्वमेधिके स्नात्वा दृष्ट्वा तल्लिङ्गमुत्तमम् ।
दशानामश्वमेधानां फलं प्राप्नोति मानवः ॥ २४४ ।
तदुत्तरे मातृतीर्थं स्नातुर्जन्मभयाऽपहृत् ।
तंत्र स्नानं तु यः कुर्यान्नारी वा पुरुषोऽपि वा ॥ २४५ ।
ईप्सितं फलमाप्नोति मातृणां च प्रसादतः ।
दक्षिणे तव कुण्डाच्च पुष्पदन्तेश्वरः परः ॥ २४६ ।
तदग्निदिशि देवर्षिगणलिङ्गान्यनेकशः ।
पुष्पदन्ताद्दक्षिणतः सिद्धीशः परसिद्धिदः ॥ २४७ ।
पञ्चोपचारपूजातः स्वप्ने सिद्धिं परां दिशेत् ।
राज्यप्राप्तिर्भवेत्पुंसां हरिश्चन्द्रेशसेवया ॥ २४८ ।

वाजिमेधको वाजिमेधेश्वर इत्यर्थः ॥ २४३ ।
तव अगस्तेः ॥ २४६ ।

हे अगस्त्य मुने ! उसके आगे **ब्रह्मेश्वर** से पश्चिम **दिलीपेश्वर** हैं । वहाँ पर एक कुण्ड भी है, जो नहालेवाले के इष्ट फल को देता है ॥ २४२ ।

वहीं पर **विश्वावसु** का स्थापित लिंग भी है, जिसके पूर्व **मुण्डेश्वर** हैं । उनके दक्षिण **विधीश्वर** हैं, उनके दक्षिण **वाजिमेधेश्वर** लिंग है ॥ २४३ ।

दशाश्वमेध पर स्नान करके उस लिंग का दर्शन करने से मनुष्य दश अश्वमेध करने का फलभागी होता है ॥ २४४ ।

उसके उत्तर भाग में **मातृतीर्थ** है, जो स्नान करने वाले के जन्मभय को दूर भगा देता है । वहाँ पर स्त्री हो अथवा पुरुष, जो कोई नहाता है, वह मातृकाओं के प्रसाद से ईप्सित फल को पाता है । तुम्हारे अगस्त्यकुंड के दक्षिण प्रसिद्ध **पुष्पदन्तेश्वर** हैं ॥ २४५-२४६ ।

उनसे अग्निकोण पर देवता और ऋषिगण के स्थापित बहुतेरे लिंग विराजमान हैं । उक्त **पुष्पदन्तेश्वर** से दक्षिण परमसिद्धिप्रद **सिद्धीश्वर** हैं ॥ २४७ ।

यदि कोई उनकी पंचोपचार से पूजा करे, तो उसे वे स्वप्न में परमसिद्धि को जता देते हैं । **हरिश्चन्द्रेश्वर** के सेवन से लोगों को राज्य का लाभ होता है ॥ २४८ ।

तत्पश्चिमे नैर्ऋतेशोऽङ्गिरसेशस्ततो यमे ।
तद्दक्षिणे च क्षेमेशश्चित्राङ्गेशस्ततो यमे ॥ २४९ ।
तद्दक्षिणे च केदारो रुद्राऽनुचरताप्रदः ।
चन्द्रसूर्यान्वयैर्भूपैः केदाराद्दक्षिणापथे ॥ २५० ।
प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि शतशोऽथ सहस्रशः ।
लोलार्काद्दक्षिणाशायां सर्वाशापूरकोऽर्चितः ॥ २५१ ।
करन्धमेश्वरं लिङ्गं तत्प्रतीच्यां महाफलम् ।
तत्पश्चिमे महादुर्गा महादुर्गप्रभञ्जनी ॥ २५२ ।
शुष्केश्वरं च तद्याम्यां शुष्कया सरितार्चितम् ।
जनकेशस्तत्प्रतीच्यां शङ्कुकर्णस्तदुत्तरे ॥ २५३ ।
महासिद्धीश्वरं लिङ्गं तत्प्राच्यां सर्वसिद्धिदम् ।
सिद्धकुण्डे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा सिद्धेश्वरं महत् ॥ २५४ ।
सर्वासामेव सिद्धीनां पारं गच्छति मानवः ।
शङ्कुकर्णेशवायव्ये लिङ्गं वायव्यसंज्ञितम् ॥ २५५ ।

सर्वाशापूरकोऽर्कविनायक इति शेषः ॥ २५१ ।
शुष्कया असीनाम्न्या नद्या ॥ २५३ ।

उनके पश्चिम **नैर्ऋतेश्वर** हैं । उनके दक्षिण **अंगिरसेश्वर** हैं । फिर उनके दक्षिण **क्षेमेश्वर** और उनसे भी दक्षिण **चित्रांगेश्वर** लिंग अवस्थित हैं ॥ २४९ ।

उसके दक्षिण (प्रसिद्ध) **केदारेश्वर** लिंग है, जो लोगों को महादेव का अनुचर बना देता है । **केदारेश्वर** से दक्षिणापथ में चन्द्रवंशीय और सूर्यवंशीय राजाओं के स्थापित किये हुए सैकड़ों/सहस्रों लिंग विद्यमान हैं । लोलार्क से दक्षिण **अर्क-विनायक** हैं, जो पूजन करने से सब किसी की आशाओं को परिपूर्ण कर देते हैं ॥ २५०-२५१ ।

उनके पश्चिम महाफलप्रद **करन्धमेश्वर** लिंग है । उसके पश्चिम (दुर्गाकुंड पर) **महादुर्गा** विराजती हैं । वे भक्तों की दुर्गति को दूर भगा देती हैं ॥ २५२ ।

उनके दक्षिण **शुष्का** (असी) नदी के पूजित **शुष्केश्वर** हैं । उनसे पश्चिम **जनकेश्वर** हैं, उनके उत्तर **शंकुकर्णेश्वर** हैं ॥ २५३ ।

उनके पूर्व समग्र सिद्धियों का दाता **महासिद्धीश्वर** लिंग है । जो मनुष्य **सिद्धकुंड** में नहाकर **महासिद्धीश्वर** का दर्शन करता है, वह समस्त सिद्धियों के पार हो जाता है । **शंकुकर्णेश्वर** के वायव्यकोण पर **वायव्येश्वर** नामक लिंग है ॥ २५४-२५५ ।

तदग्रे च विभाण्डेशः कहोलेशस्तदुत्तरे ।
तत्र द्वारेश्वरं लिङ्गं देवी द्वारेश्वरी शुभा ॥ २५६ ।
तत्पूजनाद्भवेत्सिद्धिरानन्दाऽरण्यवस्तिदा ।
रक्षकाश्च गणास्तत्र नानारूपायुधा मुने ॥ २५७ ।
तत्रैव हरिदीशं च लिङ्गं कात्यायनं ततः ।
तत्पार्श्वे जाङ्गलेशश्च तत्पश्चान्मुकुटेश्वरः ॥ २५८ ।
तत्रैव कुण्डं विमलं सर्वयात्राफलप्रदम् ।
स्नात्वा मुकुटकुण्डे च दृष्ट्वा वै मुकुटेश्वरम् ॥ २५९ ।
यात्रया सर्वलिङ्गानां यत्फलं तदवाप्यते ।
तपसश्चाऽपि योगस्य सिद्धिदा साऽवनी परा ॥ २६० ।
मुने शतं सहस्राणि तत्र लिङ्गानि सिद्धये ।
एका दिगुत्तरा देवि वाराणस्यां प्रिया मम ॥ २६१ ।
तत्रापि पञ्चायतने रतिर्मे नितरां प्रिये ।
उत्पत्तिस्थितिकालेऽपि तत्राऽहं सर्वदा स्थितः ॥ २६२ ।

आनन्दाऽरण्यवस्तिदा अविमुक्तवसतिदा ॥ २५७ ।
उत्तरा दिगिति त्रिलोचने स्थितत्वादुक्तम् ॥ २६१ ।
पञ्चायतने ओंकारे । उत्पत्तिस्थितिकालेऽपीत्यपिशब्दाल्लयेऽपि ॥ २६२ ।

उसके आगे **विभंडेश्वर** हैं । उनके उत्तरभाग में **कहोलेश्वर** लिंग है । वहीं पर **द्वारेश्वर लिंग** और **द्वारेश्वरी देवी** विराजमान हैं ॥ २५६ ।

उनकी आराधना करने से आनन्दवन की वाससिद्धि होती है । हे मुने ! उस स्थान पर आयुध लेकर विविधरूपधारी गणलोग काशीपुरी की रक्षा करते रहते हैं ॥ २५७ ।

वहीं पर **हरिदीश्वर** और **कात्यायनेश्वर** लिंग भी है । उसके पास में ही **जांगलेश्वर** और पीछे की ओर **मुकुटेश्वर** लिंग वर्तमान हैं ॥ २५८ ।

जो कोई सर्वयात्रा-फलप्रद निर्मल **मुकुटकुंड** में स्नान कर भगवान् **मुकुटेश्वर** का दर्शन करता है, उसे समस्त लिंगों की यात्रा का फल मिल जाता है, वह भूमि ही योगाभ्यास अथवा तपस्या की परमसिद्धिदात्री है ॥ २५९-२६० ।

हे मुने ! वहाँ पर सिद्धि ही के लिए सैकड़ों वरन् सहस्रों लिंग सुशोभित हैं । परन्तु हे देवि ! वाराणसी में एक उत्तर दिशा ही मुझे बड़ी प्यारी है ॥ २६१ ।

उसमें भी **पंचायतन** (अर्थात् ओंकारेश्वर का स्थान) तो बहुत ही प्रसन्न पड़ गया है । वहाँ पर तो मैं सृष्टि, स्थिति और प्रलयकाल में भी सदैव बैठा ही रहता हूँ ॥ २६२ ।

एवं यस्तु विजानाति स पापैर्न प्रलिप्यते ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं त्रिसत्यं नाऽन्यतः प्रिये ॥ २६३ ।
शीघ्रं तत्रैव गन्तव्यं यदिच्छेन्मामकं पदम् ।
उद्देशमात्रं लिङ्गानि कथितानि मया मुने ॥ २६४ ।
द्विस्त्रिःकृत्वः स्थापितानि भक्त्या लिङ्गानि कानिचित् ।
न तानि पुनरुक्तानि श्रद्धयाऽर्च्यानि सर्वतः ॥ २६५ ।
एतानि यानि लिङ्गानि यानि कुण्डानि येऽन्धवः ।
या वाप्यस्तानि सर्वाणि श्रद्धेयानि मनीषिभिः ॥ २६६ ।
एतेषां दर्शनात्स्नानात्फलमत्रोत्तरोत्तरम् ।
अत्रत्यानां च लिङ्गानां कूपानां सरसामपि ॥ २६७ ।
वापीनां चाऽपि मूर्तीनां कः संख्यातुं प्रभुर्भवेत् ।
आनन्दकाननस्थानि तृणान्यपि परं वरम् ॥ २६८ ।
दिवौकसोऽपि नान्यत्र यत्पुनर्जन्मभाजनम् ।
सर्वलिङ्गमयी काशी सर्वतीर्थैकजन्मभूः ॥ २६९ ।

अन्धवः कूपाः । **श्रद्धेयानि** आस्तिक्यबुद्ध्या सेव्यानि ॥ २६६ ।

सरसां सरोवराणां पुष्करिणीनामिति यावत् । तत्र शतहस्ता वाप्यः । द्विशतहस्ताः पुष्करिण्यः । **"शतहस्ता भवेद्वापी द्विगुणा पुष्करिणी भवेत्"** इति वचनात् ॥ २६७ ।

हे प्रिये ! जो कोई इस मर्म को जान जाता है, वह फिर पापों में कभी लिप्त नहीं हो सकता । यह मैं सर्वथा सत्य कहता हूँ ॥ २६३ ।

जो कोई मेरे लोक में पहुँचा चाहे, उसे तुरत वहाँ पर ही चला जाना चाहिए । हे मुनिवर ! मैंने तुमसे संक्षेप ही से इन लिंगो को कह (बता) दिया है ॥ २६४ ।

इनमें बहुतेरे लिंग भक्ति के मारे दो-दो, तीन-तीन, स्थापित किये गये हैं, किन्तु उनका वर्णन मैं नहीं कर सका, पर श्रद्धापूर्वक उन सबका भी पूजन सर्वथा करना ही चाहिए ॥ २६५ ।

इन सब (पूर्वोक्त) लिंग, कुण्ड, कूप और बावली इत्यादि पर बुद्धिमान् लोगों को सदैव श्रद्धा करनी चाहिए ॥ २६६ ।

इन सबके दर्शन और स्नान से उत्तरोत्तर अधिक फल होता है । काशी के लिंग, कूप, सरोवर, वापी और देवमूर्तियों की संख्या कौन कर सकता है ? (क्योंकि) अन्यत्र के देवताओं से भी आनन्दकानन के तृण बहुत अच्छे हैं । कारण यही है कि इनको फिर जन्म लेना नहीं पड़ेगा । अगणित लिंगमयी काशी ही समस्त तीर्थों की जन्मभूमि है ॥ २६७-२६९ ।

स्वर्गापवर्गयोर्दात्री दृष्टा देहान्तसेविता ।
मम प्रियतमा देवि त्वमेव तपसो बलात् ॥ २७० ॥
स्वभावतस्त्वियं काशी सुखविश्रामभूर्मम ।
ये काश्या नाम गृह्णन्ति येऽनुमोदन्त एव हि ॥ २७१ ॥
ते मे शाखविशाखाभाः स्कन्दनन्दिगजास्यवत् ।
त एव भक्ता मे देवि त एव मम सेवकाः ॥ २७२ ॥
मुमुक्षवस्त एवाऽत्र ये चाऽऽनन्दवनौकसः ।
तपस्तप्तं महत्तैस्तु कृतं तैस्तु महाव्रतम् ॥ २७३ ॥
तैश्च दत्तं महादानं ये चाऽऽनन्दवनौकसः ।
ते स्नातसर्वतीर्था वै तेऽखिलाऽध्वरदीक्षिताः ॥ २७४ ॥
ते चीर्णसर्वधर्मा हि ये चाऽऽनन्दवनौकसः ।
सुराऽसुरोरगनरा भूमिभाराय तेऽखिलाः ॥ २७५ ॥
वयस्यपीह चरमे येनानन्दवनौकसः ।
अन्त्यजोऽपि वरः काश्यां नान्यत्र श्रुतिपारगः ॥
संसारपारगः पूर्वस्त्वन्त्यश्चाऽन्त्यजोऽप्यधः ॥ २७६ ॥

स्वर्गापवर्गयोरिति । दृष्टा स्वर्गदा देहान्तसेविता अपवर्गदेत्यर्थः ॥ २७० ॥
ते मे शाखविशाखाभाः तत्सदृशा इत्यर्थः ॥ २७२ ॥

यह दर्शन से स्वर्ग और अन्तसेवन से मोक्ष दे देती है । हे देवि ! तुम तो अपनी तपस्या के बल से मेरी प्रियतमा हुई हो ॥ २७० ।

पर यह काशी स्वभाव से ही मेरे सुख और विश्राम की भूमि है । जो लोग काशी का नाम भी लेते हैं अथवा उसका अनुमोदन करते हैं, हे देवि ! वे ही लोग शाख, विशाख, नन्दी, स्कन्द और गणेश के समान हैं और वे ही भक्तगण मेरे (सच्चे) सेवक हैं ॥ २७१-२७२ ।

काशीवासी ही मोक्ष के अधिकारी हैं । (क्योंकि) कठोर तपस्या, बड़े से बड़े व्रत एवं बहुतेरे महादानों के करनेवालों को ही काशी में वास मिलता है । जो लोग आनन्दवन में वास करते हैं, उनको समस्त तीर्थों में स्नान, समग्र यज्ञों की दीक्षा और सब धर्मों के परिपूर्ण करने का सौभाग्य प्राप्त होता है । सुर, असुर, नाग और नर जो लोग अन्त अवस्था में भी काशी में वास नहीं करते, उन सबको भूमि का भार ही समझना चाहिए । अन्यत्र के वैदिक ब्राह्मण से भी काशीस्थ चाण्डाल ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि चाण्डाल तो भवसागर के पार हो जाता है, पर ब्राह्मण उससे भी अधोगति में पड़ा सड़ा करता है ॥ २७३-२७६ ।

स एव नूनं सर्वज्ञः स एव ह्यधिकेक्षणः ।
यः पार्थिवीं तनुं हित्वा काश्यां धत्ते सुधामयीम् ॥ २७७ ।
श्रुत्वाऽध्यायमिदं पुण्यं सर्वतीर्थरहस्यवत् ।
काशीदर्शनजं पुण्यं प्राप्नोति नियतं नरः ॥ २७८ ।
यः पठेदिममध्यायं प्रातः प्रातर्दिने दिने ।
दृष्टानि तेन सर्वाणि तीर्थान्येतानि नाऽन्यथा ॥ २७९ ।
सर्वलिङ्गमयाऽध्यायं योऽमुं नित्यं जपेत्सुधीः ।
न तं यमो न तं दूता नैनमंहोऽपि बाधते ॥ २८० ।
ब्रह्मयज्ञफलं तस्य जायते सुकृतात्मनः ।
यो जपेदमुमध्यायं शुचिस्तद्गतमानसः ॥ २८१ ।
स स्नातः सर्वकुण्डेषु सर्ववाप्यम्बुपः स च ।
सर्वलिङ्गार्चकः सोऽत्र योऽमुमध्यायमाजपेत् ॥ २८२ ।
किमन्यैर्बहुभिः स्तोत्रैरतिस्तोकफलप्रदैः ।
मत्प्रेमवद्भिरध्यायो जप्तव्योऽयं महाफलः ॥ २८३ ।
महादानेषु दत्तेषु यत्फलं प्राप्यतेऽत्र वै ।
सकृज्जपान्महाऽध्यायादमुष्मात्तत्समाप्यते ॥ २८४ ।

श्रुत्वाऽध्यायमिदं पुण्यमिति । इदं पुण्यमाख्यानं श्रुत्वा । किं तत् ? अध्याय-मध्यायरूपम् । इममिति पाठश्चेद् दृश्यते तदा ऋजुरेवाऽर्थः ॥ २७८ ।

ब्रह्मयज्ञो ज्ञानयज्ञः ॥ २८१ ।

सर्वथा वही मनुष्य सर्वज्ञ अथवा दूरदर्शी हो सकता है, जो काशी में मिट्टी का शरीर त्याग कर सुधामय दिव्यस्वरूप हो जाता है ॥ २७७ ।

मनुष्य समस्त तीर्थों के रहस्य से भरे हुए इस पवित्र अध्याय के सुनने से अवश्य ही काशीदर्शन का पुण्य प्राप्त करता है ॥ २७८ ।

प्रतिदिन प्रातःकाल इस अध्याय के पाठ करने से उक्त समस्त तीर्थों के दर्शन का फल होता है । इसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है ॥ २७९ ।

जो बुद्धिमान् जन नित्य ही इस समग्र लिंगात्मक अध्याय को जपता है, उसे क्या यम, क्या यमदूत अथवा पापों ही का कुछ भय नहीं रहने पाता ॥ २८० ।

जो सुकृती पुरुष पवित्रतापूर्वक मन लगाकर इस अध्याय का पाठ करता है, उसे ब्रह्मयज्ञ का फल मिलता है ॥ २८१ ।

जो कोई इस अध्याय का पारायण कर जावे, उसे समस्त कुण्डों में स्नान, समग्र वापियों के जलपान और सब लिंगों के दर्शन का फल प्राप्त होता है ॥ २८२ ।

बहुतेरे छोटे फल देनेवाले अन्यान्य स्तोत्रों से कौन फल है ? मुझसे प्रेम रखने-वालों को इसी महाफलदायक अध्याय का जप करना उचित है ॥ २८३ ।

इस अध्याय के केवल एक ही बार पढ़डालने से जो फल होता है, इस संसार में

स्नात्वा सर्वाणि तीर्थानि दृष्ट्वा लिङ्गान्यनेकशः ।
यत्फलं लभ्यते मर्त्यैस्तदेतज्जपनाद्ध्रुवम् ॥ २८५ ।
इदमेव तपोऽत्युग्रमयमेव जपो महान् ।
काशीलिङ्गावलीनामाऽध्यायो जप्येत यन्मुने ॥ २८६ ।
मम द्रुहे नास्तिकाय वेदनिन्दारताय च ।
न दातव्यो न दातव्यो न दातव्यो जपस्त्वयम् ॥ २८७ ।
अध्यायस्याऽस्य जपनात्पापं ब्रह्मवधोद्भवम् ।
अगम्यागमनं चाऽपि तथाऽभक्ष्यस्य भक्षणम् ॥ २८८ ।
गुरुदाराऽभिचारोत्थं हेमस्तेयसमुद्भवम् ।
मातापितृवधाज्जातं गोभ्रूणहननोद्भवम् ॥ २८९ ।
महापापानि पापानि ज्ञाताऽज्ञातानि भूरिशः ।
उपपापानि पापानि मनोवाक्कायजान्यपि ॥ २९० ।
विलयं यान्त्यशेषाणि निःसन्देहं ममाऽऽज्ञया ।
पुत्रान्पौत्रान् धनं धान्यं कलत्रं क्षेत्रमेव च ॥ २९१ ।
मनः समीहितं सर्वं स्वर्गं मोक्षं सुखान्यपि ।
जप्त्वाऽध्यायमिमं विद्वान् प्राप्स्यत्येव न संशयः ॥ २९२ ।

जप्यत इति जपोऽध्यायः ॥ २८७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ।

बहुतेरे महादानों के करने पर भी वह फल पाया जाता है कि नहीं ? इसमें सन्देह ही है ॥ २८४ ।

समस्त तीर्थों में स्नान कर समग्र लिंगों के दर्शन करने से जो फल होता है, इसके पाठ करने में भी अवश्य वही फल प्राप्त होता है ॥ २८५ ।

हे मुने ! यही उग्र तपस्या और बड़ा भारी जप है, जो इस **काशी-लिंगावली** नामक अध्याय का अध्ययन बन पड़े ॥ २८६ ।

मेरे विरोधी (शिवद्रोही), नास्तिक और वेदनिन्दक व्यक्ति को यह परम जप्य अध्याय कभी नहीं देना चाहिए ॥ २८७ ।

ब्रह्महत्या, अगम्यागमन, अभक्ष्यभक्षण, गुरुदाराभिचार, सुवर्णस्तेय, माता और पिता की हत्या, गोहत्या, बालघात इत्यादि मन, वचन और कर्म के द्वारा ज्ञान से अथवा अज्ञानता से किये हुए, पातक-उपपातक, महापातक इत्यादि सब इस अध्याय के पाठ करने से विलाय जाते हैं । मेरी आज्ञानुसार इसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए । पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, कलत्र, क्षेत्र, सुख, स्वर्ग और मोक्ष इत्यादि सब कुछ मनोवांछित वस्तु को इस अध्याय के पाठ से विज्ञजन प्राप्त कर सकते हैं, यह बात सर्वथा निश्चित है ॥ २८८-२९२ ।

इति यावत्समाख्याति देवो देवीपुरः कथाम् ।
तावन्नन्दी समागत्य प्रणम्येति व्यजिज्ञपत् ॥ २९३ ।
जाता परिसमाप्तिश्च महाप्रासादनिर्मितेः ।
सज्जीकृतो रथश्चाऽयं ब्रह्माद्या मिलिताः सुराः ॥ २९४ ।
तार्क्ष्यगः पुण्डरीकाक्षो द्वारि तिष्ठति साऽनुगः ।
प्रतीक्षमाणोऽवसरं पुरस्कृत्य मुनीश्वरान् ॥ २९५ ।
चतुर्दशसु लोकेषु ये ये तिष्ठन्ति सुव्रताः ।
ते निशम्याऽद्य मिलिताः प्रावेशिकमहोत्सवम् ॥ २९६ ।

स्कन्द उवाच–

इति नन्दिवचः श्रुत्वा देवो देवीसमायुतः ।
दिव्यं रथं समारुह्य निर्जगाम त्रिविष्टपात् ॥ २९७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे क्षेत्रतीर्थवर्णनं नाम सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ।

जिस समय भगवान् शिव जगदम्बा से ये ही बातें कर रहे थे, उसी घड़ी नन्दी ने आकर प्रणाम किया और वे कुछ निवेदन करने लगे ॥ २९३ ।

उन्होंने कहा–(नाथ !) विशाल राजमन्दिर का निर्माण समाप्त हो चुका और रथ भी सुसज्जित है । ब्रह्मा-इत्यादि समस्त देवतालोग भी इकट्ठे हो गये हैं ॥ २९४ ।

स्वयं भगवान् पुण्डरीकाक्ष भी गरुड़ पर चढ़े हुए अपने अनुचरवर्ग के साथ, मुनीश्वरों को आगे करके द्वार पर खड़े होकर आपके चलने की प्रतीक्षा कर रहे हैं ।।२९५।

चौदहों भुवनों के समस्त सुव्रतलोग प्रावेशिक महोत्सव का समाचार सुन आज यहाँ पर आकर एकत्र हुए हैं ।। २९६ ।

स्कन्द ने कहा–

नन्दी की इस बात को सुनते ही भगवान् शंकर पार्वती देवी के सहित दिव्यरथ पर चढ़कर त्रिविष्टप (त्रिलोचन) नामक स्थान से चल पड़े ।। २९७ ।

गुप्त, लुप्त और प्रकट हैं, लिंग तीर्थ बहुतेक ।
करि प्रयत्न ढूंढ़े मिलै, एहि लगि धरिये टेक ॥ १ ।
जहँ पूरब कुंड अनेक रहे, तहँ पै अब लोगन की बस्ती ।
जब बावलि कूप हेराय चले, तब लिंगन की कहँ लों गिनती ॥
अब ढूँढ़हु पै मिलते नहिं ये सब तीरथ हैं जिनकी मनती ।
अजहूँ कितनेहि प्रसिद्ध लखात जथारुचि दर्शन की विनती[1] ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायां सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ।

●

---

1. इस अध्याय के पठन-श्रवण से यह प्रमाणित होता है–(क) 'काशीखण्ड' के निर्माण-युग में काशी में पदे-पदे शिवलिङ्ग, पंचदेवों के स्थान, वापी, कूप, तड़ाग, कुण्ड, सरोवर आदि भरे पड़े रहे । (ख) इस अध्याय का, इसी से बड़ा माहात्म्य है । (ग) काशीखंड के अनुवादक पं. नारायणपति त्रिपाठी ने यथाशक्ति इनको व्यक्तिगत स्तर पर ढूँढ़ने का प्रयास किया था–यह बात वे अनेक बार कहा करते थे । (घ) इनमें से बहुत से लुप्त या अनुसंधेय हैं । अध्यायान्त की सवैया में इसका संकेत दिया गया है । –(सम्पादक)

॥ अथाष्टनवतितमोऽध्यायः ॥

व्यास उवाच–

शृणु सूत महाभाग यथा स्कन्देन भाषितः ।
महामहोत्सवः शम्भोः पृच्छते कुम्भसम्भवे ॥ १ ।

स्कन्द उवाच–

निशामय महाप्राज्ञ शम्भुप्रावेशिकीं कथाम् ।
त्रैलोक्यानन्दजननीं महापातकतङ्गिनीम् ॥ २ ।
मन्दरादागतः शम्भुश्चैत्रे दमनपर्वणि ।
प्राप्याऽप्याऽऽनन्दगहनमितश्चेतश्चचार ह ॥ ३ ।

अष्टाऽधिके नवत्याख्येऽध्याये तावन्निरुच्यते ।
श्रीमुक्तिमण्डपे श्रीमद्विश्वेश्वरसमागमः ॥ १ ॥

विश्वेश्वरस्य महामहोत्सवं वक्तुं प्रस्तावयति – **शृणु सूतेति** । कुम्भसम्भवे कुम्भसम्भवाय कुम्भात्सम्यग् भवतीति कुम्भसम्भुस्तस्मै इति वा ॥ १ ।

प्रावेशिकीं प्रवेशसंसृष्टां तत्सम्बद्धामित्यर्थः । **तङ्गिनीं** नाशिनीम् ॥ २ ।

दमनपर्वणि दमनत्रयोदश्यां चैत्रशुक्लत्रयोदश्यामित्यर्थः । **प्राप्याऽपीति** । आनन्दवनस्य प्राप्त्यैव यद्यपि परमानन्दो जातस्तथापीतस्ततश्चचारेत्यर्थः ॥ ३ ।

(मुक्तिमण्डप में प्रवेश)

व्यासदेव ने कहा–

हे महाभाग सूत! भगवान् कार्तिकेय ने अगस्त्य मुनि के पूछने पर महादेव के महामहोत्सव का वर्णन किया था, उसे श्रवण करो ॥ १ ।

स्कन्द ने कहा–

हे महाप्राज्ञ! अगस्त्य! त्रैलोक्य भर में आनन्द उपजाने वाली एवं महापातकनाशिनी **विश्वेश्वर** के प्रवेश की कथा का श्रवण करो ॥ २ ।

चैत्र मास की शुक्ला त्रयोदशी को दमन पर्व पर भगवान् शंकर मन्दराचल से वाराणसी पुरी में आकर इधर-उधर विचरण करने लगे ॥ ३ ।

मोक्षलक्ष्मीविलासेऽथ प्रासादे सिद्धिमागते ।
देवो विरजसः पीठादन्तर्गेहं विवेश ह ॥ ४ ।
ऊर्जशुक्लप्रतिपदि बुधराधासमायुजि ।
चन्द्रे सप्तमराशिस्थे शेषेषूच्चग्रहेषु च ॥ ५ ।
वाद्यमानेषु वाद्येषु प्रसन्नासु हरित्सु च ।
ब्राह्मणानां श्रुतिरवन्यक्कृतान्यरवान्तरे ॥ ६ ।
प्रतिशब्दितभूर्लोकभुवर्लोकान्तराध्वनि ।
सर्वं प्रमुदितं चाऽऽसीच्छम्भोः प्रावेशिकोत्सवे ॥ ७ ।
जगुर्गन्धर्वनिकरा ननृतुश्चाऽप्सरोगणाः ।
चारणास्तु स्तुतिं कुर्युर्जहृषुर्देवतागणाः ॥ ८ ।

विरजसः पीठात्त्रिलोचनस्थानात् ॥ ४ ।

बुधराधेति । राधा अनुराधा । अनुराधानक्षत्रे चन्द्रस्य वृश्चिकराशिस्थत्वाद् विश्वेश्वरनाम्नश्च वृषभराशिस्थत्वाच्चन्द्रे सप्तमराशिस्थे इत्युक्तम् ॥ ५ ।

हरित्सु दिक्षु ॥ ६ ।

प्रतीति । प्रतिशब्दितः प्रतिध्वनिं प्राप्तो भूर्लोकभुवर्लोकयोरन्तरध्वा तस्मिन् सतीत्यर्थः । प्रावेशिकोत्सवस्य विशेषणं वा ॥ ७ ।

तदनन्तर जब **मोक्षलक्ष्मीविलास** नामक राजप्रासाद बन गया, तब कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा, बुधवार, अनुराधा नक्षत्र, सप्तमराशिस्थ चन्द्र और अन्य समस्त ग्रहों के उच्च राशियों पर अवस्थित होने पर भगवान् विश्वेश्वर त्रिलोचन पीठ से अन्तर्गृह में प्रविष्ट हुए[1] ॥ ४-५।

उस वेला बाजे बजने लगे । समस्त दिशायें सुहावनी लगती थीं । ब्राह्मणलोगों की वेदध्वनि के आगे दूसरी कोई भी बात ही नहीं सुनाई पड़ती थी ॥ ६ ।

यहाँ तक कोलाहल होने लगा कि, भूर्लोक की प्रतिध्वनि से भुवर्लोक के मध्य का मार्ग भर गया । (कहाँ तक कहें) शंकर के प्रासाद-प्रवेश के महोत्सव में सभी लोग प्रमुदित हो गये थे ॥ ७ ।

गन्धर्वगण मंगलगीतों को गाने लगे, अप्सरा लोग नृत्य करने लगीं, सिद्ध-चारण मनोहर स्तुति करने लगे और देवताओं के तो हर्ष का ठिकाना ही नहीं रह गया ॥ ८ ।

---

1. उक्त वर्णन में निर्दिष्ट, तिथि-पक्ष प्रभृति की गणना द्वारा गणितज्ञ 'काशीखण्ड' के निर्माण-काल के तिथि-निर्धारण में सहायता दे सकते हैं – (सम्पादक)

ववुर्गन्धवहा वाता ववृषुः कुसुमैर्घनाः ।
सर्वे मङ्गलनेपथ्याः सर्वे मङ्गलभाषिणः ॥ ९ ।
स्थावरा जङ्गमाः सर्वे जाता आनन्दमेदुराः ।
सुराऽसुरेषु सर्वेषु गन्धर्वेषूरगेषु च ॥ १० ।
विद्याधरेषु साध्येषु किन्नरेषु नरेषु च ।
स्त्रीपुंजातेषु सर्वेषु रेजुश्चत्वार एव च ॥ ११ ।
निष्प्रत्यूहं च नितरां पुरुषार्थाः पदे पदे ।
धूपधूमभरैर्व्योम यद्रक्तं तु तदा मुने ॥ १२ ।
नाऽद्याऽपि नीलिमाऽनन्तं परित्यजति कर्हिचित् ।
नीराजनाय ये दीपास्तदा सर्वे प्रबोधिताः ॥ १३ ।
तेषां ज्योतींषि खेऽद्याऽपि राजन्ते तारकाच्छलात् ।
प्रतिसौधं पताकाश्च नानाकारा विचित्रिताः ॥ १४ ।
रम्यध्वजप्रभाधौता रेजुः प्रतिशिवालयम् ।
क्वचिद् गायन्ति गीतज्ञाः क्वचिन्नृत्यन्ति नर्तकाः ॥ १५ ।

चत्वारः पुरुषार्था इत्यन्वयः ॥ ११ ।

यद्रक्तं येन नीलिम्ना रक्तं सम्बद्धं तं नीलिमानमिति सम्बन्धः । प्रततमिति वा पाठः ॥ १२ ।

उस घड़ी चारों ओर से सुगन्धित वायु बहने लगी । वनमंडली पुष्पों की वृष्टि करने लगी । सभी लोग मंगल वेष से सुसज्जित और मांगलिक वार्तालाप में तत्पर हो गये ॥ ९ ।

क्या स्थावर, क्या जंगम, सभी जीव-जन्तु आनन्दमय बन गये थे । (उस समय) देव, दानव, गन्धर्व, नाग, विद्याधर, साध्य, किन्नर, नर एवं समस्त स्त्री-पुरुषों पर निर्विघ्नरूप से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पदार्थ पद-पद पर झलक रहे थे । हे मुने! उस घड़ी धूप (बत्ती) के धूमों से जो गगनमंडल रँग उठा, इसी कारण वह किसी प्रकार से आज तक नीलिमा को नहीं छोड़ता एवं आरती करने के लिये जो दीपक जलाये गये, उन्हीं की ज्योतियाँ आज तक आकाश में ताराओं के छल से चमक रही हैं । प्रत्येक अटारियों पर नाना प्रकार की विचित्र पताकाएँ फहरा रहीं थी ॥ १०-१४ ।

प्रत्येक शिवालय में रमणीय ध्वजा उड़ रही थी । कहीं पर गवैया लोग बैठकर गीतों को अलाप रहे थे, कहीं पर नर्तक लोग नाच रहे थे ॥ १५ ।

चतुर्विधानि वाद्यानि वाद्यन्ते च क्वचित् क्वचित् ।
प्रत्यध्वं चन्दनरसच्छटापिच्छिलभूमयः ॥ १६ ।
हरितश्वेतमाञ्जिष्ठनीलपीतबहुप्रभाः ।
प्रत्यङ्गणं शुभाकारा रङ्गमालाश्चकाशिरे ॥ १७ ।
रत्नकुट्टिमभूभागा गोपुराऽग्रेषु रेजिरे ।
सुधोज्ज्वला हर्म्यमालाः सौधनाम प्रपेदिरे ॥ १८ ।
अचेतनान्यपि तदा चेतनानीव सम्बभुः ।
यानि कानीह कीर्त्यन्ते मङ्गलानि घटोद्भव ॥ १९ ।
तेषामेव हि सर्वेषां तत्तु जन्मदिवाऽभवत् ।
आगत्य देवदेवोऽथ मुक्तिमण्डपमाविशत् ॥ २० ।

छटाः प्रक्षेपा बिन्दवो वा ॥ १६ ।

रङ्गमाला उत्सवनिमित्तकमालाः ॥ १७ ।

रत्नकुट्टिमभूभागाः रत्नानि च कुट्टिमानि मणयश्च तैर्बद्धा भूभागा इत्यर्थः । गोपुराग्रेषु बहिर्द्वारसम्मुखेषु ॥ १८ ।

तत्तु जन्मदिवाऽभवत् यस्मिन् दिवसे विश्वेशस्य प्रवेशस्तदेव दिनं तेषां सर्वेषां जन्मदिवसमभवदित्यर्थः । तत्तदिति पाठे तत्प्रसिद्धं तद्दिनमिति योज्यम् ॥ २० ।

कहीं-कहीं पर चतुर्विध[1] बाजे (रोशन-चौकी आदि) बजाये जाते थे । प्रत्येक मार्गों में चन्दनरस के छिड़काव से भूमि विच्छिल (फिसलनवाली) हो रही थी ॥ १६ ।

प्रत्येक गृह के आँगन में हरे, श्वेत, काले, नीले, पीले इत्यादि बहुतेरे प्रकार के उत्तम रंगों की सजावटें चमक रहीं थीं ॥ १७ ।

गृहों की डेवढ़ियों के सामने रत्न की जड़ाऊ भूमियों के भाग झलक रहे थे । एवं चूना लगने से अटारियों का नाम तभी से सौध[2] पड़ गया ॥ १८ ।

हे घटोद्भव! उस घड़ी जितनी ही चेतन वस्तु हैं, वे सब सचेतन की तरह जान पड़ती थीं और संसार में जो-जो मंगल कहे जाते हैं, मानो उन सबों का वही जन्मदिन नियत हुआ था । इस प्रकार के महासमारोह के साथ भगवान् विश्वेश्वर ने आकर मुक्ति-मण्डप में प्रवेश किया ॥ १९-२० ।

---

1. (क) मुह से बजाए जाने वाले वाद्य, (ख) मंजीरा आदि, (ग) तन्त्रीवाद्य–वीणाप्रभृति एवं (घ) तालवाद्य–मृदंग आदि को 'चतुविध वाद्य' कहते हैं ।
2. सौध= सुधासिक्त (सुधा= चूना) ।

अथाऽभिषिक्तश्चतुराननेन महर्षिवृन्दैः सह देवदेवः ।
शुभासनस्थः सहितो भवान्या कुमारवृन्दैः परितो वृतश्च ॥ २१ ।
रत्नैरसंख्यैर्बहुभिर्दुकूलैर्माल्यैर्विचित्रैर्लसदिष्टगन्धैः ।
अपूपुजन् देवगणा महेशं तदा मुदा ते च महोरगेन्द्राः ॥ २२ ।
रत्नाकरैश्चापि गिरीन्द्रवर्यैर्यथास्वमन्यैरपि पुण्यधीभिः ।
सम्पूजितः कुम्भज तत्र शम्भुर्नीराजितो मातृगणैरथेशः ॥ २३ ।
सन्तोष्य सर्वान् प्रथमं मुनीन्द्रान् स्वैः स्वैर्हृदिस्थैश्च चिराऽभिलाषैः ।
ब्रह्माणमाभाष्य शिवोऽथ विष्णुं जगाद सर्वाऽमरवृन्दवन्द्यः ॥ २४ ।
इतो निषीदेति समानपूर्वं त्वं मे समस्तप्रभुतैकहेतुः ।
दूरेऽपि तिष्ठन्निकटस्त्वमेव त्वत्तो न कश्चिन्मम कार्यकर्ता ॥ २५ ।
त्वया दिवोदासनरेन्द्रवर्यः सदूपदेशैश्च तथोपदिष्टः ।
यथा स सिद्धिं परमामवाप समीहितं मे निखिलं च सिद्धम् ॥ २६ ।

कुमारवृन्दा गणेशकार्तिकियसमूहाः सनकादयो वा ॥ २१ ।

मुदा हर्षेण । द्वे[1] इति पाठे द्वे लक्षे देवगणा इत्यर्थः ॥ २२ ।

सदूपदेशैरित्यत्र दैर्घ्यमार्षम् । सदोपदेशैरिति पाठे सन्त आ समन्ततो ये उपदेशास्तैरित्यर्थः ॥ २६ ।

इसके अनन्तर भगवान् महेश्वर कुमारवृन्दों से वेष्टित होकर भगवती भवानी देवी के साथ उत्कृष्ट सिंहासन पर जा विराजे । तब स्वयं चतुरानन ब्रह्मदेव महर्षि-मंडल के सहित उनका अभिषेक करने लगे ॥ २१ ।

फिर तो देवगण, नागगण, समुद्रगण, गिरीन्द्रगण एवं और सब पवित्र बुद्धि के लोग, असंख्य रत्न, बहुतेरे वस्त्र, विचित्र माला और अपूर्व सुगन्धवाले द्रव्यों के द्वारा बड़े हर्ष से **महेश्वर** की पूजा करने लगे । हे कुंभज! उसी घड़ी मातृकाओं ने भी भगवान् की (मंगल) आरती उतारी ॥ २२-२३।

इसके उपरान्त समस्त सुरवृन्दवन्दित भगवान् विश्वनाथ प्रथम सब मुनीन्द्रों को उनके हृदयस्थित चिराभिलाषों से सन्तुष्ट कर, ब्रह्मा से कुछ बतियाय (बात कर के) फिर विष्णु से सादर कहने लगे ॥ २४ ।

आओ, इधर बैठो, क्योंकि मेरी समस्त प्रभुता के हेतु तो तुम्हीं हो । दूर रहने पर भी तुम मेरे निकट में ही वर्तमान हो और तुमसे बढ़कर दूसरा कोई भी मेरा कार्यकर्ता नहीं है ॥ २५ ।

तुम्हीं ने राजा दिवोदास को ऐसा उत्तम उपदेश दिया कि वह नृपाल परमसिद्धि कोप्राप्त हो गया और मेरा भी समस्त अभिलषित सिद्ध हुआ ॥ २६ ।

---

1. 'ते' इत्यत्र ।

विष्णो वरं ब्रूहि य ईप्सितस्ते नाऽदेयमत्राऽस्ति किमप्यहो ते ।
इदं मयाऽऽनन्दवनं यदाप्तं हेतुस्तु तत्र त्वमसौ गणेशः ॥ २७ ।
न मे प्रियं किञ्चन विष्टपत्रये तथा यथेयं परसौख्यभूमिः ।
वाराणसी ब्रह्मरसायनस्य खनिर्जनिर्यत्र न दीर्घशायिनाम् ॥ २८ ।
श्रुत्वेति वाक्यं जगदीशितुश्च प्रोवाच विष्णुर्वरदं महेशम् ।
यदि प्रसन्नोऽसि पिनाकपाणे तदा पदाद्दूरमहं न ते स्याम् ॥ २९ ।
श्रुत्वेति वाक्यं मधुसूदनस्य जगाद तुष्टो नितरां पुरारिः ।
सदा मुरारे मम सन्निधौ त्वं तिष्ठस्व निर्वाणरमाश्रयेऽत्र ॥ ३० ।
आदावनाराध्य भवन्तमत्र यो मां भजिष्यत्यपि भक्तियुक्तः ।
समीहितं तस्य न सेत्स्यति ध्रुवं परात्परान्मेऽम्बुजचक्रपाणे ॥ ३१ ।

हेतुस्त्विति तुश्चार्थे गणेशश्चेत्यनेन सम्बध्यते ॥ २७ ।

दीर्घशायिनां त्यक्तप्राणानाम् ॥ २८ ।

निर्वाणरमाश्रये मोक्षलक्ष्म्यास्पदे मुक्तिमण्डप इति यावत् । तव लक्ष्मीपतित्वान्मोक्षलक्ष्म्याः सद्मनि स्थातुमुचितमिति भावः ॥ ३० ।

मे कथंभूतात् परात्परान्महतोऽपि महत इत्यर्थः । **"महतो महीयान्"** श्रुतेः । वरात्परादिति क्वचित् ॥ ३१ ।

हे विष्णो! तुम मनमाने वरदान माँगो; क्योंकि यहाँ पर तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं है । यह जो मैं इस आनन्दकानन में पहुँच सका, इसके मुख्य कारण तुम और यह गणेश हैं ॥ २७ ।

(हे हरे!) त्रैलोक्यमात्र में जैसी मुक्तिदायिनी, ब्रह्मरसायन की खानि, परम-सौख्य की भूमि यह वाराणसीपुरी मेरी प्यारी है, वैसा दूसरा कुछ भी नहीं ॥ २८ ।

भगवान् विश्वेश्वर की इन बातों को सुनकर विष्णुदेव ने वरदानोन्मुख शंकर से कहा-'हे पिनाकपाणे! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो यही वर दीजिये कि मैं कभी आपके चरणारविन्द से दूर न होने पाऊँ ॥ २९ ।

मधुसूदन की बात सुनते ही परम सन्तुष्ट होकर भगवान् त्रिपुरारि ने कहा, हे मुरारे! तुम सदैव इस **मोक्षलक्ष्मीविलास** में मेरे पास ही रहा करो ॥ ३० ।

हे चक्रपाणे ! जो कोई मेरा अनन्यभक्त होने पर भी प्रथम तुम्हारी आराधना किये बिना मेरी पूजा करेगा, उसके मनोरथ की सिद्धि कभी मुझसे नहीं हो सकेगी ॥ ३१ ।

सर्वत्र सौख्यं मम मुक्तिमण्डपे संतिष्ठमानस्य भवेदिहाऽच्युत ।
न तत्तु कैलासगिरौ सुनिर्मले न भक्तचेतस्यपि निश्चलश्रियि ॥ ३२ ।
निमेषमात्रं स्थिरचित्तवृत्तयस्तिष्ठन्ति ये दक्षिणमण्डपेऽत्र मे ।
अनन्यभावा अपि गाढमानसा न ते पुनर्गर्भदशामुपासते ॥ ३३ ।
संस्नाय ये चक्रसरस्यगाधे समस्ततीर्थैकशिरोविभूषणे ।
क्षणं विशन्तीह निरीहमानसा निरेनसस्ते मम पार्षदा हि ॥ ३४ ।
स्मरन्ति ये मामपवर्गमण्डपे किञ्चिद्यथाशक्ति ददत्यपि स्वम् ।
शृण्वन्ति पुण्याश्च कथाः क्षणं स्थिरास्ते कोटिगोदानफलं भजन्ति ॥ ३५ ।
उपेन्द्रतप्तानि तपांसि तैश्चिरं स्नाता हि ते चाखिलतीर्थसार्थकैः[1] ।
स्नात्वेह ये वै मणिकर्णिकाह्रदे समासते मुक्तिजनाश्रये क्षणम् ॥ ३६ ।
तीर्थानि सन्तीह पदे पदे हरे तुला क्व तेषां मणिकर्णिकायाः ।
कतीह नो सन्ति शुभाश्च मण्डपाः परं परो मुक्तिरमाश्रयोऽयम् ॥ ३७ ।

निश्चलश्रियि निश्चला श्रीर्यस्मिंस्तस्मिन् ॥ ३२ ।

मुक्त्यै जना मुक्तिजना मुमुक्षव इत्यर्थः । तेषामाश्रये । मुक्तिरमाश्रय इति क्वचित् ॥ ३६ ।

इस मुक्तिमण्डप में चाहे कहीं पर रहना पड़े, पर यहाँ जो सौख्य मुझको होता है, वह निर्मल कैलास पर्वत पर अथवा दृढ़भक्ति से युक्त निज सेवक के हृदय में भी नहीं मिलता ॥ ३२ ।

जो कोई स्थिरचित्तवृत्ति होकर निमेष भर भी मेरे इस दक्षिण मंडप में बैठ जाते हैं, वे गाढ़भक्ति से पूर्ण अनन्यचित्त लोग फिर कभी गर्भदशा के उपासक नहीं होने पाते ॥ ३३ ।

समस्त तीर्थों के मुकुटमणि **चक्रपुष्करिणी** तीर्थ में स्नान कर जो लोग संयतचित्त से इस **मुक्तिमण्डप** में प्रवेश करते हैं, वे निष्पाप तो हो ही जाते हैं, पर अन्त में मेरे पारिषद बना दिये जाते हैं ॥ ३४ ।

जो लोग इस मुक्तिमंडप में क्षणमात्र भी बैठकर मेरा स्मरण, यथाशक्ति कुछ धन का दान एवं पवित्र कथाओं का श्रवण करते हैं, उनको करोड़ों गोदान का पुण्य मिलता है ॥ ३५ ।

हे उपेन्द्र! जो लोग मणिकर्णिका में स्नान कर क्षण भर भी इस मुक्तिमण्डप में मेरा स्मरण करते हैं, उनको समस्त कठोर तपस्याओं के करने और अशेष तीर्थस्थानों में नहाने का सम्पूर्ण फल लाभ होता है ॥ ३६ ।

हे नारायण! यद्यपि इस काशी में पद-पद पर तीर्थ पड़े हुए हैं, पर उन सबों के साथ भला कभी मणिकर्णिका की तुलना हो सकती है! यों ही यहाँ पर बहुत से उत्तम मंडप के रहते भी यह मुक्तिमण्डप ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ३७ ।

---

1. अखिलतीर्थसङ्घैरित्यर्थः ।

कैवल्यमण्डपस्याऽस्य भविष्ये द्वापरे हरे ।
लोके ख्यातिर्भवित्रीयमेष कुक्कुटमण्डपः ॥ ३८ ।

हरिरुवाच–

भालनेत्र समाख्याहि कथं निर्वाणमण्डपः ।
तथा ख्यातिमसौ गन्ता यथा देवेन भाषितम् ॥ ३९ ।

देवदेव उवाच–

महानन्दो द्विजो नाम भविष्योऽत्र चतुर्भुज ।
अग्रवेदी समाचारस्त्यक्ततीर्थप्रतिग्रहः ॥ ४० ।
अदाम्भिकोऽक्रूरमनाः सदैवाऽतिथिवल्लभः ।
अथ यौवनमासाद्य पितर्युपरते स हि ॥ ४१ ।
विषमेषुशरैस्तीव्रैः कारितस्त्वपदे पदम् ।
जहार कस्यचिद् भार्यां मैत्रीं कृत्वा तु तेन वै ॥ ४२ ।
तया च प्रेरितोऽपेयं पपौ चाऽपि विमोहितः ।
अभक्ष्यभक्षणरुचिरभून्मदनमोहितः ॥ ४३ ।

अग्रवेदी ऋग्वेदी ॥ ४० ।

हे विष्णो ! भविष्य में द्वापर-युग में इस मुक्तिमंडप का नाम लोक में **कुकुटमण्डप** के नाम से प्रसिद्ध होगा ॥ ३८ ।

विष्णु ने पूछा–

हे प्रभो भालनेत्र ! जैसी कि आप कह रहे हैं, वैसी इस मुक्तिमण्डप की प्रसिद्धि क्योंकर होगी ? आप उसे वर्णन करें ॥ ३९ ।

देवदेव ने कहा–

हे चतुर्भुज! यहाँ पर होनेवाले द्वापरयुग में एक महानन्द नामक ब्राह्मण होगा । वह ऋग्वेदपाठी, सदाचारतत्पर, तीर्थ-प्रतिग्रह से पराङ्मुख होगा ॥ ४० ।

दंभरहित, सरलचित्त एवं सदैव अतिथियों का सेवक होगा । फिर वह युवा होते ही अपने पिता के मर जाने पर कामदेव के तीखे बाणों से विंधकर कुमार्ग में उतारू होने लगेगा । वह किसी से मैत्री बढ़ाकर उसकी स्त्री को उठा लायेगा ॥ ४१-४२ ।

(फिर) उस कुलटा के जाल में फँसकर कामातुरता से अपेयपान और अभोज्य वस्तुवों के भोजन में प्रवृत्त हो जायेगा ॥ ४३ ।

वैष्णवान् धनिनो दृष्ट्वा क्षणं वैष्णववेषभृत् ।
शैवान्निन्दति मूढात्मा नरकत्राणकारणम् ॥ ४४ ।
शिवभक्तान् समालोक्य किञ्चिच्च परिदित्सुकान् ।
गर्हयेद्वैष्णवान् सर्वान् शैवलिङ्गोपजीविकः ॥ ४५ ।
इति पाखण्डधर्मज्ञः सन्ध्यास्नानपराङ्मुखः ।
विशालतिलकः स्रग्वी शुद्धधौताम्बरोज्ज्वलः ॥ ४६ ।
शिखी चोपग्रहकरः सर्वेभ्योऽसत्प्रतिग्रही ।
तस्याऽपत्यद्वयं जातमुन्मत्तपथवर्तिनः ॥ ४७ ।
एवं तस्य प्रवृत्तस्य कश्चित्पर्वतदेशतः ।
समागमिष्यति धनी तीर्थयात्रार्थसिद्धये ॥ ४८ ।
स्नात्वा स चक्रसरसि कथयिष्यति चेति वै ।
अहमस्मि धनी दित्सुर्जात्या चाण्डालसत्तमः ॥ ४९ ।
अस्ति कश्चित्प्रतिग्राही यस्मै दद्यामहं धनम् ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा केश्चिच्चाऽङ्गुलिसंज्ञया ॥ ५० ।

उपग्रहकरः हस्तकुशल इत्यर्थः ॥ ४७ ।

(इस प्रकार के कुत्सित आचरणों से अपनी सम्पत्ति का नाश करके) वह मूढ़ात्मा धनी वैष्णवों को देखते ही वैष्णवों का वेष धर शैव लोगों की निन्दा और दानशील शैवों के समाज में पहुँच स्वयं परम पाशुपत बनकर वैष्णव लोगों की निन्दा करने में अगुवा बन जायेगा ॥ ४४-४५ ।

इस भाँति के पाखण्ड धर्म रचने में निपुण होकर, यद्यपि स्नान, संध्या इत्यादि नहीं करेगा, पर लंबा तिलक, विशाल माला और टटकी (=सद्य:) धोई हुई अच्छी धोती धारण कर, (बहुत भारी) चुन्दी झुलाता हुआ सब किसी से अधम दान लेने में पहले ही अपना हाथ बढ़ायेगा । तब उस कुमार्गी को दो सन्तान उत्पन्न होंगे । जब उसकी वह चाल पक्की हो जायेगी, तब कोई धनी पुरुष तीर्थयात्रा करने के लिये पर्वतदेश से यहाँ आयेगा ॥ ४६-४८ ।

वह धनी यात्री मणिकर्णिका पर नहाकर यह कहेगा कि, "मैं जाति का उत्तम चाण्डाल हूँ और धनी भी हूँ सो मेरी इच्छा कुछ दान करने की है ॥ ४९ ।

उद्दिष्ट उपविष्टोऽसौ यो जपेद्ध्यानमुद्रया ।
एष प्रतिग्रहं त्वत्तो ग्रहीष्यति न चेतरः ॥ ५१ ।
इति तेषां वचः श्रुत्वा स गत्वा तत्समीपतः ।
दण्डवत्प्रणिपत्याऽथ तं बभाषे तदाऽन्त्यजः ॥ ५२ ।
मामुद्धर महाविप्र तीर्थं मे सफलीकुरु ।
किञ्चिद्वस्त्वस्ति मे तत्त्वं गृहाणाऽनुग्रहं कुरु ॥ ५३ ।
अथाऽक्षमालिकां कर्णे कृत्वा ध्यानं विसृज्य च ।
कियद्धनं तवाऽस्तीह पप्रच्छ करसंज्ञया ॥ ५४ ।
तच्च[1] संज्ञां स वै बुद्ध्वा प्रोवाचाऽतिप्रहृष्टवत् ।
सन्तृप्तिर्यावता ते स्यात्तावद्दास्यामि नाऽन्यथा ॥ ५५ ।
इति तद्वचनं श्रुत्वा त्यक्त्वा मौनमुवाच ह ।
सानन्दः स महानन्दो निःस्पृहोऽस्मि प्रतिग्रहे ॥ ५६ ।
परं तेऽनुग्रहार्थं तु करिष्यामि प्रतिग्रहम् ।
किञ्च मे वचनं त्वं चेत् करिष्यस्युत्तमोत्तम ॥ ५७ ।

उत्तमोत्तमेति । धनलोभाच्चाण्डालं सम्बोधयति । विष्णुसम्बोधनं वा ॥ ५७ ।

क्या यहाँ कोई ऐसा दान लेने वाला है, जिसे मैं अपना धन संकल्प कर सकूँ" । उस चाण्डाल की बात सुनकर कोई एक मनुष्य अँगुली के संकेत से यह बात बता देवेगा कि "यह बैठा हुआ ध्यान की मुद्रा करके जप कर रहा है, यही तेरा दान लेगा, दूसरा कोई नहीं ले सकता" ॥ ५०-५१ ।

इस पर वह चाण्डाल महानन्द के पास जाय दण्डवत् प्रणाम करके उससे यह कहने लगेगा ॥ ५२ ।

"हे महाब्राह्मण! मेरे पास कुछ धन है, उसे आप अनुग्रह करके स्वीकार कर लेवें और मेरी तीर्थयात्रा को सफल करके मेरा उद्धार कर देवें " ॥ ५३ ।

तब तो वह अपनी सुमिरिनी को कान पर रख और ध्यान छोड़कर हाथ के संकेत से पूछेगा कि, तुम्हारे पास कितना धन है? ॥ ५४ ।

फिर तो वह चाण्डाल उसके संकेत को समझकर बड़ी प्रसन्नतापूर्वक कहेगा कि, "जितना धन पाने से आप सन्तुष्ट होंगे, मैं उतना ही आपको दे सकता हूँ । इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ने पावेगा" ॥ ५५ ।

(बस फिर क्या) उसके मुँह से इतना सुनते ही शठ महानन्द अपनी मौनमुद्रा को त्यागकर बड़े आनन्द के साथ कहने लगेगा कि, यद्यपि मुझे प्रतिग्रह लेने की तनिक भी इच्छा नहीं है, (पर तुम्हारी प्रार्थना के संकोच से) तुम पर अनुग्रह करके मैं तुम्हारा दान लेने के लिये प्रस्तुत हूँ; परन्तु हे उत्तमोत्तम! यदि तुम मेरा कहना मानोगे, तब मैं दान ले सकता हूँ ॥ ५६-५७ ।

---

1. धनं प्रोवाचाकथयत् ।

यावदस्त्यखिलं वित्तं तन्मध्येऽन्यस्य कस्यचित् ।
न स्तोकमपि दातव्यं तदाऽऽदास्यामि नान्यथा ॥ ५८ ।

चाण्डाल उवाच–

यावदस्ति मयाऽऽनीतं विश्वेशप्रीतये वसु ।
तावत्तुभ्यं प्रदास्यामि विश्वेशस्त्वं यतो मम ॥ ५९ ।
ये वसन्तीह विश्वेशराजधान्यां द्विजोत्तम ।
क्षुद्रा क्षुद्रा जन्तुमात्रा विश्वेशांशास्त एव हि ॥ ६० ।
परोद्धरणशीला ये ये परेच्छाप्रपूरकाः ।
परोपकृतिशीला ये विश्वेशांशास्त एव हि ॥ ६१ ।
इति तद्वचनं श्रुत्वा प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ।
उवाच पार्वतीयं तं सोऽग्रजन्माऽन्त्यजं तदा ॥ ६२ ।

आदास्यामीति च्छेदः ॥ ५८ ।

तुम्हारे पास जितना धन है, उसमें (से) कुछ थोड़ा-सा भी दूसरे किसी को न देकर सब हमी को दोगे,तब तो (दान) ले सकता हूँ, नहीं तो मैं नहीं लूँगा ॥ ५८ ।

चाण्डाल ने कहा–

हे विप्र ! मैं जो कुछ धन विश्वेश्वर की प्रसन्नता के लिये लाया हूँ, वह सब आप ही को संकल्प करूँगा; क्योंकि मेरे विश्वनाथ तो आप ही हैं ॥ ५९ ।

हे द्विजोत्तम! इस विश्वनाथ की राजधानी में जो लोग रहते हैं, वे चाहे नीच से नीच हों, अथवा ऊँच से ऊँच हों, पर वे सब के सब विश्वेश्वर ही के अंशस्वरूप हैं ॥ ६० ।

जो लोग पराये का उद्धार क़रने वाले हैं और दूसरों की इच्छा को पूर्ण कर देते हैं एवं जिनका स्वभाव परोपकार करने का है, वे ही लोग विश्वनाथ के अंश हैं ।

चौपाई– पर उद्धार करै जो कोई । जो पर इच्छा पूरक होई ॥
पर उपकार सदा जेहि भावै । सो विश्वेश्वर अंश क़हावै ॥ ६१ ।

महानन्द इस प्रकार से उसके विनीत वचन को सुनकर परम प्रसन्नतापूर्वक उस पर्वतवासी अन्त्यज से कहेगा ॥ ६२ ।

आयाहि दर्भानाऽऽदेहि कुरूत्सर्गं त्वराऽन्वितः ।
तथेति स चकाराऽऽशु पार्वतीयो महामनाः ॥ ६३ ।
विश्वेशः प्रीयतां चेति प्रोच्य यातो यथाऽऽगतः ।
स च द्विजो द्विजैरन्यैर्धिक्कृतोऽपि वसन्निह ॥ ६४ ।
बहिर्निर्गतमात्रस्तु बहुभिः परिभूयते ।
चाण्डालब्राह्मणश्चैष चाण्डालाऽऽत्तधनस्त्वसौ ॥ ६५ ।
असावेव हि चाण्डालः सर्वलोकबहिष्कृतः ।
इत्थं तमनुधावन्ति थूत्कुर्वन्तः परितो हरे ॥ ६६ ।
स च तद्भयतो गेहात् काकभीतदिवाऽन्धवत् ।
न निःसरेत् क्वचिदपि लज्जाकृतिनतास्यकः ॥ ६७ ।
स एकदा सम्प्रधार्य गृहिण्या लोकदूषितः ।
जगाम कीकटान् देशांस्त्यक्त्वा वाराणसीं पुरीम् ॥ ६८ ।

पार्वतीयो यातः स्वदेशं गतः ॥ ६३ ।
धिक्कृतः तिरस्कृतः ॥ ६४ ।
थूत्कुर्वन्तः थूशब्दपूर्वकं श्लेष्माणं त्यजन्त इत्यर्थः । अस्मिन् पादेऽक्षराधिक्यमार्षम् ॥ ६६ ।
दिवान्धः पेचकः । **लज्जाकृतिनतास्यकः** व्रीडाकरणाऽधोमुखः । लज्जयाकुलितानन इति क्वचित् ॥ ६७ ।

तो फिर आओ, कुश लो, झटपट संकल्प कर दो, (क्योंकि) ("तुरन्त दान महाकल्यान"।) इस पर उदार पर्वतवासी "बहुत अच्छा" कहकर तुरत "विश्वनाथ प्रसन्न हों" कहता हुआ धन को संकल्प कर देगा और अपने देश को चला जायेगा और वह महानन्द दूसरे ब्राह्मणों के धिक्कारने पर भी यहीं पर रहने लगेगा ॥ ६३-६४ ।

पर जब वह बाहर निकलेगा, तब बहुतेरे लोग निन्दा करते हुए उसे यह कहेंगे कि "चाण्डाल का दान लेने से यह ब्राह्मण चाण्डाल हो गया है ॥ ६५ ।

सब लोगों ने इसे छोड़ दिया है, यह तो चाण्डालस्वरूप ही है" हे हरे! इस प्रकार से लोग उसके पीछे-पीछे थू-थू करते हुए घूमने लगेंगे ॥ ६६ ।

तब वह काक से डरते हुए उल्लू की तरह पुरवासियों के डर से कभी घर से बाहर नहीं निकलेगा और उसका शिर लज्जा के मारे सदैव नीचे ही को झुंका रहेगा ॥ ६७ ।

अनन्तर वह अपनी उपपत्नी से सम्मति करके वाराणसी पुरी को छोड़कर (गया की ओर) कीकटदेश में जाने लगेगा ॥ ६८ ।

मध्येमार्गं स गच्छन् वै लक्षितस्तु सकाञ्चनः ।
अपि कार्पटिकान्तस्थः स रुद्धो मार्गरोधिभिः ॥ ६९ ।
नीत्वा ते तमरण्यानीं तस्कराः सपरिच्छदम् ।
उल्लुण्ठ्य धनमादाय समालोच्य परस्परम् ॥ ७० ।
प्रोचुर्भूरिधनं चैतज्जीर्यत्यस्मिन्न जीवति ।
असौ धनी प्रयत्नेन वध्यः सपरिचारकः ॥ ७१ ।
सम्प्रधार्येति ते प्राहुः स्मर्तव्यं स्मर पान्थिक ।
त्वां वयं घातयिष्यामो निश्चितं सपरिच्छदम् ॥ ७२ ।
निशम्येति मनस्येव कथयामास स द्विजः ।
अहो प्रतिगृहीतं मे यदर्थं वसु भूरिशः ॥ ७३ ।
कुटुम्बमपि तन्नष्टं नष्टश्चाऽपि प्रतिग्रहः ।
जीवितं चाऽपि मे नष्टं नष्टा काशीपुरीस्थितिः ॥ ७४ ।

कीकटान् गयाप्रदेशान् ॥ ६८ ।
सकाञ्चनः स्वर्णवान् ॥ ६९ ।
अरण्यानीं महारण्यम् । **उल्लुण्ठ्य** आच्छिद्य धनपात्रमुन्मुच्येति यावत् ॥ ७० ।

पर मार्ग में ही उसे सुवर्णादि से पूर्ण देखकर बहुतेरे गोसाइयों के बीच में रहने पर भी ठगलोग घेर लेंगे ॥ ६९ ।

फिर महानन्द को उसके कुटुम्ब के साथ पकड़ कर वे सब डाकू घोर अत्यंत भयंकर जंगल के भीतर ले जाकर उसका सब धन लूट लेने पर परस्पर यह विचार करेंगे ॥ ७० ।

और कहेंगे कि, 'यह माल तो बहुत अधिक है, पर इस धनी के जीवित रहते इसका बचा लेना सहज काम नहीं है, अतएव इस यात्री को परिचारकों के सहित मार डालना चाहिए' ॥ ७१ ।

वे सब लुटेरे यही स्थिर करके उससे कहेंगे कि "हे पथिक! जो तुम्हारी इच्छा हो, उसे स्मरण कर लो, क्योंकि हम लोग निःसन्देह सकुटुंब तुम को मार डालेंगे" ॥ ७२ ।

इस पर वह ब्राह्मण अपने मन ही मन कहने लगेगा कि, "हाय! मैंने जिनके लिये उस चाण्डाल से बहुत अधिक धन दान लिया, वे सब कुटुम्ब के लोग मारे गये और दान का लेना भी वृथा हो गया । फिर मेरा भी जीवन विनष्ट हुआ और काशीपुरी का वास भी छूट गया ॥ ७३-७४ ।

युगपत्सर्वमेवाऽऽशु नष्टं दुर्बुद्धिचेष्टया ।
न काश्यां मरणं प्राप्तं तस्माद्दुष्टप्रतिग्रहात् ॥ ७५ ।
प्रान्ते कुटुम्बस्मरणात्तथा काशीस्मृतेरपि ।
चोरैर्हतोऽपि स तदा कीकटे कुक्कुटोऽभवत् ॥ ७६ ।
सा कुक्कुटी सुतौ तौ तु ताम्रचूडत्वमापतुः ।
प्रान्ते काशीस्मरणतो जाता जातिस्मृतिः परा ॥ ७७ ।
इत्थं बहुतिथे काले गते कार्पटिकोत्तमाः ।
तस्मिन्नेवाऽध्वनि प्राप्ताश्चत्वारो यत्र कुक्कुटाः ॥ ७८ ।
वाराणस्याः कथां प्रोच्चैः कुर्वन्तोऽन्योन्यमेव हि ।
काशीकथां समाकर्ण्य तदा ते चरणायुधाः ॥ ७९ ।
जातिस्मृतिप्रभावेण तत्सङ्गेन तु निर्गताः ।
तैश्च कार्पटिकश्रेष्ठैः पथि दृष्ट्वा कृपालुभिः ॥ ८० ।

ताम्रचूडत्वं कुक्कुटत्वम् । यदाहाऽमरः–"**कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः**" इति ॥ ७७ ।

चरणायुधास्त एव ॥ ७९ ।

हाय ! मेरी ही दुर्बुद्धि से एक साथ सब कुछ बिगड़ गया, हाय ! उसी नीच दान लेने के कारण से मुझे काशी में मृत्यु भी नहीं मिल सकी " ॥ ७५ ।

अन्त समय में कुटुम्ब के तथा काशी के स्मरण से वह ब्राह्मण लुटेरों के हाथ से मारे जाने पर भी कीकटदेश में कुक्कुट होगा ॥ ७६ ।

और उसकी स्त्री कुक्कुटी एवं दोनों लड़के भी कुक्कुट ही के बच्चे होंगे । पर अन्त में काशी के स्मरण पड़ जाने ही से उन सबों को जाति का स्मरण बना रहेगा ॥ ७७ ।

इस प्रकार से बहुत दिन बीत जाने पर (उसके संगी-साथी) गोसाईं लोग उसी मार्ग से आयेंगे, जहाँ वे चारों कुक्कुट होकर घूमते रहेंगे ॥ ७८ ।

वे लोग परस्पर ऊँची बोली में वाराणसी के विषय में बातचीत करते जायेंगे, तब वे सब कुक्कुट उन लोगों के मुख से काशी की कथा सुनेंगे ॥ ७९ ।

साथ ही पूर्वजन्म की जाति के स्मरण से उन्हीं लोगों के साथ-साथ वहाँ से चल देंगे । इसके पीछे वे सब कृपाशील कार्पटिक लोग मार्ग में उन सबों को कुछ चावल इत्यादि फेंक देते हुए काशीक्षेत्र तक लिवा लावेंगे । फिर वे चारों कुक्कुट काशीक्षेत्र में पहुँचेंगे ॥ ८० ।

तन्दुलादिपरिक्षेपैः प्रापिताः क्षेत्रमुत्तमम् ।
ते तु क्षेत्रं समासाद्य चत्वारश्चरणायुधाः ॥ ८१ ।
चरिष्यन्तोऽत्र परितो मुक्तिमण्डपमुत्तमम् ।
जिताहारान् सनियमान् कामक्रोधपराङ्मुखान् ॥ ८२ ।
प्रहासान् मत्कथालापान् लोभमोहविवर्जितान् ।
स्वर्धुनीस्नानसंक्लिन्नसुनिर्मलशिरोरुहान् ॥ ८३ ।
मन्नामोच्चारणपरान् मत्कथार्पितसुश्रुतीन् ।
मद्गत्तचित्तसद्वृत्तीन् दृष्ट्वा क्षेत्रनिवासिनः ॥ ८४ ।
मानयामासुरथ तान् कुक्कुटान् साधुवर्त्मनः ।
प्राक्तनाद्वासनायोगात् सम्प्रधार्य परस्परम् ॥
क्रमेणाहारमाकुञ्च्य प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति चाऽत्र वै ॥ ८५ ।

चरिष्यन्तः चरिष्यन्ति पर्यटिष्यन्तीत्यर्थः । जिताहारानित्यादेर्मानयामासुरथेति तृतीयेनाऽन्वयः ॥ ८२ ।

प्रहासान् प्रकृष्टो हासो येषां तान् प्रसन्नानित्यर्थः । शृण्वत इति क्वचित् ॥ ८३ ।

(वहाँ पहुँचकर) इस परमपवित्र मुक्तिमंडप के चारों ओर विचरण करने लगेंगे । तदनन्तर वे सब (कुक्कुट) जिताहार, नियमशील, कामक्रोधपराङ्मुख, प्रसन्नवदन, मेरी ही कथा के इच्छुक, लोभ-मोह से रहित, गंगास्नान से आर्द्र और निर्मल केश, मदीयनामोच्चारण में तत्पर, मेरी कथा के श्रवण में लीन, मद्‌गत चित्तवृत्ति, ऐसे क्षेत्रवासी मेरे भक्तों को देखेंगे ॥ ८१-८४ ।

इसके उपरान्त वे लोग भी "ये सब कुक्कुट पूर्वजन्म ही के संस्कार से ऐसे सत्पथावलम्बी हैं" ऐसा परस्पर विचार करके उन चारों को बहुत मानने लगेंगे । फिर वे चारों कुक्कुट क्रमशः आहार घटाते-घटाते यहीं पर अपने प्राणों को छोड़ देंगे ॥ ८५ ।

पश्यतां सर्वलोकानां विष्णो ते मदनुग्रहात् ।
विमानमधिरुह्याऽऽशु कैलासं प्राप्य मत्पदम् ॥ ८६ ।

पश्यतामिति श्लोकद्वयं वाक्यम् ।हे विष्णो! ते चत्वारः कुक्कुटा इत्यनुषज्जते । विमानमधिरुह्य सुचिरं कालं मत्पदं प्राप्य भोगान् निर्विश्य भुक्त्वाऽत्र काश्यां कैलासे वा ज्ञानिनो भूत्वा । तेनैव शरीरेणेति शेषः । शाश्वतीं मुक्तिं प्राप्स्यन्तीत्यन्वयः । ननु काशीमृतानां कथं विमानमधिरुह्य कैलासे गमनं भोगो वा तत्राह – **मदनुग्रहादिति** । अन्तकाले काशीस्मरणान्मत्तोषणाज्जातो यो मदनुग्रह एते भुक्तिमुक्ती मया प्रापणीया इति या ममेच्छा, तस्मादित्यर्थः । इदमत्र तत्त्वम्– अन्तकाले हि तस्य स्मृतित्रयमुद्भूतम् । तत्र नष्टश्चापि प्रतिग्रह इत्यनेन **भोगस्मृतिः कुटुम्बस्मृतिः वाराणसीस्मृतिश्चेति** । तत्र मरणे या मतिः, सा गतिरिति न्यायेन वाराणस्याः स्मृतिसामर्थ्येन रुद्रपिशाचभोगमप्राप्यैव मणिकर्णिकायां चण्डालप्रतिग्रहस्यात्यन्तनिषिद्धत्वात्तत्पापलेशेन कुटुम्बस्मरणेन कुक्कुटा अभवन् । तत्र कुक्कुटशरीरे दिव्यभोगस्याऽसम्भवादन्तकाले काशीस्मरणेनेश्वरानुग्रहात् कुक्कुटशरीराणि विहाय विमानेन कैलासमारुह्य दिव्यान् भोगान् भुक्त्वा ततस्तैरेव दिव्यदेहैर्ज्ञानिनो भूत्वा विदेहकैवल्यं प्राप्ता इति । अत एव श्रूयते–

काश्यामवश्यं त्यजतां शरीरं शरीरिणा नास्ति पुनः शरीरम् ।
यद्यस्ति कण्ठे गरलं ललाटे त्रिलोचनं चन्द्रकला च मौलौ ॥ इति ।

यत्तु काशीमृतानां जन्माद्यभाववचनं तत्तु योनिद्वारेति सर्वं समञ्जसम् । अन्यथेश्वरेच्छया यातनादेहादेरप्यभावप्रसङ्गादिति ।यद्वा पाठक्रममुल्लङ्घ्यार्थक्रममङ्गीकृत्य व्याख्येयम् । कुक्कुटान् साधुवर्त्मन इत्यस्यानन्तरम् पश्यतां सर्वलोकानां विष्णो ते मदनुग्रहाद् विमानमधिरुह्याऽऽशु कैलासं प्राप्य मत्पदं निर्विश्य सुचिरं कालं दिव्यान् भोगाननुत्तमान् ततः प्राक्तनाद् वासनायोगात् सम्प्रधार्य परस्परम् क्रमेणाहारमाकुञ्च्य प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति चाऽत्र ते ततोऽत्र ज्ञानिनो भूत्वा मुक्तिं प्राप्स्यन्ति शाश्वतीमिति व्युत्क्रमेण व्याख्येयम् । पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायात् । तथा हि अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचतीति वेदे पठ्यते । तत्र यथा यवागूं पचति अग्निहोत्रं जुहोतीत्यर्थक्रमोऽङ्गीक्रियते, तथेति ॥ ८६ ।

हे विष्णो ! वे सब लोगों के सामने (देखते ही देखते) मेरी दया के कारण विमान पर चढ़कर तुरत मेरे लोक कैलास में पहुँचकर ।

निर्विश्य सुचिरं कालं दिव्यान् भोगाननुत्तमान् ।
ततोऽत्र ज्ञानिनो भूत्वा मुक्तिं प्राप्स्यन्ति शाश्वतीम् ॥ ८७ ।
ततो लोकास्तदारभ्य कथयिष्यन्ति सर्वतः ।
मुक्तिमण्डपनामैतदेष कुक्कुटमण्डपः ॥ ८८ ।
चरित्रमपि वै तेषां ये स्मरिष्यन्ति मानवाः ।
मुक्तिमण्डपमासाद्य श्रेयः प्राप्स्यन्ति तेऽपि हि ॥ ८९ ।
इति यावत्कथां शम्भुर्भविष्यामग्रतो हरेः ।
अकरोत्तुमुलो नादो घण्टानां तावदुद्गतः ॥ ९० ।
अथ नन्दिनमाहूय देवदेव उमाधवः ।
प्रोवाच नन्दिन् विज्ञायाऽऽगत्य ब्रूहि कुतो रवः ॥ ९१ ।
अथ नन्दी समागत्य प्रोवाच वृषभध्वजम् ।
नमस्कृत्य प्रहृष्टाऽऽस्यः प्रबद्धकरसम्पुटः ॥ ९२ ।

तुमुलो नाद इति । लिङ्गरूपिणो विश्वेशस्य भ्रुवं विदार्योद्भूतो घण्टानामिव नादो जात इत्यर्थः ॥ ९० ।

बहुत दिनों तक सर्वोत्तम दिव्य भोगों का उपभोग कर फिर यहीं पर परम ज्ञानी होकर शाश्वती मुक्ति को प्राप्त करेंगे ॥ ८६-८७ ।

तब द्वापरयुग के लोग उसी दिन से इस मुक्तिमंडप को **कुक्कुटमण्डप** के नाम से चारों ओर प्रसिद्ध कर देंगे ॥ ८८ ।

जो लोग इन चारों कुक्कुटों के चरित्र को इस मुक्तिमंडप में आकर स्मरण करेंगे, उन सबका भी बड़ा कल्याण होगा ॥ ८९ ।

भगवान् महेश्वर विष्णुदेव से जब इस भविष्य-कथा को कह रहे थे, उसी घड़ी वहाँ पर घण्टों के बजने का बड़ा भारी शब्द सुनाई पड़ने लगा ॥ ९० ।

तब देवदेव उमापति ने नन्दी को बुलाकर उनसे यह कहा कि, "हे नन्दिन्! देख तो आओ, यह बड़ी भारी ध्वनि कहाँ से आ रही है"? ॥ ९१ ।

इसके उपरान्त नन्दी ने आकर सब बातें समझ, प्रसन्नमुख, हाथों को जोड़, प्रणामपूर्वक भगवान् वृषभध्वज से यह निवेदन किया ॥ ९२ ।

नन्द्युवाच–

देवदेव त्रिनयन किमपूर्वं ब्रवीमि ते ।
मोक्षलक्ष्मीविलासोऽत्र कैश्चित्कैश्चित्समर्च्यते ॥ ९३ ।
अथ स्मित्वाऽब्रवीच्छम्भुः सिद्धं नोऽस्तु समीहितम् ।
उत्थाय देवदेवेशः सह देव्या सुमङ्गलः ॥
ब्रह्मणा हरिणा सार्धं ततोऽगाद्रङ्गमण्डपम् ॥ ९४ ।

स्कन्द उवाच–

श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं परमानन्दकारणम् ।
नरः परां मुदं प्राप्य कैलासं प्राप्स्यति ध्रुवम् ॥ ९५ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे मुक्तिमण्डपगमनं नामाऽष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ।

मोक्षलक्ष्मीविलासः मोक्षलक्ष्म्या विलास उल्लासः स्फूर्तिस्मात्स पदार्थस्तथा ॥ ९३ ।
रङ्गमण्डपं शृङ्गारमण्डपम् ॥ ९५ ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ।

नन्दी ने कहा–

हे देवाधिदेव! त्रिलोचन! मैं एक अपूर्व समाचार आपसे निवेदन करता हूँ । हे नाथ! यहाँ पर **मोक्षलक्ष्मीविलास** को देखकर बहुतेरे लोग उसका पूजन कर रहे हैं ॥ ९३ ।

इस पर महादेव ने मुसकुराकर कहा, 'तब तो हमलोगों की चेष्टा सफल हो गई' । उसके उपरान्त मंगलमय, देवदेव विश्वेश्वर भगवती (अन्नपूर्णा) देवी, ब्रह्मा, और विष्णु के सहित वहाँ से उठकर रंगमंडप में चले गये ॥ ९४ ।

स्कन्द ने कहा–

हे अगस्त्य! परम आनन्द के कारण, इस पवित्र अध्याय के सुनने से मनुष्य यहाँ पर यथेष्ट आनन्द भोगकर अन्त में निःसन्देह कैलासवासी होगा ॥ ९५ ।

चौपाई– विदित मुक्तिमंडप है सोई । जहँ छन भर बैठहि जो कोई ॥
नाहि मुक्ति जयमाल पिन्हावै । सकल सुमंगल तेहि ढिग आवै ॥ १ ।
विश्वनाथ तहँ जाइ विराजैं । सकल महोत्सव साजन साजैं ।
पढ़ै प्रवेश कथा यह जोई । तेहि घर नूतन मंगल होई ॥ २ ।
यद्यपि मुक्तिमयी सब काशी । पै यह मुक्तिभवन परकाशी ।
नाम मुक्तिमंडप विख्याता । मिलै मुक्ति तहँ बात कि बाता ॥ ३ ।

दोहा– करहिं ईश जबहीं दयां, मुक्ति मिलै तब धाय ।
देखहु कुक्कुट मुक्त भे, नरतन का न वसाय ॥ ४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायामष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ।

॥ अथैकोनशततमोऽध्यायः ॥

व्यास उवाच–

शृणु सूत यथाप्रोक्तं कुम्भजे शरजन्मना ।

देवदेवस्य चरितं विश्वेशस्य परात्मनः ॥ १ ।

अगस्त्य उवाच–

सेनानीः कथय त्वं मे ततो निर्वाणमण्डपात् ।

निर्गत्य देवो देवेन्द्रैः सहितः किं चकार ह ॥ २ ।

स्कन्द उवाच–

मुक्तिमण्डपतः शम्भुर्ब्रह्मविष्णुपुरोगमः ।

शृङ्गारमण्डपं प्राप्य यच्चकार वदामि तत् ॥ ३ ।

नवाऽधिके नवत्याख्येऽध्याये तावन्निरुच्यते ।

श्रीविश्वेश्वरलिङ्गस्य महिमा परमाद्भुतः ॥ १ ।

विश्वेशस्य चरितं वक्तुं प्रस्तावयति – **शृण्विति** ॥ १ ।

सेनानीः हे कार्तिकेय ॥ २ ।

(श्री विश्वेश्वर लिंग का माहात्म्य)

व्यास बोले –

हे सूत! कार्तिकेय ने अगस्त्य मुनि से देवाधिदेव परमात्मा विश्वनाथ का चरित जिस प्रकार से वर्णन किया था (उसे मैं कहता हूँ) श्रवण करो ॥ १ ।

अगस्त्य ने पूछा –

हे स्कन्द! भगवान् विश्वेश्वर देवगण के सहित मुक्तिमण्डप से जाकर क्या करने लगे ? उसे आप मुझसे वर्णन कीजिए ॥ २ ।

स्कन्द ने कहा –

ब्रह्मा और विष्णु के साथ भगवान् महेश्वर ने मुक्तिमण्डप से उठकर शृंगार-मंडप में जाकर जो कुछ किया, उसे मैं कीर्तन करता हूँ ॥ ३ ।

प्राङ्मुखस्तूपविश्येशः सहाऽस्माभिः सहेशया ।
ब्रह्मणाऽधिष्ठितः सव्ये वामपार्श्वेऽथ शार्ङ्गिणा ॥ ४ ।

वीज्यमानो महेन्द्रेण ऋषिभिः परितो वृतः ।
गणैः पृष्ठप्रदेशस्थैर्जोषं तिष्ठद्भिरादरात् ॥ ५ ।

उदायुधैः सेव्यमानश्चाऽऽवसन् मानभूरिभिः ।
ब्रह्मणे विष्णवे शम्भुः पाणिमुत्क्षिप्य दक्षिणम् ॥ ६ ।

दर्शयामास देवेशो लिङ्गं पश्यत पश्यत ।
इदमेव परं ज्योतिरिदमेव परात्परम् ॥ ७ ।

प्रागिति । पूर्वमुख उपविश्येशो ब्रह्मणे विष्णवे च पाणिमुत्क्षिप्य लिङ्गं दर्शयामासेति चतुर्थेनाऽन्वयः । अधिष्ठितः आश्रितः ॥ ४ ।

जोषं तूष्णीं प्रीतिं वा ॥ ५ ।

आवसत् अतिष्ठात् । **मानभूरिभिः** मानानां भूरि प्राचुर्यं येषु ते, तथा तैः ॥ ६ ।

भगवान् शंकर भगवती और हम सब लोगों के साथ शृंगारमंडप में पूर्व की ओर मुख करके जा विराजे । उनकी दाहिनी ओर ब्रह्मा और बायीं ओर विष्णु आसीन हुए ॥ ४ ।

स्वयं इन्द्रदेव चामर हाँकने लगे और चारों ओर से ऋषियों ने घेर लिया । पीछे की ओर अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर बड़े सम्मान के साथ समस्त गणलोग सादर चुपचाप बैठे थे । उस घड़ी भगवान् शंभु ने अपना दाहिना हाथ उठा ब्रह्मा और विष्णु को दिखाकर, (कहा कि) 'देखो देखो, यही लिंग परंज्योति है, यही सबसे अधिक परमश्रेष्ठ है ॥ ५-७ ।

इदमेव हि मे रूपं स्थावरं चाऽतिसिद्धिदम् ।
एते पाशुपताः सिद्धा आबालब्रह्मचारिणः ॥ ८ ।
जितेन्द्रियास्तपोनिष्ठाः पञ्चार्थज्ञाननिर्मलाः ।
भस्मकूटशया दान्ताः सुशीला ऊर्ध्वरेतसः ॥ ९ ।
लिङ्गार्चनरता नित्यमनन्येन्द्रियमानसाः ।
सदैव वारुणाऽऽग्नेयस्नानद्वयसुनिर्मलाः ॥ १० ।
कन्दमूलफलाहाराः परतत्त्वार्पितेक्षणाः ।
सत्यवन्तो जितक्रोधा निर्मोहा निष्परिग्रहाः ॥ ११ ।
निरीहा निष्प्रपञ्चाश्च निरातङ्का निरामयाः ।
निर्भगा निरुपायाश्च निःसङ्गा निर्मलाशयाः ॥ १२ ।
निस्तीर्णोदग्रसंसारा निर्विकल्पा निरेनसः ।
निर्द्वन्द्वा निश्चितार्थाश्च निरहङ्कारवृत्तयः ॥ १३ ।
सदैव मे महाप्रीता मत्पुत्रा मत्स्वरूपिणः ।
एते पूज्या नमस्याश्च मद्बुद्ध्या मत्परायणैः ॥ १४ ।

एते पाशुपता इत्यादीनां सदैव मे महाप्रीता इति षष्ठेनाऽन्वयः ॥ ८ ।

पञ्चार्थज्ञाननिर्मलाः पञ्चानामकारोकारमकारनादबिन्दुरूपाणामर्थज्ञानेन निर्मलाः, चत्वारो वेदा इतिहासपुराणं चेति वा पञ्चपञ्चाक्षरीविद्यावर्णानां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वर-सदाशिवाख्यानां वाऽर्थज्ञानान्निर्मला इति वा । भस्मकूटशया इति भस्मकूटे भस्म-समूहे शेरत इति । तथा च श्रुतिः –**"भस्मच्छन्नो भस्मशय्याशयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः"** इति ॥ ९ ।

आग्नेयमग्निहोत्रजं भस्म ॥ १० ।

निष्प्रपञ्चा देहाद्यभिमानशून्याः । **निर्भगाः** त्यक्तैश्वर्याः । निर्दम्भा इति क्वचित् ॥ १२ ।

यही परमसिद्धि का दाता मेरा स्थावर स्वरूप है और ये सब शैवलोग सिद्ध-पुरुष, आबाल ब्रह्मचारी, इन्द्रियविजयी, तपोनिष्ठ, पंचतत्त्वों के अर्थज्ञान से पवित्र, भस्म की ढेर पर सोने वाले, दमगुणान्वित, परमसुशील, ऊर्ध्वरेता, लिंगा-र्चन में तत्पर, नित्य ही एकाग्रचित्त, सदैव वारुणेय और आग्नेय द्विविध स्नान से निर्मल शरीर, कन्दमूल-फलमात्र-भोजी, परमतत्त्वदर्शन में दत्तदृष्टि, सत्यशील, क्रोधहीन, निर्मोह, सर्वपरिग्रहवर्जित, निःस्पृह, प्रपंचशून्य, आतंकरहित, निरामय, ऐश्वर्यत्यागी, निश्चेष्ट, संगपराङ्मुख, शुद्धान्तःकरण, संसार-सागर के पारगामी, निर्विकल्प, निष्पाप, निर्द्वन्द्व, निश्चितार्थ, निरहंकार-व्यवहार, सदैव मेरे सन्तोषकारक, मेरे पुत्रस्वरूप और मेरी ही मूर्ति हैं । मेरे उपासक लोगों को उचित है कि इन सब शैवों को मेरी ही बुद्धि से प्रणाम करें और पूजा करें ॥ ८-१४ ।

अर्चितेष्वेष्वहं प्रीतो भविष्यामि न संशयः ।
अस्मिन् वैश्वेश्वरे क्षेत्रे सम्भोज्याः शिवयोगिनः ॥ १५ ।
कोटिभोज्यफलं सम्यगेकैकपरिसंख्यया ।
अयं विश्वेश्वरः साक्षात्स्थावरात्मा जगत्प्रभुः ॥ १६ ।
सर्वेषां सर्वसिद्धीनां कर्ता भक्तिजुषामिह ।
अहं कदाचिद्दृश्यः स्यामदृश्यः स्यां कदाचन ॥ १७ ।
आनन्दकानने चाऽत्र स्वैरं तिष्ठामि देवताः ।
अनुग्रहाय सर्वेषां भक्तानामिह सर्वदा ॥ १८ ।
स्थास्यामि लिङ्गरूपेण चिन्तितार्थफलप्रदः ।
'स्वयम्भून्यस्वयम्भूनि यानि लिङ्गानि सर्वतः ॥
तानि सर्वाणि चाऽऽयान्ति द्रष्टुं लिङ्गमिदं सदा ॥ १९ ।
अहं सर्वेषु लिङ्गेषु तिष्ठाम्येव न संशयः ।
परन्त्वियं परा मूर्तिर्मम लिङ्गस्वरूपिणी ॥ २० ।

हे देवताः ॥ १८ ।
इयमेतत्स्थानाधेया ॥ २० ।

इन लोगों के पूजन करने से मैं अवश्य ही परमप्रसन्न होता हूँ, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । इस विश्वनाथपुरी में शिवयोगियों को भोजन कराना चाहिए ॥ १५।

यहाँ पर एक-एक जन के भोजन कराने से कोटि-कोटि लोगों को खिलाने का पुण्य होता है । ये ही स्थावररूप विश्वेश्वर साक्षात् जगत् के प्रभु हैं ॥ १६ ।

इस लोक में समस्त भक्तिमान् लोगों की सब सिद्धियों के कर्ता भी ये ही हैं । हे देवगण! मैं इस आनन्दकानन में अपनी इच्छा के अनुसार कभी दृश्य और कभी-कभी अदृश्य रूप होकर रहूँगा; परन्तु भक्त लोगों के ऊपर अनुकम्पा करके यहाँ पर सदैव लिंगरूप से अभीष्ट फल देने के लिए बैठा रहूँगा । इस लिंग के दर्शन के लिये स्वयंभू और स्थापित सब भाँति के लिंग चारों ओर से यहाँ पर आया करते हैं ॥ १७-१९ ।

मैं यद्यपि समस्त लिंगों में बना रहता हूँ, पर यह लिंग मेरी सर्वोत्कृष्ट मूर्ति है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २० ।

येन लिङ्गमिदं दृष्टं श्रद्धया शुद्धचक्षुषा ।
साक्षात्कारेण तेनाऽहं दृष्ट एव दिवौकसः ॥ २१ ।
श्रवणादस्य लिङ्गस्य पातकं जन्मसञ्चितम् ।
क्षणात्क्षयति शृण्वन्तु देवा ऋषिगणैः सह ॥ २२ ।
स्मरणादस्य लिङ्गस्य पापं जन्मद्वयार्जितम् ।
अवश्यं नश्यति क्षिप्रं मम वाक्यान्न संशयः ॥ २३ ।
एतल्लिङ्गं समुद्दिश्य गृहान्निष्क्रमणक्षणात् ।
विलीयते महापापमपि जन्मत्रयार्जितम् ॥ २४ ।
दर्शनादस्य लिङ्गस्य हयमेधशतोद्भवम् ।
पुण्यं लभेत नियतं ममाऽनुग्रहतोऽमराः ॥ २५ ।
स्वयम्भुवोऽस्य लिङ्गस्य मम विश्वेशितुः सुराः ।
राजसूयसहस्रस्य फलं स्यात्स्पर्शमात्रतः ॥ २६ ।

स्वयम्भुवः स्वेच्छयाप्तस्थितेः । अस्य एतत्स्थानाश्रितस्य ॥ २६ ।

हे स्वर्गवासी लोग! जो कोई शुद्ध दृष्टि से श्रद्धापूर्वक इस लिंग का दर्शन करता है वह मेरा साक्षात्कार ही करता है ॥ २१ ।

हे देवतागण! ऋषिवृन्दों के सहित तुम लोग यह सुन रखो कि इस लिंग के नामश्रवण करते ही क्षणमात्र में जन्मभर के संचित सब पातकों का क्षय हो जाता है ॥ २२ ।

और इस लिंग के स्मरण करने से तो मेरे कथनानुसार दो जन्म के उपार्जित पाप अवश्य ही तुरन्त नष्ट हो जाते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २३ ।

इस लिंग के उद्देश्य से जिस क्षण में घर से बाहर निकले, त्यों ही तीन जन्म के बटोरे हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं (विलीन हो जाते हैं) ॥ २४ ।

हे अमरगण! फिर जो इस लिंग का दर्शन करता है, उसे तो मेरी ही दया से सैकड़ों अश्वमेध यज्ञों का फल अवश्य होता है ॥ २५ ।

हे सुरसमूह! मेरे इस स्वयंभू **विश्वेश्वर** लिंग के केवल स्पर्श करने ही से सहस्रों राजसूय यज्ञ करने का फललाभ होता है ॥ २६ ।

पुष्पमात्रप्रदानाच्च चुलुकोदकपूर्वकम् ।
शतसौवर्णिकं पुण्यं लभते भक्तियोगतः ॥ २७ ।
पूजामात्रं विधायाऽस्य लिङ्गराजस्य भक्तितः ।
सहस्रहेमकमलपूजाफलमवाप्यते ॥ २८ ।
विधाय महतीं पूजां पञ्चामृतपुरःसराम् ।
अस्य लिङ्गस्य लभते पुरुषार्थचतुष्टयम् ॥ २९ ।
वस्त्रपूतजलैर्लिङ्गं स्नापयित्वा ममाऽमराः ।
लक्षाऽश्वमेधजनितं पुण्यमाप्नोति सत्तमः ॥ ३० ।
सुगन्धचन्दनरसैर्लिङ्गमालिप्य भक्तितः ।
आलिप्यते सुरस्त्रीभिः सुगन्धैर्यक्षकर्दमैः ॥ ३१ ।
सामोदधूपदानैश्च दिव्यगन्धाश्रयो भवेत् ।
घृतदीपप्रबोधैश्च ज्योतीरूपविमानगः ॥ ३२ ।

सुगन्धेति । सुगन्धचन्दनरसैर्भक्तितो लिङ्गमालिप्य य इह वर्तते, स सुरस्त्रीभिः सुगन्धैर्यक्षकर्दमैः कर्पूरागुरुकस्तूरीकङ्कोलैर्लिप्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ।

सामोदधूपदानैः सुगन्धधूपप्रदानैः ॥ ३२ ।

भक्तिभाव से इस लिंग पर एक चिल्लू (अंजलि) जल ढ़ालकर एक भी पुष्प चढ़ाया जावे, तो सैकड़ों सुवर्ण-पुष्पों के प्रदान करने का पुण्य हो जाता है ॥ २७ ।

इस लिंगराज की साधारण पूजा भी यदि भक्तिपूर्वक की जावे, तो सहस्रों सुवर्णकमल के पूजन का फ़ल मिलता है ॥ २८ ।

और पंचामृत इत्यादि से यदि इस लिंग की महती पूजा करें, तब तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– चारों ही पुरुषार्थ करतलगत हो जाते हैं ॥ २९ ।

हे अमरवृन्द! मेरे इस लिंग को वस्त्र के छाने हुए शुद्ध जल से स्नान करावे, तो लाखों अश्वमेध यज्ञ करने का पुण्य प्राप्त होता है ॥ ३० ।

जो कोई भक्तिपूर्वक सुगन्ध-चन्दन के रसों से इस लिंग को लिप्त करता है, उसे सुरांगनाएँ सुगन्धित यक्षकर्दम से लेपन करती हैं ॥ ३१ ।

सौरभमय धूपदान करने से दिव्यगन्धों का आश्रय हो जाता है । घृत का दीपक जलाने से ज्योतिरूप होकर विमान पर चढ़कर गमन करता है ॥ ३२ ।

कर्पूरवर्तिदीपेन सकृद्दत्तेन भक्तितः ।
कर्पूरदेहगौरश्रीर्भवेद्भालविलोचनः ॥ ३३ ।
दत्वा नैवेद्यमात्रं तु सिक्थे सिक्थे युगं युगम् ।
कैलासाद्रौ वसेद्धीमान् महाभोगसमन्वितः ॥ ३४ ।
विश्वेशे परमान्नं यो दद्यात् साऽऽज्यं सशर्करम् ।
त्रैलोक्यं तर्पितं तेन सदेवपितृमानवम् ॥ ३५ ।
मुखवासं तु यो दद्याद्दर्पणं चारुचामरम् ।
उल्लोचं सुखपर्यङ्कं तस्य पुण्यफलं महत् ॥ ३६ ।
संख्यासागररत्नानां कथञ्चित्कर्तुमिष्यते ।
मुखवासादिदानस्य कः संख्यामत्र कारयेत् ॥ ३७ ।
पूजोपकरणद्रव्यं यो घण्टागड्डुकादिकम् ।
भक्त्या मे भवने दद्यात् स वसेदत्र मेऽन्तिके ॥ ३८ ।

सिक्थे सिक्थे कणे कणे ॥ ३४ ।
उल्लोचं वितानम् ॥ ३६ ।

और भक्तिभाव से यदि एक बार भी कपूर की बत्ती से आरती करे, तो वह कपूर गौर देह को शोभा से पूर्ण होकर भाललोचन हो जाता है ॥ ३३ ।

(इस लिंग पर) साधारण नैवेद्य का भोग लगाने से एक-एक कण में एक-एक युगभर बड़ा भोग करता हुआ वह बुद्धिमान् जन कैलास पर्वत पर वास करता है ॥ ३४ ।

और जो कोई विश्वेश्वर के ऊपर घृत और शक्कर के सहित उत्तम पकवान चढ़ाता है, वह देवता, पितर और मनुष्य के सहित त्रैलोक्यभर को तृप्त कर देता है ॥ ३५ ।

जो मुखवास, दर्पण, सुन्दर चामर, चन्दवा और सुखद पलँग समर्पण करता है, उसे सुकृत का बहुत बड़ा फल मिलता है ॥ ३६ ।

समुद्र के रत्नों की गिनती तो किसी प्रकार से की भी जा सकती है, पर मुखवास इत्यादि के समर्पण की संख्या इस लोक में कौन करनेवाला है ॥ ३७ ।

जो कोई भक्ति के साथ मेरे मन्दिर में पूजा की उपकरण-सामग्री, घंटा और गड्डुआ इत्यादि समर्पण करता है, वह (अन्त में) यहाँ पर मेरे समीप ही में वास पाता है ॥ ३८ ।

योगीतवाद्यनृत्यानामेकं मत्प्रीतये व्यधात् ।
तस्याऽग्रतो दिवारात्रं भवेत्तौर्यत्रिकं महत् ॥ ३९ ।
चित्रलेखनकर्मादि प्रासादे मेऽत्र कारयेत् ।
यः सचित्रान्महाभोगान् भुङ्क्ते मत्पुरतः स्थितः ॥ ४० ।
सकृद्विश्वेश्वरं नत्वा मध्येजन्म सुधीर्नरः ।
त्रैलोक्यवन्दितपदो जायते वसुधापतिः ॥ ४१ ।
यस्तु विश्वेश्वरं दृष्ट्वा ह्यन्यत्राऽपि विपद्यते ।
तस्य जन्मान्तरे मोक्षो भवत्येव न संशयः ॥ ४२ ।
विश्वेशाख्या तु जिह्वाग्रे विश्वनाथकथा श्रुतौ ।
विश्वेशशीलनं चित्ते यस्य तस्य जनिः कुतः ॥ ४३ ।
लिङ्गं मे विश्वनाथस्य दृष्ट्वा यश्चाऽनुमोदते ।
समे गणेषु गण्येत महापुण्यबलाश्रितः ॥ ४४ ।

व्यधात् कुर्यात् ॥ ३९ ।
मध्येजन्म जन्मनो मध्ये ॥ ४१ ।
विपद्यते नश्यति ॥ ४२ ।

जो मेरे लिए गाना, बजाना और नाचना इन तीनों में एक भी करता है, उसके आगे रात-दिन ये तौर्यत्रिक संगठित बने रहते हैं ॥ ३९ ।

मेरे इस मन्दिर में जो कोई चित्रकारी इत्यादि कर्मों को कराता है, वह मेरे सामने बैठकर विचित्र महाभोग को भोगता है ॥ ४० ।

विज्ञजन जन्मभर के मध्य में एक बार भी विश्वेश्वर को प्रणाम करें, तो वे त्रैलोक्यमात्र से वन्दितचरण होकर वसुधापति होते हैं॥ ४१ ।

जो कोई विश्वनाथ का दर्शन करने के उपरान्त कहीं अन्य स्थान में भी जाकर मर जाता है, वह फिर दूसरे जन्म में निःसन्देह मोक्ष को पाता है ॥ ४२ ।

जिसकी जिह्वा के अग्रभाग पर विश्वनाथ का नाम, कानों में विश्वेश्वर की कथा और चित्त में विश्वेश का ध्यान बना रहता है, उसका पुनर्जन्म कहाँ है ? ॥ ४३ ।

मेरे इस विश्वनाथ नामक लिंग का दर्शन करके जो उसकी प्रशंसा करता है, वह महापुण्य-बलाश्रित होकर मेरे पारिषदों में गिना जाता है ॥ ४४ ।

नित्यं विश्वेश विश्वेश विश्वनाथेति यो जपेत् ।
त्रिसन्ध्यं तं सुकृतिनं जपाम्यहमपि ध्रुवम् ॥ ४५ ।
ममाऽपीदं महालिङ्गं सदा पूज्यतमं सुराः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पूज्यं देवर्षिमानवैः ॥ ४६ ।
यैर्न विश्वेश्वरो दृष्टो यैर्न विश्वेश्वरः स्मृतः ।
कृतान्तदूतैस्ते दृष्टास्तैः स्मृता गर्भवेदना ॥ ४७ ।
यैरिदं प्रणतं लिङ्गं प्रणतास्ते सुराऽसुरैः ।
यस्यैकेन प्रणामेन दिक्पालपदमल्पकम् ॥
दिक्पालपदतः पातः पातः शिवनतेर्न हि ॥ ४८ ।
शृण्वन्तु देवर्षिगणाः समस्तास्तथ्यं ब्रुवे तच्च परोपकृत्यै ।
न भूर्भुवः स्वर्गमहर्जनान्तर्विश्वेशतुल्यं क्वचिदस्ति लिङ्गम् ॥ ४९ ।
न सत्यलोके न तपस्यहो सुरा वैकुण्ठकैलासरसातलेषु ।
तीर्थं क्वचिद्वै मणिकर्णिकासमं लिङ्गं च विश्वेश्वरतुल्यमन्यतः ॥ ५० ।

स्मृता प्राप्ता ॥ ४७ ।
जनेति तपःसत्ययोरुपलक्षणम् ॥ ४९ ।
अन्यतः अन्यत्र । अन्यदिति वा ॥ ५० ।

जो सुकृती पुरुष त्रिकाल "विश्वनाथ, विश्वेश, विश्वेश्वर" ऐसा जपता है, वह मेरे चित्त में सदैव जागरूक बना रहता है ॥ ४५ ।

हे देवगण! यह महालिंग मेरा भी सदैव परमपूज्य है । अतएव देवता, ऋषि और मनुष्यों को सब प्रयत्न से पूजना उचित है ॥ ४६ ।

जिन लोगों ने न तो विश्वेश्वर का दर्शन किया, न विश्वनाथ का स्मरण ही किया, उन लोगों को यमराज के दूतगण देखते रहते हैं और उनको गर्भ का दुःख बारम्बार स्मरण करना ही पड़ता है ॥ ४७ ।

जिसने इस लिंग को प्रणाम कर दिया, वह सुरासुर सबसे प्रणाम किया गया । इसके एक प्रणाम के आगे दिक्पाल का पद भी छोटा है; क्योंकि दिक्पति के पद से गिरना ही पड़ता है, पर महादेव के प्रणाम का कभी पात नहीं हो सकता ॥ ४८ ।

अशेष देवगण और महर्षिमण्डल सुन रखें । मैं परोपकार के लिए ही यह बहुत ठीक कह रहा हूँ । भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक और जनलोक के भीतर कहीं पर भी **विश्वेश्वर** के समान कोई भी लिंग नहीं है ॥ ४९ ।

हे सुरसमूह! (यहीं तक नहीं) तपलोक, सत्यलोक, वैकुण्ठ, कैलास और (सातों) रसातलों में भी किसी स्थान में **विश्वेश्वर** के तुल्य लिंग और **मणिकर्णिका** के सदृश तीर्थ दूसरा नहीं है ॥ ५० ।

न विश्वनाथस्य समं हि लिङ्गं न तीर्थमन्यन्मणिकर्णिकातः ।
तपोवनं कुत्रचिदस्ति नान्यच्छुभं ममाऽऽनन्दवनेन तुल्यम् ॥ ५१ ।
वाराणसी तीर्थमयी समस्ता यस्यास्तु नामाऽपि हि तीर्थतीर्थम् ।
तत्राऽपि काचिन्मम सौख्यभूमिर्महापवित्रा मणिकर्णिकाऽसौ ॥ ५२ ।
स्थानादमुष्मान्मम राजसौधात्प्राच्यां मनागीशसमाश्रितायाम् ।
सव्येऽपसव्ये च कराः क्रमेण शतत्रयी चाऽपि शतद्वयी च ॥ ५३ ।
हस्ताः शतं पञ्चसुरापगायामुदीच्यवाच्योर्मणिकर्णिकेयम् ।
सारस्त्रिलोक्याः परकोशभूमिर्यैः सेविता ते मम हृच्छया हि ॥ ५४ ।

स्थानादमुष्मादिति । अमुष्मात् स्थानाद् यन्मम राजसौधं राजगृहम् । तथा चोक्तं मोक्षस्वर्द्वारयोर्मध्ये बुधा राजगृहं विदुरिति । तस्मात्प्रासादान्मनागीशसमाश्रितायां प्राच्यामिति पूर्वोत्तरयोर्दिशोरन्तराल इत्यर्थः, तस्यां दिशि या स्थली, सेयं मणिकर्णिका यैः सेविता, ते मम हृच्छया इति द्वितीयेनाऽन्वयः । किमाकार-परिमाणकेत्याकाङ्क्षायां वेदिकारूपकेण निरूपयितुमाह – **सव्य इति** । **क्रमेणेति** । शतत्रयी सव्ये वामपार्श्वे हरिश्चन्द्रेश्वरपर्यन्तमित्यर्थः । तथाऽपसव्ये दक्षिणपार्श्वे शतद्वयं गङ्गाकेशवपर्यन्तमित्यर्थः ॥ ५३ ।

गङ्गायां पञ्चशतं हस्तास्तावत्पर्यन्तं मणिकर्णिकेत्यर्थः । तदुक्तमत्रैव –

आमध्याद्देवसरित आहरिश्चन्द्रमण्डपात् ।
आगङ्गाकेशवाच्चैव स्वर्द्वारान्मणिकर्णिका ॥ इति ।

एवमुदीच्यवाच्योरिति चतुष्कोणोपलक्षणम् । वनराजिसौधादिति क्वचित् । तत्र **वनराजो हनुमान्** । परकोशभूमिः परमात्माधारस्थानम् । परकेशभूमिरिति पाठे ब्रह्मविष्णुरुद्रभूमिः । परलोकभूमिरिति क्वचित् । हृद्यन्तःकरणे शेरत इति हृच्छयाः सद्रूपा इत्यर्थः ॥ ५४ ।

विश्वनाथ के समान लिंग, मणिकर्णिका के तुल्य तीर्थ और मेरे शुभमय आनन्दवन के सदृश तपोवन दूसरा कहीं भी नहीं है ॥ ५१ ।

यद्यपि समस्त वाराणसीपुरी तीर्थमयी ही है और उसका नाम तो तीर्थों का भी तीर्थ है, तथापि इसमें यह महापवित्रा **मणिकर्णिका** तो मेरे सौख्य ही की भूमि है ॥ ५२ ।

मेरे इस राजप्रासाद से कुछ ईशानकोण पर अर्थात् पूर्व और उत्तर दिशा के बीच वामभाग में तीन सौ हाथ और दक्षिणभाग में दो सौ हाथ एवं (उत्तर और पश्चिम के मध्य में) पाँच सौ हाथ गंगा के भीतर तक मणिकर्णिका की सीमा है । यह भूमि त्रैलोक्यभर में सारस्वरूप एवं परमात्मा का आधार स्थान है । अतएव इनके सेवक लोग मेरे हृदय में सुख से सोते रहते हैं ॥ ५३-५४ ।

अस्मिन्ममाऽऽनन्दवने यदेतल्लिङ्गं सुधाधाम सुधामधाम ।
आसप्तपातालतलात् स्वयम्भुसमुत्थितं भक्तकृपावशेन ॥ ५५ ।
येऽस्मिन् जनाः कृत्रिमभावबुद्ध्या लिङ्गं भजिष्यन्ति च हेतुवादैः ।
तेषां हि दण्डः पर एष एव न गर्भवासाद् विरमन्ति ते ध्रुवम् ॥ ५६ ।
यद्यद्धितं स्वस्य सदैव तत्तल्लिङ्गेऽत्र देयं मम भक्तिमद्भिः ।
इहाऽप्यमुत्राऽपि न तस्य संक्षयो यथेह पापस्य कृतस्य पापिभिः॥ ५७ ।

सुधाधाम सुधामधाम सुधाऽमृतं कैवल्यं तस्य धाम सुस्थानेषु द्वारकादिषु धाम्नः स्वप्रकाशस्य धाम स्फूर्तिर्यस्मात्तत् । यद्वा सुधामधाम श्रेष्ठं स्थानमित्यर्थः । **आसप्तेति** । अस्मिन्नित्यङ्गुल्या निर्दिशति । अयमर्थः –अस्मिन् स्थाने यद्यल्लिङ्गं तत्तदासप्तपातालतलात् स्वयम्भुसमुत्थितमिति मन्तव्यम् । ततो हेतुवादैरेतदधिकरणकलिङ्गं कृत्रिमं भवितुमर्हति केनचित् स्थापितत्वात् स प्रतिपन्नवद् इत्यादिकुतर्कैः कृत्रिमभावबुद्ध्या ये भजिष्यन्ति तेषाम् एष एव परो दण्ड इति यथाश्रुतव्याख्याने कृत्रिमभावबुद्ध्यनुत्पत्तेः । न हि सप्तपातालादुत्थितस्य स्वयम्भुवः कृत्रिम- भावमनीषा सम्भवतीति ॥ ५५ ।

मेरे इस आनन्दवन में यह जो सुधाधाम मदीय लिंग है, यह समस्त स्थानों का परमधाम है और यह भक्तों पर कृपावश होकर सातों पातालों को भेदकर स्वयमेब समुत्थित हुआ है ॥ ५५ ।

जो लोग इस लिंग को कृत्रिमबुद्धि से (बनौआ कहकर) अथवा हेतुवादों से (कि यह तो स्थापित ही किया गया होगा) भजेंगे, उन लोगों के लिये यही दण्ड निरूपित है कि, उनको गर्भवास से कभी भी छुट्टी नहीं होती, यह बात ध्रुव है ॥ ५६ ।

मेरे भक्तलोगों को उचित है कि, सदैव इस लिंग के लिये अपने प्रिय पदार्थों को समर्पण करें; क्योंकि यहाँ के किये हुए पापों की तरह उन वस्तुवों का कभी इस लोक और परलोक में भी नाश नहीं होने पाता ॥ ५७ ।

दूरस्थितैरप्यधिबुद्धिभिर्यैर्लिङ्गं समाराधि ममेदमत्र ।
मयैव दत्तैः शुभवस्तुजातैर्निःश्रेयसः श्रीर्वसयेत् सतस्तान् ॥ ५८ ।
शृणुष्व विष्णो शृणु सृष्टिकर्तः शृण्वन्तु देवर्षिगणाः समस्ताः ।
इदं हि लिङ्गं परसिद्धिदं सतां भेदो मनागत्र न मत्सकाशतः ॥ ५९ ।
अस्मिन् हि लिङ्गेऽखिलसिद्धिसाधने समर्पितं यैः सुकृतार्जितं वसु ।
तेभ्योऽतिमात्राऽखिलसौख्यसाधनं ददामि निर्वाणपदं सुनिर्भयम् ॥ ६० ।
उत्क्षिप्य बाहुं त्वसकृद्ब्रवीमि त्रयीमयेऽस्मिंस्त्रयमेव सारम् ।
विश्वेशलिङ्गं मणिकर्णिकाऽम्बु काशीपुरी सत्यमिदं त्रिसत्यम् ॥ ६१ ।

अधिबुद्धिभिः अधिकबुद्धिभिः । वसयेत्तान् सतोऽधिश्रित्य वसेदित्यर्थः । वरयेदिति क्वचित् ॥ ५८ ।

वसु धनम् । पद्यतेऽनेनेति पदं ज्ञानम् । अतिमात्राऽखिलसौख्यसाधनं मात्रा विषयानतिक्रान्तमतिमात्रं तच्च तदखिलं सौख्यं सुखं च तस्य साधनम् अतिशय-सुखसाधनमिति वा ॥ ६० ।

जो लोग दूरदेशान्तरस्थ होने पर भी मेरे यहाँ के इस लिंग की आराधना विशेषबुद्धि से करते हैं, मोक्षलक्ष्मी मेरे ही दिये हुए उत्तम वस्तुवों के सहित उन सज्जनों को यहाँ वसा देती है ॥ ५८ ।

हे विष्णो! हे सृष्टिकर्तः! हे देवगण! एवं हे ऋषिवृन्द! सब लोग अच्छे प्रकार से सुन रखो कि यह लिंग सत्पुरुषों का परमसिद्धिदायक है और मुझमें और मेरे इस लिंग में कुछ भी भेद नहीं है ॥ ५९ ।

समस्त सिद्धियों के साधनस्वरूप मेरे इस लिंग पर जो अपने सत्कर्मों के द्वारा उपार्जित धन को चढ़ा देते हैं, उनको मैं उसके बदले में समस्त सौख्यों का अतिमात्र साधक निर्भय निर्वाणपद का दान करता हूँ ॥ ६० ।

मैं हाथ उठाकर बारंबार कह रहा हूँ, कि त्रैलोक्य भर में ये ही तीनों सारवस्तु हैं (अर्थात्) विश्वेश्वर का लिंग, मणिकर्णिका का जल और काशीपुरी— और ये ही तीनों सत्य हैं ॥ ६१ ।

उत्थाय देवोऽथ सशक्तिरीशस्तस्मिन् हि लिङ्गे कृतचारुपूजः ।
ययौ लयं ते च सुरा जयेति जयेति चोक्त्वा नुनुवुस्तमीशम् ॥ ६२ ।

स्कन्द उवाच -

क्षेत्रस्य मैत्रावरुणेऽविमुक्तस्य महामते ।
प्रभावस्यैकदेशोऽयं कथितः कल्मषापहः ॥ ६३ ।
तवाऽग्रे तु यथाबुद्धि काशीविश्लेषतापिनः ।
अचिरेणैव कालेन काशीं प्राप्स्यस्यनुत्तमाम् ॥ ६४ ।
अस्ताचलस्य शिखरं प्राप्तवानेष भानुमान् ।
तवाऽपि हि ममाऽप्येष मौनस्य समयोऽभवत् ॥ ६५ ।

व्यास उवाच -

श्रुत्वेति स मुनिः सूत सन्ध्योपास्त्यै विनिर्गतः ।
प्रणम्यौमेयमसकृल्लोपामुद्रासमन्वितः ॥ ६६ ।
रहस्यं परिविज्ञाय क्षेत्रस्य शशिमौलिनः ।
अगस्त्यो निश्चितमनाः शिवध्यानपरोऽभवत् ॥ ६७ ।

कृतचारुपूजः कृता चार्वी पूजा येन सः । सप्तम्यन्तो वा पाठः अखिललोककामद इति क्वचित् । **नुनुवुः** **तुष्टुवुः** ॥ ६२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ।

महादेव इस कथन के उपरान्त शक्ति के सहित उस लिंग की बड़ी पूजा करके उसी में लीन हो गये । तब समस्त देवता लोग 'जय जय' कहते हुए प्रणाम करके अपने-अपने धाम को चले गये ॥ ६२ ।

स्कन्द ने कहा -

हे महामते! मित्रावरुणनन्दन! तुम भी काशी के वियोग से विधुर हो, इसलिए मैंने तुमसे अपनी बुद्धि के अनुसार उस अविमुक्त क्षेत्र का थोड़ा-सा पापनाशक माहात्म्य-वर्णन कर दिया । तुम भी थोड़े ही दिनों में उस सर्वोत्तमा काशीपुरी को प्राप्त करोगे ॥ ६३-६४ ।

अब तो ये भगवान् भास्कर भी अस्ताचल के शिखर पर पहुँच गये । तुम्हारे और मेरे भी वाचंयम (मौन) होने का समय हो गया है ॥ ६५ ।

व्यास ने कहा -

हे सूत! यह सुन, लोपामुद्रा के सहित अगस्त्य मुनि, उमानन्दन भगवान् स्कन्द को बारंबार प्रणाम करके संध्योपासन के लिये वहाँ से चले गये ॥ ६६ ।

और विश्वनाथ के क्षेत्र का गूढ़रहस्य जान लेने से निश्चित-चित्त होकर वे महर्षि अगस्त्य उन्हीं की आराधना में तत्पर रहने लगे ॥ ६७ ।

आनन्दकाननस्येह महिमानं महत्तरम् ।
कोऽत्र वर्णयितुं शक्तः सूत वर्षशतैरपि ॥ ६८ ।
यथा देव्यै समाख्यायि शिवेन परमात्मना ।
तथा स्कन्देन कथितं माहात्म्यं कुम्भसम्भवे ॥ ६९ ।
तवाऽग्रे च समाख्यातं शुकादीनां च सत्तम ।
इदानीं प्रष्टुकामोऽसि किं तत् पृच्छ वदामि ते ॥ ७० ।
श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं सर्वकल्मषनाशनम् ।
समस्तचिन्तितफलप्रदं मर्त्यो भवेत् कृती ॥ ७१ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे विश्वेश्वरलिङ्गमहिमाख्यो नामैकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ।

हे सूत! इस संसार में भला ऐसा कौन है, जो सैकड़ों वर्षों में भी आनन्दकानन की महिमा गाने में समर्थ हो सकता है? ॥ ६८ ।

परमात्मा महादेव ने जैसा (जगदम्बा) पार्वती देवी से कहा था, महात्मा स्कन्द ने भी वैसे ही अगस्त्य ऋषि से वर्णन किया ॥ ६९ ।

हे सत्तम! उसी के अनुसार मैंने भी तुम्हारे और शुक इत्यादि के आगे कह सुनाया । अब और भी जो कुछ पूछना चाहते हो, उसे पूछ सकते हो, मैं कहने को प्रस्तुत हूँ ॥ ७० ।

समस्त अभिलाषित वस्तुओं के देनेवाले, सब कल्मषों के नाशक इस पवित्र अध्याय के श्रवण करने से मनुष्य बड़ा ही सुकृती होता है ॥ ७१ ।

दोहा–

विश्वनाथ सम लिंग नहिं, नगर न काशि समान ।
मनिकनिका सो तीर्थ नहिं, जग में कतहुँ महान् ॥ १ ।
मानुष तन वह धन्य है, विश्वनाथ जो देख ।
जन्म लिये कर विश्व में, एक यही फल लेख ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे उत्तरार्द्धे भाषायामेकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ।

●

॥ अथ शततमोऽध्यायः ॥

सूत उवाच–

इदं स्कान्दमहं श्रुत्वा काशीखण्डमनुत्तमम् ।
नितरां परितृप्तोऽस्मि हृदि चाऽपि विधारितम् ॥ १ ।
अनुक्रमणिकाऽध्यायं तथा माहात्म्यमुत्तमम् ।
पाराशर्य समाचक्ष्व यथापूर्वमिदं भवेत् ॥ २ ।

व्यास उवाच–

सूताऽवधेहि धर्मात्मन् जातूकर्ण्य निशामय ।
शुकवैशम्पायनाद्याः शृण्वन्त्वपि च बालकाः ॥ ३ ।
अनुक्रमणिकाऽध्यायं माहात्म्यं चापि खण्डजम् ।
प्रवक्ष्याम्यघनाशाय महापुण्यप्रवर्धनम् ॥ ४ ।

अथाऽध्याये शततमे सर्वाभीष्टफलप्रदे ।
अनुक्रमणिका नाम सम्यगत्र निरूप्यते ॥ १ ।

पूर्वाऽध्यायान्ते इदानीं प्रष्टुकामोऽसि किं तत् पृच्छ वदामि ते इत्युक्तं तत्रोक्ताऽनुवादपूर्वकं तृप्तिमाविष्कुर्वन्ननुक्रमणिकातन्माहात्म्ये पृच्छति – **इदं स्कान्दमिति** द्वयेन ॥ १ ।

खण्डजं काशीखण्डजम् । महाफलमिति पाठे अप्यर्थे चकारः ॥ ४ ।

(अनुक्रमणिका)

सूत बोले–

हे महात्मन् ! मैं इस स्कन्दपुराणान्तर्गत सर्वोत्तम काशीखण्ड को सुनकर बहुत ही संतुष्ट हुआ और इसे अपने हृदय में रख भी चुका हूँ ॥ १ ।

हे पराशरात्मज ! अब आप इस ग्रन्थ की यथापूर्व अनुक्रमणिका एवं अनुपम माहात्म्य भी कह दीजिये (जिससे इसकी सम्पूर्णता हो जावे) ॥ २ ।

व्यास ने कहा–

हे धर्मात्मन् ! जातुकर्णीतनय ! सूत! अब मैं सब किसी के पापापनोदन एवं पुण्यवर्द्धन के लिए अनुक्रमणिका अध्याय और इस काशीखण्ड का माहात्म्य-वर्णन करता हूँ । सावधान होकर श्रवण करो और इसे शुक एवं वैशम्पायन प्रभृति भी सुनें ॥ ३-४ ।

विन्ध्यनारदसंवादः प्रथमे परिकीर्तितः ।
सत्यलोकप्रभावश्च द्वितीयः समुदाहृतः ॥ ५ ।
अगस्तेराश्रमपदे देवानामागमस्ततः ।
पतिव्रताचरित्रं च प्रस्थानं कुम्भसम्भवः ॥ ६ ।
तीर्थप्रशंसा च ततः सप्तपुर्यस्ततः स्मृताः ।
संयमिन्याः स्वरूपं च ब्रह्मलोकस्ततः परम् ॥ ७ ।
इन्द्राग्न्योर्लोकसम्प्राप्तिस्ततश्च शिवशर्मणः ।
अग्नेः समुद्भवस्तस्मात् क्रव्याद्वरुणसम्भवः ॥ ८ ।
गन्धवत्यलकापुर्योरीशयोस्तु समुद्भवः ।
चन्द्रलोकपरिप्राप्तिः शिवशर्मद्विजन्मनः ॥ ९ ।

प्रथमाऽध्यायार्थमाह – **विन्ध्येति** । द्वितीयाऽध्यायार्थमाह – **सत्येति** । द्वितीयो द्वितीयाऽध्यायोक्त इत्यर्थः ॥ ५ ।

तृतीयाऽध्यायार्थमाह–**अगस्तेरिति** । चतुर्थाऽध्यायार्थमाह–**पतिव्रतेति** । पञ्चमाऽध्यायार्थमाह–**प्रस्थानमिति** । कुम्भसम्भवः कुम्भसम्भवस्य । छान्दसो विभक्तिव्यत्ययः । कुम्भसम्भवो यः, तस्य प्रस्थानमिति वा । यदा कुम्भसम्भव इति पाठः स्यात्तदा कुम्भात् सम्यग् भवतीति कुम्भसम्भूस्तस्य । कौम्भसम्भवमिति क्वचित् ॥ ६ ।

षष्ठाऽध्यायार्थमाह–**तीर्थेति** । सप्तमाऽध्यायार्थमाह– **सप्तेति** । अष्टमाऽध्यायार्थमाह–**संयमिन्या इति** । नवमाऽध्यायार्थमाह । **ब्रह्मेति** ॥ ७ ।

दशमाऽध्यायार्थमाह–**इन्द्राग्न्योरिति** । एकादशाऽध्यायार्थमाह–अग्नेरिति । द्वादशाऽध्यायार्थमाह–**तस्मादिति** । तस्मात् तदनन्तरमित्यर्थः । क्रव्यं मांसमत्तीति क्रव्यान्निर्ऋतिः । स च वरुणश्च तयोः सम्भव इत्यर्थः ॥ ८ ।

त्रयोदशाऽध्यायार्थमाह–**गन्धवतीति** । गन्धवती वायोः पुरी । ईशयो-र्वायुकुबेरयोः । चतुर्दशाध्यायार्थमाह–**चन्द्रलोकेति** ।। ९ ।

इसके प्रथम अध्याय में विंध्य पर्वत और नारद मुनि का संवाद कहा गया है । फिर क्रम से सत्यलोक का प्रभाव, अगस्त्य के आश्रम में देवताओं का आगमन, पतिव्रता का चरित्र, अगस्त्य मुनि का प्रस्थान, तीर्थ की प्रशंसा, सप्तपुरियों का वर्णन, संयमनीपुरी का रूपवर्णन, सूर्यलोक का विवरण, शिव शर्मा को इन्द्रलोक और अग्निलोक की प्राप्ति, अग्नि की उत्पत्ति, निर्ऋति और वरुण के जन्म की कथा, गन्धवती और अलकापुरियों का वृत्तान्त, शिवशर्मा की चन्द्रलोक यात्रा का वर्णन दिया गया है ॥ ५-९ ।

उडुलोककथा तस्मात्ततः शुक्रसमुद्भवः ।
माहेयगुरुसौरीणां लोकानां वर्णनं ततः ॥ १० ।
सप्तर्षीणां ततो लोका ध्रुवस्य च तपस्ततः ।
ततो ध्रुवपदप्राप्तिर्ध्रुवलोकस्थितिस्ततः ॥ ११ ।
दर्शनं सत्यलोकस्य तस्य वै शिवशर्मणः ।
चतुर्भुजाऽभिषेकश्च निर्वाणं शिवशर्मणः ॥ १२ ।
स्कन्दाऽगस्त्योश्च संवादो मणिकर्ण्याः समुद्भवः ।
ततस्तु गङ्गामाहात्म्यं ततो दशहरास्तवः ॥ १३ ।
प्रभावश्चाऽपि गङ्गाया गङ्गानामसहस्रकम् ।
वाराणस्याः प्रशंसाऽथ भैरवाऽऽविर्भवस्ततः ॥ १४ ।

पञ्चदशाऽध्यायार्थमाह–**उडुलोकेति** । तस्मात्तदनन्तरमुडुलोककथेत्यन्वयः । षोडशाऽध्यायार्थमाह । **ततः शुक्रेति** । सप्तदशाऽध्यायार्थमाह–**माहेयेति** । मह्याः पुत्रो मङ्गलो गुरुर्बृहस्पतिः । सौरिः शनिस्तेषामिति ॥ १० ।

अष्टादशाऽध्यायार्थमाह–**सप्तर्षीणामिति** । अवान्तरभेदाल्लोका इति बहुवचनम । लोक इत्येव वा पाठः । एकोनविंशत्यध्यायार्थमाह – ध्रुवस्येति । विंशत्यध्यायार्थमाह । **तत इति** । ध्रुवो निश्चितः कूटस्थ इति यावत् । पद्यते ज्ञायते मुमुक्षुभिरिति पदः । ध्रुवश्चाऽसौ पदश्चेति ध्रुवपदो विष्णुस्तस्य प्राप्तिरित्यर्थः । एकविंशत्यध्यायार्थमाह–**ध्रुवलोकेति** । स्थितिः प्राप्तिः ॥ ११ ।

द्वाविंशत्यध्यायार्थमाह–**दर्शनमिति** । त्रयोविंशत्यध्यायार्थमाह–**चतुर्भुजेति** । चतुर्विंशत्यध्यायार्थमाह–**निर्वाणमिति** ॥ १२ ।

पञ्चविंशत्यध्यायार्थमाह–**स्कन्दाऽगस्त्योरिति** । षड्विंशत्यध्यायार्थमाह– **मणिकर्ण्या इति** । सप्तविंशत्यध्यायार्थमाह–**ततस्त्विति** ॥ १३ ।

अष्टाविंशत्यध्यायार्थमाह–**प्रभावश्चेति** । एकोनत्रिंशदध्यायार्थमाह–**गङ्गानामेति** । त्रिंशदध्यायार्थमाह–**वाराणस्या इति** । एकत्रिंशदध्यायार्थमाह– भैरवेति ॥ १४ ।

नक्षत्रलोक की कथा, शुक्र की उत्पत्ति, मंगल, बृहस्पति और शनि के लोकों का वर्णन भी इसमें है ॥ १० ।

सप्तर्षिमण्डल का वर्णन (विवरण), ध्रुव की तपस्या, ध्रुव की अधिकारप्राप्ति, ध्रुव लोक में स्थिति (भी यहाँ है) ॥ ११ ।

शिवशर्मा का सत्यलोकदर्शन, चतुर्भुज का अभिषेक, शिवशर्मा का निर्वाणलाभ (भी वर्णित है) ॥ १२ ।

स्कन्द और अगस्त्य का संवाद, मणिकर्णिका की उत्पत्तिकथा, गंगामाहात्म्य, दशहरास्तोत्र, गंगा का प्रभाव-वर्णन, गंगासहस्रनाम, वाराणसी की प्रशंसा, कालभैरव के आविर्भाव की कथा यहाँ है ॥ १३-१४ ।

दण्डपाणेः समुद्भूतिर्ज्ञानवाप्युद्भवस्ततः ।
आख्यानं च कलावत्याः सदाचारस्ततः परम् ॥ १५ ।
ब्रह्मचारिप्रकरणं ततः स्त्रीलक्षणानि च ।
कृत्याऽकृत्यप्रकरणमविमुक्तेशवर्णनम् ॥ १६ ।
ततो गृहस्थधर्माश्च ततो योगनिरूपणम् ।
कालज्ञानं ततः प्रोक्तं दिवोदासस्य वर्णनम् ॥ १७ ।
काश्याश्च वर्णनं तस्माद्योगिनीवर्णनं ततः ।
लोलार्कस्य समाख्यानमुत्तरार्ककथा ततः ॥ १८ ।

द्वात्रिंशदध्यायार्थमाह—**दण्डपाणेरिति** । त्रयस्त्रिंशदध्यायार्थमाह—**ज्ञानवापीति** । चतुस्त्रिंशदध्यायार्थमाह—**आख्यानं चेति** । पञ्चत्रिंशदध्यायार्थमाह—**सदाचार इति** ॥ १५ ।

षट्त्रिंशदध्यायार्थमाह—**ब्रह्मचारीति** । सप्तत्रिंशदध्यायार्थमाह—**ततः स्त्रीति** । अष्टात्रिंशदध्यायार्थमाह—**कृत्याऽकृत्येति** । एकोनचत्वारिंशदध्यायार्थमाह— **अविमुक्तेशेति** ॥ १६ ।

चत्वारिंशदध्यायार्थमाह—**ततो गृहस्थेति** । एकचत्वारिंशदध्यायार्थमाह—**ततो योगेति** । द्विचत्वारिंशदध्यायार्थमाह—**कालज्ञानमिति** । त्रिचत्वारिंशदध्यायार्थमाह—**दिवोदासस्येति** ॥ १७ ।

चतुश्चत्वारिंशदध्यायार्थमाह—**काश्याश्चेति** । तस्मात्तदनन्तरम् । पञ्चचत्वारिंशदध्यायार्थमाह । **योगिनीति** । षट्चत्वारिंशदध्यायार्थमाह — **लोलार्कस्येति** । सप्तचत्वारिंशदध्यायार्थमाह—**उत्तरार्केति** ॥ १८ ।

दण्डपाणि की उत्पत्ति, ज्ञानवापी के प्रकट होने की कथा, कलावती का उपाख्यान, सदाचार-निरूपण, ब्रह्मचारी का प्रकरण, स्त्री-लक्षण, कर्तव्य और अकर्तव्यों का कथन, अविमुक्तेश्वर का वर्णन, गृहस्थाश्रम धर्मयोग-निरूपण, कालज्ञान (के उपाय), राजा दिवोदास का वर्णन भी विस्तार से वर्णित है ॥ १५-१७ ।

काशीवर्णन, योगिनीगण की कथा, लोलार्क की कथा, उत्तरार्क की कथा (यहाँ वर्णित है) वर्णन ॥ १८ ।

साम्बादित्यस्य महिमा द्रुपदादित्यशंसनम् ।
ततस्तु गरुडाख्यानमरुणार्कादयस्ततः ॥ १९ ।
दशाश्वमेधिकं तीर्थं मन्दराच्च गणागमः ।
पिशाचमोचनाख्यानं गणेशप्रेषणं ततः ॥ २० ।
मायागणपतेश्चाऽथ ढुण्ढिप्रादुर्भवस्ततः ।
विष्णुमायाप्रपञ्चोऽथ दिवोदासविसर्जनम् ॥ २१ ।
ततः पञ्चनदोत्पत्तिर्बिन्दुमाधवसम्भवः ।
ततो वैष्णवतीर्थानां माहात्म्यपरिवर्णनम् ॥ २२ ।
प्रयाणं मन्दरात्काशीं वृषभध्वजशूलिनः ।
जैगीषव्येन संवादो ज्येष्ठस्थाने महेशितुः ॥ २३ ।

अष्टचत्वारिंशदध्यायार्थमाह—**साम्बादित्यस्येति** । एकोनपञ्चाशदध्यायार्थमाह—**द्रुपदेति** । उपलक्षणमेतन्मयूखादित्यस्य । पञ्चाशदध्यायार्थमाह—**ततस्तु गरुडेति** । एकपञ्चाशदध्यायार्थमाह—**अरुणार्कादय** इति । आदिशब्देन वृद्धकेशवविमलगङ्गादित्यानां ग्रहणम् ॥ १९ ।

द्विपञ्चाशदध्यायार्थमाह—**दशाश्वमेधिकमिति** । त्रिपञ्चाशदध्यायार्थमाह—**मन्दराच्चेति** । चतुष्पञ्चाशदध्यायार्थमाह—**पिशाचेति** । पञ्चपञ्चाशदध्यायार्थमाह—**गणेशेति** ॥ २० ।

षट्पञ्चाशदध्यायार्थमाह—**मायेति** । सप्तपञ्चाशदध्यायार्थमाह— **ढुण्ढीति** । अष्टपञ्चाशदध्यायार्थमाह—**विष्णुमायेति** । विसर्जनं कैलासप्रस्थानम् ॥ २१ ।

एकोनषष्ट्यध्यायार्थमाह—**ततः पञ्चनदेति** । षष्ट्यध्यायार्थमाह—**बिन्दुमाधवेति** । एकषष्ट्यध्यायार्थमाह—**ततो वैष्णवेति** ॥ २२ ।

द्विषष्ट्यध्यायार्थमाह—**प्रयाणमिति** । त्रिषष्ट्यध्यायार्थमाह—**जैगीषव्येति** ॥ २३ ।

साम्बादित्य का माहात्म्य, द्रुपदादित्य (और मयूखादित्य) की कथा, गरुड़ोपाख्यान, अरुणार्क इत्यादि का वर्णन (भी यहाँ सुनाया गया है) ॥ १९ ।

दशाश्वमेध तीर्थ की महिमा, मन्दराचल से गणों का आगमन, पिशाचमोचन की कथा, गणेश का प्रेषण, गणेश की माया का वर्णन, ढुंढिराज का प्रादुर्भाव, विष्णुमाया का विस्तार, दिवोदास का विसर्जन (इस पुराण में वर्णित है) ॥ २०-२१ ।

पंचनद की उत्पत्ति, बिन्दुमाधव का आविर्भाव, वैष्णवतीर्थों का माहात्म्य-कीर्तन, वृषभध्वज शूलपाणि की मन्दाराचल से काशी की यात्रा, महादेव का ज्येष्ठ स्थान में जैगीषव्य मुनि से संवाद (यहाँ वर्णित है) ॥ २२-२३ ।

ततः क्षेत्ररहस्यस्य कथनं पापनाशनम् ।
अथातः कन्दुकेशस्य व्याघ्रेशस्य समुद्भवः ॥ २४ ।
ततः शैलेश्वरकथा. रत्नेशस्य चं दर्शनम् ।
कृत्तिवासः समुत्पत्तिस्ततश्चायतनागमः ॥ २५ ।
देवतानामधिष्ठानं दुर्गाऽसुरपराक्रमः ।
दुर्गाया विजयश्चाऽथ तत ओङ्कारवर्णनम् ॥ २६ ।
पुनरोङ्कारमाहात्म्यं त्रिलोचनसमुद्भवः ।
त्रिलोचनप्रभावोऽथ केदाराख्यानमेव च ॥ २७ ।
ततो धर्मेशमहिमा ततः पक्षिकथा शुभा ।
ततो विश्वभुजाख्यानं दुर्दमस्य कथा ततः ॥ २८ ।

चतु:षष्ट्यध्यायार्थमाह–**ततः क्षेत्रेति** । पञ्चषष्ट्यध्यायार्थमाह–**अथात इति** । अथशब्दोऽत्र लिङ्गप्रादुर्भावे मङ्गलार्थः ॥ २४ ।

षट्षष्ट्यध्यायार्थमाह–**ततः शैलेश्वरेति** । सप्तषष्ट्यध्यायार्थमाह–**रत्नेशस्येति** । अष्टषष्ट्यध्यायार्थमाह–**कृत्तियास इति** । एकोनसप्तत्यध्यायार्थमाह–**ततश्चायतनेति** ॥ २५ ।

सप्तत्यध्यायार्थमाह–**देवतानामिति** । एकसप्तत्यध्यायार्थमाह–दुर्गासुरेति । द्विसप्तत्यध्यायार्थमाह–**दुर्गाया इति** । त्रिसप्तत्यध्यायार्थमाह–**तत ओङ्कारेति** ॥ २६ ।

चतु:सप्तत्यध्यायार्थमाह–**पुनरोङ्कारेति** । पञ्चसप्तत्यध्यायार्थमाह–**त्रिलोचनेति** । षट्सप्तत्यध्यायार्थमाह–**त्रिलोचनप्रभाव इति** । सप्तसप्तत्यध्यायार्थमाह– **केदारेति** ॥ २७ ।

अष्टसप्तत्यध्यायार्थमाह–**ततो धर्मेशेति** । एकोनाशीत्यध्यायार्थमाह–**ततः पक्षीति** । अशीत्यध्यायार्थमाह–**ततो विश्वभुजेति** । एकाशीत्यध्यायार्थमाह–**दुर्दमस्येति** ॥ २८ ।

पापनाशक क्षेत्ररहस्य कथन, कन्दुकेश्वर और व्याघ्रेश्वर की उत्पत्तिकथा भी है ॥ २४ ।

शैलेश्वर का वर्णन, रत्नेश्वर का दर्शन, कृत्तिवासेश्वर की समुत्पत्ति, (अड़सठ) आयतनों में समागम का वर्णन भी है ॥ २५ ।

(काशी में) देवता लोगों का अधिष्ठान, दुर्गासुर के पराक्रम का वर्णन, दुर्गादेवी की विजय, ओंकारेश्वर का वर्णन, ओंकारेश्वर की महिमा का कीर्तन, त्रिलोचन की उत्पत्ति, त्रिलोचन का माहात्म्य, केदारेश्वर का उपाख्यान, धर्मेश्वर-माहात्म्य, पक्षियों की कथा, विश्वभुजा गौरी का आख्यान, दुर्दम की कथा भी वर्णित है ॥ २६-२८ ।

ततो वीरेश्वराख्यानं वीरेशमहिमा पुनः ।
गङ्गातीर्थैश्च संयुक्ता कामेशमहिमा ततः ॥ २९ ।
विश्वकर्मेशमहिमा : दक्षयज्ञसमुद्भवः ।
सत्या देहविसर्गश्च ततो दक्षेश्वरोद्भवः ॥ ३० ।
ततो वै पार्वतीशस्य महिम्नः परिकीर्तनम् ।
गङ्गेशस्याऽथ महिमा नर्मदेशसमुद्भवः ॥ ३१ ।
सतीश्वरसमुत्पत्तिरमृतेशादिवर्णनम् ।
व्यासस्य हि भुजस्तम्भो व्यासशापविमोक्षणम् ॥ ३२ ।
क्षेत्रतीर्थकदम्बं च मुक्तिमण्डपसंकथा ।
विश्वेशाविर्भवश्चाऽथ ततो यात्रापरिक्रमः ॥ ३३ ।
एतदाख्यानशतकं क्रमेण परिकीर्तितम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वखण्डश्रुतेः फलम् ॥
अनुक्रमणिकाऽध्यायेऽप्यस्ति यात्रापरिक्रमः ॥ ३४ ।

द्व्यशीत्यध्यायार्थमाह–**ततो वीरेति** । त्र्यशीत्यध्यायार्थमाह–**वीरेशेति** । चतुरशीत्यध्यायार्थमाह–**गङ्गेति** । पञ्चाशीत्यध्यायार्थमाह–**कामेशेति** ॥ २९ ।

षडशीत्यध्यायार्थमाह–**विश्वकर्मेति** । सप्ताशीत्यध्यायार्थमाह–**दक्षयज्ञेति** । अष्टाशीत्यध्यायार्थमाह–**सत्या इति** । नवाशीत्यध्यायार्थमाह–**ततो दक्षेति** ॥ ३० ।

नवत्यध्यायार्थमाह–**ततो वै इति** । एकनवत्यध्यायार्थमाह–**गङ्गेति** । द्विनवत्यध्यायार्थमाह–**नर्मदेति** ॥ ३१ ।

त्रिनवत्यध्यायार्थमाह–**सतीश्वरेति** । चतुर्नवत्यध्यायार्थमाह–**अमृतेति** । पञ्चनवत्यध्यायार्थमाह–**व्यासस्येति** । षण्णवत्यध्यायार्थमाह–**व्यासशापेति** ॥ ३२ ।

सप्तनवत्यध्यायार्थमाह–**क्षेत्रेति** । अष्टनवत्यध्यायार्थमाह–**मुक्तिमण्डपेति** ।

वीरेश्वर का उपाख्यान, वीरेश्वर की महिमा, गंगा के तीर्थों (घाटों) सहित कामेश्वर का माहात्म्य, विश्वकर्मेश्वर की कथा, दक्ष के यज्ञ का समुद्भव, सती का देहत्याग, दक्षेश्वर की उत्पत्ति भी सुनायी गयी है ॥ २९-३० ।

पार्वतीश्वर की महिमा का कीर्तन, गंगेश्वर का माहात्म्य, नर्मदेश्वर की उत्पत्ति, सतीश्वर की कथा, अमृतेश्वर इत्यादि का वर्णन, व्यास का भुजस्तंभन, व्यास का शापविमोक्षण भी यहीं वर्णित है ॥ ३१-३२ ।

क्षेत्र के समस्त तीर्थों का वर्णन, मुक्तिमण्डप की कथा, विश्वेश्वर का आविर्भाव और यात्राओं की परिक्रमा, ये ही शतसंख्यक उपाख्यान (इस ग्रन्थ में) क्रम से कहे गये हैं । इस अनुक्रमणिका के श्रवण कर लेने से समस्त काशीखण्ड के सुनने का फल प्राप्त होता है और इसी अनुक्रमणिका के अध्याय में यात्रापरिक्रम भी वर्णित है ॥ ३३-३४ ।

सूत उवाच –

यात्रापरिक्रमं ब्रूहि जनानां हितकाम्यया ।
यथावत् सिद्धिकामानां सत्यवत्याः सुतोत्तम ॥ ३५ ।

व्यास उवाच –

निशामय महाप्राज्ञ लोमहर्षण वच्मि ते ।
यथा प्रथमतो यात्रा कर्तव्या यात्रिकैर्मुदा ॥ ३६ ।
सचैलमादौ संस्नाय चक्रपुष्करिणीजले ।
सन्तर्प्य देवान् सपितॄन् ब्राह्मणांश्च तथाऽर्थिनः ॥ ३७ ।
आदित्यं द्रौपदीं विष्णुं दण्डपाणिं महेश्वरम् ।
नमस्कृत्य ततो गच्छेद्द्रष्टुं ढुण्ढिविनायकम् ॥ ३८ ।

नवनवत्यध्यायार्थमाह–**विश्वेशेति–**शततमाध्यायार्थमाह– **ततो यात्रेति** ॥ ३३ ।
सचैलमिति श्लोकोक्तमेकम् ॥ ३७ ।
आदित्यमित्यक्षरचतुष्टयाधिकार्धोक्तं द्वितीयम् । **ततो गच्छेदिति** सार्धपादोक्तं तृतीयम् ॥ ३८ ।

सूत ने कहा –

हे सर्वोत्तम! सत्यवतीनन्दन! अब आप सिद्धिप्रार्थी लोगों के हितार्थ यात्राओं का परिक्रम वर्णन कीजिये ॥ ३५ ।

व्यासदेव बोले –

हे महाप्राज्ञ! लोमहर्षण, यात्रिक लोगों को प्रथम जैसे हर्ष के साथ यात्रा करनी चाहिए, उसे मैं तुमसे कहता हूँ श्रवण करो ॥ ३६ ।

यात्री पहले मणिकर्णिका के कुंड में वस्त्र के सहित स्नान कर, देवता-पितरों के तर्पण करने पर ब्राह्मण तथा अर्थीलोगों को सन्तुष्ट करे ॥ ३७ ।

फिर सूर्यदेव, द्रौपदी, विष्णु, दण्डपाणि और महेश्वर को नमस्कार करता हुआ ढुंढिराज गणेश के दर्शन को जावे ॥ ३८ ।

ज्ञानवापीमुपस्पृश्य नन्दिकेशं ततोऽर्चयेत् ।
तारकेशं ततोऽभ्यर्च्य महाकालेश्वरं ततः ॥ ३९ ।
ततः पुनर्दण्डपाणिमित्येषा पञ्चतीर्थिका ॥ ४० ।
दैनन्दिनी विधातव्या महाफलमभीप्सुभिः ।
ततो वैश्वेश्वरी यात्रा कार्या सर्वार्थसिद्धिदा ॥ ४१ ।
द्विसप्तायतनानां च कार्या यात्रा प्रयत्नतः ।
कृष्णां प्रतिपदं प्राप्य भूतावधि यथाविधि ॥ ४२ ।
अथवा प्रतिभूतं च क्षेत्रसिद्धिमभीप्सुभिः ।
तत्तत्तीर्थकृतस्नानस्तत्तल्लिङ्गकृतार्चनः ॥ ४३ ।
मौनेन यात्रां कुर्वाणः फलं प्राप्नोति यात्रिकः ।
ओङ्कारं प्रथमं पश्येन्मत्स्योदर्यां कृतोदकः ॥ ४४ ।
त्रिविष्टपं महादेवं ततो वै कृत्तिवाससम् ।
रत्नेशं चाऽथ चन्द्रेशं केदारं च ततो व्रजेत् ॥ ४५ ।

ज्ञानवापीमिति श्लोकोक्तं चतुर्थम् ॥ ३९ ।
तत इति पादोक्तं पञ्चममित्येषा **पञ्चतीर्थिकेति** । पूर्वोक्तरूपा वा ॥ ४० ।
भूतावधि चतुर्दशीपर्यन्तम् ॥ ४२ ।

वहाँ से ज्ञानवापी पर जाकर उसका जलस्पर्श करे, फिर नन्दिकेश्वर, तारकेश्वर और महाकालेश्वर की पूजा करने के उपरान्त दंडपाणि (दंडपाणीश्वर) का पूजन समाप्त करे, इस यात्रा का नाम पंचतीर्थी है ॥ ३९-४०।

महाफलाभिलाषी लोगों को प्रतिदिन इस पंचतीर्थी-यात्रा को करना उचित है, इसके उपरान्त सर्वार्थसिद्धिप्रदा विश्वेश्वर की यात्रा करनी चाहिए ॥ ४१ ।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से आरंभ कर चतुर्दशीपर्यन्त चौदह दिनों में विधिपूर्वक चतुर्दश आयतनों की यात्रा बड़े प्रयत्न से करनी चाहिए ॥ ४२ ।

अथवा क्षेत्र की सिद्धि चाहनेवाले प्रत्येक चतुर्दशी ही को उन-उन तीर्थों में स्नान एवं उन-उन लिंगों का पूजन करें ॥ ४३ ।

जो यात्री मौन होकर यात्रा करता है, उसी को यात्रा का फल मिलता है । प्रथम मत्स्योदरी तीर्थ में स्नानादिक क्रियाओं को कर ओंकारेश्वर का दर्शन करना चाहिए ॥ ४४-४५ ।

धर्मेश्वरं च वीरेशं गच्छेत्कामेश्वरं ततः ।
विश्वकर्मेश्वरं चाऽथ मणिकर्णीश्वरं ततः ॥ ४६ ।
अविमुक्तेश्वरं दृष्ट्वा ततो विश्वेशमर्चयेत् ।
एषा यात्रा प्रयत्नेन कर्तव्या क्षेत्रवासिना ॥ ४७ ।
यस्तु क्षेत्रमुषित्वा तु नैतां यात्रां समाचरेत् ।
विघ्नास्तस्योपतिष्ठन्ते क्षेत्रोच्चाटनसूचकाः ॥ ४८ ।
अष्टायतनयात्रान्या कर्तव्या विघ्नशान्तये ।
दक्षेशः पार्वतीशश्च तथा पशुपतीश्वरः ॥ ४९ ।
गङ्गेशो नर्मदेशश्च गभस्तीशः सतीश्वरः ।
अष्टमस्तारकेशश्च प्रत्यष्टमि विशेषतः ॥ ५० ।
दृश्यान्येतानि लिङ्गानि महापापोपशान्तये ।
अपराऽपि शुभा यात्रा योगक्षेमकरी सदा ॥ ५१ ।
सर्वविघ्नोपहन्त्री च कर्तव्या क्षेत्रवासिभिः ।
शैलेशं प्रथमं वीक्ष्य वरणास्नानपूर्वकम् ॥ ५२ ।

फिर त्रिलोचन, महादेव, कृत्तिवासेश्वर, रत्नेश्वर, चन्द्रेश्वर, केदारेश्वर, धर्मेश्वर, कामेश्वर, विश्वकर्मेश्वर, मणिकर्णिकेश्वर और अविमुक्तेश्वर का (जाकर) दर्शन करता हुआ विश्वेश्वर की (आकर) पूजा करे । क्षेत्रवासी को प्रयत्नपूर्वक यही यात्रा करनी चाहिए ॥ ४६-४७ ।

जो कोई क्षेत्र में रहने पर भी इस यात्रा को नहीं करता, उस पर क्षेत्र से उच्चाटन कर देनेवाले अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं ॥ ४८ ।

प्रत्येक अष्टमी को विशेष कर विघ्नों की ही शान्ति के लिये दूसरी अष्टायतन की भी यात्रा (श्रद्धालुवों का) कर्तव्य है । मनुष्य पहले दक्षेश्वर का दर्शन कर फिर क्रमशः पार्वतीश्वर, पशुपतीश्वर, गंगेश्वर, नर्मदेश्वर, गभस्तीश्वर, सतीश्वर और तारकेश्वर का दर्शन करे ॥ ४९-५० ।

बड़े-बड़े पापों की शान्ति के लिये इन सब (आठों) लिंगों का दर्शन करना चाहिए, फिर सदैव योगक्षेम करनेवाली शुभप्रदा एक दूसरी ही यात्रा है ॥ ५१ ।

जिसे क्षेत्रवासियों को समस्त विघ्नों के विनाशार्थ अवश्य ही करना चाहिए । पहले वरुणा नदी में नहाकर शैलेश्वर का दर्शन करे ॥ ५२ ।

स्नानं तु सङ्गमे कृत्वा द्रष्टव्यः सङ्गमेश्वरः ।
स्वलीनतीर्थे सुस्नातः पश्येत् स्वलीनमीश्वरम् ॥ ५३ ।
स्नात्वा मन्दाकिनीतीर्थे द्रष्टव्यो मध्यमेश्वरः ।
पश्येद्धिरण्यगर्भेशं तत्र तीर्थे कृतोदकः ॥ ५४ ।
मणिकर्ण्यां ततः स्नात्वा पश्येदीशानमीश्वरम् ।
ततः कूपमुपस्पृश्य गोप्रेक्षमवलोकयेत् ॥ ५५ ।
कापिलेयह्रदे स्नात्वा वीक्षेत वृषभध्वजम् ।
उपशान्तशिवं पश्येत्तत्कूपविहितोदकः ॥ ५६ ।
पञ्चचूडाह्रदे स्नात्वा ज्येष्ठस्थानं ततोऽर्चयेत् ।
चतुःसमुद्रकूपे तु स्नात्वा देवं समर्चयेत् ॥ ५७ ।
देवस्याऽग्रे तु या वापी तत्रोपस्पर्शने कृते ।
शुक्रेश्वरं ततः पश्येत्तत्कूपविहितोदकः ॥ ५८ ।
दण्डखाते ततः स्नात्वा व्याघ्रेशं पूजयेत्ततः ।
शौनकेश्वरकुण्डे तु स्नानं कृत्वा ततोऽर्चयेत् ॥ ५९ ।
जम्बुकेशं महालिङ्गं कृत्वा यात्रामिमां नरः ।
क्वचिन्न जायते भूयः संसारे दुःखसागरे ॥ ६० ।

फिर वरुणा (और गंगा के) संगम पर स्नान कर संगमेश्वर का दर्शन करना चाहिए । यों ही स्वलीनतीर्थ में अवगाहन कर स्वलीनेश्वर का दर्शन आवश्यक है ॥ ५३ ।

तब मन्दाकिनी तीर्थ में नहा (धो) कर मध्यमेश्वर का दर्शन करे । फिर हिरण्यगर्भतीर्थ में स्नान और हिरण्यगर्भेश्वर का दर्शन करना चाहिए ॥ ५४ ।

तदनन्तर मणिकर्णिका में स्नान कर ईशानेश्वर का दर्शन करे । फिर गोप्रेक्षकूप के जल से मार्जन कर गोप्रेक्षेश्वर का अवलोकन करे ॥ ५५ ।

इसके उपरान्त कापिलेय ह्रद में नहाकर वृषभध्वज का दर्शन करना चाहिए । फिर उपशान्त कूप पर उदकक्रिया को कर उपशान्त शिव का दर्शन करे ॥ ५६ ।

यों ही पंचचूड़ाह्रद में अवगाहन कर ज्येष्ठस्थान की अर्चना करे । फिर चतुःसमुद्रकूप में स्नान कर चतुःसमुद्रेश्वर की पूजा करे ॥ ५७ ।

उनके सन्मुख जो बावली है, उसके जल का स्पर्श कर, शुक्रकूप में जलकृत्य करने के उपरान्त शुक्रेश्वर का दर्शन करे ॥ ५८ ।

तदनन्तर दंडखाततीर्थ में अवगाहन तथा व्याघ्रेश्वर का पूजन करे । तब शौनकेश्वर कुंड में स्नान कर जम्बुकेश्वर नामक महालिंग की पूजा करे । मनुष्य (इस प्रकार से) इस यात्रा के करने से फिर कभी दुःखसागर-संसार में जन्म नहीं ग्रहण करता ॥ ५९-६० ।

समारभ्य प्रतिपदं यावत्कृष्णा चतुर्दशी ।
एतत्क्रमेण कर्तव्यान्येतदायतनानि वै ॥ ६१ ।
इमां यात्रां नरः कृत्वा न भूयोऽप्यभिजायते ।
अन्या यात्रा प्रकर्तव्यैकादशायतनोद्भवा ॥ ६२ ।
आग्नीध्रकुण्डे सुस्नातः पश्येदाग्नीध्रमीश्वरम् ।
उर्वशीशं ततो गच्छेत्ततस्तु नकुलीश्वरम् ॥ ६३ ।
आषाढीशं ततो दृष्ट्वा भारभूतेश्वरं ततः ।
लाङ्गलीशमथाऽऽलोक्य ततस्तु त्रिपुरान्तकम् ॥ ६४ ।
ततो मनःप्रकामेशं प्रीतिकेशमथो व्रजेत् ।
मदालसेश्वरं तस्मात्तिलपर्णेश्वरं ततः ॥ ६५ ।
यात्रैकादशलिङ्गानामेषा कार्या प्रयत्नतः ।
इमां यात्रां प्रकुर्वाणो रुद्रत्वं प्राप्नुयान्नरः ॥ ६६ ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि गौरीयात्रामनुत्तमान् ।
शुक्लपक्षे तृतीयायां या यात्रा विष्वगृद्धिदा ॥ ६७ ।

एष चासौ क्रमश्चेति । **एतदायतनानि** पूर्वोक्तशैलेशाद्याश्रितानि ॥ ६१ ।
विष्वगृद्धिदा सर्वसम्पत्तिदात्री ॥ ६७ ।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से आरंभ कर चतुर्दशीपर्यन्त इसी क्रम के अनुसार इन आयतनों की यात्रा करनी चाहिए ॥ ६१ ।

इस यात्रा के करने से मनुष्य फिर कभी जन्मभागी नहीं होने पाता । ऐसी ही एकादश आयतनों की एक दूसरी ही यात्रा भी (सर्वथा) करने ही के योग्य है ॥ ६२ ।

आग्नीध्रकुंड में स्नानकर, क्रम से आग्नीध्रेश्वर, उर्वशीश्वर, नकुलीश्वर, आषाढ़ीश्वर, भारभूतेश्वर, लांगलीश्वर, त्रिपुरान्तकेश्वर, मनःप्रकामेश्वर, प्रीतिकेश्वर, मदालसेश्वर एवं तिलपर्णेश्वर, इन एकादश लिंगों की यात्रा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए; (क्योंकि) इस यात्रा के करने से मनुष्य रुद्रपद को प्राप्त होता है ॥ ६३-६६ ।

अब मैं अनुपम गौरी-यात्रा का वर्णन करता हूँ । शुक्लपक्ष की तृतीया तिथि को इस यात्रा के करने से परम समृद्धि प्राप्त होती है ॥ ६७ ।

गोप्रेक्षतीर्थे सुस्नाय मुखनिर्मालिकां[1] व्रजेत् ।
ज्येष्ठावाप्यां नरः स्नात्वा ज्येष्ठां गौरीं समर्चयेत् ॥ ६८ ।
सौभाग्यगौरी सम्पूज्या ज्ञानवाप्यां कृतोदकैः ।
ततः शृङ्गारगौरीं च तत्रैव च कृतोदकः ॥ ६९ ।
स्नात्वा विशालगङ्गायां विशालाक्षीं ततो व्रजेत् ।
सुस्नातो ललितातीर्थे ललितामर्चयेत्ततः ॥ ७० ।
स्नात्वा भवानीतीर्थेऽथ भवानीं परिपूजयेत् ।
मङ्गला च ततोऽभ्यर्च्या बिन्दुतीर्थकृतोदकैः ॥ ७१ ।
ततो गच्छेन्महालक्ष्मीं स्थिरलक्ष्मीसमृद्धये ।
इमां यात्रां नरः कृत्वा क्षेत्रेऽस्मिन् मुक्तिजन्मनि ॥ ७२ ।
न दुःखैरभिभूयेत इहाऽमुत्राऽपि कुत्रचित् ।
कुर्यात्प्रतिचतुर्थीह यात्रां विघ्नेशितुः सदा ॥ ७३ ।
ब्राह्मणेभ्यस्तदुद्देशाद्देया वै मोदका मुदे ।
भौमे भैरवयात्रा च कार्या पातकहारिणी ॥ ७४ ।

मनुष्य गोप्रेक्षतीर्थ में स्नान कर प्रथम मुखनिर्मालिका देवी के दर्शन को जावे । फिर ज्येष्ठावापी में स्नानादि कृत्य कर ज्येष्ठा गौरी का पूजन करे ॥ ६८ ।

तदनन्तर ज्ञानवापी में उदकक्रियाओं का सम्पादन कर सौभाग्यगौरी की अर्चना करनी चाहिए । फिर वहीं पर स्नानादि के अनन्तर शृंगारगौरी की पूजा उचित है ॥ ६९ ।

पश्चात् विशालगंगा में स्नान कर विशालाक्षी के दर्शन को जावे । फिर ललिता तीर्थ (घाट) में स्नान कर ललिता देवी का पूजन करे ॥ ७० ।

यों ही भवानीतीर्थ में स्नानादि कर भवानी (अन्नपूर्णा) का पूजन करे । फिर बिन्दुतीर्थ में अवगाहन कर मंगलागौरी की पूजा करनी चाहिए ॥ ७१ ।

तदनन्तर स्थिर लक्ष्मी की समृद्धि के लिये महालक्ष्मी की यात्रा करे, जो कोई मुक्ति की जन्मभूमि काशीक्षेत्र में इस यात्रा को करता है, वह इस लोक तथा परलोक में भी कहीं पर दुःखभागी नहीं होने पाता । इसी प्रकार से यहाँ पर प्रति चतुर्थी को सदैव गणेश की भी यात्रा करनी चाहिए ॥ ७२-७३ ।

और गणेश की प्रसन्नता के उद्देश्य से ब्राह्मण लोगों को लड्डू देना चाहिए । फिर प्रत्येक मंगलवार को पातकनाशिनी भैरव की यात्रा करनी उचित है ॥ ७४ ।

---

1. निर्मातिकामिति क्वचित्पाठः ।

रविवारे रवेर्यात्रा षष्ठ्यां वा रविसंयुजि ।
तथैव रविसप्तम्यां सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ ७५ ।
नवम्यामथवाऽष्टम्यां चण्डीयात्रा शुभा मता ।
अन्तर्गृहस्य वै यात्रा कर्तव्या प्रतिवासरम् ॥ ७६ ।
प्रातःस्नानं विधायाऽऽदौ नत्वा पञ्चविनायकान् ।
नमस्कृत्वाऽथ विश्वेशं स्थित्वा निर्वाणमण्डपे ॥ ७७ ।
अन्तर्गृहस्य यात्रां वै करिष्येऽघौघशान्तये ।
गृहीत्वा नियमं चेति गत्वाऽथ मणिकर्णिकाम् ॥ ७८ ।
स्नात्वा मौनेन चाऽऽगत्य मणिकर्णीशमर्चयेत् ।
कम्बलाश्वतरौ नत्वा वासुकीशं प्रणम्य च ॥ ७९ ।
पर्वतेशं ततो दृष्ट्वा गङ्गाकेशवमप्यथ ।
ततस्तु ललितां दृष्ट्वा जरासन्धेश्वरं ततः ॥ ८० ।
ततो वै सोमनाथं च वाराहं च ततो व्रजेत् ।
ब्रह्मेश्वरं ततो नत्वा नत्वाऽगस्तीश्वरं ततः ॥ ८१ ।
कश्यपेशं नमस्कृत्य हरिकेशवनं ततः ।
वैद्यनाथं ततो दृष्ट्वा ध्रुवेशमथ वीक्ष्य च ॥ ८२ ।

समस्त विघ्नों की शान्ति के लिये रविवार, भानुषष्ठी एवं भानुसप्तमी को सूर्यनारायण की यात्रा करनी चाहिए ॥ ७५ ।

अष्टमी अथवा नवमी को चण्डिका (दुर्गा) की शुभयात्रा अवश्य कर्तव्य है । (यथासंभव) प्रतिदिन अन्तर्गृह की यात्रा भी करनी आवश्यक है ॥ ७६ ।

प्रथमतः प्रातःकाल स्नान कर पंचविनायकों के नमस्कार करने के उपरान्त मुक्तिमण्डप में बैठकर विश्वेश्वर को प्रणाम करे ॥ ७७ ।

फिर "मैं समस्त पापों की शान्ति के लिये अन्तर्गृह की यात्रा करूँगा" इस प्रकार से संकल्प कर मणिकर्णिका पर जावे ॥ ७८ ।

वहाँ मौनावलम्बनपूर्वक स्नान कर फिर मणिकर्णिकेश्वर का पूजन करे, तदनन्तर दोनों कम्बलाश्वतरेश्वरों को तथा वासुकीश्वर को प्रणाम करे ॥ ७९ ।

तत्पश्चात् पर्वतेश्वर, गंगाकेशव, ललितादेवी एवं जरासन्धेश्वर का दर्शन करे ॥ ८० ।

फिर सोमनाथ और (आदि)वाराह से होता हुआ ब्रह्मेश्वर और अगस्तीश्वर को प्रणाम करे ॥ ८१ ।

कश्यपेश्वर को नमस्कार, फिर हरिकेशवन, वैद्यनाथ और ध्रुवेश्वर का दर्शन करे ॥ ८२ ।

गोकर्णेश्वरमभ्यर्च्य हाटकेशमथो व्रजेत् ।
अस्थिक्षेपतडागे च दृष्ट्वा वै कीकसेश्वरम् ॥ ८३ ।
भारभूतं ततो नत्वा चित्रगुप्तेश्वरं ततः ।
चित्रघण्टां प्रणम्याऽथ ततः पशुपतीश्वरम् ॥ ८४ ।
पितामहेश्वरं गत्वा ततस्तु कलशेश्वरम् ।
चन्द्रेशस्त्वथ वीरेशो विद्येशोऽग्नीश एव च ॥ ८५ ।
नागेश्वरो हरिश्चन्द्रश्चिन्तामणिविनायकः ।
सेनाविनायकश्चाऽथ द्रष्टव्यः सर्वविघ्नहृत् ॥ ८६ ।
वसिष्ठवामदेवौ च मूर्तिरूपधरावुभौ ।
द्रष्टव्यौ यत्नतः काश्यां महाविघ्नविनाशिनौ ॥ ८७ ।
सीमाविनायकं चाऽथ करुणेशं ततो व्रजेत् ।
त्रिसन्ध्येशो विशालाक्षी धर्मेशो विश्वबाहुका ॥
आशाविनायकश्चाऽथ वृद्धादित्यस्ततः पुनः ॥ ८८ ।
चतुर्वक्त्रेश्वरं लिङ्गं ब्राह्मीशस्तु ततः परः ।
ततो मनःप्रकामेश ईशानेशस्ततः परम् ॥ ८९ ।
चण्डीचण्डेश्वरौ दृश्यौ भवानीशङ्करौ ततः ।
ढुण्ढिं प्रणम्य च ततो राजराजेशमर्चयेत् ॥ ९० ।

तत्पश्चात् गोकर्णेश्वर का पूजन करता हुआ हाटकेश्वर पहुँच अस्थिक्षेप तड़ाग (हड़हा-बेनिया) पर कीकसेश्वर का दर्शन करे ॥ ८३ ।

तदनंतर भारभूतेश्वर, चित्रगुप्तेश्वर और चित्रघंटादेवी को प्रणाम कर पशुपतीश्वर, पितामहेश्वर, कलशेश्वर, चन्द्रेश्वर, वीरेश्वर, विद्येश्वर, अग्नीश्वर, नागेश्वर, हरिश्चन्द्रेश्वर एवं सर्वविघ्नविनाशक चिन्तामणिविनायक और सेनाविनायक का दर्शन करना चाहिए ॥ ८४-८६ ।

फिर वशिष्ठ और वामदेव मूर्तिरूप धर कर काशी में बड़े-बड़े विघ्नों को दूर भगा देते हैं, अतः प्रयत्नपूर्वक उनका दर्शन करना उचित है ॥ ८७ ।

ततः पर सीमाविनायक और करुणेश्वर की ओर से होता हुआ त्रिसंध्येश्वर, विशालाक्षी देवी, धर्मेश्वर, विश्वभुजागौरी, आशाविनायक, वृद्धादित्य, चतुर्वक्त्रेश्वर, ब्राह्मीश्वर, मनःप्रकामेश्वर, ईशानेश्वर, चंडिकादेवी, चण्डीश्वर, और भवानी-शंकर का दर्शन कर, ढुंढिराज गणेश को प्रणाम करने के उपरान्त राजराजेश्वर का पूजन करे ॥ ८८-९० ।

लाङ्गलीशस्ततोऽभ्यर्च्यस्ततस्तु नकुलीश्वरः ।
परान्नेशमथो नत्वा परद्रव्येश्वरं ततः ॥ ९१ ।
प्रतिग्रहेश्वरं वाऽपि निष्कलङ्केशमेव च ।
मार्कण्डेयेशमभ्यर्च्य तत अप्सरसेश्वरम् ॥ ९२ ।
गङ्गेशोऽभ्यर्च्यस्ततो ज्ञानवाप्यां स्नानं समाचरेत् ।
नन्दिकेशं तारकेशं महाकालेश्वरं ततः ॥ ९३ ।
दण्डपाणिं महेशं च मोक्षेशं प्रणमेत्ततः ।
वीरभद्रेश्वरं नत्वा अविमुक्तेश्वरं ततः ॥ ९४ ।
विनायकांस्ततः पञ्च विश्वनाथं ततो व्रजेत् ।
ततो मौनं विसृज्याऽथ मन्त्रमेतमुदीरयेत् ॥ ९५ ।
अन्तर्गृहस्य यात्रेयं यथावद् या मया कृता ।
न्यूनातिरिक्तया शम्भुः प्रीयतामनया विभुः ॥ ९६ ।
इति मन्त्रं समुच्चार्य क्षणं वै मुक्तिमण्डपे ।
विश्रम्य यायाद् भवनं निष्पापः पुण्यवान्नरः ॥ ९७ ।
सम्प्राप्य वासरं विष्णोर्विष्णुतीर्थेषु सर्वतः ।
कार्या यात्रा प्रयत्नेन महापुण्यसमृद्धये ॥ ९८ ।

तदनन्तर लांगलीश्वर, नकुलीश्वर, परान्नेश्वर, परद्रव्येश्वर, प्रतिग्रहेश्वर, निष्कलंकेश्वर, मार्कण्डेयेश्वर, अप्सरेश्वर एवं गंगेश्वर इत्यादि का दर्शन-पूजन करने के पश्चात् ज्ञानवापी में स्नान करे । फिर नन्दिकेश्वर, तारकेश्वर, महाकालेश्वर का दर्शन करे ॥ ९१-९३ ।

दण्डपाणि, महेश्वर, मोक्षेश्वर, वीरभद्रेश्वर, अविमुक्तेश्वर एवं पंचविनायकों को प्रणाम करता हुआ विश्वनाथ में जावे, तब मौनव्रत को त्याग कर (हाथ जोड़) यह मंत्र कहे ॥ ९४-९५ ।

"यथासंभव मेरी की हुई इस अन्तर्गृह-यात्रा के द्वारा चाहे वह न्यून हो अथवा अतिरिक्त हो गई हो, भगवान् विश्वेश्वर मुझ पर प्रसन्न होवें" ॥ ९६ ।

इस प्रार्थनारूप मंत्र को कह क्षणमात्र मुक्तिमंडप में विश्राम करने के उपरान्त पापरहित पुण्यवान् यात्री नर अपने भवन को चला जावे ॥ ९७ ।

इस भाँति हरिवासर (एकादशी) प्राप्त होने पर महापुण्य की समुद्धि के लिये प्रयत्नपूर्वक समस्त विष्णुतीर्थों की यात्रा करनी चाहिए ॥ ९८ ।

नभस्यपञ्चदश्यां च कुलस्तम्भं समर्चयेत् ।
दुःखं रुद्रपिशाचत्वं न भवेद्यस्य पूजनात् ॥ ९९ ।
श्रद्धापूर्वमिमा यात्राः कर्तव्याः क्षेत्रवासिभिः ।
पर्वस्वपि विशेषेण कार्या यात्राश्च सर्वतः ॥ १०० ।
न वन्ध्यं दिवसं कुर्याद्विना यात्रां क्वचित्कृती ।
यात्राद्वयं प्रयत्नेन कर्तव्यं प्रतिवासरम् ॥ १०१ ।
आदौ स्वर्गतरङ्गिण्यास्ततो विश्वेशितुर्ध्रुवम् ।
यस्य वन्ध्यं दिनं यातं काश्यां निवसतः सतः ॥ १०२ ।
निराशाः पितरस्तस्य तस्मिन्नेव दिनेऽभवन् ।
स दष्टः कालसर्पेण स दृष्टो मृत्युना स्फुटम् ॥ १०३ ।
स मुष्टस्तत्र दिवसे विश्वेशो यत्र नेक्षितः ।
सर्वतीर्थेषु सस्नौ स सर्वयात्रां व्यधात् स च ॥ १०४ ।
मणिकर्ण्यां तु यः स्नातो यो विश्वेशं निरैक्षत ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं पुनः पुनः ॥
दृश्यो विश्वेश्वरो नित्यं स्नातव्या मणिकर्णिका ॥ १०५ ।

भाद्रपद मास की पूर्णिमा को कुलस्तंभ (लाटभैरव) का पूजन करना चाहिए; क्योंकि उसके पूजन से रुद्रपिशाचत्व का दुःख नहीं झेलना पड़ता ॥ ९९ ।

तीर्थवासी लोगों को श्रद्धापूर्वक इन सब यात्राओं को करना चाहिए एवं पर्वों पर तो विशेषरूप से सब स्थानों की यात्रा अवश्य ही करनी उचित है ॥ १०० ।

पुण्यशाली जन यात्रा के बिना कभी दिन को निष्फल नहीं जाने देते, पर दो यात्राएँ तो प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन अवश्य ही करने योग्य हैं ॥ १०१ ।

प्रथम तो गंगा का स्नान और द्वितीय विश्वनाथ का दर्शन । (ये दोनों यात्राएँ नित्यकर्म हैं ।) जिस किसी का काशी में रहने पर भी बिना इस यात्रा किये दिन व्यर्थ ही बीत जाता है, उसी दिन उसके समस्त पितर लोग निराश हो जाते हैं एवं (उसी दिन) वह मनुष्य कालरूपी सर्प से डँसा और मृत्यु का लक्ष्य हो जाता है ॥ १०२-१०३ ।

सचमुच ही जिस दिन भगवान् विश्वेश्वर का दर्शन नहीं हो सका, उस दिन देही लूटा गया (इसमें कुछ सन्देह नहीं है) । जो कोई मणिकर्णिका में स्नान और विश्वेश्वर का दर्शन कर सका, वह समस्त तीर्थों में स्नान एवं सब प्रकार की यात्राओं को कर चुका । यह बात सर्वथा सत्य है, इसीलिए नित्यप्रति मणिकर्णिका-स्नान और विश्वेश्वर का दर्शन अवश्यमेव करना चाहिए ॥ १०४-१०५ ।

व्यास उवाच–

सूत स्कान्दमिदं श्रुत्वा काशीमाहात्म्यमुत्तमम् ।
नरो न निरयं याति कृत्वाऽप्यघसहस्रकम् ॥ १०६ ।
स्नात्वा सर्वाणि तीर्थानि यच्छ्रेयः समुपार्ज्यते ।
काशीखण्डस्य श्रवणात्तत्स्यात् सूत न संशयः ॥ १०७ ।
दत्वा दानानि सर्वाणि कृत्वा यज्ञाननेकशः ।
यत्पुण्यं लभ्यते मर्त्यैस्तदेतच्छ्रवणाद्ध्रुवम् ॥ १०८ ।
तप्त्वा तपांसि चोग्राणि प्राप्यते यन्महत्फलम् ।
श्रवणादस्य खण्डस्य लभते तन्न संशयः ॥ १०९ ।
अधीत्य चतुरो वेदान् साङ्गान् यत्फलमाप्यते ।
काशीखण्डं समाकर्ण्य तत्फलं लभ्यते नरैः ॥ ११० ।
गयायां श्राद्धदानाच्च यथा तृप्यन्ति पूर्वजाः ।
तथैतच्छ्रवणान्नृणां तृप्नुवन्ति पितामहाः ॥ १११ ।
तैश्च सर्वपुराणानि श्रुतानि स्थिरबुद्धिभिः ।
काशीखण्डं श्रुतं यैश्च सर्वेषां श्रेयसां पदम् ॥ ११२ ।

व्यास ने कहा–

हे सूत! स्कन्दपुराणोक्त इस उत्तम काशी-माहात्म्य के श्रवण करने से मनुष्य सहस्रों पापों के करने पर भी कभी नरकगामी नहीं होने पाता ॥ १०६ ।

समग्र तीर्थों में स्नान करने से जो पुण्योपार्जन होता है, एकमात्र इस काशीखण्ड के श्रवण करने ही से वह सब प्राप्त हो जाता है । हे सूत! इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १०७ ।

केवल इस ग्रन्थ के सुनने ही से सब प्रकार के दान और अनेकविध यज्ञों के अनुष्ठान (करने) का पुण्य लोगों को मिल जा सकता है ॥ १०८ ।

घोर तपस्याओं के आचरण से जो महत्फल प्राप्त होता है, इस (काशी) खंड के श्रवण करने से भी निःसन्देह वही पुण्य मिलता है ॥ १०९ ।

इसी काशीखण्ड के सुनने से सांगोपांग चारों वेदों के अध्ययन करने का फल लोगों को मिल जा सकता है ॥ ११० ।

गयातीर्थ में पिण्डदान और इस काशीखंड के श्रवण, दोनों ही से लोगों के पूर्वज पितृ-पुरुषों की एक-सी तृप्ति होती है ॥ १११ ।

जो लोग स्थिरबुद्धि होकर समस्त मंगलों के स्थान इस काशीखण्ड को सुनते हैं, उनको सब पुराणों के श्रवण करने का फल मिल जाता है ॥ ११२ ।

श्रुताश्च सर्वधर्मास्तैर्महापुण्यैकराशिभिः ।
श्रुतं यैः स्थिरचेतोभिः काशीमाहात्म्यमुत्तमम् ।। ११३ ।
इदमेव हि देवेज्या परमा परिकीर्तिता ।
जपेत्तत्खण्डमखिलं श्रोतव्यं श्रद्धया द्विजाः ।। ११४ ।
शृणुयादेकमपि य आख्यानं काशिखण्डजम् ।
श्रुतानि तेन सर्वाणि धर्मशास्त्राण्यसंशयम् ।। ११५ ।
महाधर्मैकजननं महार्थप्रतिपादकम् ।
कारणं सर्वकामाप्तेः काशीखण्डमिदं स्मृतम् ।। ११६ ।
एतच्छ्रवणतः पुंसां कैवल्यं नैव दूरतः ।
तुष्यन्ति सर्वे पितरः श्रुत्वैतत् खण्डमुत्तमम् ।। ११७ ।
प्रीणन्त्यमर्त्याः सर्वेऽपि ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
मुनयः परिमोदन्ते माद्यन्ति सनकादयः ।। ११८ ।
हृष्टः सर्वो भवेदेव भूतग्रामश्चतुर्विधः ।
महिमश्रवणादस्माद्वाराणस्या न संशयः ।। ११९ ।

जो परम पुण्यशील जन स्थिरचित्त होकर इस अनुपम काशी-माहात्म्य का श्रवण करते हैं, वे लोग समस्त धर्मों के श्रवण का फल पा जाते हैं ।। ११३ ।

हे द्विजगण! इस काशीखण्ड का श्रद्धापूर्वक पाठ करना अथवा सुनना, यही सर्वोत्तम देव-पूजन कहा गया है ।। ११४ ।

इस काशीखंड के एक भी उपाख्यान के सुनने से समस्त धर्मशास्त्रों के श्रवण करने का फल अवश्य हो जाता है ।। ११५ ।

यही काशीखंड परमधर्मों का एकमात्र उत्पादक, बड़े से बड़े अर्थों का प्रतिपादक एवं समस्त कामनाओं की प्राप्ति का कारण समझा गया है ।। ११६ ।

इसके सुनने से (त्रिवर्ग ही नहीं, वरन्) मुक्ति भी दूर नहीं रह जाती और इस उत्तम (काशी) खंड के सुनने पर लोगों के पुरखे (पितर) भी बहुत ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ।। ११७ ।

ब्रह्मा, विष्णु, महादेव इत्यादि समस्त देवगण और सनक, सनन्दन-प्रभृति महर्षिगण एवं अन्य मुनिलोग परमहर्षित और प्रसन्न होते हैं ।। ११८ ।

(कहाँ तक कहें) वाराणसी पुरी की इस महिमा के श्रवण करने से (अण्डज, पिण्डज इत्यादि) चतुर्विध भूतग्राम (जीवमात्र) का सन्तोष निश्चय ही होता है ।। ११९ ।

य इदं श्रावयेद्विद्वान् समस्तं त्वर्धमेव वा ।
पादमात्रं तदर्धं वा त्वेकं व्याख्यानमुत्तमम् ॥ १२० ।
स नमस्यः प्रयत्नेन सम्पूज्यस्त्विष्टदेववत् ।
तस्मै देयं प्रयत्नेन विश्वेशप्रीतये सदा ॥ १२१ ।
तस्मिंस्तुष्टे हि सन्तुष्टो विश्वेशो नाऽत्र संशयः ।
यत्रैतत्पठ्यते खण्डं परानन्दसमाश्रयम् ॥ १२२ ।
न तत्र प्रभवेत् कश्चिदमङ्गलसमुद्भवः ।
य इदं शृणुयाद्विद्वान् यश्चेदं श्रावयेत् सुधीः ॥ १२३ ।
यः पठेदपि पुण्यात्मा ते सर्वे रुद्रमूर्तयः ।
य एतत्पुस्तकं रम्यं लेखयित्वा समर्पयेत् ॥ १२४ ।
अखिलानि पुराणानि तेन दत्तानि नाऽन्यथा ।
अत्राऽऽख्यानानि यावन्ति श्लोका यावन्त एव हि ॥ १२५ ।
तथा पदानि यावन्ति वर्णा यावन्त एव हि ।
यावन्त्यपि च मात्राणि यावत्यः पदपङ्क्तयः ॥ १२६ ।
गुणे सूत्राणि यावन्ति यावन्तः पटतन्तवः ।
चित्ररूपाणि यावन्ति रम्यपुस्तकसञ्चके ॥
तावद्युगसहस्राणि दाता स्वर्गे महीयते ॥ १२७ ।

जो विद्वान् जन इस काशीखण्ड को समग्र अथवा आधा किं वा पादमात्र, वा पादार्ध ही, अथ च केवल एक ही उपाख्यान भर सुना देवे, उसे इष्टदेवता के समान प्रयत्नपूर्वक प्रणाम करना और पूजना चाहिए एवं विश्वेश्वर की प्रसन्नता के लिये उसे सदैव आदरपूर्वक दान देना चाहिए ॥ १२०-१२१ ।

क्योंकि उस (वाचक) के सन्तुष्ट होने ही से स्वयं भगवान् विश्वेश्वर सन्तुष्ट हो जाते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । जहाँ कहीं परमानन्द के आश्रयस्वरूप इस काशीखंड का पाठ होता है, वहाँ पर किसी प्रकार के अमंगल होने की कुछ भी संभावना नहीं रहती । जो पढ़ें, वे सब के सब रुद्रस्वरूप हो जाते हैं । जो कोई इस रमणीय पुस्तक को लिखवाकर ब्राह्मण को समर्पण करता है, उसे समस्त पुराणों के दान करने का फल प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है । इस ग्रन्थ में जितने उपाख्यान, जितने श्लोक, जितने पद, जितनी मात्राएँ, जितनी पदों की पंक्तियाँ हैं एवं रम्य पुस्तकों के वेष्टन में जितने ही ताने-बाने के सूत लगे हैं, और चित्र बने हैं, उतने ही सहस्रयुगपर्यन्त पुस्तक का दाता स्वर्गलोक में पूजित होता है ॥ १२२-१२७ ।

एतद्द्वादशकृत्वो यः शृणुयात् खण्डमुत्तमम् ।
ब्रह्महत्याऽपि तस्याऽऽशु नश्येच्छम्भोरनुग्रहात् ॥१२८ ।
अपुत्रः शृणुयाद्यस्तु सुस्नातः श्रद्धयान्वितः ।
तस्य पुत्रो भवत्येव शम्भोराज्ञाप्रभावतः ॥ १२९ ।
किं बहूक्तेन सूतेह यस्य यस्य मनोरथः ।
यो यस्तं तं स स सदा श्रुत्वैतत् प्राप्नुयात् कृती ॥ १३० ।
शृणुयाद्दूरदेशेऽपि यः काशीखण्डमुत्तमम् ।
स काशीवासपुण्यस्य भाजनं स्याच्छिवाज्ञया ॥ १३१ ।
एतच्छ्रवणतः पुंसां सर्वत्र विजयो भवेत् ।
सौभाग्यं चाऽपि सर्वत्र प्राप्नुयान्निर्मलाशयः ॥ १३२ ।
यस्य विश्वेश्वरस्तुष्टस्तस्यैतच्छ्रवणे मतिः ।
जायते पुण्ययुक्तस्य महानिर्मलचेतसः ॥ १३३ ।
सर्वेषां मङ्गलानां च महामङ्गलमुत्तमम् ।
गृहेऽपि लिखितं पूज्यं सर्वमङ्गलसिद्धये ॥ १३४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे अनुक्रमणिकानाम शततमोऽध्यायः ॥ १०० ।

॥ समाप्तं चेदं काशीखण्डम् ॥

जो कोई इस सर्वोत्तम (काशी) खण्ड को द्वादश बार श्रवण करता है, महादेव के अनुग्रह से उसकी ब्रह्महत्या भी शीघ्र ही दूर हो जाती है । पुत्रहीन जन भी यथाविधि स्नान कर श्रद्धापूर्वक यदि सुने, तो उसे भी शंकराज्ञा के प्रभाव से पुत्ररत्न प्राप्त होवे । हे सूत! बहुत कहाँ तक कहें, जिसका-जिसका जो जो मनोरथ होवे, उसका-उसका वह-वह मनोरथ इसके श्रवण करने से सदैव (पूर्णतया) प्राप्त हो जाता है । जो दूरदेश में रहकर भी इस अनुपम काशीखण्ड का श्रवण करता है, शिव की आज्ञा से वह भी काशीवास करने के पुण्य का पात्र हो जाता है ॥ १२८-१३१ ।

इसके सुनने से शुद्ध हृदय लोगों को सर्वत्र विजय-लाभ होता है । एवं सर्वत्र ही (सदैव) सौभाग्य बढ़ता रहता है ॥ १३२ ।

जिस परम निर्मलचित्त, पुण्यशील जन पर भगवान् विश्वेश्वर प्रसन्न होते हैं, इस ग्रन्थ के सुनने में उसी को (ऐसी) बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ १३३ ।

समस्त मंगलों की सिद्धि के लिये अपने घर में सब मंगलों के मध्य में सर्वोत्तम परममंगलमय इस काशीखण्ड की लिखित पुस्तक का पूजन करना चाहिए ॥१३४।

सच्चिदानन्दसन्दोहपरिपूर्णैकभानवे ।
भक्तेच्छोपात्तदेहाय कृष्णाय हरये नमः ॥ १ ।
वेदान्ते सत्यवत्यात्मज इव सुनये भार्गवो वाऽथ जीवो
न्याये काणादवर्त्मन्यथ च गुरुतरो गौतमो वाऽक्षपादः ।
सांख्ये यो देवहूत्यात्मज इव हि तथा वासुकिर्योगशास्त्रे
प्राक्काण्डे भट्टतुल्यः स जयति परमः श्रीसुरेन्द्रो गुरुर्नः ॥ २ ।
वेदान्तेऽथ पुराणभारतविधौ श्रीसत्यवत्यात्मजः
सांख्ये श्रीकपिलः कणाद इह यो वैशेषिके गौतमः ।
न्याये योगनये पतञ्जलिरथो चन्द्रप्रभावल्लभो
भट्टाचार्यचतुर्भुजो विजयते प्राक्काण्डकौमारिलः ॥ ३ ।
सकोशा च विकोशा च द्वे टीके लिखिते मया ।
यत्र यस्याऽभिलाषः स्यात् सा तेन परिगृह्यताम् ॥ ४ ।
आसीत्कश्यपवंशभूषणमणिर्मान्यो मुकुन्दप्रियो
विप्रोदारगदाधरस्य तनयः शुक्लाम्बरः सन्मतिः ।
गन्धर्वीजठरे ततः समभवच्छ्रीरामनामा सुत-
स्तेनेयं विहिता हिताय विदुषां टीका बुधैर्वीक्ष्यताम् ॥ ५ ।
काश्यां[1] श्रीपुरुषोत्तमेन विदुषा भट्टेन शुद्धात्मना
तन्त्राध्यात्मपुराणभारतविदोपास्योपकंसारिणा ।
रामानन्दमुनीन्द्रवर्यकृतया गूढार्थया टीकया
सम्यक् सङ्कलितं हिताय विदुषां श्रीकाशिखण्डं महत् ॥ ६ ।

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीरामेन्द्रवनशिष्येण चैतन्यवनाऽपरपर्यायेण रामानन्देन कृतायां काशीखण्डटीकायां शततमोऽध्यायः ॥ १०० ।

॥ समाप्ता चेयं काशीखण्डटीका ॥

दोहा— काशीखंड पुनीत यह, करत सुमंगल वृद्धि ।
पढ़त सुनत समुझत हिये, देत ज्ञान की सिद्धि ॥ १ ।
काशीश्वर! त्वत्कृपयैव काशी-खण्डानुवादो रचितो मयैषः ।
समर्प्यते स्वीकुरु नाथ ! मत्वा, स्वसेवकोपायनरूपमेनम् ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे 'हिन्दी'-अनुवादे त्रिपाठिनारायणपतिकृते उत्तरार्द्धे भाषायां प्रत्यध्यायानुक्रमणिकाकथनं नाम शततमोऽध्यायः ॥ १०० ।

॥ काशीखण्डोत्तरार्द्धं सम्पूर्णम् ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

---

1. अयं श्लोकः पुस्तकान्तरेषु न दृश्यते ।